श्रीअरविंद-साहित्य

खंड 8

दिव्य जीवन्

THE LIFE DIVINE

श्रीअरविंद
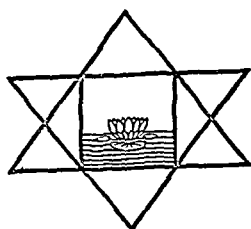
भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1960

अनुवादक :
श्यामसुन्दर झुनझुनवाला

प्रथम संस्करण, वर्ष 19[illegible]0

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु० 9-80 Price Rs. 9-80

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी–2

मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा, जनवाणी प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा० लि०
178, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता–3

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'दिव्य जीवन' नामक यह पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है और तीन ग्रंथोंमें पूरी होगी। आपके हाथोंमें यह द्वितीय ग्रंथ है। 'दिव्य जीवन'के मूल लेखक श्रीअरविंद हैं। यह श्रीअरविंदकी प्रधान दार्शनिक कृति है और इसका पुनरीक्षण श्रीअरविंद अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्रके तत्त्वावधानमें हुआ है। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

कृष्ण दयाल भार्गव

अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

विषय-सूची

दिव्य जीवन

द्वितीय ग्रंथ

पूर्वार्द्ध

परिशिष्ट

दिव्य जीवन

द्वितीय ग्रंथ

विद्या एवं अविद्या

–आध्यात्मिक क्रमविकास

पूर्वार्द्ध

अनंत चेतना और अविद्या

श्री अरविंद

अध्याय एक

अनिर्दिष्ट, विश्व-निर्देशनाएं और अनिर्देश्य

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-
प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम्. . .स आत्मा स विज्ञेयः ।।

वह अदृष्ट जो अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, लक्षणरहित है, अचिंत्य है, नामके द्वारा अनिर्देश्य है, एकात्मप्रत्यय ही जिसका सार है, विश्व-प्रपंचका जिसके अंदर उपशम हो गया है, जो 'शान्तं शिवम्', शांतिमय एवं आनंदमय है—वही वह आत्मा है, वही वह है जिसे जानना है।

—माण्डूक्योपनिषद्
7

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।

कोई उसे आश्चर्यवत् देखता है, कोई उसकी चर्चा आश्चर्यवत् करता है, कोई उसे सुनता है आश्चर्यवत्, किन्तु उसे जानता कोई नहीं।

—गीता
2.29

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।
. . . . सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।

जो अक्षरकी, अनिर्देश्यकी, अव्यक्तकी, सर्वत्रगकी, अचिंत्यकी, कूटस्थ आत्माकी, अचलकी, ध्रुवकी खोज करते हैं,—सर्वत्र समबुद्धि रखने-वाले, सर्वभूतोंके हितमें रत वे लोग मुझे ही प्राप्त करते हैं।

—गीता
12.3,4

. . . . बुद्धेरात्मा महान्परः ।।
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।

बुद्धिसे परे महान् आत्मा है, महान् आत्मासे परे अव्यक्त है, अव्यक्तसे परे पुरुष है। उस पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है, वह परा काष्ठा है, वह परा गति, परम लक्ष्य है।

—कठोपनिषद्
3.10,11

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।

जिसके लिये सब कुछ वासुदेव है, ऐसा महात्मा दुर्लभ है।
—गीता
7.19

एक चित्-शक्ति है,—सत्तामें सर्वत्र अंतर्निहित, गुप्त रहते हुए भी क्रियाशील,—वही लोकोंकी स्रष्ट्री है, प्रकृतिका गुप्त रहस्य है। किंतु हमारे भौतिक जगत्में और हमारी अपनी सत्तामें चेतनाका युगल पक्ष रहता है; एक है ज्ञानकी शक्ति, एक है अज्ञानकी शक्ति। आत्म-संविद् अनंत सन्मात्रकी अनंत चेतनामें ज्ञान सर्वत्र निहित होगा या उसकी क्रियाके मर्म-मर्ममें सक्रिय होगा; किंतु यहाँ तो हमें वस्तुओंके आरंभमें एक निश्चेतना, एक सम्पूर्ण निर्ज्ञान ही सृष्टिकर्त्री विश्व-ऊर्जाके आधार या स्वभाव-रूपमें प्रकट होता दीखता है। इसी पूंजीसे भौतिक विश्वका प्रारंभ होता है। चेतना और ज्ञान प्रथमतः उन्मज्जित होते हैं तिमिरावृत अत्यणु गतियोंमें, बिंदुओंपर, लघु प्रमात्राओंमें जो साथ-साथ समाहृत होती हैं; एक धीमा और कठिन विकासक्रम होता है, चेतनाकी क्रियाओंका एक धीमे-धीमे वर्द्धित होता हुआ संगठन और सुधरता हुआ यंत्र-विन्यास होता है, निर्ज्ञानकी कोरी स्लेटपर अधिकाधिक लाभ अंकित किये जाते हैं। किन्तु, फिर भी, इनका रूप एक खोज करते अज्ञानकी, उस अज्ञानकी अर्जित प्राप्तियों और निर्माणोंका है, जो जाननेकी, समझनेकी, अन्वेषणकी, और धीमे-धीमे, संघर्ष करता हुआ, ज्ञानमें परिवर्तित होनेकी कोशिश करता है। यहाँपर प्राण सर्वसामान्य मृत्युकी नींवपर और पर्यावरणमें अपनी क्रियाओंको

कठिनाईसे स्थापित करता और बनाये रखता है, यह वह प्रथमतः प्राणके अत्यणुओंमें करता है, प्राण-रूप और प्राण-ऊर्जाकी प्रमात्राओंमें करता है, वर्द्धित होती संहतियोंमें करता है, और ये संहतियाँ अधिकाधिक जटिल अवयव-संस्थानोंकी, पेचीदे जीवनयंत्रकी सृष्टि करती हैं; उसी प्रकार, चेतना भी एक आदि निर्ज्ञान और वैश्व अज्ञानके अंधकारमें एक वर्द्धमान किंतु अस्थिर ज्योतिको स्थापित करती और बनाये रखती है।

और फिर, हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वस्तुओंके तत्त्वका या अस्तित्वके आधारोंका नहीं, अपितु दृश्य रूपोंका होता है। जहाँ कहीं हमारी चेतनाका उस चीजसे मिलना होता है जो कि आधार प्रतीत होती है, वह आधार यदि शून्यका नहीं तो एक कोरी रिक्तताका रूप ले लेता है, एक ऐसी आदि अवस्थाका, जो लक्षणहीन है और जहाँ ऐसे परिणामोंका समूह है जो उस आदि मूलमें अन्तर्निहित नहीं होते, और न उस आदि मूलमें ही ऐसा कुछ प्रतीत होता है जो उनका औचित्य सिद्ध कर सके या उनकी अवश्यंभाविता दृष्टिगोचर करा सके; ऐसी अधिरचनाका समूह खड़ा हो जाता है जिसका मूलगत अस्तित्वसे कोई स्पष्ट सहजात संबंध नहीं होता। विश्व-सत्ताका प्रथम रूप एक 'अनंत' होता है जो हमारी दृष्टिके लिये यदि अनिर्देश्य नहीं, तो अनिर्दिष्ट तो है ही। इस 'अनंत'में स्वयं विश्व, चाहे उसके ऊर्जा-रूपको लें, चाहे उसके रचना-रूपको, एक अनिर्दिष्ट निर्देशना, एक "असीम सांत" प्रतीत होता है। ये शब्द विरोधाभासी हैं, किन्तु आवश्यक भी; इनसे यह व्यंजित होता लगता है कि वस्तुओंके आधारमें बुद्धिसे अतीत रहस्य ही हमारे सम्मुख उपस्थित है; उस विश्वमें बहुत बड़ी संख्यावाले विविध सामान्य और विशेष निर्दिष्ट उद्भूत होते हैं जो 'अनंत'के स्वरूपके अन्दर दीखनेवाली किसी भी वस्तुके द्वारा समर्थित प्रतीत नहीं होते, बल्कि उसपर आरोपित किये गये, या, हो सकता है, स्वारोपित लगते हैं,—और प्रश्न यह होता है कि वे कहाँसे उद्भूत होते हैं। उन्हें उत्पन्न करनेवाली ऊर्जाको हम प्रकृतिका नाम देते हैं, किंतु इस शब्दसे कोई अर्थ नहीं निकलता जबतक कि हम यह न मान लें कि विश्वकी प्रकृति जैसी है वैसी वह एक शक्तिके कारण है जो उन्हें उनके अंतर्निहित सत्यके अनुसार संयोजित करती है। किंतु, स्वयं उस सत्यकी प्रकृति कहीं दिखाई नहीं देती; ये निर्दिष्ट जैसे हैं वैसे क्यों हैं, इसका कारण कहीं नहीं दिखाई देता। निस्संदेह, भौतिक वस्तुओंकी प्रक्रिया या बहुसंख्यक प्रक्रियाओंका पता लगाना मानव विज्ञानके लिये संभव रहा है, किन्तु यह ज्ञान मुख्य प्रश्नपर कोई प्रकाश नहीं डालता; हम

और अस्तित्वकी नींव है चेतना, और ज्ञान चेतनाकी एक क्रियाका ही नाम है। ज्ञान वह प्रकाश है जिससे चेतना अपने-आपको तथा अपने तथ्योंको जानती है, वह शक्ति है जिससे हम, कर्मसे प्रारंभ करके, विचार और क्रियाके आंतरिक परिणामोंको अपनी चेतन सत्ताके दृढ़ विकासके भीतर धारण करनेमें समर्थ होते हैं। इस प्रकार अंतमें हमारी सत्ता, मिलनके द्वारा, दिव्य सत्ताकी अनंततामें अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। भगवान् हमें अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं और उनमेंसे प्रत्येककी कुंजी है ज्ञान; फलतः, ज्ञानसे हम अनंत एवं भगवान्में सर्वभावसे (**सर्व भावेन**)* प्रवेश करते तथा उन्हें अधिकृत करते हैं, उन्हें सर्वभावसे अपने अंदर ग्रहण करते तथा उनसे अधिकृत होते हैं।

ज्ञानके बिना हम, प्रकृतिकी शक्तिकी अंधतामें ग्रस्त होकर, अंधभावसे भगवान्में निवास करते हैं। प्रकृतिकी शक्ति अपने कामोंमें व्यस्त है, पर अपने मूलस्रोत और स्वामीको भूली हुई है। इस प्रकार हम भगवान्के अंदर अदिव्य ढंगसे वास करनेके कारण अपनी सत्ताके सच्चे एवं पूर्ण आनंदसे वंचित रहते हैं। ज्ञानसे ज्ञेयके साथ सचेतन एकत्व प्राप्त होता है,—क्योंकि पूर्ण और सच्चा ज्ञान तादात्म्यके आश्रयपर ही स्थित रह सकता है; ऐसे ज्ञानसे भेदभाव दूर होता है और हमारी सारी संकीर्णता, विषमता, दुर्बलता तथा तृष्णा समूल नष्ट हो जाती है। परंतु ज्ञान कर्मोंके बिना पूर्ण नहीं होता; क्योंकि केवल पुरुष या उसकी आत्म-सचेतन प्रशांत सत्ता ईश्वर नहीं है, बल्कि पुरुषमें निहित परम इच्छाशक्ति भी ईश्वर ही है; अतः यदि कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं तो ज्ञान भी कर्मोंमें चरितार्थ होता है। यहाँ भी, प्रेम ज्ञानका मुकुट है; क्योंकि प्रेम है मिलनका आनंद; एकत्वको अपने आनंदका अशेष ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये मिलनके हर्षसे सचेतन होना होगा। अवश्य ही पूर्ण ज्ञानका फल होता है पूर्ण प्रेम, सर्वांग ज्ञानका फल होता है प्रेमका परिपूर्ण एवं बहुल ऐश्वर्य। गीता कहती है, "जो मुझे पुरुषोत्तमके रूपमें जानता है—केवल इस रूपमें नहीं कि मैं अक्षर एकत्व हूँ, वरन् भगवान्की अनेकात्मक गतिके रूपमें (क्षर रूपमें) भी और उस रूपमें भी जो क्षर-अक्षर दोनोंसे उत्तम है, जिसमें दोनों दिव्य ढंगसे धारित हैं,—"वह पूर्ण ज्ञानसे युक्त होनेके कारण प्रेमके द्वारा सर्वात्मना मुझे ही खोजता है, वह सर्ववित् सर्वभावसे

---

*गीता 15-19

मुझे ही भजता है।"* यह है हमारी शक्तियोंका त्रिक, तीनोंका भगवान्‌में संगम, जब हम ज्ञानमार्गसे अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणीपर पहुँचते हैं।

प्रेम समस्त सत्ताका किरीट और उसकी परिपूर्णताका पथ है; इसीसे सत्ता चरम आत्म-अन्वेषणकी समस्त तीव्रता और संपूर्ण संपदा तथा आनंदोल्लासकी ओर आरोहण करती है। यद्यपि परम सत्‌का साक्षात् स्वरूप है चित्, और चेतनासे ही, अर्थात् एकात्मतामें कृतार्थ होनेवाले पूर्ण ज्ञानसे ही, हम उसके साथ एकाकार होते हैं, तथापि चेतनाका स्वरूप ही है आनंद, और आनंदके शिखरकी कुंजी एवं रहस्य है प्रेम। इच्छा चेतन सत्ताकी एक ऐसी शक्ति है जिससे यह अपनेको चरितार्थ करती है और इच्छाशक्तिमें एकत्व स्थापित करके ही हम परम सत्ताके साथ उसकी स्वाभाविक अनंत शक्तिमें एकाकार होते हैं। ऐसा होते हुए भी, उस शक्तिके सभी कर्म आनंदसे उत्पन्न होते एवं आनंदमें निवास करते हैं और आनंद ही है उनका लक्ष्य एवं परिणति; शुद्ध परम सत्‌से और उसकी चेतना-शक्तिद्वारा अभिव्यक्त सब रूपोंसे प्रेम करना ही आनंदकी पूर्ण विशालताका पथ है। प्रेम है दिव्य आत्म-आनंदका वेग और मद और प्रेमके बिना हम सत्‌की अनंतताकी मुग्ध शांति, आनंदकी लवलीन नीरवता भले ही प्राप्त कर लें पर उसकी ऐश्वर्य-संपदाकी अथाह गहराईतक नहीं पहुँच सकते। प्रेम हमें विरहके दुःखसे ले चलकर पूर्ण मिलनके आनंदतक पहुँचाता है, पर साथ ही हम मिलनकी क्रियाके उस हर्षको भी नहीं खोते जो आत्माकी सबसे बड़ी खोज है और जिसके लिये संसारका जीवन एक लंबी तैयारी है। इसलिये प्रेममार्गसे भगवान्‌तक पहुँचना अपने-आपको यावत्संभव सबसे महान् आध्यात्मिक परिपूर्णताके लिये तैयार करना है।

प्रेम कृतार्थ होकर ज्ञानका बहिष्कार नहीं कर डालता, बल्कि स्वयं ज्ञानको उत्पन्न करता है; ज्ञान जितना ही अधिक पूर्ण होता है, प्रेमकी संभावना उतनी ही अधिक समृद्ध होती है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "भक्तिसे मनुष्य मुझे पूर्ण रूपसे जान लेता है—मैं तत्त्वतः जितना

---

*यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥
15-18-19

और जो कुछ भी हूँ—अपने संपूर्ण विस्तार और महानतामें तथा अपनी सत्ताके तत्त्वोंमें मैं जो कुछ भी हूँ उस सबको—मनुष्य भक्तिसे अवश्यमेव जान लेता है, और मुझे तत्त्वतः जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है।" ज्ञानके बिना प्रेम प्रगाढ़ और उत्कट, पर अंध, असंस्कृत और प्रायः भयानक, महाशक्तिसंपन्न, पर साथ ही बाधक होता है; सीमित ज्ञानसे युक्त प्रेम अपने उत्साहमें और प्रायः अपने उत्साहके कारण ही संकीर्णताका दोषी बनता है; किंतु जो प्रेम पूर्ण ज्ञानकी ओर ले जाता है उससे अनंत एवं परम मिलन (सायुज्य)की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रेम दिव्य कर्मोंसे असंगत नहीं, वरन् अपनेको हर्षपूर्वक उनमें नियोजित करता है; क्योंकि यह ईश्वरसे प्रेम करता और उनकी संपूर्ण सत्तामें, सर्वभूतमें, प्राणिमात्रमें, उनसे एकमय होता है, तब संसारके लिये कर्म करना (लोकसंग्रह) अपने ईश्वर-प्रेमको अनेकानेक रूपोंमें अनुभव और चरितार्थ करना होता है। यह है हमारी शक्तियोंका त्रिक, तीनोंका ईश्वरमें संगम; जब हम प्रेमको अपने पथका दिव्य दूत बनाकर भक्तिमार्गसे अपनी यात्रा आरंभ करते हैं तब हम इसी त्रिवेणीपर पहुँचते हैं; इसका लक्ष्य यह है कि हम उस सर्व-प्रेमीकी सत्ताका दिव्य परमानंद प्राप्त कर उसमें अपनी सत्ताको पूर्ण रूपसे कृतार्थ करें और अनुभव करें कि यही हमारी परिपूर्णताका सुरक्षित लोक एवं आनंदमय धाम है और यही है उसकी किरणोंको विश्वमें फैलानेका केंद्र।

सो, इन तीन शक्तियोंका मिलन ही हमारी पूर्णताकी नींव है, अतएव भगवान्‌के अंदर अपनी सर्वांग आत्म-परिपूर्णताके अभिलाषीके लिये यह आवश्यक है कि इन तीनों मार्गोंके अनुयायियोंमें जो परस्पर-निंदाकी वृत्ति तथा भ्रांत धारणा प्रायः ही पायी जाती है उनसे वह अलग रहे और यदि उसमें लेशभर भी ये चीजें हों तो इन्हें निकाल फेंके। बहुधा ही देखनेमें आता है कि ज्ञान-संप्रदायके लोग भक्तके मार्गके प्रति घृणा भले ही न करें फिर भी वे इसे अपनी बहुत ऊँची चोटीपरसे नीची दृष्टिसे देखते हैं जैसे यह कोई निकृष्ट, अज्ञानपूर्ण वस्तु हो और केवल उन्हीं आत्माओंके योग्य हो जो सत्यकी ऊँचाइयोंके लिये अभी तैयार नहीं हैं। यह ठीक है कि ज्ञानके बिना भक्ति प्रायः ही अपक्व, असंस्कृत, अंध एवं भयावह वस्तु होती है जैसा कि धर्मोंकी त्रुटियों, अपराधों और मूर्खताओंसे कितनी ही बार सिद्ध हो चुका है। परंतु इसका कारण यह है कि उन धर्मोंमें भक्तिको अभी अपना मार्ग, अपना सच्चा तत्त्व उपलब्ध नहीं हुआ है, वास्तवमें उसने अभी मार्गपर पग भी नहीं धरा है, बल्कि वह इसे टोह-टटोल रही है, इसकी ओर ले जानेवाली किसी एक पगडंडीपर ही चल

रही है; इस अवस्थामें ज्ञान भी भक्तिकी तरह अपूर्ण होता है,—वह कट्टरपंथी, धार्मिक फूट डालनेवाला, असहिष्णु और किसी एक ही अनुदार तत्त्वकी संकीर्णतामें आवद्ध होता है, यहाँतक कि उस तत्त्वको भी वह प्रायः अत्यंत अपूर्णरूपमें ही ग्रहण करता है। जब भक्त उस शक्तिको भली-भाँति जान जाय जो उसे ऊँचा उठावेगी तब समझो कि प्रेम सचमुच उसकी पकड़में आ गया है, वह उसे अंतमें वैसे ही अमोघ रूपमें शुद्ध तथा विशाल बनाता है जैसे ज्ञान बना सकता है; ये समकक्ष शक्तियाँ हैं, इनके एक ही लक्ष्यपर पहुँचनेके उपाय भले ही भिन्न-भिन्न हों। भक्तके भावावेशको नीची दृष्टिसे देखनेवाले दार्शनिकका अभिमान भी, अन्य सब प्रकारके अभिमानकी तरह, उसकी अपनी प्रकृतिकी किसी विशेष त्रुटिसे पैदा होता है; क्योंकि यदि बुद्धिको अति एकांगी रूपमें विकसित किया जाय तो वह हृदयसे मिलनेवाली देनको खो बैठती हैं। बुद्धि हृदयकी अपेक्षा हर तरहसे उत्कृष्ट ही हो ऐसी बात नहीं है; यदि यह उन द्वारोंको अधिक शीघ्रतासे खोल डालती है जिन्हें हृदय प्रायः व्यर्थमें ही टटोलता रहता है तो, यह भी प्रायः उन सत्योंसे चूक जाती है जो हृदयके लिये अति निकट तथा सुग्राह्य हैं। विचार-पद्धति जब गंभीर होते-होते आध्यात्मिक अनुभूतिमें परिणत होती है तब यदि वह शीघ्र ही गगनचुंबी चोटियों, शिखरों, व्योम-व्यापी विशालताओंतक जा पहुँचती है तो भी, यह हृदयकी सहायताके बिना दिव्य सत्ता तथा दिव्य आनंदके अतिशय गंभीर एवं समृद्ध गुहा-गह्वरों तथा समुद्रीय गहराइयोंकी थाह नहीं ले सकती।

भक्तिमार्ग प्रायः ही अनिवार्य रूपसे निम्न कोटिका माना जाता है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, यह पूजाको लेकर चलता है और पूजा आध्यात्मिक अनुभवकी उस अवस्थासे संबंध रखती है जहाँ मानव-आत्मा और भगवान्में पार्थक्य हो या उनकी एकता अभी अधूरी हो, दूसरे, इसका असली मूलतत्त्व ही है प्रेम और प्रेम सदैव दो का बोधक होता है, प्रेमी और प्रियतमका, अतएव द्वित्वका, परंतु सबसे ऊँचा आध्यात्मिक अनुभव है एकत्व, और तीसरे, यह वैयक्तिक ईश्वरकी खोज करता है जब कि सर्वोच्च तथा शाश्वत सत्य है निर्व्यक्तिक ईश्वर, भले इसे एकमात्र सद्वस्तु न भी माना जाय। परंतु पूजा भक्तिमार्गका प्रथम पगमात्र है। जहाँ वाह्य पूजा आंतरिक आराधनामें परिवर्तित हो जाती है वहींसे शुरू होती है सच्ची भक्ति; वह गभीर होकर प्रगाढ़ दिव्य प्रेमका रूप धारण करती है; उस प्रेमका फल होता है भगवान्के साथ हमारे संवंधोंकी घनिष्ठताका हर्ष; घनिष्ठताका हर्ष मिलनके आनंदमें परिणत हो जाता है। ज्ञानकी

तरह प्रेम भी हमें सर्वोच्च एकत्वतक पहुँचाता है और यह उस एकत्वको उसकी यावत्संभव अधिक-से-अधिक गभीरता तथा तीव्रता प्रदान करता है। यह सच है कि प्रेम एकतामें भिन्नताकी ओर सहर्ष मुड़ता है, जिससे स्वयं एकत्व भी समृद्धतर और मधुरतर हो जाता है। परंतु यहाँ हम कह सकते हैं कि हृदय विचारसे अधिक ज्ञानी है, कम-से-कम उस विचारसे अधिक ज्ञानी है जो भगवान्‌संबंधी विरोधी विचारोंपर दृष्टि गड़ाता है और उनमेंसे किसी एकपर ही अपना सारा ध्यान लगाता है और दूसरेको, जो इसके विपरीत प्रतीत होता है, पर असलमें इसका पूरक तथा इसकी महत्तम परिपूर्णताका साधन होता है, बहिष्कृत कर देता है। यही मनकी दुर्बलता है—यह अपने विचारों, अपनी भावात्मक और अभावात्मक धारणाओंसे तथा भागवत सद्वस्तुके उन रूपोंसे जिन्हें यह देखता है, अपने-आपको सीमित कर लेता है, और उन्हें एक-दूसरेसे भिड़ा देनेकी प्रवृत्ति इसमें अत्यधिक होती है।

मनन, विचार या वह दार्शनिक प्रवृत्ति जिससे मानसिक ज्ञान भगवान्‌के समीप पहुँचता है प्रायः ही अमूर्तको मूर्त्तसे, उच्च और दूरस्थ तत्त्वको गभीर एवं समीपस्थसे बहुत अधिक महत्त्व देती है। एकमेव अपने ही भीतर जो आनंद लेता है उसमें इसे अधिक महान् सत्य प्रतीत होता है, परंतु एकमेव बहुमें जो आनंद लेता है या बहु एकमेवमें जो आनंद लेता है उसमें इसे हीनतर सत्य या यहाँतक कि मिथ्यात्वका बोध होता है, निर्व्यक्तिक और निर्गुणमें इसे अधिक महान् सत्य अनुभूत होता है और सव्यक्तिक तथा सगुणमें हीनतर सत्य या मिथ्यात्व। परंतु भगवान् हमारे विचार-द्वंद्वोंसे परे हैं, उनके रूपोंमें जो तात्त्विक विरोध हम खड़ा कर देते हैं उनसे भी वे अतीत हैं। हम देख चुके हैं कि वे अनन्य एकत्वसे बद्ध एवं सीमित नहीं हैं; उनकी एकता अपनेको अनंत विविधतामें चरितार्थ करती है और उस विविधताके हर्षकी पूर्णतम कुंजी है प्रेमके पास, इसलिये वह एकताके हर्षको भी नहीं गँवाता। सर्वोच्च ज्ञान और ज्ञानलब्ध सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभवको, बहुके साथ उनके नाना संबंधोंके बीच भी उनकी एकता वैसी ही पूर्ण प्रतीत होती है जैसी उनके आत्म-मग्न आनंदमें। यदि विचारको निर्व्यक्तिक या निर्गुण विशालतर और उच्चतर सत्य मालूम होता है और सव्यक्तिक वा सगुण क्षुद्रतर अनुभव तो आत्मा उन दोनोंको ही उसी एक सद्वस्तुके पक्ष समझती है जो अपनेको दोनोंमें रूपायित करती है, और यदि उस सद्वस्तुका एक इस प्रकारका ज्ञान है जिसे विचार अनंत निर्व्यक्तिकतापर आग्रह करके प्राप्त करता है तो उसका एक ऐसा ज्ञान

भी है जिसे प्रेम अनंत सव्यक्तिकतापर आग्रह करके अधिगत करता है। इनमेंसे प्रत्येकके आध्यात्मिक अनुभवका यदि अंततक अनुसरण किया जाय तो वह एक ही चरम सत्यपर पहुँचता है। जैसा कि गीता हमें बताती है, ज्ञानकी ही भाँति भक्तिसे भी हम पुरुषोत्तमके साथ सायुज्य लाभ करते हैं—पुरुषोत्तम अर्थात् वह परम पुरुष जो निर्व्यक्तिकको तथा असंख्य व्यक्तित्वोंको, निर्गुणको तथा अनंत गुणोंको, शुद्ध सत्, चित् और आनंदको तथा इनके संबंधोंकी अपार क्रीड़ाको अपने अंदर धारण किये है।

दूसरी ओर, भक्तकी प्रवृत्ति कोरे ज्ञानकी काष्ठसम शुष्कतासे घृणा करनेकी होती है। यह सच भी है कि आध्यात्मिक अनुभूतिके आह्लादके बिना दर्शन अपने-आपमें एक ऐसी चीज है जो जितनी स्पष्ट है उतनी ही रूक्ष भी, और जो परितृप्ति हम चाहते हैं वह सारी-की-सारी यह हमें नहीं दे सकता; अपि च, इसका आध्यात्मिक अनुभव भी जबतक विचारका सहारा छोड़कर मनको अतिक्रांत नहीं कर जाता तबतक अमूर्त्त आनंदमें ही अत्यधिक निवास करता है; इसी प्रकार, जहाँ यह पहुँचता है वह वास्तवमें शून्य नहीं है जैसा कि वह हृदयके भावावेशको प्रतीत होता है, फिर भी शिखरोंकी सीमाएँ तो उसमें हैं ही। इसके विपरीत, स्वयं प्रेम भी ज्ञानके बिना अधूरा है। गीता भक्तिके भेदोंका वर्णन करती हुई कहती है कि प्रारंभमें भक्ति तीन प्रकारकी होती है, एक तो वह जो संसारके दुःखोंसे घबराकर भगवान्की शरण लेती है, **आर्त्त**; दूसरी वह जो किसी चीजकी कामना करती हुई, इष्टफलदाताके रूपमें भगवान्के पास जाती है, **अर्थार्थी**; और तीसरी वह है जो किसी दिव्य अज्ञात तत्त्वसे प्रेम तो पहलेसे ही करती है, पर अभीतक उसे जानती नहीं और उससे आकृष्ट होकर उसे जाननेको आतुर होती है, **जिज्ञासु**; परंतु यह सबसे बढ़कर श्रेय उस भक्तिको देती है जो ज्ञानयुक्त हो। स्पष्ट ही है कि भावकी जो तीव्रता यों कहती है कि, "मैं समझती तो नहीं, मैं प्रेम करती हूँ", और, प्रेम करती हुई, समझनेकी परवाह भी नहीं करती, वह प्रेमकी अंतिम नहीं, बल्कि प्रथम आत्म-अभिव्यक्ति है, और वह उसकी सर्वोच्च तीव्रता भी नहीं है। वास्तवमें, जैसे-जैसे भगवान्का ज्ञान विकसित हो, वैसे-वैसे भगवान्में आनंद और उससे प्रेम भी बढ़ना चाहिये। और फिर, ज्ञानरूपी आधारके बिना निरा आनंदातिशय सुरक्षित भी नहीं रह सकता; जिससे हम प्रेम करते हैं उसीमें निवास करनेसे ही वह सुरक्षा एवं स्थिरता प्राप्त होती है, उसमें निवास करनेका मतलब है—चेतनामें उसके साथ एकमय होना, चेतनाका एकत्व ही ज्ञानप्राप्तिके लिये सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान्का ज्ञान

भगवत्प्रेमको इसकी अति सुदृढ़ सुरक्षा प्रदान करता है, इसके अनुभवजन्य विपुलतम हर्षको इसकी ओर खोल देता है, इसे दृष्टिविस्तार (outlook) के उच्चात्युच्च शिखरोंतक ऊँचा उठा ले जाता है।

इन दो शक्तियोंकी एक दूसरेके विषयमें भ्रांतियाँ एक प्रकारका अज्ञान ही हैं। इसी प्रकार ये दोनों ही जब कर्ममार्गको अपनी-अपनी आध्यात्मिक उपलब्धिके उच्चतर शिखरसे हीन समझकर घृणाकी दृष्टिसे देखती हैं तो इनकी यह प्रवृत्ति भी कुछ कम अज्ञानपूर्ण नहीं। जिस प्रकार ज्ञानकी अपनी तीव्रता होती है उसी प्रकार प्रेमकी भी अपनी तीव्रता होती है जिसे कर्म बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाली चीज प्रतीत होते हैं। परंतु कर्म इस प्रकार बाहरी तथा विक्षिप्त करनेवाले तभी होते हैं जब हमने पुरुषोत्तमके साथ संकल्प तथा चेतनाकी एकता प्राप्त नहीं की होती। वह एकता एक बार प्राप्त हुई कि कर्म ज्ञानकी साक्षात् शक्ति तथा प्रेमका मूर्त्तिमंत प्रस्रवण बन जाते हैं। यदि ज्ञान है एकत्वकी असली भूमिका और प्रेम है उसका आनंद तो दिव्य कर्म हैं उसकी ज्योति और मधुरताकी जीवंत शक्ति। प्रेमकी एक गति ऐसी भी होती है जैसी मानव-प्रेमकी अभीप्सामें देखनेमें आती है। यह प्रेमी और प्रियतमको हृदयके परिणय-प्रासादमें बंद रखकर उन्हें उनके अनन्य एकत्वके उपभोगमें संसारसे और अन्य सबसे अलग-थलग कर देनेवाली गति है। यह शायद इस मार्गकी अनिवार्य गति है। फिर भी, ज्ञानमें परितृप्त विशालतम प्रेम संसारको कोई इस हर्षसे भिन्न और प्रतिकूल वस्तु नहीं, वरन् प्रियतमकी सत्ता समझता है और प्राणिमात्रको भी उसीकी सत्ताके रूपमें देखता है; इस अंतर्दर्शनमें दिव्य कर्म अपना आह्लाद और अपनी सार्थकता अनुभव करते हैं।

यही है वह ज्ञान जिसमें पूर्णयोगको निवास करना होगा। हमें मन, बुद्धि, इच्छाशक्ति, हृदयकी शक्तियोंको लेकर भगवान्‌की ओर प्रस्थान करना है; परंतु मनमें सब कुछ सीमित है। अतः इस मार्गमें शुरू-शुरूमें तथा चिरकालतक सीमा-संकीर्णता और एकांगिता तो रहेगी ही। किंतु पूर्णयोग इन्हें अन्य अधिक ऐकांतिक साधनापथोंकी अपेक्षा ढीले-ढाले रूपमें ही धारण करेगा। यह मानसिक आवश्यकतासे अपेक्षाकृत शीघ्र ही ऊपर उठ जायगा। ज्ञानके या कर्मके मार्गकी तरह ही यह प्रेमके मार्गसे भी यात्रा शुरू कर सकता है; पर इसकी परितृप्तिके हर्षका प्रारंभ तो वहीं होता है जहाँ ये तीनों आकर मिल जाते हैं। प्रेमको यह छोड़ नहीं सकता। हाँ, यह अपना प्रारंभ इससे नहीं करता; कारण प्रेम कर्मोंका मुकुट और ज्ञानका प्रस्फुटन है।

दूसरा अध्याय

भक्तिके हेतु

धर्ममात्रका प्रारंभिक रूप यह होता है कि हम अपनी सीमित एवं मर्त्य आत्माओंसे अधिक महान् एवं उच्च किसी शक्ति या सत्ताकी परिकल्पना करते हैं, उस शक्तिके प्रति पूजा-भाव रखते तथा उसे पूजते हैं और उसके संकल्प, उसके नियमों या उसकी माँगोंके प्रति अपनी सेवा अर्पित करते हैं। परंतु धर्म, अपने प्रारंभिक रूपोंमें, इस प्रकार परिकल्पित, पूजित एवं सेवित शक्ति और उसके भक्तके बीच बड़ी भारी खाई खोद डालता है। योग अपनी पराकाष्ठाको पहुँचकर इस खाईको पाट देता है; क्योंकि योगका अभिप्राय ही है मिलन। हम ज्ञानसे उसके साथ ऐक्य लाभ करते हैं; ज्योंही उसके विषयमें हमारे आरंभिक धुँधले विचार स्पष्ट, विस्तृत और गहरे होते हैं त्योंही हम समझने लगते हैं कि यह हमारी निजकी उच्चतम आत्मा है, हमारी सत्ताकी उत्पत्ति एवं स्थितिका मूल हेतु है तथा इसका गंतव्य धाम है। हम कर्मसे उसके साथ मिलन लाभ करते हैं; उसकी आज्ञाका पालन करनेसे ही हमारा संकल्प उसके संकल्पसे एकाकार होने लगता है, जितना हमारा संकल्प अपने उद्गम और ध्येयभूत इस शक्तिके साथ तद्रूप होता है उतना ही यह पूर्ण एवं दिव्य बन सकता है। हम भक्तिसे भी इसके साथ मिलन लाभ करते हैं; क्योंकि दूरस्थकी पूजा करनेका भाव एवं अनुष्ठान विकसित होते-होते पहले समीपस्थकी उपासनाकी आवश्यकताका जन्म होता है तथा इससे फिर प्रेमकी घनिष्ठताका, और प्रेमकी पराकाष्ठा है प्रियतमसे मिलन। पूजाके इस विकसित रूपसे ही भक्तियोगका श्रीगणेश होता है और प्रियतमके साथ इस प्रकारका मिलन होनेपर ही यह अपने सर्वोच्च शिखर एवं परिणतिको पहुँचता है।

हमारी सब वृत्तियों और हमारी सत्ताकी सभी गतियोंका मूल आधार हैं हमारी निम्नतर मानव प्रकृतिके साधारण प्रेरक भाव। ये प्रेरक भाव पहले मिश्रित और अहंकारमय होते हैं, परंतु बादमें ये शुद्ध और उन्नत हो जाते हैं, इनके कारण हमारे कर्मोंके चाहे कैसे भी परिणाम क्यों न पैदा हों फिर भी ये हमारी उच्चतर प्रकृतिके लिये अत्यंत एवं विशेष

आवश्यक वस्तु बन जाते हैं; अंतमें ये उदात्त होकर हमारी सत्ताके एक प्रकारके सुव्यक्त आदेशका रूप ले लेते हैं जिसका पालन करके ही हम अपने अंदर किसी स्वयंभू परम तत्त्वको प्राप्त करते हैं। वह तत्त्व हमें निरंतर ही अपनी ओर खींच रहा होता है, पहले तो हमारी अहंकारमय प्रकृतिके प्रलोभनोंद्वारा, फिर किसी अधिक उच्चतर, वृहत्तर एवं विशालतर वस्तुके द्वारा। अंततोगत्वा हम उसका प्रत्यक्ष आकर्षण अनुभव करने योग्य हो जाते हैं जो सबसे अधिक प्रबल और अत्यंत स्पष्ट होता है। साधारण धार्मिक पूजाका शुद्ध भक्तियोगमें रूपांतर होनेमें हम देखते हैं कि प्रचलित धर्मकी सहेतुक और स्वार्थयुक्त पूजा इस प्रकार विकसित होकर अहैतुक एवं स्वयंसत् प्रेमके तत्त्वमें परिणत हो जाती है। वास्तवमें ऐसा प्रेम ही सच्ची भक्तिकी कसौटी है और इससे पता चलता है कि क्या हम सचमुच भक्तिके राजपथपर हैं या अभी उस ओर ले जानेवाली किसी एक पगडंडीपर ही चल रहे हैं। हमें पहले अपनी दुर्बलताके सहारों, अहंकारके प्रेरकों, और अपनी निम्नतर प्रकृतिके प्रलोभनोंका त्याग करना होगा; तब कहीं हम दिव्य मिलनके अधिकारी बन सकेंगे।

मनुष्यको एक ऐसी शक्ति या शायद ऐसी अनेक शक्तियाँ अनुभव-गोचर होती हैं जो उससे अधिक महान् एवं उच्च होती हैं और उसके प्रकृतिगत जीवनको अभिभूत, प्रभावित एवं नियंत्रित करती हैं। स्वभावतः ही वह उसके या उनके प्रति वही आदिम असंस्कृत भाव प्रदर्शित करता है जो इस जीवनकी कठिनाइयों, कामनाओं और कष्टोंमें प्राकृतिक प्राणीके सहज भाव होते हैं, अर्थात् भय और स्वार्थ। धार्मिक वृत्तिके विकासमें इन प्रेरक भावोंका महत्त्व निर्विवाद है, वास्तवमें मनुष्यका आज जैसा भी स्वरूप है उसे दृष्टिमें रखते हुए यह शायद इससे कम हो भी नहीं सकता था; यहाँतक कि आज जब धर्म अपने मार्गपर काफी आगे बढ़ चुका है तब भी हम देखते हैं कि ये भाव अभीतक जीवित एवं क्रियाशील हैं तथा काफी बड़ा भाग ले रहे हैं, स्वयं धर्म भी मनुष्यपर अपने अधिकारोंकी पुष्टिके लिये इन्हें न्याय्य एवं उचित प्रमाणित कर रहा है। कहा जाता है कि ईश्वरका भय,—या ऐतिहासिक तथ्यकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि देवताओंका भय,—धर्मका प्रारंभिक रूप है, यह एक अर्द्ध-सत्य है जिसपर वैज्ञानिक गवेषणाने अनुचित बल दे दिया है, इसने धर्मके विकासका मूल खोजनेकी चेष्टा सहानुभूतिपूर्ण भावसे नहीं, वरन् साधारणतः आलोचनात्मक और प्रायः द्वेषपूर्ण वृत्तिसे की है; परंतु केवल ईश्वरका भय ही धर्मका मूल नहीं है, मनुष्य अत्यंत असभ्य अवस्थामें भी केवल

भयवश ही काय नहीं करता है, वल्कि युगल प्रेरक भावोंसे, भय और कामनासे, अप्रिय एवं अहितकर वस्तुओंके भय और प्रिय एवं हितकर वस्तुओंकी कामनासे। इस प्रकार वह भय एवं स्वार्थ दोनोंसे कार्य करता है। जवतक मनुष्य यह नहीं सीख लेता कि उसे मुख्यतया अपनी आत्मामें ही जीवन यापन करना है और वाह्य वस्तुओंकी क्रिया-प्रतिक्रियामें केवल गौण रूपसे, तवतक उसके लिये जीवन प्रथमतः एवं अनन्यतया कर्मों और परिणामोंकी शृंखलामात्र होता है, वह कर्मद्वारा काम्य, अर्ज्य एवं प्राप्य (उपादेय) वस्तुओंका तथा भयप्रद एवं त्याज्य (हेय) वस्तुओंका समूह भर होता है। वे हेय वस्तुएँ उसके कर्मके परिणामस्वरूप, अनचाहे भी, उसपर आ पड़ सकती हैं। उसके निजी कर्मसे ही नहीं, वल्कि उसके चारों ओर रहनेवाले दूसरोंके तथा प्रकृतिके कर्मसे भी ये हेय-उपादेय वस्तुएँ उसके पास आ सकती हैं। अतएव, ज्योंही उसे इस सवके मूलमें एक ऐसी शक्ति अनुभूत होने लगती है जो कर्म एवं परिणामको प्रभावित या निर्धारित कर सकती है त्योंही वह इसके विषयमें ऐसी कल्पना करता है कि यह सुख-दुःखको देनेवाली है, उसका उपकार या अपकार करनेमें, निग्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ है और कुछ अवस्थाओंमें ऐसा करनेको इच्छुक होती है।

अपनी सत्ताके अत्यंत असंस्कृत अंगोंमें वह इसे, अपनी ही तरह, प्राकृतिक अहंकारमय आवेगोंसे युक्त वस्तु समझता है जो संतुष्ट होनेपर हितकारी होती है और रुष्ट होनेपर अहितकारी; तव पूजा होती है भेंटोंसे रिझाने और प्रार्थना द्वारा अनुनय-विनय करनेका साधन। वह ईश्वरकी प्रार्थना और प्रशंसाके द्वारा उसे अपने पक्षमें कर लेता है। अपने मनका अधिक विकास होनेपर वह जीवनके कर्मको दिव्य न्यायके तत्त्व-विशेषपर अवलंवित मानता है। इस न्यायकी व्याख्या वह सदा अपने विचारों एवं चरित्रके अनुसार ही करता है और अतएव इसे अपने मानवीय न्यायकी एक प्रकारकी परिवर्द्धित प्रतिलिपि समझता है; वह अपने मनमें नैतिक शुभ-अशुभकी धारणा वना लेता है और दुःख एवं विपत्ति तथा सभी अप्रिय वस्तुओंको अपने पापोंका दंड समझता है और सुख, संपत्ति तथा सभी प्रिय वस्तुओंको अपने पुण्यका फल। ईश्वर उसे राजा, विचाराधीश, व्यवस्थापक तथा न्यायकर्त्ता प्रतीत होता है। परंतु अभीतक उसे एक प्रकारका महामानव समझनेके कारण वह अनुमान करता है कि जैसे उसका अपना न्याय प्रार्थना-आराधनाके द्वारा पथभ्रष्ट किया जा सकता है वैसे ही दिव्य न्याय भी उन्हीं साधनोंसे पथभ्रष्ट किया जा सकता है। न्याय उसके लिये पुरस्कार और दंडका ही नाम है, दंडका निर्णय प्रार्थीपर दया

करके बदला जा सकता है, जब कि विशेष प्रसादों और वरदानोंके द्वारा पुरस्कारोंमें वृद्धि की जा सकती है। प्रसन्न होनेपर शक्ति अपने अनुयायियों एवं भक्तोंको ऐसे वर-प्रसाद सदा ही प्रदान कर सकती है। अपि च, ईश्वर भी हमारी तरह क्रोध कर सकता एवं बदला ले सकता है, क्रोध और बदलेके भाव भेंटों, अनुनय-विनय एवं पश्चात्तापके द्वारा पलटे जा सकते हैं; वह पक्षपात भी कर सकता है और चढ़ावोंसे, प्रार्थना तथा प्रशंसासे उसे अपने पक्षमें किया जा सकता है। इसलिये केवल नैतिक नियमके पालनपर निर्भर रहनेके बजाय, प्रार्थना एवं अनुरंजन-आराधनरूप पूजा भी अभीतक चलती रहती है।

इन प्रेरकोंके साथ-साथ एक और वैयक्तिक भाव भी विकसित होता है, हमारी प्रकृतिके परे एक ऐसी सत्ता भी है जो विशाल, शक्तिशाली एवं अपरिमेय है, क्योंकि उसके कर्मके उद्गम एवं क्षेत्र एक प्रकारसे अचिंत्य हैं। उसके प्रति मनुष्य पहले-पहल स्वभावतः ही संभ्रम (आदरप्रेरित भय)का अनुभव करता है। और फिर, जो सत्ता अपनी प्रकृतिमें या अपनी पूर्णतामें हमसे उच्च है उसके प्रति मनुष्य आदर और सम्मानका भाव अनुभव करता है। मानवी प्रकृतिके गुणोंसे युक्त ईश्वरकी परिकल्पनाको अधिकांशतः सुरक्षित रखते हुए भी, इसके साथ ही साथ, इससे मिला-जुला या इसमें ऊपरसे जोड़ा हुआ एक और विचार भी विकसित हो जाता है। वह यह कि एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परिपूर्ण एवं अगम सत्ता भी है जो हमारी प्रकृतिसे नितांत भिन्न है। प्रचलित धर्मका नव-दशमांश इन सब प्रेरकोंका अस्तव्यस्त मिश्रणमात्र होता है जो नाना रूपोंमें विकसित, प्रायः संशोधित, परिष्कृत या अलंकृत किये हुए होते हैं; महान् आध्यात्मिक पुरुष मानवजातिकी अधिक असंस्कृत धार्मिक धारणाओंमें भगवान्-विषयक जो उत्कृष्टतर, सुन्दरतर एवं गभीरतर विचार उँडेल सके हैं वे इस नव-दशमांशमें रिस-रिसकर व्याप्त हो गये हैं,—वही हैं धर्मका शेष दशमांश। इसके परिणामस्वरूप प्रायः एक काफी भद्दी-सी चीज तैयार होती है जो संदेह और अविश्वासके बाणोंका सहज लक्ष्य बनती है,—संदेह और अविश्वास मानव मनकी ऐसी शक्तियाँ हैं जो श्रद्धा और धर्मके लिये भी उपयोगी हैं, क्योंकि वे धर्मको अपने विचारोंके अपक्व एवं मिथ्या अंशोंकी उत्तरोत्तर शुद्धि करनेके लिये बाध्य करती हैं। परंतु हमें देखना यह है कि पूजाकी धार्मिक वृत्तिको शुद्ध एवं उन्नत करनेके लिये इनमेंसे किसी भी प्राचीन भावके जीवित रहनेकी कहाँतक आवश्यकता है और पूजासे ही प्रारंभ होनेवाले भक्तियोगमें इनका प्रवेश कहाँतक वांछनीय है।

यह इस बातपर निर्भर है कि कहाँतक ये दिव्य पुरुषके किसी सत्यसे संगत हैं या मानव आत्माके साथ इसके संबंधोंके अनुरूप हैं; क्योंकि भक्तिसे हम भगवान्‌के साथ मिलन तथा उसके साथ सच्चा संबंध प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात् उसके सत्यके साथ संबंध प्राप्त करना चाहते हैं न कि अपनी निम्न प्रकृतिकी और इसके अहंभावमय आवेगों एवं अज्ञानमूलक विचारोंकी किसी मृगतृष्णाके साथ।

संशयात्मा नास्तिक जिस आधारको लेकर धर्मपर आक्रमण करता है वह यह है कि विश्वमें वस्तुतः ऐसी कोई चेतन शक्ति या सत्ता है ही नहीं जो हमसे बड़ी और ऊँची हो अथवा हमारी सत्ताको किसी प्रकार प्रभावित या नियंत्रित करती हो। इस आधारको योग स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इससे तो समस्त आध्यात्मिक अनुभव खंडित हो जायगा और स्वयं योग असंभव हो जायगा। दर्शन या सार्वजनिक धर्मकी भाँति योग कोई सिद्धांत या मतवादकी वस्तु नहीं है, बल्कि अनुभवका विषय है। इसका अनुभव यह है कि एक विश्वगत एवं विश्वातीत चिन्मय पुरुषका भी अस्तित्व है, उसके साथ यह हमारा मिलन कराता है। अदृश्य सत्तासे मिलनका यह सचेतन अनुभव सदैव पुनः-पुनः ताजा किया जा सकता है तथा परखा जा सकता है। यह उतना ही यथार्थ होता है जितना कि हमारा स्थूल संसारका तथा दृश्य प्राणियोंका सचेतन अनुभव जिनके अदृश्य मनोंके साथ हम नित्य-प्रति व्यवहार करते हैं। योग सचेतन मिलनके द्वारा ही आगे बढ़ता है, सचेतन पुरुष ही इसका कारण है। अचेतनके साथ सचेतन मिलन होना संभव नहीं। यह ठीक है कि यह मानव चेतनाके परे जाता है और समाधिमें अतिचेतन हो जाता है, परंतु यह हमारी चेतन सत्ताका विलोप नहीं है, यह केवल उसका आत्म-अतिक्रमण है, उसका अपने वर्तमान स्तर और सामान्य सीमाओंके परे चले जाना है।

हाँ, तो यहाँतक समस्त यौगिक अनुभव एकमत हैं। पर धर्म और भक्तियोग इससे भी आगे जाते हैं, इनके मतसे व्यक्तित्व तथा मनुष्यके साथ मानवीय संबंध इस चिन्मय पुरुषकी विशेषताएँ हैं। धर्म और भक्ति-योग दोनोंमें मनुष्य भगवान्‌के पास वैसे ही जाता है, जैसे वह अपने किसी मित्रके पास जाता है,—अपनी मानवताके द्वारा तथा मानवीय भावोंके साथ, परंतु अधिक तीव्र एवं उदात्त भावोंके साथ; इतना ही नहीं, बल्कि भगवान् भी इन भावोंके अनुरूप ढंगसे इनका उत्तर देते हैं। उत्तरकी इस संभाव्यतापर ही सब कुछ अवलंबित है; कारण, यदि भगवान् निर्वैयक्तिक, निराकार एवं निःसंबंध हैं तो ऐसा कोई भी उत्तर संभव नहीं हो सकता

और उसकी ओर समस्त मानवीय पहुँच निरर्थक हो जाती है। तब तो जहाँतक हम मानव प्राणी हैं या किसी भी प्रकारके प्राणी हैं वहाँतक हमें अपने-आपको मानवीयतारहित, व्यक्तित्वविहीन एवं विलुप्त कर देना होगा; दूसरी किसी भी शर्त्तपर तथा अन्य किसी भी साधनसे हम उसके पास नहीं पहुँच सकते। जिस निर्वैयक्तिक सत्ताका हमसे या संसारकी किसी भी वस्तुसे कोई संबंध नहीं और जिसका कोई मनोगोचर रूप नहीं उससे प्रेम या भय तथा उसकी प्रार्थना, प्रशंसा एवं पूजा स्पष्ट ही युक्तिविरुद्ध कार्य हैं। ऐसी दशामें धर्म और भक्ति असंगत ठहरती है। अद्वैतवादीको अपने नग्न एवं वंध्य दर्शनका धार्मिक आधार प्राप्त करनेके लिये ईश्वर तथा देवताओंकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके मायाकी भाषासे अपने मनको विमोहित करना पड़ता है। बौद्धमत लोकप्रिय धर्म तभी बना जब कि बुद्ध पूजास्पद परम देवताके रूपमें प्रतिष्ठित हो गये।

यदि परम पुरुष हमारे साथ संबंध रख तो सकता हो, पर केवल निर्वैयक्तिक संबंध ही, तो धर्म मनुष्यके लिये महत्त्वशून्य हो जाता है और भक्तिमार्ग भी फलदायक या यहाँतक कि संभव ही नहीं रहता। हम उसके प्रति अपने मानवीय भावोंका प्रयोग अवश्य कर सकते हैं, पर अनिश्चित एवं अयथार्थ ढंगसे तथा मानवोचित उत्तरकी आशाके बिना; केवल एक ही तरीकेसे वह हमें उत्तर दे सकता है, वह हमारे भाव निःस्तब्ध कर सकता है, हमें अपनी निर्वैयक्तिक शांति एवं निर्विकार समतासे आच्छादित कर सकता है। जब हम ईश्वरकी शुद्ध निर्वैयक्तिकताकी शरण लेते हैं तब वास्तवमें ऐसा ही होता है। हम एक दैवी विधानके रूपमें उसकी आज्ञाका पालन कर सकते हैं, उसकी शांत सत्ताके प्रति अभीप्सामें अपनी आत्माओंको उसकी ओर ऊँचा उठा सकते हैं, अपनी भावुक प्रकृतिको अपनेसे झाड़-फेंककर उस निर्वैयक्तिकतामें विकसित हो सकते हैं; हमारा अंतरस्थ मानवजीव तृप्त तो नहीं होता; पर वह शांत, संतुलित और स्तिमित हो जाता है। परंतु भक्तियोग इस विषयमें धर्मसे एकमत है और वह इस निर्वैयक्तिक अभीप्साकी अपेक्षा अधिक घनिष्ठ एवं स्नेहसिक्त पूजाका आग्रह करता है। इसका लक्ष्य है हमारी मानवताकी तथा हमारी सत्ताके निर्वैयक्तिक भागकी एक साथ दिव्य परिपूर्त्ति, इसका लक्ष्य है मनुष्यकी भावमय प्रकृतिकी दिव्य परितृप्ति। परम देवसे इसकी माँग यह है कि वह हमारे प्रेमको स्वीकार कर उसका अनुरूप उत्तर दे; जैसे हम उसमें आनंद लेते तथा उसे खोजते हैं वैसे ही, इसका विश्वास है कि, वह भी हममें आनंद लेता और हमें खोजता है! इस माँगको बुद्धिविरुद्ध कहकर

इसकी निंदा नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि परात्पर और विश्वमय पुरुष हममें किसी प्रकारका रस न लेता तो यह समझना कठिन है कि हमारा अस्तित्व संभव ही कैसे होता या टिक भी कैसे सकता; यदि वह हमें अपनी ओर बिल्कुल खींचता ही नहीं,—यदि भगवान् हमें खोजता ही नहीं,—तो प्रकृतिमें कोई भी ऐसा कारण नहीं दीख पड़ता कि क्यों हम उसे खोजनेके लिये अपनी सामान्य सत्ताके चक्रसे मुँह फेरकर उसकी ओर मुड़ें।

अतएव, भक्तियोगकी कुछ भी संभावना हो सके इसके लिये हमें पहले यह मानना होगा कि परात्पर सत् निर्विशेष भाव नहीं है, या सत्ताकी अवस्थामात्र नहीं है, बल्कि चिन्मय पुरुष है; दूसरे, कि इस संसारमें हमारी उससे भेंट होती है और इसके अंदर वह किसी-न-किसी प्रकार अंतर्यामी भी है तथा इसका उद्गम भी,—नहीं तो हमें उससे मिलनेके लिये सांसारिक जीवनसे बाहर जाना होगा; तीसरे, कि वह हमसे वैयक्तिक संबंध रख सकता है और इसलिये व्यक्तिभाव धारण करनेमें कतई असमर्थ नहीं; अंतमें, कि हम अपने मानवीय भावोंको लेकर उसके पास पहुँचते हैं और हमें तदनुरूप उत्तर प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान्की प्रकृति है तो ठीक-ठीक हमारी मानवीय प्रकृति जैसी ही परंतु अधिक बड़े पैमानेपर, या कि यह कुछ-एक विकारोंसे रहित मानवी प्रकृति ही है और ईश्वर है एक महान् या आदर्श मानव। ऐसी बात नहीं है और न ही हो सकती है कि ईश्वर अपने गुणोंसे सीमित एक अहं हो जैसे कि हम अपनी सामान्य चेतनामें हैं। परंतु, इसके विपरीत, अवश्य ही हमारी मानवीय चेतनाका मूल है भगवान् और यह उसीसे निकली हुई होनी चाहिये; हमारे अंदर यह जो-जो रूप धारण करती है वे भगवान्से भिन्न भले ही हों और होंगे ही, क्योंकि हम अहंभावसे सीमित हैं, विश्वमय नहीं हैं, अपनी प्रकृतिसे ऊपर उठे हुए नहीं हैं, अपने गुणों और उनके व्यापारोंसे महान् नहीं हैं जैसा कि वह है, तो भी हमारे मानवीय भावों और आवेगोंका मूल होना चाहिये उसीके अंदरका एक सत्य जिसके ये सीमित, अतएव प्रायः विकृत या यहाँतक कि भ्रष्ट रूप हैं। अपनी भावमय सत्ताद्वारा उसके पास जानेसे हम इस सत्यके पास पहुँचते हैं, यह सत्य हमारे भावोंसे मिलने तथा इन्हें अपनी ओर उठानेके लिये हमारे पास नीचे आता है; इसके द्वारा हमारी भावमय सत्ता उससे एकमय हो जाती है।

दूसरे, यह परात्पर पुरुष विश्वमय पुरुष भी है और संसारके साथ हमारे सभी संबंध ऐसे साधन हैं जिनसे हम उसके साथ संपर्क स्थापित

करनेके लिये तैयार होते हैं। वैश्वसत्ताकी हमपर होनेवाली क्रियाके संमुख हम जिन भावोंको लेकर उपस्थित होते हैं वे सब वास्तवमें भगवान्‌को ही लक्ष्य करते हैं चाहे प्रारंभमें वे अज्ञानपूर्वक ही ऐसा करते हैं, परंतु उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञानके साथ भगवान्‌की ओर प्रेरित करनेसे ही हम उसके साथ अधिक घनिष्ठ संबंध प्राप्त कर सकते हैं, और जैसे-जैसे हम एकताके अधिक समीप पहुँचेंगे उन भावोंके मिथ्या एवं अज्ञानयुक्त अंश सबके सब झड़ जायँगे। उन्नतिकी जिस अवस्थामें हम हैं उसे दृष्टिमें रखकर वह हमारे सभी भावोंका उत्तर देता है; यदि हमारी अपूर्ण शरणागतिको किसी प्रकारका उत्तर वा प्रोत्साहन न मिलता तो अधिक पूर्ण संबंध कभी भी स्थापित न हो सकते। जिस भी भावमें मनुष्य उसकी शरण लेते हैं उसी भावमें वह उन्हें स्वीकार करता है और दिव्य प्रेमद्वारा उनकी भक्तिका उत्तर भी देता है, **तथैव भजते**। सत्ताके जिस भी रूपकी, जिन भी गुणोंकी वे उसमें प्रतिष्ठा करते हैं, उसी रूप तथा उन्हीं गुणोंद्वारा वह उनके विकासमें सहायता पहुँचाता है, उनकी प्रगतिको प्रोत्साहित या परिचालित करता है और उनके सरल या कुटिल पथसे उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। उसका जो रूप वे देखते हैं वह सत्य होता है, पर वह ऐसा सत्य होता है जो उनकी सत्ता एवं चेतनाकी भूमिकाके अनुसार, खण्ड एवं विकृत रूपमें उनके समक्ष प्रस्तुत होता है, न कि उसकी अपनी उच्चतर वास्तविकताके स्तरके अनुसार, न ही अपने उस स्वरूपमें जो वह तब धारण करता है जब हम पूर्ण देवत्वसे सचेतन हो जाते हैं। यह बात धर्मके अत्यंत स्थूल एवं आदिम तत्त्वोंका औचित्य सिद्ध करती है और साथ ही उनकी अस्थायिता एवं नश्वरताकी घोषणा करती है। वे उचित इसलिये हैं कि उनके मूलमें भगवान्‌का एक रहस्य निहित है और विकासोन्मुख मानव-चेतनाकी उस अवस्थामें भगवान्‌के उस सत्यकी ओर केवल इसी ढंगसे पहुँचा जा सकता था और उसे आगे बढ़ाया जा सकता था; वे निंदित इसलिये हैं कि सदा इन्हीं अपरिपक्व विचारोंमें तथा भगवान्‌के साथ ऐसें अपरिष्कृत संबंधोंमें अड़े रहनेके कारण हम उस निकटतर मिलनको खो बैठते हैं जिसकी ओर ये असंस्कृतआरंभ प्राथमिक पग हैं, भले ही ये कैसे भी स्खलनशील क्यों न हों।

हम कह चुके हैं कि सारा ही जीवन प्रकृतिका योग है; यहाँ इस स्थूल जगत्‌में जीवन उसका एक ऐसा प्रयास है जिससे वह अपनी प्रथम निश्चेतनासे निकलकर अपने मूल स्रोत चेतन भगवान्‌से पुनर्मिलन प्राप्त करना चाहती है। मनुष्यका मन प्रकृतिका संसिद्ध यंत्र है; धर्मके अंतर्गत

वह इस बातसे अभिज्ञ हो जाता है कि मनुष्यके अंदर प्रकृतिका लक्ष्य क्या है और वह प्रकृतिकी अभीप्साका उत्तर देता है। यहाँतक कि प्रचलित धर्म भी एक प्रकारका अज्ञानयुक्त भक्तियोग है। परंतु जिसे हम विशेष रूपसे योगका नाम देते हैं वह चीज यह तबतक नहीं बनता जबतक कि इसका प्रेरक भाव कुछ-न-कुछ पारदर्शी नहीं हो जाता, जबतक यह यह नहीं देखता कि इसका लक्ष्य है मिलन और मिलनका मूलतत्त्व है प्रेम, अतः जबतक यह प्रेमको उपलब्ध करने और अपने पृथक्कारी स्वरूपको प्रेममें खो देनेका यत्न नहीं करता। जब यह कार्य सिद्ध हो जाय तब समझना चाहिये कि हमने योगके मार्गपर निर्णायक कदम रख दिया है और हमारी सफलता निश्चित है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि पहले हम भक्तिके मूल भावोंको अनन्यतः तथा प्रबलतया भगवान्‌की ओर मोड़ दें, फिर उन्ह रूपांतरित करें, ताकि वे अपने अधिक पार्थिव तत्त्वोंसे मुक्त हो जायँ और अंतमें हम उन्हें शुद्ध एवं पूर्ण प्रेमके आधारपर प्रतिष्ठित करें। जो भाव प्रेमके पूर्ण मिलनके संग नहीं रह सकते उन सबको अंततः झड़ जाना होगा, टिकने योग्य भाव वही हो सकते हैं जो दिव्य प्रेमकी अभि-व्यक्तियोंका रूप धारण कर सकते और दिव्य प्रेमका आस्वादन करनेके साधन बन सकते हैं। प्रेम ही हमारे अंदर एक ऐसा भाव है जो सर्वथा निःस्वार्थ, अहैतुक एवं स्वयंसत् हो सकता है; प्रेमका प्रेमके अतिरिक्त और कोई हेतु होना आवश्यक नहीं। क्योंकि हमारे सभी भावोंका मूल होता है या तो आनंदकी खोज और प्राप्ति, या खोजकी विफलता, या जो आनंद हमने प्राप्त किया है या जिसे हमने अधिगत समझ लिया था उसका वियोग; परंतु प्रेम वह है जिससे हम भागवत पुरुषका स्वयंभू आनंद सीधा ही उपलब्ध कर सकें। भागवत प्रेम वास्तवमें आनंदकी उस उपलब्धिका ही नाम है और मानों वह मूर्त्तिमान् आनंद ही है।

इस योगमें हमारे प्रवेश और इस पथपर हमारी यात्राके नियामक सत्य यही हैं। कुछ अवांतर प्रश्न भी पैदा होते हैं और मनुष्यकी बुद्धिको व्याकुल करते हैं, यद्यपि उनसे निपटना अभी बाकी है पर वे अनिवार्य नहीं। भक्तियोग हृदयका विषय है, बुद्धिका नहीं। इस मार्गमें जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके लिये भी हम अपनी यात्रा हृदयसे प्रारंभ करते हैं, न कि बुद्धिसे। अतएव, हृदयकी भक्तिके प्रेरक भावोंका सत्य और उनकी चरम उपलब्धि और एक ढंगसे प्रेमके परम एवं अद्वितीय स्वयंसिद्ध भावमें उनका अंतर्धान—बस इसीसे हमें प्रारंभमें तथा अनिवार्यतः मतलब है। ऐसे विकट प्रश्न भी हैं कि क्या भगवान्‌का कोई मूल अतिभौतिक रूप या

रूप-शक्ति है जिससे सभी रूप (रूपवान् पदार्थ) उत्पन्न होते हैं या कि वह सदा रूपरहित ही है; अभी बस इतना ही कहना आवश्यक है कि भगवान् कम-से-कम वे नाना रूप अवश्य स्वीकार करता है जो कि भक्त उसे प्रदान करता है और उन्हींके द्वारा वह उससे प्रेमपूर्वक मिलता है, जब कि हमारी आत्माओंका उसकी आत्मासे समागम भक्तिकी सफलताके लिये अपरिहार्य है। इसी प्रकार, कुछ एक धर्म और धार्मिक दर्शन भक्तिको मानव-आत्मा तथा भगवान्के बीच नित्य भेदके विचारसे जकड़ देना चाहते हैं जिसके बिना, उनका कहना है कि, प्रेम और भक्तिका अस्तित्व संभव ही नहीं; परंतु जिस दर्शनकी मान्यता है कि केवल एकमेव भगवान् ही सत् है वह प्रेम और भक्तिका विनियोग अज्ञानगत व्यवहारमें ही करता है। ये (प्रेम और भक्ति) अज्ञानके टिकनेतक शायद आवश्यक हैं या कम-से-कम प्रारंभिक चेष्टाके रूपमें उपयोगी हैं; पर जब भेदमात्र मिट जाता है, अतएव जब इसे पार करना या त्यागना होता है तब ये संभव ही नहीं रहते। तथापि, हम एकमेव सत्ताका सत्य इस अर्थमें स्वीकार कर सकते हैं कि प्रकृतिगत **'सर्व'** भगवान् ही है चाहे ईश्वर प्रकृतिगत सर्वसे अधिक कुछ हो। तब प्रेम बन जाता है एक ऐसी गति जिससे प्रकृतिगत और मनुष्यगत भगवान् विराट् तथा परात्पर भगवान्के आनंदको अधिकृत करता तथा इसका उपभोग करता है। जो हो, अवश्यमेव प्रेमकी परितृप्ति स्वभावतः ही दो प्रकारकी होती है, एक तो वह जिससे प्रेमी तथा प्रियतम भेदमें अपने मिलनका आनंद लेते हैं तथा उस सबका भी उपभोग करते हैं जो बहुविध मिलनके हर्षमें वृद्धि करता है, और दूसरी वह जिसमें वे अपनेको एक-दूसरेमें उँडेलकर एक आत्मा बन जाते हैं। प्रारंभ करनेके लिये यही सत्य सर्वथा पर्याप्त है, क्योंकि यही है प्रेमका सच्चा स्वरूप। प्रेम ही इस योगका मूल प्रेरक है, अतः जैसा प्रेमका समग्र स्वरूप होगा वैसी ही होगी योगकी गति, इसकी परिणति और परिपूर्ति।

तीसरा अध्याय

भगवन्मुख भाव

योगका मूलसूत्र यह है कि मानव-चेतनाकी सभी या कुछ एक शक्तियाँ भगवान्‌की ओर फेर दी जायँ ताकि सत्ताकी इस चेष्टाके द्वारा संस्पर्श, संवंध एवं मिलन स्थापित हो जाय। भक्तियोगमें जिस शक्तिको साधन वनाया जाता है वह है भावमय प्रकृति। इसका मुख्य सिद्धांत यह है कि मनुष्य और भगवान्‌में कोई एक मानवीय संबंध अपनाकर हृद्गत भावोंको उन्हींकी ओर अधिकाधिक तीव्र वेगसे प्रवाहित किया जाय जिससे कि अंतमें मानव आत्मा दिव्य प्रेमके मदमें उन्हींमें आसक्त होकर उन्हींके साथ एक हो जाय। भक्त अपने योगद्वारा जो चीज खोजता है वह अंततः एकत्वकी विशुद्ध शांति या एकत्वकी शक्ति एवं निष्काम संकल्प-बल नहीं है, वह तो है मिलनकी मस्ती। जो कोई भी भाव हृदयको इस उल्लासके लिये तैयार कर सकता है योग उसे अपनाता है; और जैसे-जैसे प्रेमका दृढ़ मिलन अधिक प्रगाढ़ एवं पूर्ण होता जायगा वैसे-वैसे, जो भी चीज इस हर्षातिरेकको कम करती है वह उत्तरोत्तर झड़ती जायगी।

जिन भावोंको लेकर धर्म ईश्वरकी पूजा, सेवा और प्रीति-भक्तिकी ओर वढ़ता है उन सवको योग स्वीकार करता है, अपने अंतिम परिणामोंके रूपमें नहीं, किंतु भावुक प्रकृतिकी प्रारंभिक चेष्टाओंके रूपमें। परंतु एक भाव ऐसा भी है जिसका योगसे वहुत ही कम संवंध है, कम-से-कम उस योगका जिसका अभ्यास भारतमें किया जाता है। कुछ धर्मोंमें, शायद अधिकतर धर्मोंमें, ईश्वर-भयका विचार वहुत ही वड़ा स्थान रखता है, कभी-कभी तो सवसे वड़ा; ईश्वर-भीरु मनुष्य इन धर्मोंका आदर्श धार्मिक व्यक्ति होता है। निःसंदेह भयका विचार, किसी सीमातक, एक विशेष प्रकारकी भक्तिके साथ पूर्णतः संगत है; अपने उच्चतम रूपमें यह दिव्य शक्ति, दिव्यन्याय, दिव्यविधान, दिव्यऋतकी पूजामें तथा सर्वशक्तिमान् स्रष्टा और न्यायकारीके प्रति नैतिक आज्ञापालन एवं संभ्रांत आदरके भावमें उन्नीत हो जाता है। अतः इसका हेतु नैतिक-धार्मिक होता है और इसका ठीक-ठीक संवंध भक्तसे नहीं, वल्कि कर्मी मनुष्यसे है जो अपने कर्मोंके दिव्य

विधाता और न्यायकर्त्ताके प्रति भक्तिसे परिचालित होता है। भयका भाव ईश्वरको राजा मानता है और उसके सिंहासनकी महिमाके अतिनिकट पहुँच ही नहीं पाता जबतक कि यह सदाचारके द्वारा उसके योग्य न हो या कोई मध्यस्थ (mediator) पापके प्रति दैवी कोपको दूर करके इसे वहाँतक न ले जाय। जब यह अधिक-से-अधिक समीप पहुँच जाता है तब भी यह अपने-आप तथा अपने उच्च पूजार्हके बीच भयग्रस्त दूरी कायम रखता है। पुत्रको अपनी मातामें या प्रेमीको अपने प्रियतममें जैसा पूर्ण निर्भय विश्वास होता है वैसे विश्वासके साथ या पूर्ण प्रेमसे उत्पन्न होनेवाले एकत्वकी घनिष्ठ भावनाके साथ यह भगवान्‌का आलिंगन नहीं कर सकता।

कुछ एक प्रारंभिक प्रचलित धर्मोंमें इस ईश्वर-भयका उद्‌गम काफी अधकचरा था। मनुष्यने देखा कि संसारमें कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो उससे बड़ी हैं, जिनका स्वभाव एवं व्यापार दुर्बोध हैं, और जो उसकी समृद्धिमें उसे ठोकर मारकर गिरा देने और किन्हीं भी नाराज करनेवाले कामोंके बदले उसे दंड देनेके लिये हरदम तैयार दीखती हैं। ईश्वरको तथा संसारके संचालक नियमोंको न जाननेके कारण ही मनुष्यके अंदर देवताओंसे भयका जन्म हुआ। इसने उच्चतर शक्तियोंपर स्वेच्छाचार और मानवीय विकारका आरोप किया; इसने उन्हें ऐसे महाकार पार्थिव मनुष्योंके रूपमें कल्पित किया जो मनमानी, अत्याचार, वैयक्तिक द्वेष करनेमें समर्थ हैं और मनुष्यकी ऐसी किसी भी महत्तासे ईर्ष्या करनेवाले हैं, क्योंकि वह उसे पार्थिव प्रकृतिकी क्षुद्रतासे ऊपर उठाकर दिव्य प्रकृतिके अति निकट पहुंचा देती है। ऐसे विचारोंको लेकर किसी सच्ची भक्तिका उदय नहीं हो सकता। यह और बात है कि इनसे एक ऐसी संशयास्पद भक्तिका जन्म हो जाय जिसे दुर्बल बलवान्‌के प्रति अनुभव कर सकता है, क्योंकि बलवान् मनुष्य अपने अधीनस्थोंपर कुछ नियम थोप रखता है जिन्हें वह दंड एवं पुरस्कारके द्वारा लागू कर सकता है। अतः दुर्बल मनुष्य उन नियमोंका पालन कर पूजा-प्रशंसा और भेंट-स्तुतिके द्वारा उसकी रक्षा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार यह भी दूसरी बात है कि जो महिमा-गरिमामयी सत्ता, जो प्रज्ञा एवं परमोच्च शक्ति इस संसारके ऊपर है तथा इसके सभी नियमों एवं घटनाओंका उद्‌गम है या कम-से-कम इनकी नियामिका है उसके प्रति ऐसे भयमूलक विचारोंसे मनुष्यके अंदर सविनय एवं साष्टांग प्रणाम-पूजाका भाव पैदा हो।

भक्तिमार्गके प्रारंभोंकी ओर अधिक निकट पहुँच तभी संभव होती है जब दैवी शक्तिका यह तत्त्व इन असंस्कृत धारणाओंसे मुक्त हो जाता

है और अपने-आपको इस विचारपर एकाग्र करता है कि संसारका एक दिव्य शासक एवं स्रष्टा है और दैवी विधानका एक स्वामी है जो पृथ्वी एवं द्युलोकका शासन करता है और अपने रचे हुए प्राणियोंका मार्गदर्शक, सहायक और उद्धारक है। दिव्य-सत्तासंबंधी इस विशालतर एवं उच्चतर विचारमें पुरानी अपरिपक्वताके अनेक तत्त्व चिरकालतक बने रहे और कुछ तत्त्व तो अभी भी विद्यमान हैं। यह विचार यहूदियोंने अति प्रबलता-पूर्वक प्रस्थापित किया। उन्हींके द्वारा यह संसारके एक बड़े भागमें फैल गया। वे एक ऐसे सदाचारमय ईश्वरमें विश्वास कर सकते थे जो पक्षपाती, स्वेच्छाचारी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, प्राय: निर्दयी और यहाँतक कि स्वच्छंदत: रक्तपिपासु हो। आज भी कई लोगोंको सृष्टिकर्त्ताका यह स्वरूप मान्य है कि उसने अपनी सृष्टिके दो ध्रुवों, स्वर्ग और नरक—नित्य नरक,—का निर्माण किया है और यहाँतक कि कुछ धर्मोंके अनुसार तो उसने पहलेसे ही कुछ ऐसी आत्माएँ निश्चित कर रखी हैं जिन्हें उसने पाप एवं दंडके लिये नहीं, अपितु नित्य नरकयातनाके लिये उत्पन्न किया है। परंतु वालोचित धार्मिक विश्वासकी इन अतियोंको छोड़कर यदि सर्वशक्तिमान् न्यायाधीश, व्यवस्थापक एवं सम्राट्के विचारको स्वत: पृथक् रूपमें लिया जाय तो भी यह भगवान्के विषयमें एक असंस्कृत एवं अपरिपक्व विचार है, क्योंकि, यह हीन एवं वाह्य सत्यको मुख्य सत्य मान बैठता है और अधिक अंतरीय सद्वस्तुकी प्राप्तिके उच्चतर पथमें वाधा डालनेमें प्रवृत्त होता है। पाप-भावनाके महत्त्वको यह बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता है और इस प्रकार यह आत्माके भय, आत्म-अविश्वास और दुर्बलताकी अवधि एवं मात्राको वढ़ा देता है। पुण्यके आचरण और पापके परित्यागका संवंध यह दंड और पुरस्कारके विचारके साथ जोड़ देता है जो चाहे प्राप्त आगामी जीवनमें ही होते हैं। हमारी नैतिक सत्ताका नियमन करना तो चाहिये उच्चतर भावनाको, पर उसके स्थानपर यह पाप-पुण्यको भय तथा स्वार्थके निम्न प्रेरकोंपर अवलंबित कर देता है। स्वयं भगवान्को नहीं, वल्कि स्वर्ग-नरकको यह मानव आत्माके धार्मिक जीवनका लक्ष्य वना डालता है। ये असंस्कृत धारणाएँ मानव मनके मंद शिक्षणमें अपना प्रयोजन पूरा कर चुकी हैं, पर योगीके लिये ये किंचित् भी उपयोगी नहीं। योगी जानता है कि चाहे जो भी सत्य ये प्रकट करती हों वह वास्तवमें संसारके वाह्य विधानके साथ विकासी मानव आत्माके वाह्य संबंधोंका सत्य है न कि भगवान्के साथ मानव आत्माके अंतरीय संबंधोंका कोई अंतरंग सत्य; परंतु योगका वास्तविक क्षेत्र तो ये अंतरीय संवंध ही हैं।

तथापि इस विचारमेंसे कुछ फलितार्थ निकलते हैं जो हमें भक्तियोगकी देहरीके अधिक समीप ले जाते हैं। प्रथम भगवान्‌के विषयमें यह विचार उद्‌भूत हो सकता है कि वह हमारी नैतिक सत्ताका मूलस्रोत, विधान और लक्ष्य है। इससे फिर उसके विषयमें हमें यह ज्ञान हो सकता है कि वह परम आत्मा है जिसके लिये हमारी सक्रिय प्रकृति ललकती है, वह संकल्प-शक्ति है जिसके साथ हमें अपने संकल्पको तद्रूप करना है, वह सनातन ऋत, पवित्रता, सत्य एवं प्रज्ञा है जिसके साथ हमारी प्रकृतिको समरस होना है और जिसकी सत्ताकी ओर हमारी सत्ता आकृष्ट होती है। इस प्रकार हम कर्मयोगपर जा पहुँचते हैं; इस योगमें भगवान्‌की सगुण (वैयक्तिक) भक्तिको स्थान है, कारण, दिव्य संकल्प हमारे कर्मोंका स्वामी प्रतीत होता है जिसकी वाणी हमें सुननी होगी और जिसकी दिव्य प्रेरणाका हमें अनुसरण करना होगा और जिसका काम करना ही हमारे सक्रिय जीवन और संकल्पका एकमात्र धंधा है। दूसरे, यह विचार प्रादुर्भूत होता है कि यह दिव्य आत्मसत्ता है, सबका जनक पिता है जो अपने सभी प्राणियोंपर दयामय रक्षा एवं प्रेमकी छत्रछाया प्रसारित करता है, और उससे फिर जीव तथा भगवान्‌में पिता-पुत्रका संबंध, प्रेमका संबंध, और फलतः अपने सजातीयोंके साथ भ्रातृभावका संबंध पैदा हो जाता है। भगवान्, स्वामी और पिताके ये संबंध भक्तियोगके माने हुए अंग हैं, भगवान्—जिसकी प्रकृतिकी शांत शुद्ध ज्योतिमें हमें विकसित होना है, स्वामी—जिसके पास हम अपने कर्मों और सेवासे पहुँचते हैं, पिता—जो पुत्रवत् अपनी शरणमें आनेवाली आत्माके प्रेमका प्रत्युत्तर देता है।

ज्योंही हम इन फलितार्थों तथा इनके गूढ़तर आध्यात्मिक मर्ममें भली-भाँति प्रवेश करते हैं त्योंही ईश्वर-भय-रूपी हेतु तुच्छ और थोथा ही नहीं, असंभव भी हो जाता है। यह मुख्यतः नैतिक क्षेत्रमें महत्त्व रखता है जब कि आत्मा अभी सदाचारके लिये सदाचारका पालन करनेको पर्याप्त विकसित नहीं होती और उसे अपने ऊपर किसी अधिकारीकी आवश्यकता होती है जिसके कोप या जिसके कठोर निष्पक्ष निर्णयका उसे भय हो और फिर उस भयको वह अपनी सत्कर्मनिष्ठाका आधार बना सके। जब हम आध्यात्मिकतामें विकसित होने लगते हैं तब यह प्रेरक फिर और नहीं टिक सकता, इसके सिवाय कि मनमें कुछ भ्रांति झिलमिलाती रहे, पुरानी मनोवृत्ति कुछ समय अड़ी रहे। अपिच, योगमें नैतिक लक्ष्य पुण्यविषयक स्थूल भावनाके लक्ष्यसे भिन्न है। साधारणतः, नीतिशास्त्र सत्कर्मकी एक प्रकारकी मशीनरी समझा जाता है, कर्म ही सब कुछ है और सारा प्रश्न

एवं सारा झगड़ा यही है कि सत्कर्म करना कैसे चाहिये। परंतु योगीके लिये कर्मका महत्त्व मुख्यत: कर्मके लिये नहीं, बल्कि आत्माके ईश्वरकी ओर विकासके साधनके रूपमें है। अतएव, भारतीय अध्यात्मशास्त्र करणीय कर्मके गुणपर उतना बल नहीं देता जितना कि कर्मके मूल स्रोत-रूप आत्माके गुणपर, उसकी सत्यता, निर्भयता, पवित्रता, प्रीति, करुणा एवं हितेच्छापर, अनिष्ट कामनाके अभावपर और इन गुणोंके प्रवाहरूप कर्मोंपर। यह पुराना पश्चिमी विचार कि 'मानव प्रकृति स्वभावसे ही बुरी है और पुण्य कर्म हमारी पतित प्रकृतिके प्रतिकूल होते हुए भी अनुसरणीय है', प्राचीन कालसे ही योगियोंकी विचारधारामें अभ्यस्त भारतीय मनोवृत्तिके विपरीत है। हमारी प्रकृतिमें, प्रचंड राजसिक और निम्नमुख तामसिक गुणके साथ-साथ, शुद्धतर सात्त्विक अंश भी है और इसे,—प्रकृतिके इस उच्चतम अंगको,—प्रोत्साहित करना ही नीति-शास्त्रका कर्तव्य है। इसके द्वारा हम अपने अंदरकी दैवी प्रकृतिको बढ़ाकर आसुरिक एवं पैशाचिक तत्त्वोंसे छुटकारा प्राप्त करते हैं। इसलिये ईश्वर-भीरु मनुष्यका यहूदियोंका-सा सदाचार नहीं, बल्कि संत तथा ईश्वरप्रेमीकी पवित्रता, प्रेम, परोपकार, सत्य, निर्भयता, अहिंसा ही इस मतके अनुसार नैतिक विकासका आदर्श है। अधिक व्यापक रूपमें कहें तो, दैवी प्रकृतिमें विकसित होना ही हमारी नैतिक सत्ताकी परिपूर्णता है। यह सर्वोत्तम रूपमें इस प्रकार किया जा सकता है कि हम ईश्वरको अपनी उच्चतर आत्मा, मार्गदर्शक और उन्नायक चिति-शक्ति या अपने प्रेम और सेवाका पात्र परम स्वामी अनुभव करें। उससे भय नहीं, वल्कि उससे प्रेम और उसकी सत्ताकी स्वतंत्रता तथा नित्य पवित्रताके प्रति अभीप्सा ही हमारा प्रेरकभाव होना चाहिये।

अवश्य ही, स्वामी और सेवकके तथा पिता और पुत्रके संबंधोंमें भी भय आ घुसता है, परंतु केवल तभी जब वे मानवी स्तरपर होते हैं, जब उनमें शासन, नियंत्रण और दंडकी प्रधानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है और प्रेम अपने-आपको थोड़ा-बहुत प्रभुत्वके पर्देके पीछे आच्छादित कर लेनेको वाध्य होता है। स्वामीके रूपमें भी भगवान् किसी मनुष्यको दंड नहीं देते, धमकाते नहीं, आज्ञा-पालनके लिये दबाव नहीं डालते। यह तो मानव आत्माका ही कर्तव्य है कि वह स्वतंत्रतापूर्वक भगवानकी शरणमें आये और अपने-आपको इसकी अभिभावक शक्तिके प्रति अर्पित करे, ताकि यह उसे अपने अधिकारमें लाकर अपने ही दिव्य स्तरोंकी ओर उठा ले जाय और अनंत द्वारा सांत प्रकृतिपर प्रभुत्वका तथा सर्वोच्च देवकी सेवाका हर्ष

प्रदान करे। इसी हर्षके द्वारा अहंकार तथा निम्नतर प्रकृतिसे छुटकारा प्राप्त होता है। इस संबंधकी कुंजी है प्रेम, और भारतीय योगमें यह सेवा या दास्य, दिव्य सखाकी सुमधुर सेवा या दिव्य प्रियतमकी सरस सेवा ही है। सर्वलोकमहेश्वर गीतामें अपने सेवक, अपने भक्तसे केवल यही चाहता है कि तुम जीवनमें मेरे निमित्तमात्र बनो, बस और कुछ नहीं; यह माँग वह सखा, मार्गदर्शक, उच्चतर आत्माके रूपमें करता है और कहता है कि मैं सभी लोकोंका स्वामी हूँ तथा सब प्राणियोंका सखा, **'सर्वलोकमहेश्वरं सुहृदं सर्वभूतानाम्'**; असलमें दोनों संबंध साथ-साथ चलते हैं और इनमेंसे कोई भी दूसरेके बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार हमारे प्रेममय पिताके रूपमें ही ईश्वर हमें योगलभ्य प्रगाढ़तर आत्म-मिलनकी ओर ले चलता है, हमारे उत्पादक पिताके रूपमें नहीं, जो हमसे सेवाकी माँग इसलिये करता है कि वह हमारी सत्ताका रचयिता है। दोनोंमें प्रेम ही वास्तविक कुंजी है, पूर्ण प्रेममें भयरूपी प्रेरक भावका प्रवेश असंगत है। मानव आत्माकी भगवान्‌के साथ समीपता ही लक्ष्य है, भय सदा आवरण और दूरी पैदा करता है, यहाँतक कि भागवत शक्तिके लिये संभ्रम और सम्मानका भाव भी दूरी और भेदका चिह्न है और प्रेमके मिलनकी घनिष्ठतामें ये सब लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, भय निम्नतर प्रकृतिकी, निम्नतर स्वकी चीज है। उच्चतर आत्माके पास जाते हुए इसे अलग कर देना होगा, तभी हम उसका सामीप्य लाभ कर सकेंगे।

दिव्य पिताका यह संबंध और जगन्माता आत्मशक्तिके रूपमें भगवान्‌के साथ निकटतर संबंध एक अन्य प्रारंभिक धार्मिक प्रेरक भावसे निकले हैं। गीता कहती है, एक प्रकारका भक्त वह होता है जो भगवान्‌की शरणमें इस भावसे जाता है कि वह मेरा इष्टफलदाता, मंगलकारी तथा मेरी बाह्यांतर सत्ताकी आवश्यकताएँ पूरी करनेवाला है। भगवान् कहते हैं, "अपने भक्तके योगक्षेमका भार मैं वहन करता हूँ, **योगक्षेमं वहाम्यहम्**।" मनुष्यका जीवन उसकी शारीरिक एवं प्राणिक सत्तामें नहीं, अपितु उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक सत्तामें भी आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओंका और अतएव, कामनाओंका जीवन है। जब उसे यह ज्ञान होता है कि एक महत्तर शक्ति संसारका संचालन कर रही है तब वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिये, अपनी विषम यात्रामें सहायताके लिये, अपने संघर्षमें रक्षा तथा आश्रय प्राप्त करनेके लिये प्रार्थनाद्वारा उसकी शरण लेता है। प्रार्थनाद्वारा भगवान्‌की ओर साधारण धार्मिक पहुँच,

अपनेको भगवान्‌की ओर मोड़ देनेके लिये यह प्रार्थनारूपी विधि हमारी धार्मिक सत्ताका मौलिक प्रयत्न है और एक सार्वभौम सत्यपर स्थित है भले ही इसमें कितनी भी अपूर्णताएँ क्यों न हों, और सचमुच अनेक अपूर्णताएँ हैं ही, विशेषकर वह वृत्ति जो मानती है कि भगवान्‌को प्रशंसा, अनुनय-विनय और उपहारोंसे रिझाकर, रिश्वत देकर, उसकी चापलूसी करके उसकी अनुमति या अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है और प्रायः उस भावनाका कुछ आदर नहीं करती जिसे लेकर मनुष्य भगवान्‌के पास जाता है।

प्रार्थनाके प्रभावको प्रायः संदेहकी दृष्टिसे देखा जाता है और स्वयं प्रार्थना अयुक्तियुक्त एवं निश्चितरूपेण निरर्थक तथा निष्फल चीज समझी जाती है। यह ठीक है कि वैश्व संकल्प सदैव अपने लक्ष्यको ही कार्यान्वित करता है और व्यक्तिके अहंकी स्वार्थपूर्ण स्तुति एवं प्रार्थनासे पथभ्रष्ट नहीं हो सकता, यह सच है कि जो परात्पर पुरुष विश्व-विधानमें अपने-आपको व्यक्त करता है वह सर्वज्ञ होनेके कारण अपने वृहत्तर ज्ञानसे अपना कर्तव्य-कर्म अवश्यमेव पहलेसे ही जान लेता है और उसे मानव विचारके द्वारा मार्गनिर्देश या प्रेरणा प्राप्त करनेकी जरूरत नहीं, और किसी भी जगद्-व्यवस्थामें व्यक्तिकी कामनाएँ सच्चा निर्धारक तत्त्व नहीं हैं और न हो सकती हैं। परंतु यह व्यवस्था या वैश्व संकल्पकी सिद्धि निरे यांत्रिक नियमसे नहीं, वल्कि कुछ एक शक्तियों एवं वलोंके द्वारा कार्यान्वित होती है। उन शक्तियों एवं वलोंमेंसे, कम-से-कम मानव-जीवनके लिये, मानव संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धा कुछ कम महत्त्वकी नहीं। प्रार्थना उस संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धाका एक विशेष रूपमात्र है। प्रार्थनाके ढंग अनेक वार अधकचरे होते हैं और केवल वालसदृश ही नहीं,—जो अपने-आपमें कोई दोष नहीं है,—वल्कि वालिश भी होते हैं; परंतु फिर भी इसमें एक वास्तविक शक्ति और अर्थ है। इसका वल और मर्म है—मनुष्यके संकल्प, अभीप्सा और श्रद्धाका दैवी संकल्पके साथ संवंध जोड़ना, इस भावसे कि वह दिव्य संकल्प चिन्मय पुरुषका संकल्प है जिसके साथ हम अनेकविध सचेतन और सजीव संवंध स्थापित कर सकते हैं। हमारा संकल्प और अभीप्सा हमारे अपने वल-पुरुषार्थसे भी कार्य कर सकती है और वह वल-पुरुषार्थ, निश्चय ही, चाहे निम्नतर और चाहे उच्चतर उद्देश्योंके लिये महान् एवं प्रभावपूर्ण वस्तु हो सकता है,—ऐसे अभ्यासक्रम कितने ही हैं जो कहते हैं कि एकमात्र इसी शक्तिका प्रयोग करना चाहिये। अथवा हमारा संकल्प एवं अभीप्सा भागवत या वैश्व संकल्पके आश्रयपर या उसकी

अधीनतामें भी कार्य कर सकते हैं। इस पिछली विधिमें हम यह समझ सकते ह कि भागवत संकल्प हमारी अभीप्साको प्रत्युत्तर तो देता है, पर प्रायः यंत्रवत्, शक्तिके एक प्रकारके नियमके अनुसार, या कम-से-कम सर्वथा निर्वैयक्तिक रूपमें, अथवा हम यह मान सकते हैं कि वह मानव आत्माकी दिव्य अभीप्सा एवं श्रद्धाको सचेतन रूपमें प्रत्युत्तर देता है और सचेतन रूपमें ही इसे अभीष्ट सहायता, मार्गनिर्देश, रक्षा तथा सफलता प्रदान करता है, **'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'**

प्रारंभमें प्रार्थना निम्न स्तरपर भी हमारे लिये इस संवंधको तैयार करनेमें सहायता पहुँचाती है। पर इस अवस्थामें, हमारे अंदर जो वहुत-सी चीजें निरे अहंकार और आत्म-प्रवंचनासे भरी होती हैं उनके साथ भी यह ताल मिलाये रहती है; तो भी आगे चलकर हम इसके मूलमें निहित आध्यात्मिक सत्यकी ओर वढ़ सकते हैं। इसलिये मुख्य वस्तु है इस प्रकारका साक्षात् संबंध, मनुष्य-जीवनका ईश्वरसे संपर्क, सचेतन आदान-प्रदान, न कि प्रार्थित वस्तुकी प्राप्ति। आध्यात्मिक विषयोंमें और आध्यात्मिक संपत्तिकी खोजमें यह सचेतन संवंध महान् शक्ति है; यह हमारे पूर्णतः आत्म-निर्भर संघर्ष एवं प्रयाससे अधिक महत्तर शक्ति है और इसके द्वारा पूर्णतर आध्यात्मिक उन्नति एवं अनुभूति प्राप्त होती है। अवश्य ही अंतमें प्रार्थना या तो उस महत्तर वस्तुमें जाकर समाप्त हो जाती है जिसके लिये इसने हमें तैयार किया था (असलमें जवतक हमारे अंदर श्रद्धा, संकल्प, अभीप्सा हैं तवतक इनका प्रार्थना नामक रूप अपने-आपमें कुछ आवश्यक नहीं) अथवा यह केवल संवंधके हर्षके लिये ही वनी रहती है। इसके उद्देश्य, इसके काम्य पदार्थ (अर्थ) भी उत्तरोत्तर ऊँचे-से-ऊँचे होते जाते हैं; फलतः अंतमें हम सर्वोच्च अहेतुकी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो अन्य किसी माँग या लालसासे रहित शुद्ध एवं सरल दिव्यप्रेम-रूपा भक्ति होती है।

भगवान्‌के प्रति ऐसा भाव रखनेसे दो प्रकारके संवंध उत्पन्न होते हैं, दिव्य पिता और माताका पुत्रसे संवंध और दिव्य सखाका संवंध। मानव आत्मा भगवान्‌को माता-पिता या सखा मानकर उसके पास सहायताके लिये, रक्षाके लिये, मार्गदर्शनके लिये, इष्टफलके लिये पहुँचती है,—अथवा यदि इसका लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना हो तो यह उसे गुरु, शिक्षक, प्रकाशदाता मानकर शरणमें जाती है, क्योंकि भगवान् ज्ञान-सूर्य हैं,—अथवा वह दुःख-दर्दके समय सुख-शांति और मुक्तिके लिये भगवान्‌के पास पहुँचती है, भले ही यह स्वतः दुःखसे मुक्ति चाहती हो या इस दुःख-धाम जगत्-जीवनसे

अथवा इसके सभी भीतरी और असली कारणोंसे*। इन चीजोंमें हम एक विशेष प्रकारका क्रम पाते हैं। पिताका संबंध सदा ही कम निकट, तीव्र, स्निग्ध और अंतरंग होता है, अतएव योगमें इसका आश्रय कम ही लिया जाता है, क्योंकि योग चाहता है घनिष्ठ मिलन। दिव्य सखाका संबंध अधिक मधुर और अधिक अंतरंग वस्तु है। इसमें असमानताके अंदर भी समानता और घनिष्ठताके लिये अवकाश है, पारस्परिक आत्मदान प्रारंभ करनेकी गुंजायश है, अपने अत्यंत घनिष्ठ रूपमें, जब अन्य प्रकारके लेन-देनका विचार मात्र लुप्त हो जाता है, जब यह संबंध प्रेमरूपी एकमात्र अनन्य सुपर्याप्त हेतुके सिवा अन्य हेतुओंसे रहित हो जाता हैं तो यह जीवन-लीलाके साथीके स्वतंत्र और सुखद संबंधका रूप धारण कर लेता है। परंतु माता-पुत्रका संबंध और भी अधिक निकट तथा अंतरंग है अतएव जहाँ धार्मिक उमंग अत्यंत समृद्ध उल्लाससे युक्त होती है वहाँ यह बहुत बड़ा भाग लेता है और मनुष्यके हृदयसे अत्यंत उत्साहपूर्वक उमड़ पड़ता है। आत्मा अपनी सभी कामनाओं और कष्टोंमें मातृस्वरूप आत्माके पास जाती है और भगवती माता चाहती है कि ऐसा ही हो ताकि वह अपना प्रेममय हृदय उँडेल सके। आत्मा उसकी ओर इसलिये भी मुड़ती है कि इस प्रेमका स्वयंसिद्ध स्वभाव ही ऐसा है और इसलिये भी कि यह प्रेम हमें एक ऐसे घरका संकेत करता है जिसकी ओर हम जगत्में भटक चुकनेके बाद मुड़ते हैं और एक ऐसे हृदयकी ओर इंगित करता है जिसमें हम विश्राम पाते हैं।

परंतु सबसे ऊँचा और सबसे महान् संबध तो वह है जो साधारण धार्मिक प्रेरक भावोंमेंसे किसीसे भी प्रारंभ नहीं होता, वरन् जो योगके असली सारतत्त्वसे युक्त होता है तथा स्वयं प्रेमके निज स्वभावसे ही उद्भूत होता है; वह है प्रेमी तथा प्रियतमका अनुराग; जहाँ कहीं आत्माको ईश्वरसे पूर्ण मिलनकी अभिलाषा होती है वहाँ दिव्य उत्कण्ठाका यह रूप उन धर्मोंमें भी अपना मार्ग बना लेता है जो वैसे इसके विना काम चलाते दीखते हैं और अपनी साधारण प्रणालीमें इसे कोई स्थान नहीं देते। यहाँ एकमात्र प्रार्थित वस्तु है प्रेम, एकमात्र भयजनक वस्तु है प्रेमका विलोप। एकमात्र दु:ख है प्रेमके वियोगका दु:ख, क्योंकि और सव चीजें या तो

---

*गीतामें जो चार प्रकारके भक्त माने गये हैं, ये उन्हींमेंसे तीन हैं, आर्त्त (दु:खित), अर्थार्थी (अपने लिये भोग्य पदार्थोंकी कामना करनेवाला), जिज्ञासु (ईश्वर-ज्ञानका अभिलाषी)।

प्रेमीके लिये अस्तित्व नहीं रखतीं अथवा वे उसके सामने प्रेमके प्रसंगों या फलोंके रूपमें ही उपस्थित हो सकती हैं न कि प्रेमके विषयों या अवस्थाओंके तौरपर। वास्तवमें, प्रेममात्र अपने स्वरूपसे ही स्वयंसत् है, क्योंकि इसका मूलस्रोत किन्हीं दो आत्माओंमें सत्ताकी गुप्त एकता और उनके हृदयमें उस एकताकी अनुभूति या एकताकी आकांक्षा ही होती है; हाँ, वे आत्माएँ फिर भी अपनेको एक-दूसरेसे पृथक् और विभक्त समझनेमें समर्थ होती हैं। अतएव, ये सब संबंध भी केवल प्रेमके ही लिये सत्ताके स्वयंसिद्ध अहैतुक आनंदतक पहुँच सकते हैं। फिर भी वे अन्य प्रेरक भावोंसे ही शुरू होते हैं और कुछ अंशोंमें वे अंततक उन्हींमें अपनी क्रीड़ाका थोड़ा-वहुत सुख प्राप्त करते हैं। किंतु यहाँ प्रेम ही प्रारंभ है और प्रेम ही अंत, और संपूर्ण लक्ष्य भी प्रेम ही है। यह ठीक है कि स्वत्व-स्थापनकी कामना भी वहाँ होती है, पर स्वयं-सत् प्रेमकी परिपूर्णतामें यह भी पराजित हो जाती है और भक्तकी अंतिम अभिलाषा यही होती है कि उसकी भक्ति न तो समाप्त हो और न ही न्यून। वह स्वर्गकी या जन्म-मरणसे छुटकारेकी या किसी और पदार्थकी कामना नहीं करता, वह बस यही चाहता है कि उसका प्रेम नित्य और अविच्छिन्न हो।

प्रेम एक भाव है और इसे दो चीजोंकी चाह होती है—नित्यता और तीव्रताकी। प्रेमी और प्रियतमके संबंधमें ही नित्यता और तीव्रताकी यह चाह सहज और स्वाभाविक होती है। प्रेम है परस्पर स्वत्व-स्थापनकी चाह, प्रेम-संबंधमें ही यह स्वत्व-स्थापनकी अभिलाषा चरम सीमाको पहुँचती है। स्वत्व-स्थापनकी कामनाका मतलब है दुईका भाव, पर इस कामनाको पार करके प्रेम रह जाता है एकत्वकी चाह, इस प्रेम-संबंधमें ही एकत्वका विचार, यह विचार कि दो आत्माएँ एक-दूसरेमें निमज्जित होकर एक हो जाती हैं, अपनी उत्कण्ठाकी पराकाष्ठा और अपनी तृप्तिकी पूर्णता प्राप्त करता है। साथ ही प्रेम है सौंदर्यकी लालसा, यह लालसा इस प्रेम-संबंधमें ही सर्व-सुन्दरका साक्षात्कार, स्पर्श और हर्ष प्राप्त कर नित्य-तृप्ति लाभ करती है। प्रेम है आनंदका शिशु और अन्वेषक, इस प्रेम-संबंधमें ही यह हृदयकी चेतनाके और साथ ही सत्ताके रोम-रोमके उच्चतम संभव आनंदमें विभोर हो उठता है। इसके अतिरिक्त, यह ऐसा संबंध है जो जैसे मनुष्य और मनुष्यके बीचमें वैसे ही यहाँ भी अधिक-से-अधिकको याचना करता है और महत्तर तीव्रताओंतक पहुँचकर भी कम-से-कम संतुष्ट होता है, क्योंकि यह अपनी सच्ची और पूरी तृप्ति तो केवल भगवान्में ही प्राप्त कर सकता है। अतएव, सबसे अधिक इस संबंधमें

ही मनुष्य अपने भावोंको ईश्वरकी ओर मोड़कर उनकी पूर्ण सार्थकता अनुभव करता है और उस समस्त सत्यको उपलब्ध कर लेता है जिसका कि मानवी प्रतीक है प्रेम; उसकी सभी तात्त्विक सहज-प्रेरणाएँ दिव्य, उदात्त होकर आनंदमें तृप्त हो जाती हैं। उस आनंदसे ही हमारा जीवन उत्पन्न हुआ था और उसीमें यह एकत्वके द्वारा लौट जाता है—दिव्य सत्ताके उस आनंदमें जहाँ प्रेम निरतिशय, नित्य और विशुद्ध है।

चौथा अध्याय

भक्तिका मार्ग

भक्ति अपने-आपमें इतनी विशाल है जितनी भगवान्‌के लिये आत्माकी हार्दिक उत्कण्ठा और इतनी सीधी तथा सरल जितने सीधे अपने लक्ष्यकी ओर जानेवाले प्रेम और कामना। इसलिये यह किसी शास्त्रीय पद्धतिमें नहीं बाँधी जा सकती, न ही राजयोगकी भाँति मनोवैज्ञानिक शास्त्रपर या हठयोगकी तरह मनोभौतिक विज्ञानपर आधारित की जा सकती है और न ज्ञानयोगकी सामान्य विधिके समान किसी नियत बौद्धिक प्रक्रियाद्वारा चलायी जा सकती है। यह विविध साधनों या आलम्बनोंका उपयोग कर सकती है। व्यवस्था, प्रक्रिया तथा प्रणालीमें रुचि रखनेवाला मनुष्य इन सहायक साधनोंका आश्रय लेकर इन्हें पद्धतिका रूप देनेका यत्न कर सकता है : किंतु इसके भेदोंका उल्लेख करनेके लिये हमें मनुष्यके प्रायः सभी अनगिनत धर्मोंके अंतरीय ईश्वर-प्राप्तिके पहलूका विवेचन करना होगा। पर वास्तवमें, अधिक प्रगाढ़ भक्तियोग अपनेको केवल इन चार गतियोंमें परिणत करता है, ईश्वरकी ओर उन्मुख आत्माकी चाह और इसके भावावेशका उसकी ओर अति प्रबल प्रवाह, प्रेमकी पीर और प्रेमका दिव्य प्रतिफल, प्रेमके आनंदकी उपलब्धि तथा उस आनंदकी लीला, और दिव्य प्रेमका शाश्वत उपभोग जो स्वर्गीय आनंदका मर्म है। ये ऐसी चीजें हैं जो एक साथ ही इतनी सरल और इतनी गहरी हैं कि इन्हें पद्धतिका रूप देना या इनका विश्लेषण करना संभव नहीं। अधिक-से-अधिक कोई यही कह सकता है कि लीजिये ये हैं सिद्धिके चार क्रमिक तत्त्व, या सोपान,—यदि हम इन्हें ऐसा कह सकते हों,—और व्यापक रूपमें, ये हैं कुछ साधन जिन्हें भक्तियोग प्रयोगमें लाता है और फिर ये हैं भक्तिकी साधनाके कुछ पक्ष और अनुभव। पहले हमारे लिये केवल मोटे तौरपर उस सामान्य रूपरेखाको जानना आवश्यक है जिसका ये अनुकरण करते हैं। उसके बाद ही हम इस विषयपर विचार कर सकते हैं कि कैसे भक्तिका मार्ग समन्वयात्मक और सर्वांगीण योगमें प्रवेश करता है, वहाँ इसका क्या स्थान है और इसके सिद्धांतका दिव्य जीवन-प्रणालीके अन्य सिद्धांतोंपर क्या प्रभाव पड़ता है।

योगमात्रका अभिप्राय यह है कि मानव मन और मानव आत्मा जिन्होंने अभीतक दिव्यताको चरितार्थ नहीं किया है, पर जो अपने अंदर दैवी संवेग तथा आकर्षण अनुभव करते हैं, उस सत्ताकी ओर झुकते हैं जिसके द्वारा ये अपना महत्तर अस्तित्व उपलब्ध करते हैं। हृद्भावोंकी दृष्टिसे, यह झुकाव सबसे पहले जो रूप ग्रहण करता है वह है आराधना। साधारण धर्ममें यह आराधना बाह्य पूजाका रूप धारण कर लेती है और वह पूजा, फिर कर्मकांडीय पूजाके अत्यंत बाहरी रूपको जन्म देती है। यह तत्त्व साधारणतया आवश्यक भी है, क्योंकि अधिकतर मनुष्य अपने स्थूल मनोंमें रहते हैं, स्थूल प्रतीकके सहारेके बिना कोई भी चीज अनुभव नहीं कर पाते और स्थूल कर्मके सहारेके बिना यह भी अनुभव नहीं कर सकते कि वे कुछ जी भी रहे हैं। यहाँ हम तांत्रिक साधनाक्रमसे इसका संबंध देख सकते हैं। तांत्रिक साधना भी पशु, पाशविक या स्थूल सत्ताके मार्गको अपने अभ्यासक्रमका सबसे निचला सोपान बनाती है और कहती है कि निरी या प्रबल कर्मकाण्डी आराधना पाशविक मार्गके इस सबसे निचले भागकी पहली सीढ़ी है। यह स्पष्ट है कि वास्तविक धर्म भी (योग तो धर्मसे अधिक कुछ है) तभी शुरू होता है जब कि यह बिलकुल बाहरी पूजा किसी सच्ची मनोनुभूत वस्तुसे, किसी सच्चे नमन, संभ्रम या आध्यात्मिक अभीप्सासे संबंध रखती हो। कारण, तब यह उस वस्तुकी सहायक या बाह्य अभिव्यक्ति बन जाती है; साथ ही, यह एक प्रकारसे समय-समयपर या नित्य-निरंतर उसका स्मरण कराके मनको साधारण जीवनके धंधोंसे उसकी ओर मोड़नेमें सहायक होती है। परंतु जबतक हम देवाधिदेवविषयक किसी धारणाकी ही पूजा करते हैं तबतक हम अभी योगके आरंभबिंदुपर भी नहीं पहुँचे हैं। योगका लक्ष्य है मिलन, अतएव सदा ही इसका आरंभ होगा भगवान्की खोजसे, किसी प्रकारके स्पर्श, समीपता या स्वत्वकी स्पृहासे। जब यह स्पर्श हमें एकाएक प्राप्त होता है तब तो आराधना सदैव, प्रधान रूपसे, आंतरिक पूजा बन जाती है; हम अपने-आपको भगवान्का मंदिर बनाने लगते हैं, अपने विचारों और भावोंको अभीप्सा तथा जिज्ञासाकी अनवरत प्रार्थना और अपने सारे जीवनको बाह्य सेवा तथा पूजा बनाते हैं। जैसे ही यह परिवर्तन, यह नयी आत्मिक प्रवृत्ति बढ़ती है, वैसे ही योग, वर्धमान संपर्क और मिलन ही भक्तका धर्म बन जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि बाह्य पूजा निश्चितरूपेण त्याग दी जायगी, वरन् यह उत्तरोत्तर आंतरिक भक्ति और आराधनाका केवल स्थूल प्रकाश या प्रवाह बन जायगी, आत्माकी ऐसी तरंग

वन जायगी जो वाणी और प्रतीकात्मक कार्यमें अपनेको प्रकट करती है।

यदि आराधना खूब गहरी है तो इसके पूर्व कि यह गभीरतर भक्ति-योगका अंग बने, प्रेम-पुष्पकी पंखुरी, अपने सूर्यके प्रति इसका अर्घ्यदान और ऊर्ध्वगमन बने, यह उपास्य देवके प्रति सत्ताके अधिकाधिक आत्म-निवेदनको अपने साथ अवश्य लायगी। निश्चय ही, इस आत्म-निवेदनका एक तत्त्व होगा अपनेको शुद्ध करना जिससे हम भगवान्के साथ संपर्कके लिये, अपनी अंतःसत्ताके मंदिरमें भगवान्के प्रवेशके लिये, या हृदयकी वेदीमें उसके आत्म-प्रकाशके लिये योग्य वन जायँ। शुद्धिकी इस क्रियाका स्वरूप नैतिक हो सकता है, किंतु यह ठीक और निर्दोष कार्यके लिये नैतिकता-वादीकी खोजमात्र नहीं होनी चाहिये, यहाँतक कि जव एक वार हम योगकी स्थितिमें पहुँच जायँगे तो यह आत्म-शुद्धि रूढ़ धर्ममें प्रतिपादित ईश्वरीय विधानका पालनमात्र नहीं रहेगी, वरन् तव इसका मतलव यह होगा कि जो भी चीजें भगवान्के शुद्ध स्वरूप-विषयक या हमारे अंतःस्थ भगवान्-विषयक विचारकी विरोधी हैं उन सवका परित्याग (Katharsis)। पहली अवस्थामें यह जो रूप धारण करती है वह यह है कि हम अनुभव करनेके ढंगमें और वाह्य कर्ममें भगवान्का अनुकरण करते हैं, दूसरी अवस्थामें यह कि हम अपनी प्रकृतिमें उसके सदृश होते जाते हैं। भगवान्की सदृशता प्राप्त करनेका वाह्य नैतिक जीवनसे वही संवंध है जो आंतरिक आराधनाका कर्मकाण्डी पूजासे। इसकी पराकाष्ठा है—भगवत्-सादृश्य-लाभके द्वारा एक प्रकारकी मुक्ति,* निम्नतर प्रकृतिसे मुक्ति और दिव्य प्रकृतिमें रूपांतर।

आत्मनिवेदन पूर्ण होकर भगवान्के प्रति हमारी सारी सत्ताके—हमारे सभी विचारों और कर्मोंके भी—अर्पणका रूप धारण कर लेता है; यहाँ यह योग कर्मयोग तथा ज्ञानयोगके सारभूत तत्त्वोंको अपने अंतर्गत कर लेता है, पर अपनी ही रीतिसे, अपनी ही अनूठी भावनाके साथ। यह है जीवन-और कर्मोंका भगवान्के प्रति यज्ञ, परंतु अपने संकल्पको भागवत संकल्पके साथ एकस्वर करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक यह प्रेमका यज्ञ है। भक्त अपना जीवन तथा जो कुछ वह है, जो कुछ उसके पास है और जो कुछ वह करता है वह सव भगवान्को अर्पित कर देता है। यह समर्पण तपस्याका रूप धारण कर सकता है, जैसा कि तव होता है जव वह साधारण लोकजीवनका त्याग कर केवल स्तुति, प्रार्थना और

---

*साधर्म्यमुक्ति

उपासनामें या तन्मय ध्यानमें अपने दिन व्यतीत करता है, अपनी व्यक्तिगत संपत्ति छोड़कर साधु या भिक्षु बन जाता है जिसका एकमात्र धन होता है भगवान्, जीवनके सभी काम छोड़ देता है, सिवाय उनके जो भगवान्के साथ समागम और अन्य भक्तोंके साथ समागममें सहायक या उससे संबद्ध होते हैं, अथवा अधिक-से-अधिक वह अपने तापस जीवनके सुरक्षित दुर्गसे लोक-सेवाके वे कार्य करना जारी रखता है जो विशेष रूपसे प्रेम, करुणा और मंगल-साधनकी दैवी प्रकृतिका प्रवाह प्रतीत होते हैं। परंतु एक इससे भी विशालतर आत्म-निवेदन है जो किसी भी सर्वांगीण योगकी विशेषता होती है। कारण, सर्वांगीण योग जीवन तथा जगत्के संपूर्ण वैभव-विलासको भगवान्की लीला मानता है, और समग्र सत्ताको उसके अधिकारमें सौंप देता है; इस आत्म-निवेदनका स्वरूप यह है कि हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है उस सबको ऐसा समझें कि यह भगवान्का ही है, हमारा नहीं और हम सभी काम उसके प्रति अर्घ्यके रूपमें करें। इससे आंतर तथा बाह्य दोनों जीवनोंका पूर्ण सक्रिय उत्सर्ग, अविकल आत्म-दान संपन्न हो जाता है।

इसी प्रकार विचारोंका भी भगवान्के प्रति निवेदन होता है। अपने आरंभमें यह मनको आराधनाके विषयपर स्थिर करनेका प्रयत्न होता है,—क्योंकि चंचल मानव-मन स्वभावतः ही अन्य विषयोंमें लगा रहता है तथा जब इसे ऊपरकी ओर फेरा जाता है तब भी संसार इसे लगातार अपनी ओर खींचता रहता है। परंतु एकाग्रताके अभ्याससे अंतमें उसीका चिंतन करनेका उसका स्वभाव बन जाता है और अन्य सब केवल गौण हो जाता है तथा इसका चिंतन वह केवल उसीके संबंधसे करता है। चिंतनके लिये प्रायः स्थूल प्रतिमाकी या, अधिक अंतरंग तथा विशिष्ट रूपमें, किसी मंत्र या भगवन्नामकी सहायता ली जाती है जिसके द्वारा भागवत सत्ताका साक्षात्कार प्राप्त होता है। पद्धतिके निर्माता शास्त्रकार मनकी भक्ति-द्वारा भगवत्प्राप्तिके तीन सोपान मानते हैं; प्रथम, भगवान्के नाम, गुणावलि तथा इनसे संबंधित सभी बातोंका निरंतर श्रवण, दूसरे, इनका या भागवत सत्ता किंवा व्यक्तित्वका अनवरत मनन, तीसरे, ध्येयपर मनको स्थिर एवं एकाग्र करना या निदिध्यासन; इससे पूर्ण साक्षात्कार उपलब्ध होता है। जब इनका सहचारी अनुभव या एकाग्रता अत्यंत सघन हो तो इन्हींसे (श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे) समाधि भी प्राप्त होती है, ऐसी समाहित अवस्था जिसमें चेतना बाह्य पदार्थोंसे दूर चली जाती है। परंतु वास्तवमें यह सब गौण ही है; एकमात्र मुख्य बात है मनके विचारकी आराध्यमें प्रगाढ़ रति।

चाहे यह ज्ञानमार्गके ध्यानके सदृश प्रतीत होती है, पर अपनी भावनामें यह उससे भिन्न है। अपने असली स्वरूपमें यह निस्तब्ध नहीं, वरन् तन्मय ध्यान है; यह भगवान्की सत्तामें लीन नहीं हो जाना चाहती, बल्कि भगवान्को हमारे अंदर लाना और उसकी उपस्थितिके या उसकी प्राप्तिके गभीर हर्षावेशमें हमें मग्न कर देना चाहती है; इसका आनंद एकत्वकी शांति नहीं, वरन् मिलनका हर्षावेश है। यहाँ भी संभव है कि यह आत्म-उत्सर्ग पृथक्कारक हो जिसका परिणाम होगा जीवनके अन्य समस्त विचारका परित्याग करके इस हर्षावेशको प्राप्त करना जो आगे चलकर उस पारके स्तरोंमें शाश्वत बन जाता है। अथवा यह उत्सर्ग व्यापक भी हो सकता है जिसमें सभी विचार भगवान्से परिपूर्ण होते हैं, यहाँतक कि जीवनके धंधोंमें भी प्रत्येक विचार उसीको स्मरण करता है। जैसे अन्य योगोंमें वैसे इसमें भी मनुष्यको सभी जगह और सबमें भगवान् दिखायी देने लगते हैं और वह अपनी सभी आंतरिक क्रियाओं तथा बाह्य कार्योंमें भगवान्के साक्षात्कारको प्रवाहित करने लगता है। परंतु यहाँ सब कुछ भाविक मिलनकी प्रधान शक्तिपर ही टिका होता है: क्योंकि प्रेमके द्वारा ही पूर्ण आत्म-निवेदन तथा पूर्ण प्राप्ति संपन्न होती है, और विचार तथा कर्म भागवत प्रेमके रूप एवं आकार बन जाते हैं और यह प्रेम आत्मा तथा इसके करणोंको अधिकृत कर लेता है।

यह सामान्य गति है। प्रारंभमें जो शायद भगवान्-विषयक किसी विचारकी अस्पष्ट आराधना होती है वही इस गतिके द्वारा भागवत प्रेमका रंग-रूप ले लेती है तथा पीछे, एक बार योगमार्गमें प्रवेश पाते ही, भागवत प्रेमका आंतरिक सत्य एवं सघन अनुभव बन जाती है। परंतु एक इससे भी अधिक अंतरंग योग है जो शुरूसे ही प्रेमस्वरूप होता है और बिना अन्य प्रक्रिया या पद्धतिके इसकी उत्कण्ठाकी तीव्रतासे ही सिद्धि लाभ करता है। शेष सब कुछ भी प्राप्त अवश्य होता है, पर यह इसीमेंसे निकलता है जैसे बीजमेंसे पत्ता और फूल; और चीजें प्रेमको बढ़ाने तथा पूर्ण करनेके साधन नहीं, बल्कि आत्मामें पहलेसे ही बढ़ रहे प्रेमकी रश्मिच्छटा हैं। यही है वह मार्ग जिसपर आत्मा चलती है जब कि वह, शायद साधारण मानवजीवनमें व्यस्त रहती हुई भी गुप्त वृन्दावनके अदूर पर्देके पीछे देवाधिदेवकी वंशीकी तान सुनकर अपनी सुधबुध खो बैठती है और उसे तबतक तृप्ति नहीं होती, तबतक कल नहीं पड़ती जबतक वह दिव्य वंशीवादकको ढूंढ़कर अपनी पकड़ और अधिकारमें नहीं ले आती। पार्थिव विषयोंसे समस्त सौंदर्य और आनंदके आध्यात्मिक स्रोतकी ओर मुड़ते हुए

हृदय और आत्मामें जो शुद्ध प्रेमकी शक्ति होती है वह साररूपमें यही है। आनंदके स्रोतकी इस खोजमें प्रेमके सब भाव और राग, सभी वृत्तियाँ और अनुभूतियाँ निवास करती हैं। यह प्रेम अपने परम इष्ट पदार्थपर केंद्रित होता है तथा मानवी प्रेमको तीव्रताकी जो पराकाष्ठा प्राप्त हो सकती है उससे सैकड़ों गुना तीव्रतर होता है। इसका परिणाम होता है सारे जीवनमें उथल-पुथल, अतीन्द्रिय दिव्य दर्शनके द्वारा प्रकाशकी प्राप्ति, हृदयकी अभिलाषाके अनन्य ध्येयके लिये अतृप्त स्पृहा, इस एकमात्र कार्यसे विक्षिप्त करनेवाली सभी चीजोंके प्रति तीव्र असहिष्णुता, उपलब्धिके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंकी उग्र वेदना, एक ही मूर्त्तिमें समस्त सौंदर्य और आनंदके पूर्ण दर्शन। इसमें होती हैं प्रेमकी सारी अनेकविध वृत्तियाँ, ध्यान और तन्मयताका हर्ष, समागम, कृतार्थता तथा आलिंगनका आनंद, विरहकी व्यथा, प्रेमका कोप, उत्कण्ठाके आँसू, पुनर्मिलनका प्रवृद्ध आनंद। हृदय अंतश्चेतनाके इस परम काव्यका दृश्यपट होता है, परंतु ऐसा हृदय जो उत्तरोत्तर प्रवल आध्यात्मिक परिवर्तनमेंसे गुजरकर आत्माका उज्ज्वल रूपमें खिलता हुआ कमल बन जाता है। जैसे इसकी खोजकी तीव्रता सामान्य मानवीय भावोंके सर्वोच्च सामर्थ्यसे परेकी चीज है, वैसे ही इसका आनंद और चरम हर्षातिरेक कल्पनाकी पहुँचसे परे तथा वाणीसे अवर्णनीय हैं। यह तो देवाधिदेवका आनंद है जो मनुष्यकी समझसे वाहर है।

भारतीय भक्तिने इस दिव्य प्रेमको शक्तिशाली रूप तथा काव्यात्मक प्रतीक प्रदान किये हैं जो वास्तवमें उतने प्रतीक नहीं हैं जितने कि सत्यकी अंतरीय अभिव्यक्तियाँ। कारण, उस सत्यको और किसी तरह व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। भारतीय भक्ति दिव्य व्यक्तिके दर्शन करती है और मानवीय संबंधोंको प्रयोगमें लाती है, केवल संकेतोंके रूपमें नहीं, वरन् इस कारण कि मानव आत्माके साथ परम आनंद और सौंदर्यके ऐसे दिव्य संबंध सचमुचमें हैं जिनके अपूर्ण पर फिर भी वास्तविक प्रतिरूप हैं मानवीय संबंध, और इस कारण भी कि वह आनंद और सौंदर्य नितांत अगोचर दार्शनिक सत्ताके अमूर्त्त रूप या गुण नहीं हैं, बल्कि परम पुरुषका साक्षात् शरीर और स्वरूप हैं। वह एक सजीव आत्मा ही है जिसके लिये कि भक्तकी आत्मा लालायित होती है; क्योंकि जीवन्मात्रकी उद्गम सत्ताकी कोई भावना या धारणा या अवस्था नहीं, बल्कि वास्तविक पुरुष है। इसलिये, दिव्य प्रियतमकी प्राप्तिमें आत्माका समस्त जीवन तृप्त हो जाता है और जिन संबंधोंद्वारा वह अपनेको उपलब्ध करती तथा जिनमें अपनेको प्रकट करती है वे भी पूरी तरह चरितार्थ हो जाते हैं;

इसीलिये उनमेंसे किसीके तथा सभीके द्वारा प्रियतम खोजा जा सकता है, किंतु जिन संबंधोंमें प्रगाढ़ताकी गुंजाइश सबसे अधिक है उन्हींके द्वारा उसकी खोज सदैव अत्यंत तीव्र और उसकी प्राप्ति गभीरतम हर्षावेशसे युक्त हो सकती है। आत्मा उसे भीतर हृदयमें खोजती है और इसीलिये सबसे पृथक् स्वयं आत्मामें ही सत्ताकी अंत:समाहित एकाग्रताके द्वारा खोजती है; पर साथ ही सब जगह जहाँ कहीं भी वह अपनी सत्ताको प्रकाशित करता है उसे देखती तथा प्रेम करती है। सत्ताके समस्त सौंदर्य और हर्षको वह उसके हर्ष तथा सौंदर्यके रूपमें देखती है; सर्वभूतमें वह आत्माके द्वारा उसका आलिंगन करती है; उपभोग किया हुआ प्रेमका हर्षावेश अपने-आपको सार्वभौम प्रेममें उँडेल देता है; सत्तामात्र इसके आनंदका विच्छुरण बन जाती है, यहाँतक कि अपनी ठेठ प्रतीतियोंमें भी अपने बाह्य आकारसे भिन्न किसी वस्तुमें रूपांतरित हो जाती है। स्वयं यह जगत् दिव्य आनंदकी लीला अनुभूत होता है और जिसमें संसार अपनेको खो देता है वह है शाश्वत मिलनके दिव्यानंदका स्वर्गधाम।

पाँचवाँ अध्याय

भागवत व्यक्तित्व

समन्वयात्मक योग ज्ञान और भक्तिको केवल अपने अंदर सम्मिलित ही नहीं करता, वल्कि इन्हें एक कर देता है, अतएव इसमें तुरंत एक प्रश्न पैदा होता है, भागवत व्यक्तित्वका कठिन और कष्टप्रद प्रश्न। आधुनिक विचारकी सारी प्रवृत्ति व्यक्तित्वका महत्त्व कम करनेकी रही है; इसने सत्ताके गहन तथ्योंके मूलमें केवल एक महान् निर्वैयक्तिक शक्ति, धूमिल संभूति के ही दर्शन किये हैं। वह महान् शक्ति भी निर्वैयक्तिक शक्तियों तथा निर्वैयक्तिक नियमोंके द्वारा अपनेको कार्यान्वित करती है, जब कि व्यक्तित्व अपनेको इस निर्वैयक्तिक गतिके तथ्यकी सतहपर परवर्ती, गौण, आंशिक तथा क्षणिक दृग्विषयके रूपमें ही प्रस्तुत करता है। मान लिया कि इस शक्तिमें चेतना है, फिर भी प्रतीत यह होता है कि वह चेतना निर्वैयक्तिक तथा निर्गुण है, अपने सारमें अमूर्त्तगुणों या सामर्थ्योंके सिवा और सव चीजोंसे शून्य है; क्योंकि अन्य प्रत्येक वस्तु केवल परिणाम एवं तुच्छ दृग्विषय है। प्राचीन भारतीय विचार सीढ़ीके विल्कुल दूसरे सिरेसे चलकर अपनी अधिकतर दिशाओंमें इसी व्याप्तिपर पहुँचा। इसने निर्वैयक्तिक सत्ताको मूल तथा सनातन सत्य कल्पित किया; इसके अनुसार व्यक्तित्व तो केवल भ्रम है या, अधिक-से-अधिक, मनका एक दृग्विषय।

इसके विपरीत, यदि भगवान्‌के व्यक्तित्वको वास्तविक सत्ता न माना जा सके—भ्रमका मूलाधार नहीं, वल्कि वास्तविक सद्वस्तु—तो भक्तिमार्ग संभव नहीं। प्रेमी और प्रियतमके विना प्रेम संभव ही नहीं। यदि हमारा व्यक्तित्व एक भ्रम है और जिस परम व्यक्तित्वकी ओर हमारी पूजा ऊपर उठती है वह भी यदि इस भ्रमका एक प्रधान पक्षमात्र हैं, और यदि हम ऐसा मानते हों तो, प्रेम तथा पूजाका तुरंत अन्त हो जायगा, अथवा ये हृदयके अयुक्तियुक्त रागमें ही जीवित रह सकेंगे, क्योंकि हृदय जीवनके प्रवल स्पंदनोंके द्वारा तर्कबुद्धिके स्पष्ट तथा शुष्क सत्योंका निषेध करता है। हमारे मनोंकी छाया या चमकीले विश्व-प्रपंचकी, जो सत्य-दृष्टिके सामने लुप्त हो जाता है, प्रेमपूर्वक पूजा करना संभव तो है, किंतु ऐसी स्वगठित आत्म-प्रवंचनापर मुक्तिमार्गकी नींव नहीं रखी जा सकती।

अवश्य ही भक्त बुद्धिके इन संशयोंको अपने मार्गमें नहीं आने देता; उसके अपने हृदयमें स्फुरणाएँ उठती हैं और वही उसके लिये पर्याप्त होती हैं। परंतु पूर्णयोगके साधकको अंततक छायाके आनंदपर नहीं अड़े रहना है, बल्कि सनातन तथा चरम सत्यका ज्ञान प्राप्त करना है। यदि निर्वैयक्तिक ही एकमात्र स्थायी सत्य हो तो दृढ़ समन्वय संभव नहीं। अधिक-से-अधिक वह भागवत व्यक्तित्वको एक प्रतीक, शक्तिशाली तथा फलजनक कल्पना मान सकता है। किंतु अंतमें उसे इसका अतिक्रमण करके केवल चरम ज्ञानका अनुसरण करनेके लिये भक्तिको तिलांजलि देनी होगी। उसे निराकार सद्वस्तुपर पहुँचनेके लिये सत्ताको इसके सब प्रतीकों, मूल्यों और निहित तत्त्वोंसे रिक्त करना होगा।

परंतु हम कह चुके हैं कि वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता, हमारे मनोंकी समझके अनुसार, भगवान्‌के दो पक्षमात्र हैं और दोनों उसकी सत्तामें निहित हैं; वे एक ही वस्तु हैं जिसे हम दो विरोधी दिशाओंसे देखते हैं तथा जिसमें हम दो द्वारोंसे प्रवेश करते हैं। यह हमें सुस्पष्ट रूपमें देख लेना चाहिये, ताकि जब हम भक्तिकी उमंग और प्रेमकी स्फुरणाका अनुसरण करें तब यदि बुद्धि नाना संदेह उठाकर हमें सताना चाहे या दिव्य मिलनके हर्षके भीतर हमारा पीछा करे तो हम अपनेको उन संदेहोंसे मुक्त कर सकें। निश्चय ही वे संदेह उस हर्षसे परे झड़ जाते हैं, किंतु यदि हम दार्शनिक मनके बोझके नीचे अत्यधिक दबे हुए हैं तो वे लगभग उस हर्षकी देहरीतक हमारे साथ चले आ सकते हैं। इसलिये यह अच्छा होगा कि हम अपनेको इनसे यथाशीघ्र खाली कर लें यह जानकर कि बुद्धि या तर्कवादी दार्शनिक मन सत्यके पास पहुँचनेकी अपनी विशेष विधिमें सीमित है और बौद्धिक मार्गसे आरंभ करनेवाला आध्यात्मिक अनुभव भी सीमाबद्ध है; इस प्रकार हम देखेंगे कि निश्चय ही यह उच्चतम तथा विशालतम आध्यात्मिक अनुभवकी पूर्ण समग्रता नहीं है। आध्यात्मिक सहजज्ञान सदैव विवेकबुद्धिसे अधिक प्रकाशपूर्ण मार्गदर्शक है, आध्यात्मिक सहजज्ञान हमें बुद्धि द्वारा ही नहीं, अपितु हमारी शेष सारी सत्ताके द्वारा भी, हृदय और प्राणके द्वारा भी, मार्ग दिखाता है। अतः सर्वांगीण ज्ञान वह होगा जो इन सबको दृष्टिमें रखकर इनके विभिन्न सत्योंको एकीभूत करे। स्वयं बुद्धिको भी अधिक गहरी तृप्ति होगी यदि वह अपने स्वीकृत तथ्योंतक ही सीमित न रहकर हृदय तथा प्राणके सत्यको भी स्वीकार करे और उन्हें उनका चरम आध्यात्मिक मूल्य प्रदान करे।

दार्शनिक बुद्धिका स्वभाव है भावोंमें विचरण करना, उन्हें एक प्रकारकी

निजी अमूर्त्त वास्तविकता प्रदान करना। वह वास्तविकता उनके उन सब गोचर रूपोंसे पृथक् होती है, जो हमारे जीवन तथा व्यक्तिगत चेतनापर प्रभाव डालते हैं। इसकी प्रवृत्ति इन रूपोंको इनके रिक्ततम तथा अत्यंत सर्वसामान्य लक्षणोंमें परिणत करनेकी होती है और संभव हो तो इन्हें भी सूक्ष्म कर किसी अंतिम अमूर्त्त भावका रूप देनेकी। शुद्ध बौद्धिक मार्ग जीवनसे उलटी तरफ जाता है। वस्तुओंपर विचार करते हुए बुद्धि हमारे व्यक्तित्वपर उनके प्रभावोंसे पीछे हटकर उनके मूलमें स्थित किसी एक सर्वसामान्य तथा निर्वैयक्तिक सत्यपर पहुँचनेका यत्न करती है; उस प्रकारके सत्यको यह सत्ताका अनन्य वास्तविक सत्य या कम-से-कम सद्वस्तुकी एकमात्र उत्कृष्ट तथा स्थायी शक्ति समझनेकी ओर प्रवृत्त होती है। अपनी पराकाष्ठामें यह, स्वभाववश तथा अनिवार्य रूपसे, चरम निर्वैयक्तिकता और चरम अमूर्त्त भावपर ही पहुँचेगी। प्राचीन दर्शनोंका परिपाक इसीमें हुआ। उन्होंने प्रत्येक पदार्थको तीन अमूर्त्त भावोंमें परिणत कर दिया, सत्, चित्, आनंद; इन तीनमेंसे दोसे, जो पहले तथा अत्यंत अमूर्त्त भावपर अवलंबित प्रतीत होते थे, पिंड छुड़ाकर वे सभीको उस शुद्ध निराकार सत्में अंतर्भूत करनेमें प्रवृत्त हुए जिससे अन्य प्रत्येक वस्तु, सब रूप, सब मूल्य बाहर निकले हैं, सिवा सत्ताके एकमेव अनंत कालातीत तत्त्वके। परंतु बुद्धिको अभी एक और संभव कदम उठाना था और वह उसने बौद्ध-दर्शनमें उठाया। इसने देखा कि सत्ताका यह अंतिम तथ्य भी एक रूपमात्र है; इसने उसका भी विश्लेषण किया और अनन्त शून्यपर जा पहुँची जो या तो कोई शुद्ध रिक्तता हो सकता था या फिर कोई नित्य शब्दातीत वस्तु।

जैसा कि हम जानते हैं, हृदय और प्राणका नियम इससे ठीक उलटा है। वे अमूर्त्त भावोंसे नहीं जी सकते; उन्हें केवल ऐसी चीजोंसे तृप्ति मिल सकती है जो ठोस हैं या इन्द्रियग्राह्य हो सकती हैं; चाहे भौतिक तौरपर और चाहे मानसिक या आध्यात्मिक तौरपर उनका लक्ष्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसकी वे बौद्धिक पृथक्करणके द्वारा विवेचना तथा प्राप्ति करना चाहते हैं; वे तो चाहते हैं अपने लक्ष्यकी जीवंत अभिव्यक्ति, उसपर सचेतन स्वत्व और उसका सचेतन आनंद। जिसे वे प्रत्युत्तर देते हैं वह अगोचर मन या निर्वैयक्तिक सत्ताकी तृप्ति नहीं, वल्कि हमारे अंदरके पुरुष, चेतन व्यक्तिका हर्ष और कर्म ही है; सांत या अनंत, वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसके लिये अपनी सत्ताके आनंद और वल सत्य हैं। अतएव, जव हृदय और प्राण सर्वोच्च तथा अनंत की ओर मुड़ते हैं तो किसी वस्तुशून्य सत्

या असत्, सत् अथवा निर्वाण, पर नहीं पहुँचते, वल्कि सत् पुरुषपर, केवल एक चेतनापर नहीं, वल्कि चैतन्य पुरुषपर, केवल "है"के शुद्ध निर्वैयक्तिक आनंदपर नहीं, वरन् आनंदके अनंत "मैं हूँ"पर, आनंदमय पुरुषपर; न ही वे उसकी चेतना और आनंदको निराकार सत्में निमज्जित तथा विलीन कर सकते हैं, बल्कि वे तो तीनोंकी एकमें उपलब्धिपर आग्रह करते हैं, क्योंकि सत्ताका आनंद उनकी सर्वोच्च शक्ति है और चेतनाके विना आनंदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भारतके अत्यंत प्रगाढ़ प्रेम-धर्मके परम प्रतीक श्रीकृष्ण, अर्थात् आनंदस्वरूप तथा सर्वसुन्दर पुरुषका यही तात्पर्य है।

बुद्धि भी इस प्रवृत्तिका अनुसरण कर सकती है, पर तब यह शुद्ध नहीं रह जाती, यह अपनी कल्पना-शक्तिको अपनी सहायताके लिये आमंत्रित करती है, यह मूर्त्तिकार बन जाती है, प्रतीकों तथा मूल्योंकी स्रष्ट्री, आध्यात्मिक कलाकर्त्री तथा कवयित्री। अतएव, कठोरतम वौद्धिक दर्शन सगुणको, भागवत व्यक्तिको, परम वैश्व प्रतीकमात्र मानता है; यह कहता है, इससे परे सद्वस्तुकी ओर जाओ और तुम अंतमें निर्गुण, शुद्ध निर्वैयक्तिकपर पहुँचोगे। इसका प्रतिपक्षी दर्शन सगुणकी उच्चता स्थापित करता है; संभवतः यह कहेगा कि जो निर्गुण है वह सगुणकी आध्यात्मिक प्रकृतिका द्रव्य या उपादानमात्र है जिसमेंसे वह अपनी सत्ता, चेतना और आनंदकी शक्तियोंको, अपना स्वरूप प्रकाश करनेवाली सभी चीजोंको व्यक्त करता है। निर्गुण तो प्रत्यक्ष अभाव-पक्ष है जिसमेंसे वह अपने व्यक्तित्व-रूपी नित्य भाव-पक्षके कालगत नाना रूपोंको वाहर निकालता है। स्पष्ट ही यहाँ दो सहज प्रेरणाएँ काम कर रही हैं, अथवा, यदि हम वुद्धिके लिये इस शब्दका प्रयोग करनेसे हिचकिचाएँ, तो यूं कहना चाहिये कि हमारी सत्ताकी दो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं जो एक ही सद्वस्तुके साथ अपने-अपने ढंगसे वरताव कर रही हैं।

वुद्धिके विचार, इसके विवेक, तथा हृदय और प्राणकी अभीप्साएँ, इनकी निकट उपलब्धियाँ—दोनोंके मूलमें सत्य निहित हैं जिनपर पहुँचनेके ये साधन हैं। आध्यात्मिक अनुभव दोनोंको सत्य सिद्ध करता है; दोनों उसकी दिव्य चरम सत्तापर पहुँचते हैं जिसे कि वे खोज रहे हैं। परंतु फिर भी इनमेंसे प्रत्येक, यदि उसमें हमारी ऐकांतिक आसक्ति हो तो, अपने सहज गुण तथा अपने विशेष साधनकी सीमाओंके द्वारा कुंठित होता चला जाता है। अपने सांसारिक जीवनमें हम यही वात देखते हैं, यहाँ यदि हम एकमात्र हृदय और प्राणके पीछे चलते हैं तो ये हमें किसी उज्ज्वल परिणामपर नहीं पहुँचाते, जव कि ऐकांतिक वौद्धिकता या तो दूरस्थ,

अगोचर तथा अशक्त रहती है या वंध्य आलोचक या शुष्क यंत्रवित्। इनका पर्याप्त सामंजस्य तथा ठीक समन्वय हमारे मनोविज्ञान और हमारे व्यवहारकी एक महान् समस्या है।

समन्वय करनेवाली शक्ति परे, अंतर्ज्ञानमें निहित है। परंतु एक अंतर्ज्ञान तो वह है जो बुद्धिकी सेवा करता है और एक वह जो हृदय तथा प्राणकी सेवा करता है। यदि हम इनमेंसे किसी एकका ही अनन्य भावसे अनुसरण करें तो हम पहलेकी अपेक्षा अधिक दूर नहीं पहुँचेंगे; केवल इतना ही होगा कि जो चीजें अन्य अल्पदृष्टि शक्तियोंका लक्ष्य हैं वे हमारे लिये पृथक्-पृथक्, किंतु अधिक अंतरंग रूपमें, वास्तविक हो जायेंगी। किंतु यह तथ्य कि यह हमारी सत्ताके सभी भागोंकी समान रूपसे सहायता कर सकता है,—क्योंकि शरीरके भी अपने अंतर्ज्ञान होते हैं,—बतलाता है कि अंतर्ज्ञान एकांगी नहीं, बल्कि सर्वांगीण सत्यान्वेषी है। हमें अपनी संपूर्ण सत्ताके अंतर्ज्ञानके सामने अपनी जिज्ञासा रखनी है, न कि केवल सत्ताके प्रत्येक भागके सामने पृथक्-पृथक्, न ही इनकी उपलब्धियोंके कुल जोड़के सामने, बल्कि इन सब निम्नतर यंत्रोंसे परे, यहाँतक कि इनके प्रथम आध्यात्मिक प्रतिरूपोंसे भी परे। इसके लिये हमें अंतर्ज्ञानके निज गृहमें आरोहण करना होगा जो अनंत तथा असीम सत्यका निज गृह है, **'ऋतस्य स्वे दमे'**, जहाँ सत्तामात्र अपनी एकता उपलब्ध कर लेती है। यही आशय था प्राचीन वेदका जब कि उसने घोषणा की थी, "सत्यसे ढका हुआ एक ध्रुव सत्य है (सनातन सत्य जो इस दूसरे सत्यसे छुपा हुआ है जिसकी हमें यहाँ ये निम्नतर स्फुरणाएँ होती हैं); वहाँ प्रकाशकी दशशत किरणें एक साथ स्थित हैं; वह है एक।" **'ऋतेन ऋतम् अपिहितं......दश शता सह तस्थुः, तद् एकम्।'**

आध्यात्मिक अंतर्ज्ञान सदा सत्यको ही पकड़ता है; यह आध्यात्मिक उपलब्धिका ज्योति-दूत है या इसे उद्भासित करनेवाला प्रकाश; यह उसे प्रत्यक्ष देखता है जिसे हमारी सत्ताकी अन्य शक्तियाँ खोजनेका प्रयास कर रही हैं; यह बुद्धिके अमूर्त्त प्रतिरूपों तथा हृदय और प्राणके दृश्य प्रतिरूपोंके ध्रुव सत्यपर पहुँचता है, ऐसे सत्यपर जो स्वयं न तो दूरतः अमूर्त्त है न ही बाह्यतः मूर्त्त, बल्कि इनसे भिन्न कोई ऐसी चीज है जिसके लिये ये केवल हमारे प्रति इसकी मानसिक अभिव्यक्तिके दो पक्षमात्र हैं। जब हमारी अखंड सत्ताके अंग आपसमें पहलेकी तरह विवाद नहीं करते, बल्कि ऊपरसे प्रकाश पाते हैं तब इसका अंतर्ज्ञान जो कुछ देखता है वह यही है कि हमारी संपूर्ण सत्ताका लक्ष्य एक ही सद्वस्तु है। निर्गुण एक सत्य

है, सगुण भी एक सत्य है। वे एक ही सत्य हैं जो हमारी मानसिक क्रियाकी दो दिशाओंसे देखा गया है। उनमेंसे कोई भी अकेला सद्वस्तुका पूर्ण विवरण नहीं देता। तो भी प्रत्येकसे हम उसके पास पहुँच सकते हैं।

एक दिशासे देखनेपर ऐसा लगेगा कि कोई निर्वैयक्तिक विचार कार्यमें तत्पर है और उसने अपने कामकी सुविधाके लिये विचारककी कल्पनाको जन्म दिया है, कोई निर्वैयक्तिक शक्ति कार्यरत है और वह कर्त्ताकी कल्पनाको जन्म देती है, कोई निर्वैयक्तिक सत्ता क्रियामें प्रवृत्त है, और वह एक ऐसी वैयक्तिक सत्ताकी कल्पनाको प्रयोगमें लाती है जो चेतन व्यक्तित्व तथा वैयक्तिक आनंदको धारण करती है। दूसरी दिशासे देखनेपर, यह विचारक ही है जो अपने-आपको विचारमें प्रकट करता है, जिसके विना विचारका अस्तित्व संभव ही न होता और विचारसंबंधी हमारी सामान्य कल्पना केवल विचारकके स्वभावकी शक्तिको संकेतित करती है; ईश्वर अपनेको संकल्प, बल तथा सामर्थ्यके द्वारा व्यक्त करता है, सत् अपनी सत्ता, चेतना तथा आनंदके सर्वांगीण तथा आंशिक, प्रत्यक्ष, विलोम तथा प्रतिलोम—सभी रूपोंके द्वारा अपनेको विस्तारित करता है, इन चीजोंके विषययें हमारा सामान्य अमूर्त्त विचार उसकी सत्ताकी प्रकृतिकी त्रिविध शक्तिका बौद्धिक प्रतिरूपमात्र है। समस्त निर्वैयक्तिकता क्रमशः कल्पनाका रूप धरती दिखायी देती है और सत्ता अपने क्षण-क्षणमें तथा कण-कणमें एक और फिर भी असंख्यरूप व्यक्तित्व, अनंत देवाधिदेव, आत्म-चेतन तथा आत्म-प्रकाशक पुरुषके जीवन, चैतन्य, बल, आनंदके सिवा कुछ नहीं प्रतीत होती। दोनों दृष्टियाँ ठीक हैं, इसके सिवा कि कल्पनाके विचारको, जो हमारी अपनी बौद्धिक प्रक्रियाओंसे उधार लिया गया है, बाहर निकालना और प्रत्येकको उसका उपयुक्त बल देना आवश्यक है। पूर्णयोगके जिज्ञासुको इस प्रकाशमें देखना होगा कि वह दोनों दिशाओंमें उसी एक और अभिन्न सद्वस्तुपर पहुँच सकता है, बारी-बारीसे या एक साथ, मानों वह दो संबद्ध पहियोंपर सवारी कर रहा हो जो पहिये समानांतर पटरियोंपर घूम रहे हैं, पर वे समानांतर पटरियाँ बौद्धिक तर्कको नीचा दिखाकर तथा एकताके अपने भीतरी सत्यके अनुसार अनंततामें पहुँचकर अवश्य मिल जाती हैं।

भागवत व्यक्तित्वको हमें इसी दृष्टिकोणसे देखना है। जब हम व्यक्तित्वकी चर्चा करते हैं तो पहले-पहल इससे हमारा मतलब किसी सीमित, वाह्य, भेदकारक वस्तुसे होता है, और वैयक्तिक ईश्वरके विषयमें हमारा विचार भी उसी अपूर्ण स्वरूपको धारण करता है। प्रारंभमें हमारा व्यक्तित्व हमारे लिये एक पृथक् प्राणी, सीमित मन, शरीर तथा स्वभाव

होता है जिसे हम यूँ समझते हैं कि यह हमारा निज स्वरूप है, यह एक निश्चित परिमाणवाला होता है; चाहे असलमें यह सदा वदल रहा है, तो भी इसमें स्थिरताका पर्याप्त अंश होता है जिससे हम निश्चित-परिमाणताके इस विचारका एक प्रकारका क्रियात्मक समर्थन कर सकते हैं। ईश्वरके विषयमें हम कल्पना करते हैं कि वह एक ऐसा ही व्यक्ति है, हाँ उसके शरीर नहीं है, वह अन्य सबसे भिन्न एक पृथक् व्यक्ति है जिसका मन और स्वभाव कुछ विशेष गुणोंसे मर्यादित है। पहले-पहल हमारे असंस्कृत विचारोंमें यह देवता अत्यंत अस्थिर, चंचल और तरंगी होता है, हमारे मानवीय स्वभावका एक वड़ा संस्करण। परंतु वादमें हम व्यक्तित्वके दिव्य स्वरूपको सर्वथा निश्चित मर्यादाकी वस्तु समझते हैं और इसमें हम केवल उन्हीं गुणोंको आरोपित करते हैं जिन्हें हम दिव्य एवं आदर्श मानते हैं, जब कि और सभीको हम बहिष्कृत कर देते हैं। यह मर्यादा हमें बाध्य करती है कि हम शेष सब गुणोंकी व्याख्या करनेके लिये उन्हें शैतानपर आरोपित कर दें, या जिसे हम बुरा मानते हैं उस सबको पैदा करनेकी मौलिक सामर्थ्य मनुष्यमें स्वीकार करें, या फिर, जब हम देखें कि इससे पूरी तरह काम नहीं चलेगा तो एक ऐसी शक्ति खड़ी कर दें जिसे हम प्रकृति कहते हैं और उसपर उस समस्त निम्न गुण तथा कार्य-कलापको आरोपित कर दें जिसके लिये हम भगवान्को उत्तरदायी नहीं वनाना चाहते। इससे ऊँचे शिखरपर ईश्वरमें मन और स्वभावका आरोप कम मानवीय हो जाता है और हम उसे अनंत आत्मा, किंतु अभी भी एक पृथक् व्यक्ति मानते हैं, एक ऐसी आत्मा जिसमें उसके विशेष धर्म-रूप कुछ निश्चित दिव्य गुण हैं। भागवत व्यक्तित्व या सगुण-ईश्वरसंबंधी विचार इसी प्रकार कल्पित किये जाते हैं और ये नाना धर्मोंमें इतने विभिन्न प्रकारके होते हैं।

यह सब प्रथम दृष्टिमें आदिम मानवगुणारोपवाद प्रतीत हो सकता है जिसके अंतमें ईश्वर-विषयक एक बौद्धिक विचार जन्म लेता है। जगत् जैसा हमें दीखता है, उसकी यथार्थताओंसे वह विचार अतीव भिन्न है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि दार्शनिक तथा संदेहशील मनको इस सबका बौद्धिक तौरपर उन्मूलन करनेमें कुछ भी कठिनाई न हुई हो, चाहे वह उन्मूलन सगुण ईश्वरके निषेध और निर्गुण शक्ति या संभूतिकी स्थापनाकी दिशामें हो या निर्गुण सत्की या सत्ताके अनिर्वचनीय निषेधकी दिशामें, जब कि शेष सबको मायाके प्रतीक या कालचेतनाके नामरूपात्मक सत्यमात्र समझा जाता है। परंतु ये एकेश्वरवादके व्यक्तित्वारोपणमात्र हैं।

अनेकेश्वरवादी धर्म विश्व-जीवनके प्रति अपने प्रत्युत्तरमें शायद इससे कम ऊँचे, पर अधिक विशाल तथा अधिक संवेदनशील रहे हैं। उन्होंने अनुभव किया है कि संसारकी सभी वस्तुओंका मूल उद्गम दिव्य है; अतएव उन्होंने अनेक दिव्य व्यक्तित्वों (देवताओं)की सत्ताकी कल्पना की जिनके पीछे उन्होंने अनिर्देश्य भगवान्का धुँधला आभास पाया। सगुण देवोंके साथ इस भगवान्के संबंधोंकी उन्हें कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं थी। अपने अधिक प्रकट आकारोंमें ये देवता असंस्कृत तौरपर मानवीय थे; पर जहाँ आध्यात्मिक वस्तुओंका आंतरिक अर्थ अधिक स्पष्ट हुआ, नाना देवोंने एकमेव भगवान्के व्यक्तित्वोंका रूप धारण कर लिया,—प्राचीन वेदका घोषित दृष्टिकोण यही है। यह भगवान् एक परम पुरुष हो सकता है जो अपनेको अनेक दिव्य व्यक्तित्वोंमें प्रकट करता है या यह एक निर्गुण सत्ता हो सकता है जो मानव मनको इन रूपोंमें दृष्टिगोचर होती है; अथवा इन दोनों विचारोंमें समन्वयका कोई बौद्धिक प्रयत्न किये बिना इन्हें एक साथ माना जा सकता है, क्योंकि आध्यात्मिक अनुभवको दोनों ही सत्य जान पड़ते थे। यदि हम बुद्धिके विवेकद्वारा दिव्य-व्यक्तित्वसंबंधी इन विचारोंकी परीक्षा करें तो अपनी रुचिके अनुसार हम इन्हें यह रूप देनेमें प्रवृत्त होंगे कि ये कल्पनाके आविष्कार या मनोवैज्ञानिक प्रतीक हैं, कम-से-कम ये किसी ऐसी चीजके प्रति हमारे संवेदनशील व्यक्तित्वका प्रत्युत्तर हैं जो व्यक्ति-रूप बिलकुल नहीं है, बल्कि शुद्ध निर्गुण है। हम कह सकते हैं कि वह (तत्) वास्तवमें हमारी मानवता तथा हमारे व्यक्तित्वके ठीक विपरीत है और इसलिये उसके साथ सब प्रकारके संबंध जोड़नेके लिये हमें इन मानवी कल्पनाओं तथा इन वैयक्तिक प्रतीकोंकी स्थापनाके लिये बाध्य होना पड़ता है जिससे कि वह हमारे अधिक समीपवर्ती हो जाय। परंतु हमें आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा निर्णय करना होगा, और समग्र आध्यात्मिक अनुभवमें हम पायेंगे कि ये चीजें कल्पनाएँ और प्रतीक नहीं, बल्कि अपने सारमें दिव्य सत्ताके सत्य हैं, चाहे हमारे द्वारा रचित उनके प्रतिरूप कैसे भी अपूर्ण क्यों न हों। यहाँतक कि अपने व्यक्तित्वके विषयमें हमारा प्रथम विचार भी नितांत अशुद्ध नहीं, बल्कि अनेक मानसिक भूलोंसे घिरा हुआ अधकचरा तथा उथला विचार है। महत्तर आत्मज्ञानसे हमें पता चलता है कि, प्रारंभमें हम जैसे प्रतीत होते हैं उसके विपरीत, हम मूलतः रूप, बलों, गुणों, धर्मोंकी एक ऐसी विशेष रचना नहीं हैं जिसमें एक चेतन अहं है जो अपनेको इनसे एकाकार कर लेता है। यह तो हमारी सक्रिय चेतनाके तलपर हमारी आंशिक सत्ताका अस्थायी तथ्यमात्र

है, पर है यह एक तथ्य ही। अंदर हम देखते हैं कि एक अनंत सत्ता है जिसमें सब गुण, अनंत गुण, बीजरूपसे निहित हैं। वे गुण असंख्य संभव रूपोंमें मिलाये जा सकते हैं, प्रत्येक मिश्रण हमारी सत्ताका एक प्राकट्य होता है। यह सर्वविध व्यक्तित्व परम पुरुषकी, अर्थात् अपनी अभि-व्यक्तिसे सचेतन पुरुषकी आत्म-अभिव्यक्ति है।

परंतु हम यह भी देखते हैं कि यह पुरुष अनंत गुणोंसे गठित भी नहीं प्रतीत होता, वरन् उसकी इस अवस्थाका सत्य स्वरूप गहन है। इस अवस्थामें वह अनंत गुणसे पीछे हटकर अनिर्देश्य चेतन सत्ताका रूप धारण करता प्रतीत होता है। यहाँतक लगता है कि वह चेतनाको भी पीछे हटा लेता है और तब केवल कालातीत शुद्ध सत्ता ही शेष रह जाती है। फिर, एक विशेष शिखरपर ऐसा दीखता है कि हमारी सत्ताकी यह शुद्ध आत्मा भी अपनी वास्तविकताका निषेध कर रही है, या यह एक ऐसे अनात्म अनाधार* अज्ञेयका प्रस्तारमात्र है जिसे हम अनाम 'कुछ' या शून्य कल्पित कर सकते हैं। जब हम एकमात्र इसीपर दृष्टि गड़ाकर वह सब कुछ भूल जाते हैं जो इसने अपने अंदर पीछेकी ओर हटा लिया है तभी हम शुद्ध निर्गुणता या रिक्त शून्यको सर्वोच्च सत्य कहते हैं। परंतु अधिक सर्वांगीण दृष्टि हमें बताती है कि जिसने अपनेको इस प्रकार ऊपर अव्यक्त कूटस्थमें हटा लिया है वह है परम पुरुष तथा व्यक्तित्व और वह सब जो इसने व्यक्त किया था। यदि हम अपने हृदय तथा तार्किक मनको सर्वोच्चकी ओर उठा ले जायँ तो हमें पता लगेगा कि इसे हम चरम पुरुष तथा चरम निर्गुण सत्ता दोनोंके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। परंतु यह सब आत्मज्ञान विश्वमय भगवान्के सजातीय सत्यका हमारे भीतर प्रतिरूपमात्र है। वहाँ भी हम दिव्य व्यक्तित्वके अनेक रूपोंमें उसका साक्षात् करते हैं; गुणकी रचनाओंमें जो उसे उसकी प्रकृतिमें हमारे सामने नाना प्रकारसे प्रकट करती हैं; अनंत गुणमें; दिव्य व्यक्तिमें जो अपनेको अनंत गुणद्वारा प्रकट करता है; चरम निर्वैयक्तिकता, चरम सत्ता या चरम अ-सत्तामें जो सदैव इस दिव्य व्यक्ति, इस चिन्मय पुरुषकी अव्यक्त केवलता है। यह पुरुष हमारे द्वारा तथा विश्वके द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है।

इस वैश्व स्तरपर भी हम निरंतर इन दोनों पक्षोंमें भगवान्के पास पहुँच रहे हैं। हम यों विचार एवं अनुभव कर सकते तथा कह सकते

---

*अनात्म्यम् अनिलयनम्—तैत्तिरीय उपनिषद्

हैं कि ईश्वर सत्य, न्याय, पवित्रता, बल, प्रेम, आनंद, सौंदर्य हैं; हम उसे विश्व-शक्ति या विश्व-चेतनाके रूपमें भी देख सकते हैं। परंतु यह तो केवल अनुभवका अमूर्त्त ढंग है। जैसे हम स्वयं कुछ एक गुण या शक्तियाँ या मनोवैज्ञानिक राशिमात्र नहीं हैं, बल्कि एक पुरुष या व्यक्ति हैं जो अपनी प्रकृतिको इस प्रकार प्रकट करता है, वैसे भगवान् भी एक व्यक्ति, चिन्मय पुरुष है जो अपनी प्रकृतिको हमारे सामने इस प्रकार प्रकट करता है। इस प्रकृतिके भिन्न-भिन्न रूपोंद्वारा, सत्यस्वरूप ईश्वर, प्रेम एवं दयामय ईश्वर, शांति एवं पवित्रताका आगार ईश्वर—इन सब रूपोंद्वारा हम उसकी उपासना कर सकते हैं। परंतु प्रत्यक्ष है कि दिव्य प्रकृतिमें और भी चीजें हैं जो हमने व्यक्तित्वके उस रूपके बाहर रख छोड़ी हैं जिसमें हम इस प्रकार उसकी पूजा कर रहे हैं। अविचल आध्यात्मिक दृष्टि और अनुभूतिके साहससे संपन्न मनुष्य अधिक कठोर या भीषण रूपोंमें भी उसका साक्षात्कार कर सकता है। इनमेंसे कोई भी संपूर्ण देवत्व नहीं है; तो भी उसके व्यक्तित्वके ये रूप उसके वास्तविक सत्य हैं जिनमें वह हमसे मिलता तथा व्यवहार करता प्रतीत होता है, मानो शेष सब उसने अपने पीछे कहीं रख छोड़े हों। वह पृथक्-पृथक् हर एक रूप है और एक साथ सब कुछ है। वह विष्णु, कृष्ण, काली है; वह अपने-आपको ईसाके व्यक्तित्व या बुद्धके व्यक्तित्वके मानवी रूपमें हमारे सामने प्रकाशित करता है। जब हम अपनी प्राथमिक, एकांगी रूपसे केंद्रित दृष्टिके परे देखते हैं तो हम विष्णुके पीछे शिवका संपूर्ण व्यक्तित्व तथा शिवके पीछे विष्णुका संपूर्ण व्यक्तित्व देखते हैं। वह अनंतगुण है तथा अनंत दिव्य व्यक्तित्व है जो अपनेको इसके द्वारा प्रकट करता है। और फिर, ऐसा प्रतीत होता है कि वह शुद्ध आध्यात्मिक निर्गुणतामें या निर्गुण आत्माके विचार-मात्रसे भी परे लौट जाता है और आध्यात्मीकृत निरीश्वरवाद या अज्ञेयवादको समर्थन करता है; वह मनुष्यके मनके लिये अनिर्देश्य बन जाता है। परंतु इस अज्ञेयमेंसे चिन्मय पुरुष, दिव्य व्यक्ति, जिसने अपनेको यहाँ प्रकट किया हुआ है, फिर भी पुकारकर कहता है, "यह भी मैं हूँ; मनके विचारसे परे यहाँ भी मैं वही हूँ, पुरुषोत्तम रूपमें वही हूँ।"

बुद्धिके विभागों और विरोधोंसे परे एक और प्रकाश है और वहाँ सत्यकी दृष्टि अपनेको प्रकट करती है जिसे हम बौद्धिक तौरपर इस प्रकार अपने प्रति व्यक्त करनेका यत्न कर सकते हैं। वहाँ इन सब सत्योंका बस एक ही सत्य है, क्योंकि वहाँ प्रत्येक सत्य विद्यमान है और शेष सबमें

न्याय-संगत ठहरता है। इस प्रकाशमें हमारा आध्यात्मिक अनुभव एकीभूत तथा सर्वांगसमन्वित हो जाता है; बालभर भी वास्तविक अंतर बाकी नहीं रहता, निर्गुणकी खोज तथा दिव्य व्यक्तित्वकी उपासनामें, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्गमें ऊँच-नीचका लवलेश भी शेष नहीं रहता।

छठा अध्याय

भगवान्का आनन्द

हम देख चुके हैं कि भक्तिमार्गका स्वरूप क्या है और उच्चतम, विशालतम तथा पूर्णतम ज्ञानके लिये इसका क्या औचित्य है। अब हम यह समझ सकते हैं कि पूर्णयोगमें इसका रूप और स्थान क्या होगा। योग, सारतः, आत्माका भगवान्की अमर सत्ता, चेतना और आनंदके साथ मिलन है। यह मिलन मानव प्रकृतिके द्वारा साधित होता है और इसके फलस्वरूप हमारी प्रकृति सत्ताकी दिव्य प्रकृतिमें विकसित हो जाती है; वह दिव्य प्रकृति चाहे जो भी हो, पर जहाँतक हम उसे विचारमें ला सकते हैं तथा आध्यात्मिक कर्ममें चरितार्थ कर सकते हैं वहाँतक हम वही बन जाते हैं। भगवान्का जो भी स्वरूप हम देखते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये एकचित्त होकर प्रयत्न करते हैं, वही हम बन सकते हैं या उसके साथ एक प्रकारके एकत्वमें अभिवर्द्धित या कम-से-कम उसके साथ एकतान, एकस्वर हो सकते हैं। यही बात एक प्राचीन उपनिषद्ने अपनी अत्युच्च भाषामें मार्मिक ढंगसे यूँ कही है, "जो कोई उसे सत्के रूपमें देखता है वह वहीं सत् बन जाता है और जो कोई उसे असत्के रूपमें देखता है वह वही असत् बन जाता है"; भगवान्के और भी जो-जो स्वरूप हम देखते हैं उन सबके संबंधमें भी यही बात लागू होती है,—हम कह सकते हैं कि यह देवाधिदेव-विषयक एक ऐसा सत्य है जो एक साथ पारमार्थिक भी है और व्यावहारिक भी। वह देवाधिदेव एक ऐसा तत्त्व है जो हमसे परे होता हुआ भी वास्तवमें पहलेसे ही हमारे अंदर है, पर जो हम अपनी मानवीय सत्तामें अभीतक नहीं हैं या केवल आरंभिक रूपमें ही हैं; तथापि उसका जो कुछ भी अंश हम देखते हैं, उसे हम अपनी सचेतन प्रकृति तथा सत्तामें निर्मित्त या प्रकाशित कर सकते हैं और इसके साथ ही हम उसमें विकसित भी हो सकते हैं। इस प्रकार देवाधिदेवको अपने अंदर व्यक्तिशः निर्मित या प्रकाशित करना तथा उसकी विश्वमयता और परात्परतामें विकसित होना ही हमारा आध्यात्मिक भविष्य है। अथवा यदि यह हमारी प्रकृतिकी दुर्बलताके लिये अतीव ऊँचा प्रतीत हो, तो कम-से-कम, इसके पास पहुँचना, इसका चिंतन करना, इसके

साथ स्थिर अंतर्मिलन लाभ करना हमारी निकट तथा संभावित पूर्णता है।

जिस समन्वयात्मक या सर्वांगीण योगपर हम विचार कर रहे हैं उसका लक्ष्य है—अपनी मानव प्रकृतिके अंग-प्रत्यंग द्वारा भगवान्‌की सत्ता, चेतना और आनंदसे मिलन, भले ही यह मिलन हम एक-एक अंग द्वारा पृथक्-पृथक् प्राप्त करें या सबके द्वारा एक साथ, परंतु अंततोगत्वा हमें सबको समन्वित और एकीभूत करना होगा जिससे संपूर्ण प्रकृति सत्ताकी दिव्य प्रकृतिमें रूपांतरित हो जाय। सर्वांगीण द्रष्टा इससे कम किसी चीजसे संतुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि जो वह देखता है वह अवश्य वही चीज है जिसे वह आत्मिक रूपमें अधिगत करने और यथासंभव वही बन जानेका प्रयत्न करता है। अपने अंदरके ज्ञातासे ही नहीं, अपनी संकल्प-शक्तिसे ही नहीं, अपने हृदयसे ही नहीं, बल्कि इन सभीके द्वारा समान रूपमें और साथ ही अपने अंदरकी संपूर्ण मानसिक तथा प्राणिक सत्तासे वह देवाधिदेवकी अभीप्सा करता है और इनकी प्रकृतिको इसके दिव्य प्रतिरूपोंमें परिवर्तित करनेका उद्योग करता है। ईश्वर अपनी सत्ताके अनेक भावोंमें हमसे मिलते हैं और उन सबमें वे हमें तब भी अपनी ओर आकृष्ट करते हैं जब वे हमसे आँख बचाकर भागते प्रतीत होते हैं,—दिव्य संभावनाको देखना और इसकी विघ्न-बाधाओंके क्षेत्रपर विजय पाना ही मानव-जीवनका संपूर्ण मर्म तथा माहात्म्य है,—अतएव इनमेंसे प्रत्येक भावकी पराकाष्ठामें या इन सबके मिलनमें, यदि हम इनके एकत्वकी कुंजी ढूँढ़ सकें तो, हम उन्हें खोजने, पाने और अधिकृत करनेकी अभीप्सा करेंगे। क्योंकि वे निर्वैयक्तिकतामें लौट जाते हैं, हम उनकी निर्वैयक्तिक सत्ता और आनंदका अनुसरण करते हैं, पर, क्योंकि वे हमारी वैयक्तिकतामें तथा मानवके साथ भगवान्‌के वैयक्तिक संबंधों द्वारा भी हमसे मिलते हैं उससे भी हम अपनेको वंचित नहीं करेंगे; प्रेम तथा आनंदकी क्रीड़ा और इसका अनिर्वचनीय मिलन—दोनोंको हम ग्रहण करेंगे।

ज्ञानद्वारा हम भगवान्‌से उनकी सचेतन सत्तामें एकता प्राप्त करना चाहते हैं; कर्मोंके द्वारा भी हम भगवान्‌से उनकी सचेतन सत्तामें एकता प्राप्त करना चाहते हैं; स्थितिशील रूपमें नहीं, बल्कि गतिशील रूपमें, भागवत संकल्पशक्तिके साथ सचेतन एकत्वके द्वारा; परंतु प्रेमके द्वारा तो हम उनकी सत्ताके संपूर्ण आनंदमें उनके साथ एकत्व लाभ करना चाहते हैं। इसी कारण प्रेम-मार्ग अपनी कुछ प्रारंभिक गतियोंमें, वह चाहे कैसा भी संकुचित क्यों न प्रतीत हो, अंतमें योगके अन्य किसी भी हेतु की अपेक्षा अधिक आवश्यक रूपमें सर्व-आलिंगी है। ज्ञानका मार्ग अनायास

निर्वैयक्तिक और निरपेक्षकी ओर झुक जाता है, यह सहज ही एकांगी बन सकता है। यह ठीक है कि इसके लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं; क्योंकि भगवान्‌की सचेतन सत्ता जैसे परात्पर और निरपेक्ष है वैसे ही विश्वगत तथा व्यक्तिगत भी, अतएव यहाँ भी हमारी प्रवृत्ति एकताकी सर्वांगपूर्ण उपलब्धिकी ओर हो सकती है और होनी भी चाहिये, इससे हम मनुष्यगत ईश्वर तथा विश्वगत ईश्वरसे ऐसी आध्यात्मिक एकता प्राप्त कर सकते हैं जो किसी भी परात्पर मिलनसे कम पूर्ण नहीं होगी। परंतु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं। हम तर्क कर सकते हैं कि ज्ञान उच्चतर भी होता है और निम्नतर भी, उच्चतर आत्मबोध भी होता है तथा निम्नतर आत्मबोध भी, और यहाँ हमें ज्ञान-राशिका वर्जन कर ज्ञान-शिखरका ही अनुसरण करना है, सर्वांगीण मार्गकी अपेक्षा एकांगी मार्गका वरण करना है। अथवा हम अपने साथियोंसे तथा जगद्‌व्यापारसे समस्त संबंधके परित्यागका समर्थन करनेके लिये मायाके सिद्धांतका आविष्कार कर सकते हैं। कर्ममार्ग हमें परात्परकी ओर ले जाता है जिसकी सत्ताकी शक्ति विश्वगत संकल्पके रूपमें प्रकट होती है। यह संकल्प हममें तथा सबमें एक ही है, इसके साथ तादात्म्य द्वारा हम, उस तादात्म्यकी आवश्यक अवस्थाओंके कारण, परात्परको सबकी एक आत्मा, विश्वात्मा तथा जगदीश्वर अनुभव करते हुए उनसे मिलन लाभ करते हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि यह हमारी एकत्व-उपलब्धिमें कुछ व्यापकता ले आता है, परंतु ऐसा होना सर्वथा अनिवार्य नहीं। कारण, यह हेतु भी, पूर्ण निर्वैयक्तिकताकी ओर झुक सकता है और चाहे इसके फलस्वरूप हम विश्वगत ईश्वरके कार्योंमें निरंतर भाग लेने लगते हैं तो भी यह सिद्धांतरूपमें सर्वथा निःसंग और निष्क्रिय हो सकता है। पूर्ण मिलनरूपी हेतु सर्वथा अपरिहार्य तभी बनता है जब योगमार्गमें आनंदका प्रवेश होता है।

इस आनंदका, जो इतने पूर्ण रूपमें अपरिहार्य है, अभिप्राय है—भगवान्‌में आनंद, उन्हींके लिये, और किसी चीजके लिये नहीं—इससे परेके किसी भी निमित्त या लाभके लिये नहीं। यह ईश्वरको न तो किसी ऐसी चीजके लिये खोजता है जो वे हमें दे सकते हैं और न उनके किसी विशेष गुणके लिये, वरन् केवल और एकमात्र इसलिये कि वे हमारी आत्मा, हमारी संपूर्ण सत्ता तथा हमारे सर्वस्व हैं। यह परात्परताके आनंदका आलिंगन करता है, परात्परताके लिये नहीं, वरन् इसलिये कि वे परात्पर हैं; विश्वमयताके आनंदका, विश्वमयताके लिये नहीं, वरन् इसलिये कि वे विश्वमय हैं; व्यक्तिके आनंदका, व्यक्तिगत संतुष्टिके लिये नहीं, वरन्

इसलिये कि वे व्यक्ति हैं। यह सब भेदों और रूपोंके पीछे जाता है और उनकी सत्ताकी कम या अधिक मात्राका हिसाब नहीं लगाता, बल्कि जहाँ कहीं भी वे हैं वहाँ, और इसलिये सब कहीं, उनका आलिंगन करता है। जैसे प्रतीयमान कममें वैसे ही प्रतीयमान अधिकमें, जैसे प्रतीयमान सीमामें वैसे ही असीमके प्राकाश्यमें यह उनका पूर्ण रूपसे आलिंगन करता है, इसे इस बातका सहज ज्ञान और अनुभव होता है कि वे सभी जगह एक और पूर्ण हैं। उनकी निरपेक्ष सत्तामात्रके लिये उन्हें खोजना वास्तवमें अपने ही वैयक्तिक लाभ, पूर्ण शांतिकी प्राप्ति को लक्ष्य बनाना है। निःसंदेह, उन्हें पूर्ण रूपसे अधिकृत करना ही उनकी सत्तासे प्राप्त होनेवाले इस आनंदका लक्ष्य है, किंतु यह प्राप्त तभी होता है जब हम उन्हें पूर्ण रूपसे अधिकृत कर लेते हैं और उनके द्वारा पूर्णतः अधिकृत हो जाते हैं, जब हमें किसी विशेष स्थिति या अवस्थामें बंधनेकी आवश्यकता नहीं रहती। किसी आनंदमय स्वर्गलोकमें उनकी खोज करना उन्हींके लिये नहीं, बल्कि उस स्वर्ग-लोकके आनंदके लिये उनकी खोज करना है। जब हम उनकी सत्ताका सारा सच्चा आनंद प्राप्त कर लेते हैं तब स्वर्गलोक हमारे भीतर आ जाता है, और जहाँ कहीं वे हैं और हम हैं वहीं उनके राज्यका हर्ष हमें प्राप्त रहता है। इसी प्रकार केवल अपने अंदर और अपने लिये उन्हें खोजना अपने-आपको और उनके अंदर अपने हर्षको भी सीमित करना है। सर्वांगीण आनंद केवल हमारी वैयक्तिक सत्तामें ही नहीं, बल्कि सब मनुष्योंमें तथा सर्वभूतमें समान रूपसे उनका आलिंगन करता है। क्योंकि उनके अंदर हम सबके साथ एकमय हैं, यह उन्हें केवल हमारे लिये नहीं, अपितु हमारे सभी साथियोंके लिये खोजता है। भगवान्‌में पूर्ण और अशेष आनंद,—पूर्ण तो विशुद्ध और स्वयंसत् होनेके कारण और अशेष सर्वस्पर्शी तथा तन्मयकारी होनेके कारण,—पूर्णयोगके जिज्ञासुके लिये भक्तिमार्गका मर्म है।

एक बार जब यह हमारे अंदर क्रियाशील हो जाता है तो मानों योगके अन्य सभी मार्ग इसके नियममें परिवर्तित हो जाते हैं और इसके द्वारा अपना पूर्णतम महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। ईश्वरके प्रति हमारी सत्ताकी यह सर्वांगीण भक्ति ज्ञानसे पराङ्मुख नहीं होती; इस मार्गका भक्त ईश्वरप्रेमी होनेके साथ-साथ ईश्वरज्ञानी भी होता है, क्योंकि उनकी सत्ताके ज्ञानसे ही उनकी सत्ताका संपूर्ण आनंद प्राप्त होता है। परंतु ज्ञान आनंदमें ही परिसमाप्त होता है, परात्परका ज्ञान परात्परके आनंदमें, विश्वमयका ज्ञान विश्वमय ईश्वरके आनंदमें, वैयक्तिक अभिव्यक्तिका ज्ञान व्यक्तिके

भीतर ईश्वरके आनंदमें, निर्वैयक्तिकका ज्ञान उनकी निर्वैयक्तिक सत्ताके शुद्ध आनंदमें, वैयक्तिकका ज्ञान उनके व्यक्तित्वके पूर्ण आनंदमें, उनके गुणों तथा इनकी क्रीड़ाका ज्ञान अभिव्यक्तिके आनंदमें, निर्गुणका ज्ञान उनकी निराकार सत्ता और अनभिव्यक्तिके आनंदमें परिसमाप्त होता है।

इसी प्रकार यह ईश्वरप्रेमी **दिव्य कर्मी** भी होगा, कर्मोंके लिये या कर्मगत स्वार्थलक्षी सुखके लिये नहीं, वरन् इस कारण कि इस प्रकार ईश्वर अपनी सत्ताकी शक्तिका प्रयोग करते हैं और उनकी शक्तियों तथा उनके प्रतीकोंमें हम उन्हें अधिगत करते हैं, इस कारण कि कर्मोंमें दिव्य संकल्प ईश्वरका अपनी शक्तिके आनंदमें प्रस्रवण है, दिव्य सत्ताका दिव्य बलके आनंदमें प्रवहण है। वह प्रियतमके कार्यों और व्यापारोंमें पूर्ण हर्ष अनुभव करेगा, क्योंकि उनमें भी वह प्रियतमको पाता है; वह स्वयं सभी कार्य करेगा, क्योंकि उन कार्योंके द्वारा भी उसकी सत्ताका स्वामी उसके अंदर अपना दिव्य हर्ष प्रकट करता है: जब वह काम करता है तो उसे अनुभव होता है कि वह कार्य और शक्तिमें उनके साथ अपनी एकता प्रकट कर रहा है जिन्हें वह प्रेम करता और पूजता है। वह उस संकल्पकी मस्ती अनुभव करता है जिसका वह अनुसरण करता है तथा जिसके साथ उसकी सत्ताका समस्त बल आनंदपूर्वक एकीभूत है। फिर इसी प्रकार, यह ईश्वरप्रेमी पूर्णताकी खोज करेगा, क्योंकि पूर्णता भगवान्‌की प्रकृति है और जितना ही अधिक वह पूर्णतामें बढ़ता है, उतना ही अधिक वह अनुभव करता है कि प्रियतम उसकी प्राकृतिक सत्तामें प्रकट हो रहे हैं। अथवा वह फूलके खिलनेके समान अनायास ही पूर्णतामें विकसित होगा, क्योंकि भगवान् उसके अंदर हैं और है भगवान्‌का हर्ष। जैसे ही वह हर्ष उसके अंदर फैलता है, आत्मा, मन और प्राण भी स्वाभावतः अपने देवत्वमें अभिवर्द्धित हो जाते हैं। साथ ही, क्योंकि वह अनुभव करता है कि भगवान् सबमें हैं और प्रत्येक परिसीमक प्रतीतिके अंदर भी वे सर्वथा पूर्ण हैं, उसे अपनी अपूर्णताका शोक नहीं होगा।

जीवनके द्वारा भगवान्‌की खोज और अपनी सत्ता तथा वैश्व सत्ताके समस्त व्यापारोंमें उनसे समागम भी उसकी पूजाके क्षेत्रसे बाहर नहीं होंगे। संपूर्ण प्रकृति और संपूर्ण जीवन उसके लिये उनका आत्म-प्रकाश होंगे और होंगे समागमके लिये सुन्दर संकेत-स्थान। बौद्धिक, सौंदर्य-मूलक और शक्त्यात्मक चेष्टाएँ, विज्ञान, दर्शन और जीवन, चिंतन, कला और कर्म उसके निकट अधिक दिव्य अनुमोदन तथा अधिक महान् अर्थ प्राप्त कर लेंगे। इनका अनुसरण वह इसलिये करेगा कि इनके द्वारा उसे भगवान्‌के

स्पष्ट दर्शन होते हैं और इनके अंदर भगवान्का आनंद विद्यमान है। निःसंदेह, वह इनके बाह्य रूपोंमें आसक्त नहीं होगा, क्योंकि आसक्ति आनंदमें बाधक है। और, क्योंकि उस शुद्ध, शक्तिशाली एवं पूर्ण आनंदपर उसका स्वत्व हो गया है जो हर चीज प्राप्त कर लेता है, पर स्वयं किसी चीजपर निर्भर नहीं, क्योंकि इनमें वह प्रियतमके ढंग, कार्य और लक्षण, उसकी संभूतियाँ, प्रतीक और प्रतिमाएँ देखता है, उसे इनसे ऐसा हर्षातिशय लाभ होता है जो इन्हींके लिये इनकी खोज करनेवाले साधारण मनको प्राप्त नहीं हो सकता, यहाँतक कि जो इसकी कल्पनामें भी नहीं आ सकता। यह सब और इससे भी अधिक कुछ सर्वांगीण मार्ग तथा इसकी सिद्धिका अंग बन जाता है।

आनंदकी सामान्य शक्ति है प्रेम, और प्रेमका आनंद जिस विशेष रूपको ग्रहण करता है वह है सौंदर्यका साक्षात्कार। ईश्वरप्रेमी विश्वप्रेमी होता है और वह आनंदमय तथा सर्व-सुन्दरका आलिंगन करता है। जब विश्वप्रेम उसके हृदयको अपने वशमें कर लेता है तो यह इस बातका अचूक चिह्न होता है कि भगवान्ने उसपर अपना अधिकार कर लिया है; और जब उसे सर्वत्र सर्व-सुन्दरके दर्शन होते हैं और वह सदा-सर्वदा उनके आलिंगनका आनंद अनुभव कर सकता है तो यह इस बातका अचूक चिह्न होता है कि उसने भगवान्को अपने अधिकारमें कर लिया है। मिलन प्रेमकी पराकाष्ठा है, किंतु यह पारस्परिक अधिकार ही इसे एक साथ इसकी तीव्रताके उच्चतम शिखरपर तथा वृहत्तम विशालतामें पहुँचा देता है। यह दिव्यानंदमें एकत्वकी आधारशिला है।

सातवाँ अध्याय

आनन्द-ब्रह्म

सर्वांगीण समन्वयात्मक योगमें भक्तिमार्ग प्रेम और आनंद द्वारा भगवान्‌की खोजका और उनकी सत्ताके सभी पक्षोंपर सानंद अधिकारका रूप ग्रहण कर लेगा। इसकी पराकाष्ठा होगी---प्रेमका पूर्ण मिलन, ईश्वरके साथ आत्माकी घनिष्ठताके सभी रूपोंका पूर्ण उपभोग। यह ज्ञानसे आरंभ हो सकता है या कर्मोंसे भी आरंभ हो सकता है, पर बादमें यह ज्ञानको प्रियतमकी सत्ताके साथ ज्योतिर्मय मिलनके हर्षमें परिणत कर देगा और कर्मोंको प्रियतमकी सत्ताके संकल्प एवं बलके साथ हमारी सत्ताके सक्रिय मिलनके हर्षमें परिवर्तित कर देगा। या फिर यह सीधे प्रेम एवं आनंदसे भी आरंभ हो सकता है; तब यह अन्य दोनोंको अपने अंतर्गत कर लेगा और एकत्वके पूर्ण हर्षके अंगके रूपमें उन्हें विकसित करेगा।

भगवान्‌के प्रति हृदयके आकर्षणका आरंभ निर्वैयक्तिक भी हो सकता है। यह किसी विश्वगत या विश्वातीत सत्तामें मिलनेवाले निर्वैयक्तिक हर्षका स्पर्श हो सकता है,---ऐसी सत्तामें जिसने हमारी भावमय या सौंदर्य-ग्राही सत्ताके प्रति या अध्यात्मसुखकी हमारी क्षमताके प्रति अपने-आपको प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूपमें प्रकाशित किया है। इस प्रकार हमें जिस सत्ताका ज्ञान प्राप्त होता है वह आनन्द-ब्रह्म या आनंदमय सत्ता है। एक ऐसे निर्वैयक्तिक आनंद एवं सौंदर्यकी, एक ऐसी शुद्ध और अनंत पूर्णताकी आराधना भी होती है जिसे हम कोई नाम-रूप नहीं दे सकते। जगत्‌में या इससे परे विद्यमान किसी ऐसी आदर्श और अनंत उपस्थिति, शक्ति एवं सत्ताके प्रति आत्माका एक द्रवित आकर्षण भी होता है जो किसी-न-किसी प्रकार हमारे लिये चित्ततः या अध्यात्मतः बोधगम्य हो जाती है और फिर अधिकाधिक अंतरीय एवं वास्तविक होती जाती है। यही है पुकार, उस आनंदमय सत्ताका हमारे शिरपर कर-स्पर्श। इसके बाद नित्य-निरंतर उसकी उपस्थितिका आनंद और सान्निध्य प्राप्त करना, यह जानना कि वह क्या है, जिससे बुद्धि और संबोधि-मन उसकी सतत वास्तविकतासे संतुष्ट हो जायँ, अपनी निष्क्रिय और, यथासाध्य, सक्रिय सत्ताका, अपनी आंतर अमर और यहाँतक कि बाह्य मर्त्य सत्ताका भी

उसके साथ पूर्ण सामंजस्य स्थापित करना हमारे जीवन-यापनकी एक आवश्यकता बन जाते हैं। हमें अनुभव होता है कि अपने-आपको उसकी ओर खोलना ही एकमात्र सच्चा सुख है और उसके अंदर निवास करना एकमात्र सच्ची पूर्णता।

मन और वाणीद्वारा अकल्पनीय एवं अवर्णनीय परात्पर आनंद ही उस अनिर्वचनीय ब्रह्मका स्वरूप है। वह संपूर्ण विश्वमें और विश्वकी एक-एक वस्तुमें अंतर्यामी और निगूढ़ रूपसे विराजमान है। उसकी उपस्थितिका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह सत्ताके आनंदका गुह्य आकाश है। इस आकाशके संबंधमें उपनिषद् कहती है—यदि यह न होता तो कोई एक क्षण भी श्वास न ले सकता और न जीवित ही रह सकता। यह आध्यात्मिक आनंद यहाँ हमारे हृदयमें भी निहित है। यह उस तलवर्ती मनके श्रमके कारण अंदर छुपा हुआ है जो जीवन-हर्षके नानाविध मानसिक, प्राणिक और भौतिक रूपोंमें इसके दुर्बल एवं त्रुटिपूर्ण प्रतिबिंब ही ग्रहण करता है। पर जब एक बार मन अपनी ग्रहण-क्रियाओंमें पर्याप्त सूक्ष्म और शुद्ध हो जाता है और जीवनके प्रति हमारी बाह्य प्रतिक्रियाओंके स्थूलतर स्वभावसे आबद्ध नहीं रहता, तब हम उसके अंदर इस आनंदका प्रतिबिंब ग्रहण कर सकते हैं। वह प्रतिबिंब शायद पूर्णतः या मुख्यतः हमारी प्रकृतिके सबसे प्रबल तत्त्वका रंग-रूप धारण कर लेगा। पहले-पहल यह एक ऐसे विश्वव्याप्त सौंदर्यकी स्पृहाके रूपमें प्रकट हो सकता है जिसे हम प्रकृति और मनुष्यमें एवं अपने चारों ओरकी सभी वस्तुओंमें अनुभव करते हैं। अथवा हमें एक ऐसे विश्वातीत सौंदर्यका अंतर्ज्ञान हो सकता है जिसका कि समस्त दृश्यमान ऐहिक सौंदर्य प्रतीकमात्र है। जिन लोगोंकी सौंदर्यग्राही सत्ता विकसित एवं दृढ़ है और जिनमें ऐसी वृत्तियाँ प्रबल हैं जो व्यक्त रूपमें आनेपर कवि और कलाकारका निर्माण करती हैं, उन लोगोंमें यह इसी ढंगसे उद्भूत हो सकता है। अथवा यह प्रेमकी, दिव्य आत्माकी अनुभूति हो सकती है या यह जगत्में या इसके पीछे या इसके परे विद्यमान आश्रयदायिनी और करुणामयी अनंत उपस्थिति हो सकती है जो हमें उस समय उत्तर देती है जब हम अपनी आत्माकी आवश्यकताको लेकर इसकी ओर मुड़ते हैं। जब भावमय सत्ता तीव्रतः विकसित होती है तब यह पहले-पहल इसी प्रकार अपना रूप दिखा सकता है। और-और प्रकारसे भी यह हमारे निकट आ सकता है, पर सदा आनंद, सौंदर्य, प्रेम या शान्तिकी एक ऐसी शक्ति या उपस्थितिके रूपमें जो मनको छूती है। किंतु साधारणतः ये चीजें मनमें जो नाना रूप ग्रहण करती हैं उनसे यह परे है।

वास्तवमें समस्त हर्ष, सौंदर्य, प्रेम, शांति एवं आनंद,—आत्मा, बुद्धि, कल्पना, सौंदर्य-भावना, नैतिक अभीप्सा और संतुष्टि, कर्म, जीवन एवं शरीरका समस्त आनंद,—आनंदब्रह्मसे ही स्रवित होते हैं। हमारी सत्ताके सभी रूपोंद्वारा भगवान् हमें स्पर्श कर सकते हैं और उन्हें आत्माको जाग्रत् एवं मुक्त करनेके लिये उपयोगमें ला सकते हैं। परंतु साक्षात् आनंद-ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये उसके मानसिक ग्रहणको सूक्ष्म, आध्यात्मिक और विश्वमय बनाना होगा। इसे ऐसी प्रत्येक वस्तुसे निर्मुक्त करना होगा जो कलुषित और सीमामें बाँधनेवाली हो। कारण, जब हम इसके सर्वथा निकट पहुँचते हैं या इसमें प्रवेश करते हैं तो यह उस परात्पर एवं विश्व-व्याप्त आनंदकी प्रबुद्ध आध्यात्मिक अनुभूतिके द्वारा ही होता है जो विश्वके अंदर और इसके विरोधोंके पीछे और परे भी विद्यमान है और जिसके साथ हम एक बढ़ते हुए विराट् और आध्यात्मिक या परात्पर हर्षावेशके द्वारा अपने-आपको एकीभूत कर सकते हैं।

साधारणतः, मन इस अनंतको, जिसे हम देखते हैं, प्रतिबिंबित करके या हमारे भीतर और बाहर इसकी प्रतीतिको एक अनुभवके रूपमें उपलब्ध करके ही संतुष्ट हो जाता है। यह अनुभव बारंबार होनेपर भी रहता है अपवाद-रूप ही। जब यह प्राप्त होता है तो यह अपने-आपमें ही इतना संतोषप्रद और आश्चर्यजनक प्रतीत होता है और हमारा साधारण मन और सक्रिय जीवन, जो हमें बिताना होता है, हमें इससे इतने असंगत प्रतीत हो सकते हैं कि इससे अधिक किसी वस्तुकी आशा हमें शायद अति जान पड़ेगी। परंतु योगकी वास्तविक भावना ही यह है कि अपवादको सामान्य बनाया जाय और जो हमारे ऊपर है, हमारे साधारण 'स्व'से महत्तर है उसे अपनी शाश्वत चेतना बना लिया जाय। अतएव अनंतका जो भी अनुभव हमें प्राप्त हो उसकी ओर अपनेको अधिक तत्परताके साथ खोलने, उसे शुद्ध और तीव्र करने, उसे अपने अनवरत मनन-चिंतनका विषय बनानेमें संकोच नहीं करना चाहिये। ऐसा तबतक करते जाना चाहिये जबतक यह एक ऐसी चालक-शक्ति न बन जाय जो हमारे अंदर क्रिया करती है, ऐसा देवाधिदेव न बन जाय जिसका हम आराधन और आलिंगन करते हैं और जबतक हमारी सत्ता इसके साथ एकस्वर न हो जाय और यह हमारी सत्ताकी वास्तविक आत्मा न बन जाय।

एतद्विषयक अपने अनुभवको हमें प्रत्येक मानसिक मिश्रणसे शुद्ध करना होगा अन्यथा यह लुप्त हो जायगा और हम इसे धारण नहीं कर पायेंगे। इस शोधनका एक भाग यह है कि यह किसी भी कारणपर या मनकी

किसी उत्तेजक अवस्थापर निर्भर रहना छोड़ दे। यह आवश्यक है कि यह अपना कारण आप ही हो; स्वयं-सत् बने, अन्य समस्त आनंदका उद्गम हो, जो केवल इसीपर आश्रित रहे। ऐसी किसी जागतिक या अन्य प्रतिमा या प्रतीकमें इसे आसक्त नहीं रहना होगा जिसके द्वारा हम इसके साथ पहले-पहल संपर्कमें आये थे। एतद्विषयक अपने अनुभवको हमें अनवरत तीव्र एवं अधिक प्रगाढ़ बनाना होगा, अन्यथा यह उसे केवल अपूर्ण मनके दर्पणमें ही प्रतिफलित करेगा और उन्नयन एवं रूपांतरके उस शिखरतक नहीं पहुँचेगा जिसके द्वारा हम मनसे परे अनिर्वचनीय आनंदमें ले जाये जाते हैं। हमारे अखंड मनन-चिंतनका विषय बनकर यह सत्-मात्रको अपनेमें परिणत कर डालेगा, विश्वव्यापी आनंद-ब्रह्मके रूपमें अपनेको प्रकाशित करेगा और समस्त सत्ताको आनंदकी वृष्टिका रूप दे देगा। यदि हम अपने सभी आंतर एवं बाह्य कार्योंकी प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये इसके द्वारपर प्रतीक्षा करें तो यह भगवान्का हर्ष बनकर हमारे द्वारा जीवनपर तथा सभी जीवित सत्ताओंपर प्रकाश, प्रेम और बलके रूपमें बरस पड़ेगा। जब हम आत्माके प्रेम और पूजनद्वारा इसे खोजते हैं तो यह देवाधिदेवके रूपमें आत्म-प्रकाश करता है, हम इसमें ईश्वरकी मुखछवि निहारते और अपने प्रेमीका आनंद उपलब्ध करते हैं। अपनी संपूर्ण सत्ताको इसके साथ एकस्वर कर हम इसके साधर्म्यकी कल्याणकारी पूर्णतामें एवं दिव्य प्रकृतिके मानवीय प्रतिरूपमें संवर्धित होते हैं। जब यह सर्वभावेन हमारी आत्माकी आत्मा बन जाता है, तब हमारी सत्ता कृतार्थ हो जाती है और हम पूर्णताको वहन करते हैं।

ब्रह्म अपनेको हमारे सम्मुख सदा तीन प्रकारसे प्रकट करता है—हमारे भीतर, हमारे स्तरसे ऊपर और हमारे चारों ओर इस जगत्में। हमारे भीतर पुरुषके दो केंद्र हैं। एक तो अंतःस्थ आत्मा है जिसके द्वारा वह हमें स्पर्श करके जागृत करता है; हृदयकमलमें एक पुरुष है जो हमारी सभी शक्तियोंको ऊपरकी ओर खोल देता है। एक और पुरुष सहस्रदल कमलमें है जहाँसे अंतर्दृष्टिकी विद्युत्प्रभाएँ और दिव्य शक्तिकी अग्नि हमारा तृतीय नयन खोलती हुई विचार और संकल्पके द्वारा हमारे अंदर अवतरित होती हैं। आनंदमय सत्ता हमें इन केंद्रोंमेंसे किसीके भी द्वारा प्राप्त हो सकती है। जब हृदय-कमल खुलता है; हम दिव्य हर्ष, प्रेम और शांतिको अपने अंदर प्रकाशके एक पुष्पकी भाँति खिलते हुए अनुभव करते हैं जो संपूर्ण सत्ताको देदीप्यमान कर देता है। तब वे अपने-आपको अपने निगूढ़ उद्गमके साथ, हमारे हृदयमें विराजमान भगवान्के साथ एक कर सकते

हैं और उसकी वैसे ही उपासना कर सकते हैं जैसे कि एक मंदिरमें। वे विचार और संकल्पको अधिकृत करनेके लिये ऊपरकी ओर प्रवाहित हो सकते हैं और ऊपर परात्परकी ओर खुल सकते हैं। हमारे चारों ओर जो कुछ भी है उस सबकी ओर वे विचार, भाव और कर्मके रूपमें क्षरित होते हैं। परंतु जबतक हमारी सामान्य सत्ता कोई-न-कोई बाधा डालती रहेगी या इस दैवी प्रभावके प्रति प्रत्युत्तरमें या इस दिव्य स्वामित्वके यंत्रमें पूर्णतः परिवर्तित नहीं हो जायगी, तबतक अनुभव रुक-रुककर होगा और संभवतः हम बारंबार अपने पुराने मर्त्य हृदयमें पतित होते रहेंगे। परंतु अभ्याससे या भगवान्‌की कामना, आराधनाके बलसे यह क्रमशः परिवर्तित होती जायगी जबतक कि यह असामान्य अनुभव हमारी सहज चेतनाका ही रूप धारण नहीं कर लेता।

जब दूसरा ऊर्ध्व-कमल खुलता है, सारा-का-सारा मन दिव्य प्रकाश, हर्ष और शक्तिसे भर उठता है जिनके पीछे होते हैं भगवान्, हमारी सत्ताके स्वामी, अपने सिंहासनपर आसीन, और हमारी आत्मा होती है उन्हींके निकट या उन्हींकी रश्मियोंमें अंतःप्रविष्ट। तब विचार और संकल्पमात्र ज्योति, शक्ति और हर्षातिरेक बन जाते हैं जो परात्परके साथ संपर्क रखती हुई हमारे मरणधर्मा अंगोंपर बरस सकती हैं और उनसे फिर बाहरकी ओर जगत्‌में उमड़ पड़ सकती हैं। जैसा कि वैदिक गुह्यज्ञानियोंको विदित था, इस उषामें भी हमारे लिये इसके दिन और रात, बारी-बारीसे आते हैं, प्रकाशसे हमें निर्वासन भी प्राप्त होता है। किंतु ज्यों-ज्यों इस नयी सत्ताको धारण करनेकी हमारी सामर्थ्य बढ़ती जाती है हम उस सूर्यको चिरकालतक एकटक देखनेमें समर्थ होते जाते हैं जिससे ये रश्मियाँ विकीर्ण होती हैं और अपनी आंतर सत्तामें हम उससे एक-तन हो सकते हैं। इस परिवर्तनका वेग कभी तो इस प्रकारसे प्रकट हुए भगवान्‌के लिये हमारी उत्कण्ठाके बलपर, एवं हमारी जिज्ञासाकी शक्तिकी तीव्रतापर निर्भर करता है और कभी, इसके विपरीत, यह उसकी सर्वज्ञानमयी कार्यावलिके लय-तालके प्रति निष्क्रिय समर्पणके द्वारा अग्रसर होता है। वह कार्यावलि सदा ही अपनी निराली प्रणालीसे कार्य करती है जो शुरू-शुरूमें समझमें नहीं आती। परंतु जब हमारे प्रेम और विश्वास पराकाष्ठाको पहुँचते हैं, जब वह परम प्रेम-स्वरूप एवं सर्वज्ञ शक्ति हमारी संपूर्ण सत्ताका अपने भुजयुगमें आलिंगन कर लेती है तब तो निष्क्रिय समर्पण ही आधारशिला बन जाता है।

भगवान् अपने-आपको हमारे चारों ओरके इस जगत्‌में प्रकाशित करते

हैं जब हम इसपर उस आध्यात्मिक कामना या आनंदके भावसे दृष्टिपात करते हैं जो सभी चीजोंमें भगवान्को ढूंढ़ता है। बहुधा एक आकस्मिक उन्मीलन होता है जिससे स्वयं आकारोंका आवरण ही प्रत्यक्ष दर्शनमें परिणत हो जाता है। एक सार्वभौम आध्यात्मिक उपस्थिति, एक सार्वभौम शांति, एक सार्वभौम अनंत आनंद यहाँ व्यक्त हुआ है—अंतर्यामी, सर्वालिंगी, सर्वव्यापी रूपमें। यदि हम इस उपस्थितिसे प्रेम करते हैं, इसमें आनंद लेते हैं और नित्य-निरंतर इसका चिंतन करते हैं, तो यह हमारे भीतर पुनः-पुनः प्रकट होती है और हमारे ऊपर इसका प्रभाव बढ़ता चला जाता है। यह वह वस्तु बन जाती है जिसे हम सबमें देखते हैं, इसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ इसका आवास, रूप और प्रतीकमात्र प्रतीत होती हैं। जो अत्यंत बाह्य वस्तुएँ हैं,—शरीर, रूप, शब्द या जो कुछ भी हमारी इंद्रियोंके गोचर होता है,—वे सब भी यही उपस्थिति दिखायी देती हैं; वे अब भौतिक न रहकर आत्माके उपादान वा देह-तत्त्वमें परिवर्तित हो जाती हैं। इस रूपांतरका अभिप्राय यह है कि हमारी अपनी आंतरिक चेतना रूपांतरित हो जाती है; हमारे चारों ओर विद्यमान उपस्थिति हमें अपने अंदर ले लेती है और हम उसके अंग बन जाते हैं। हमारे लिये हमारा अपना मन, प्राण, शरीर इसका एक आवास और मंदिर बन जाते हैं, इसके कार्य-व्यापारका एक रूप और इसकी आत्म-अभिव्यक्तिका एक यंत्रमात्र हो जाते हैं। तब सभी कुछ इस आनंदकी आत्मा और देहमात्र होता है।

ये वे भगवान् हैं जो हमारे चारों ओर और हमारे अपने भौतिक स्तरपर दिखायी देते हैं। परंतु वे अपने-आपको ऊपर भी प्रकाशित कर सकते हैं। हम उन्हें अपने ऊपर उच्चाधिष्ठित उपस्थिति एवं आनंदकी महान् अनंत सत्ताके रूपमें देखते या अनुभव करते हैं,—अथवा इसके अंदर, हम अपने द्युलोकस्थित पिताके दर्शन करते हैं,—पर अपने भीतर या चारों ओर हमें उनका अनुभव या साक्षात्कार नहीं होता। जबतक हमें यह दिव्य दृष्टि प्राप्त रहती है, हमारे अंदरकी मर्त्यता उस अमरतासे शांत हुई रहती है। यह ज्योति, शक्ति और हर्ष अनुभव करती है और उसे अपनी सामर्थ्यानुसार उत्तर देती है। अथवा यह आत्माका अवतरण अनुभव करती है और तब यह कुछ समयके लिये रूपांतरित हो जाती है या उस ज्योति एवं शक्तिकी प्रतिच्छायाकी किसी प्रभामें उन्नीत हो जाती है। यह आनंदका कलश बन जाती है। परंतु किन्हीं और समयोंमें यह फिर उसी पुरानी मर्त्यतामें जा गिरती है और अपने पार्थिव अभ्यासोंके ढेरमें पड़ी रहती है अथवा जड़ता या तुच्छताके साथ काम करती है।

पूर्ण उद्धार तो तभी होता है जब मानव मन और तनमें दैवी शक्तिका अवतरण होता है और इनका अंतर्जीवन दिव्य प्रतिमाके साँचेमें ढल जाता है—जिसे वैदिक ऋषि 'यज्ञद्वारा पुत्रका जन्म' कहते थे। निःसंदेह, अविच्छिन्न यज्ञ या अर्पणके द्वारा ही,—अर्चना और अभीप्साके, समस्त कर्म-कलापके, विचार एवं ज्ञानके और ईश्वरोन्मुख संकल्पकी आरोहिणी ज्वालाके यज्ञद्वारा ही हम अपने-आपको इस अनंतकी सत्तामें निर्मित करते हैं।

जब हम आनंद-ब्रह्मकी इस चेतनाको इन तीनों—ऊपर, भीतर और चारों ओरकी—अभिव्यक्तियोंमें दृढ़तापूर्वक अधिकृत कर लेते हैं, तब हमें उसका पूर्ण एकत्व प्राप्त हो जाता है और हम सर्वभूतको उसके आनंद, शांति, हर्ष एवं प्रेममें आलिंगित करते हैं। तब सभी लोक-लोकांतर इस आत्माका शरीर बन जाते हैं। पर जिसे हम अनुभव करते हैं वह यदि केवल निर्वैयक्तिक उपस्थिति, विशालता या अंतर्यामिता मात्र है, यदि हमारी आराधना इतनी अंतरंग नहीं बनी है कि यह आनंदमय सत् अपने अत्यंत विस्तृत हर्षमेंसे हमें हमारे सखा और प्रेमीका मुखमंडल और शरीर दिखला सके और उसके हाथोंका स्पर्श अनुभव करा सके तो हमें इस आनंदका सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। इसकी निर्वैयक्तिकता ब्रह्मकी आनंदमय महत्ता है, परंतु वहाँसे दिव्य व्यक्तित्वका माधुर्य और घनिष्ठ नियमन हमपर कटाक्षपात कर सकता है। कारण, आनंद आत्माका साक्षात् स्वरूप और हमारी सत्ताका स्वामी है और इसका अविरल धारा-प्रवाह उसकी लीलाका शुद्ध हर्ष हो सकता है।

आठवाँ अध्याय

प्रेमका रहस्य

निर्व्यक्तिक भगवान्‌की उपासना, प्रचलित व्याख्याके अनुसार, वास्तविक भक्तियोग नहीं होगी; क्योंकि योगके प्रचलित रूपोंमें यह माना जाता है कि निर्वैयक्तिक तो केवल एक ऐसे पूर्ण एकत्वके लिये ही खोजा जा सकता है जिसमें ईश्वर और हमारा अपना व्यक्तित्व खो जाते हैं और वहाँ न उपासक रहता है न उपास्य; केवल एकता एवं अनन्तताके अनुभवका आनन्द ही शेष रह जाता है। परन्तु वास्तवमें आध्यात्मिक चेतनाके चमत्कारोंको ऐसे कठोर तर्कमें नहीं बाँध देना चाहिये। जब हम पहले-पहल अनन्तकी उपस्थिति अनुभव करने लगते हैं तो, क्योंकि हमारे अन्दरके सांत व्यक्तित्वको ही इसका स्पर्श लाभ होता है, वह उस स्पर्श और पुकारका सहज ही एक प्रकारके आराधनाके भावके साथ प्रत्युत्तर दे सकता है। दूसरे, हम अनन्तको एकत्व और आनन्दकी आध्यात्मिक स्थिति नहीं, बल्कि अपनी चेतनाके निकट अनिर्वचनीय देवाधिदेवकी उपस्थिति समझ सकते हैं और तब भी प्रेम एवं उपासनाको अवकाश प्राप्त हो जाता है। जब हमारा व्यक्तित्व इसके साथ एकत्वमें विलीन होता दीखता है तब भी यह ऐसा व्यष्टिरूप भगवान् हो सकता है और वस्तुतः होता ही है जो विराट् या परात्परमें एक प्रकारके मिलनके द्वारा घुलमिल रहा होता है। उस मिलनमें प्रेम तथा प्रेमी और प्रियतम आनन्दोद्रेककी एकीकारक अनुभूतिमें विस्मृत हो जाते हैं, पर उस एकत्वके अन्दर प्रसुप्त अवस्थामें वे अभी भी विद्यमान होते हैं और उसमें अवचेतन रूपसे बने ही रहते हैं। प्रेमके द्वारा आत्माका समस्त मिलन निश्चय ही इसी प्रकारका होगा। यहाँतक कि एक अर्थमें हम कह सकते हैं कि व्यष्टि आत्मा और ईश्वरके आध्यात्मिक संबंधकी समस्त विविध अनुभूतियोंके अंतिम शिखरके रूपमें मिलनका यह हर्ष प्राप्त करनेके लिये ही एकमेवने इस विश्वमें 'बहु'का रूप धारण किया है।

तथापि दिव्य प्रेमका अधिक विविध और अत्यंत घनिष्ठ अनुभव केवल निर्वैयक्तिक अनन्तकी खोजसे ही प्राप्त नहीं हो सकता; उसके लिये तो हमारे उपास्य देवाधिदेवका हमारे प्रति निकट और वैयक्तिक होना आवश्यक

है। निर्वैयक्तिकके लिये यह संभव है कि जब हम उसके अंतस्तलमें प्रवेश करें तो वह अपने अंतर्निहित व्यक्तित्वके सकल ऐश्वर्य प्रकाशित करे, और जो व्यक्ति केवल अनन्त उपस्थितिमें ही प्रवेश करना या उसका आलिंगन करना चाहता है वह भी उससे ऐसी चीजें पा सकता है जिनका उसे स्वप्नमें भी विचार नहीं आया होता। भगवान्‌की सत्तामें हमारे लिये ऐसे आश्चर्य भरे पड़े हैं जो परिसीमक बुद्धिके विचारोंको विस्मय-विमुग्ध कर देते हैं। परन्तु साधारणतया भक्तिमार्ग दूसरे सिरेसे शुरू करता है; यह भागवत व्यक्तित्वकी उपासनासे आरंभ करता है, इसीके द्वारा अपने ध्येयकी ओर आरोहण करता तथा विस्तृत होता है। भगवान् एक पुरुष हैं, कोई अमूर्त्त सत्ता या शुद्ध कालातीत अनन्तताकी स्थिति नहीं। वे आद्य और वैश्व सत्ता हैं, परन्तु वह सत्ता अस्तित्वकी चेतना एवं आनन्दसे अविच्छेद्य है और एक ऐसी सत्ताको, जो अपने अस्तित्व एवं आनन्दसे सचेतन है, हम उचिततः दिव्य अनन्त पुरुष कह सकते हैं। अपिच, चेतना-मात्रमें शक्ति निहित रहती है; जहाँ सत्ताकी अनन्त चेतना है, वहाँ सत्ताकी अनन्त शक्ति भी है और उसी शक्तिके द्वारा इस विश्वमें सबका अस्तित्व है। उसी सत्ताके द्वारा सब सत्ताओंका अस्तित्व है; सभी वस्तुएँ ईश्वरकी आकृतियाँ हैं; समस्त विचार, कर्म, भाव और प्रेम उन्हींसे उद्‌भूत होते हैं और उन्हींमें लौट जाते हैं, वही हैं उनके सभी परिणामोंका उद्‌गम, आश्रय और गुप्त लक्ष्य। इसी देवाधिदेव एवं इसी पुरुषके प्रति पूर्णयोगकी भक्ति प्रवाहित और उन्नीत होगी। अपने परात्पर रूपमें यह उन्हें पूर्ण मिलनके हर्षावेशमें ढूंढ़ेगी; अपने विश्वमय रूपमें यह उन्हें गुणों और सभी रूपों और सर्वभूतोंमें विश्वव्यापी आनन्द और प्रेमके साथ ढूंढ़ेगी, अपने वैयक्तिक रूपमें यह उनके साथ वे सभी मानवीय संबंध स्थापित करेगी जिन्हें प्रेम मनुष्य-मनुष्यके बीच उत्पन्न करता है।

हृदय जिसकी खोज कर रहा है उसकी अशेष सर्वांगपूर्णताको प्रारंभसे ही अधिकृत करना संभव नहीं हो सकता; ऐसा तो वास्तवमें तभी हो सकता है यदि हमारी बुद्धि, स्वभाव और भाविक मन हमारे विगत जीवनकी प्रवृत्ति द्वारा विशालता एवं सूक्ष्मतामें विकसित हो चुके हों। बुद्धि, सौंदर्य-ग्राही एवं भाविक मनमें और संकल्प तथा सक्रिय अनुभवके अंगोंमें भी विशालता लानेवाले अपने शिक्षणके द्वारा हमें इस दिशामें ले जाना ही साधारण जीवनके अनुभवका उद्देश्य है। यह साधारण सत्ताको विस्तृत तथा परिष्कृत करता है जिससे यह उस 'तत्'के संपूर्ण सत्यकी ओर सुगमतया खुल सके जो इसे अपनी आत्माभिव्यक्तिका मंदिर बनानेके लिये तैयार

कर रहा है। साधारणतः, अपनी सत्ताके इन सभी अंगोंमें मनुष्य सीमाबद्ध है। प्रारंभमें वह केवल उतना भर दिव्य सत्य ग्रहण कर सकता है जितना उसकी अपनी प्रकृति तथा इसके विगत विकास एवं संस्कारोंके साथ कुछ व्यापक साम्य रखता है। अतएव, ईश्वर पहले अपने दिव्य गुणों और प्रकृतिके विभिन्न सीमित स्वरूपोंमें ही हमसे मिलता है; जिज्ञासुके समक्ष वह वस्तुओंके एक ऐसे चरम आदर्शके रूपमें प्रकट होता है जिसे वह समझ सके, और जिसका उसका संकल्प एवं हृदय प्रत्युत्तर दे सकें; वह अपने देवत्वका कोई नाम-रूप प्रकाशित करता है। इसीको योगमें इष्ट देवता अर्थात् हमारी प्रकृतिद्वारा इसकी पूजाके लिये चुना हुआ नाम-रूप कहा जाता है। इसलिये कि मनुष्य इस देवाधिदेवका अपने प्रत्येक अंगसे आलिंगन कर सके यह ऐसे रूपमें प्रकाशित किया जाता है जो इसके गुणों और पक्षोंके अनुरूप होता है और जो उपासकके लिये ईश्वरका जीवन्त विग्रह बन जाता है। विष्णु, शिव, कृष्ण, काली, दुर्गा, ईसा और बुद्धके रूप कुछ-एक ऐसे ही रूप हैं जिन्हें मनुष्यका मन उपासनाके लिये अंगीकार कर लेता है। यहाँतक कि एकेश्वरवादी भी, जो निराकार ईश्वरकी पूजा करता है, उन्हें किसी गुणका रूप, कोई मानसिक रूप या प्राकृतिक रूप प्रदान कर देता है जिसके द्वारा वह उनकी परिकल्पना करता और उनके पास पहुँचता है। परन्तु यदि कोई भगवान्‌का मानों एक सजीव रूप एवं मानसिक शरीर देख सके तो उससे भगवत्प्राप्तिमें बहुत अधिक सामीप्य और माधुर्य आ जाता है।

सर्वांगीण भक्तियोगका मार्ग यह होगा कि ईश्वर-विषयक इस विचारको हम विश्वमय बनावें, एक बहुविध और सर्व-आश्लेषी संबंधके द्वारा उन्हें घनिष्ठ-वैयक्तिक रूप दे दें, नित्य-निरंतर उन्हें अपनी संपूर्ण सत्ताके समक्ष उपस्थित रखें और अपनी सारी-की-सारी सत्ता उनपर उत्सर्ग कर दें, उन्हींको दे दें, समर्पित कर दें, जिससे वे हमारे निकट और हमारे भीतर और हम उनके संग और उनके भीतर निवास करें। मनन और दर्शन करना, सभी वस्तुओंमें अनवरत उन्हींका चिंतन और सदा-सर्वदा-सर्वत्र उन्हींके दर्शन करना इस भक्तिमार्गका अनिवार्य अंग है। जब हम भौतिक प्रकृतिके पदार्थोंपर दृष्टिपात करें तो उनके अन्दर हमें अपने दिव्य प्रियतमको देखना होगा; जब हम मनुष्यों और जीवोंपर दृक्पात करें तो उनके अन्दर हमें उन्हींको देखना होगा और उनके साथ अपने संबंधमें हमें यह देखना होगा कि हम उन्हींके आकारोंके साथ संबंध स्थापित कर रहे हैं। जब जड़ जगत्‌की सीमा लाँघकर हम अन्य स्तरोंकी सत्ताओंका ज्ञान लाभ करें

या उनसे संबंध स्थापित करें तब भी हमें वही विचार वा दृष्टि अपने मनोंके प्रति सत्य बनानी होगी। हमारे इस मनके सामान्य स्वभावको, जो केवल जड़प्राकृतिक एवं प्रत्यक्ष रूप तथा साधारण खंडित संबंधके प्रति ही खुला है और अंतःस्थ गुप्त देवाधिदेवकी उपेक्षा करता है, सर्व-आलिंगी प्रेम और आनन्दके अविरत अभ्यासके द्वारा इस गभीरतर एवं विपुलतर बोध और इस महत्तर संबंधके प्रति नत होना होगा। सभी देवताओंमें हमें इन्हीं एक ईश्वरको देखना होगा जिन्हें हम अपने हृदय और अपनी संपूर्ण सत्तासे पूजते हैं; वे उन्हींके देवत्वके आकार हैं। अपने आध्यात्मिक आलिंगनको इस प्रकार विस्तारित करते हुए हम एक ऐसे बिन्दुपर जा पहुँचते हैं जहाँ सब कुछ वही होते हैं और इस चेतनाका आनन्द हमारे लिये संसारको देखनेका हमारा सामान्य अव्याहत ढंग बन जाता है। इससे उनके साथ हमारे मिलनमें बाह्य या वस्तुगत सार्वभौमता आ जाती है।

आभ्यंतरिक रूपमें, प्रियतमकी मूर्तिको हमारे अंतर्नयनके लिये गोचर बनना होगा। वे हमारे अन्दर ऐसे बस जायँ जैसे अपने घरमें, अपनी उपस्थितिकी मधुरिमासे हमारे हृदयोंको अनुप्राणित करें, सखा, स्वामी और प्रेमीके रूपमें वे हमारी सत्ताके शिखरसे हमारे मन-प्राणकी समस्त चेष्टाओंको अधिशासित करें, ऊपरसे वे हमें विश्वके अन्दर अपने साथ एकीभूत करें। सतत अंतर्मिलन एक ऐसा हर्ष है जिसे घनिष्ठ, स्थायी और अचूक बनाना है। इस अंतर्मिलनको असाधारण समीपता और उपासनाके उस समयतक ही सीमित नहीं रखना है जब कि हम अपनी सामान्य व्यस्तताओंसे विमुख होकर सर्वथा अपने भीतर चले जाते हैं, न हमें अपने मानवीय कार्योंका त्याग करके ही इसका अनुसरण करना है। हमें अपने सब विचारों, आवेगों, भावों और कार्योंको उनकी स्वीकृति या अस्वीकृतिके लिये उनके समक्ष प्रस्तुत करना होगा, अथवा यदि हम अभी इस बिन्दुतक नहीं पहुँच सकते तो हमें इन्हें अपनी अभीप्साके यज्ञमें उनके प्रति अर्पित करना होगा, जिससे वह हमारे अन्दर अधिकाधिक अवतीर्ण होकर इन सबमें उपस्थित रह सकें और इन्हें अपने समस्त संकल्प और बल, प्रकाश और ज्ञान, प्रेम और आनन्दसे परिव्याप्त कर सकें। अंतमें हमारे सभी विचार, भाव, आवेग और कर्म उन्हींसे निःसृत और अपने किसी दिव्य बीज और रूपमें परिवर्तित होने लगेंगे। अपने संपूर्ण अंतर्जीवनमें हम अपनेको उन्हींकी सत्ताके अंगके रूपमें जान लेंगे और अंततोगत्वा हमारे उपास्य भगवान्‌की सत्ता और हमारे अपने जीवनोंमें कोई भेद ही नहीं रह जायगा। इसी प्रकार सकल घटनाओंमें भी हमें अपने

साथ दिव्य प्रेमीके व्यवहारोंको देखना और उनमें ऐसा आनन्द लेना होगा कि दुःख-ताप और शारीरिक पीड़ातक उनकी देनें बन जायँ, आनन्दमें परिणत हो जायँ और दिव्य संपर्ककी अनुभूतिसे विनष्ट होकर अंतिम रूपसे आनन्दमें विलीन हो जायँ, क्योंकि उनके हाथोंका स्पर्श चमत्कारी रूपान्तरका रसायनज्ञ है। कुछ लोग जीवनका इस कारण त्याग कर देते हैं कि यह दुःख और पीड़ासे कलुषित है, परन्तु प्रभु-प्रेमीके लिये दुःख-दर्द उनसे मिलनके साधन, एवं उनके दबावके चिह्न बन जाते हैं और अंतमें, जैसे ही उनकी प्रकृतिके साथ हमारा मिलन इतना पूर्ण हो जाता है कि वैश्व आनन्दके ये आवरण उसे छिपा ही नहीं सकते, वैसे ही ये समाप्त हो जाते हैं। ये आनन्दमें रूपान्तरित हो जाते हैं।

जिन संबंधोंसे यह मिलन साधित होता है वे सभी इस पथपर प्रगाढ़ और आनन्दमय रूपमें वैयक्तिक बन जाते हैं। जो संबंध अंतमें उन सबको अपनेमें समा लेता, ऊँचा ले जाता या एक कर देता है वह प्रेमी और प्रियतमका संबंध है, क्योंकि वह सभी संबंधोंमें प्रगाढ़ और आनन्दपूर्ण है और शेष सबको अपनी ऊँचाइयोंपर ले जाता है और फिर भी उन्हें अतिक्रांत किये रहता है। वे गुरु और मार्गदर्शक हैं और हमें ज्ञानकी ओर ले जाते हैं; विकसनशील आंतर ज्योति और दृष्टिके प्रत्येक पगपर हम एक कलाकारके स्पर्श जैसा उनका स्पर्श अनुभव करते हैं जो हमारे मनकी मिट्टीको रूप देता है, सत्य और उसके शब्दको प्रकाशित करनेवाली उनकी वाणीको, उनसे प्राप्त उस विचारको जिसका हम प्रत्युत्तर देते हैं तथा उनके उन विद्युद्वज्रोंकी दीप्तिको भी हम अनुभव करते हैं जो हमारे अज्ञानांधकारका नाश कर देते हैं। विशेषतः, जितना ही हमारे मनके आंशिक प्रकाश विज्ञानकी ज्योतियोंमें रूपांतरित होते जाते हैं,—यह चाहे कितनी भी कम या अधिक मात्रामें हो,—उतना ही हम इसे अपने मनका उनके मनमें रूपान्तर अनुभव करते हैं और उत्तरोत्तर वही हमारे अन्दर विचारक और द्रष्टा बनते जाते हैं। हम अपने लिये सोचना और देखना छोड़ देते हैं, और केवल वही सोचते हैं जो वे हमारे लिये सोचना चाहते हैं तथा केवल वही देखते हैं जो वे हमारे लिये देखते हैं। तब गुरु प्रेमीमें पूर्णरूपेण चरितार्थ हो जाते हैं; वे हमारी संपूर्ण मानसिक सत्ताको आलिंगित और अधिकृत करनेके लिये, उसका उपभोग एवं उपयोग करनेके लिये उसे अपने हाथमें ले लेते हैं।

वे स्वामी हैं; किन्तु भगवत्प्राप्तिके इस मार्गमें समस्त दूरी और पृथक्ता, समस्त भय, संभ्रम और निरे आज्ञापालनका भाव तिरोहित हो

या उनसे संबंध स्थापित करें तब भी हमें वही विचार वा दृष्टि अपने मनोंके प्रति सत्य बनानी होगी। हमारे इस मनके सामान्य स्वभावको, जो केवल जड़प्राकृतिक एवं प्रत्यक्ष रूप तथा साधारण खंडित संबंधके प्रति ही खुला है और अंतःस्थ गुप्त देवाधिदेवकी उपेक्षा करता है, सर्व-आलिंगी प्रेम और आनन्दके अविरत अभ्यासके द्वारा इस गभीरतर एवं विपुलतर बोध और इस महत्तर संबंधके प्रति नत होना होगा। सभी देवताओंमें हमें इन्हीं एक ईश्वरको देखना होगा जिन्हें हम अपने हृदय और अपनी संपूर्ण सत्तासे पूजते हैं; वे उन्हींके देवत्वके आकार हैं। अपने आध्यात्मिक आलिंगनको इस प्रकार विस्तारित करते हुए हम एक ऐसे विन्दुपर जा पहुँचते हैं जहाँ सब कुछ वही होते हैं और इस चेतनाका आनन्द हमारे लिये संसारको देखनेका हमारा सामान्य अव्याहत ढंग बन जाता है। इससे उनके साथ हमारे मिलनमें बाह्य या वस्तुगत सार्वभौमता आ जाती है।

आभ्यंतरिक रूपमें, प्रियतमकी मूर्तिको हमारे अंतर्नयनके लिये गोचर बनना होगा। वे हमारे अन्दर ऐसे बस जायँ जैसे अपने घरमें, अपनी उपस्थितिकी मधुरिमासे हमारे हृदयोंको अनुप्राणित करें, सखा, स्वामी और प्रेमीके रूपमें वे हमारी सत्ताके शिखरसे हमारे मन-प्राणकी समस्त चेष्टाओंको अधिशासित करें, ऊपरसे वे हमें विश्वके अन्दर अपने साथ एकीभूत करें। सतत अंतर्मिलन एक ऐसा हर्ष है जिसे घनिष्ठ, स्थायी और अचूक बनाना है। इस अंतर्मिलनको असाधारण समीपता और उपासनाके उस समयतक ही सीमित नहीं रखना है जब कि हम अपनी सामान्य व्यस्तताओंसे विमुख होकर सर्वथा अपने भीतर चले जाते हैं, न हमें अपने मानवीय कार्योंका त्याग करके ही इसका अनुसरण करना है। हमें अपने सब विचारों, आवेगों, भावों और कार्योंको उनकी स्वीकृति या अस्वीकृतिके लिये उनके समक्ष प्रस्तुत करना होगा, अथवा यदि हम अभी इस विन्दुतक नहीं पहुँच सकते तो हमें इन्हें अपनी अभीप्साके यज्ञमें उनके प्रति अर्पित करना होगा, जिससे वह हमारे अन्दर अधिकाधिक अवतीर्ण होकर इन सबमें उपस्थित रह सकें और इन्हें अपने समस्त संकल्प और बल, प्रकाश और ज्ञान, प्रेम और आनन्दसे परिव्याप्त कर सकें। अंतमें हमारे सभी विचार, भाव, आवेग और कर्म उन्हींसे निःसृत और अपने किसी दिव्य बीज और रूपमें परिवर्तित होने लगेंगे। अपने संपूर्ण अंतर्जीवनमें हम अपनेको उन्हींकी सत्ताके अंगके रूपमें जान लेंगे और अंततोगत्वा हमारे उपास्य भगवान्‌की सत्ता और हमारे अपने जीवनोंमें कोई भेद ही नहीं रह जायगा। इसी प्रकार सकल घटनाओंमें भी हमें अपने

साथ दिव्य प्रेमीके व्यवहारोंको देखना और उनमें ऐसा आनन्द लेना होगा कि दुःख-ताप और शारीरिक पीड़ातक उनकी देनें बन जायँ, आनन्दमें परिणत हो जायँ और दिव्य संपर्ककी अनुभूतिसे विनष्ट होकर अंतिम रूपसे आनन्दमें विलीन हो जायँ, क्योंकि उनके हाथोंका स्पर्श चमत्कारी रूपान्तरका रसायनज्ञ है। कुछ लोग जीवनका इस कारण त्याग कर देते हैं कि यह दुःख और पीड़ासे कलुषित है, परन्तु प्रभु-प्रेमीके लिये दुःख-दर्द उनसे मिलनके साधन, एवं उनके दबावके चिह्न बन जाते हैं और अंतमें, जैसे ही उनकी प्रकृतिके साथ हमारा मिलन इतना पूर्ण हो जाता है कि वैश्व आनन्दके ये आवरण उसे छिपा ही नहीं सकते, वैसे ही ये समाप्त हो जाते हैं। ये आनन्दमें रूपान्तरित हो जाते हैं।

जिन संबंधोंसे यह मिलन साधित होता है वे सभी इस पथपर प्रगाढ़ और आनन्दमय रूपमें वैयक्तिक बन जाते हैं। जो संबंध अंतमें उन सबको अपनेमें समा लेता, ऊँचा ले जाता या एक कर देता है वह प्रेमी और प्रियतमका संबंध है, क्योंकि वह सभी संबंधोंमें प्रगाढ़ और आनन्दपूर्ण है और शेष सबको अपनी ऊँचाइयोंपर ले जाता है और फिर भी उन्हें अतिक्रांत किये रहता है। वे गुरु और मार्गदर्शक हैं और हमें ज्ञानकी ओर ले जाते हैं; विकसनशील आंतर ज्योति और दृष्टिके प्रत्येक पगपर हम एक कलाकारके स्पर्श जैसा उनका स्पर्श अनुभव करते हैं जो हमारे मनकी मिट्टीको रूप देता है, सत्य और उसके शब्दको प्रकाशित करनेवाली उनकी वाणीको, उनसे प्राप्त उस विचारको जिसका हम प्रत्युत्तर देते हैं तथा उनके उन विद्युद्वज्रोंकी दीप्तिको भी हम अनुभव करते हैं जो हमारे अज्ञानांधकारका नाश कर देते हैं। विशेषतः, जितना ही हमारे मनके आंशिक प्रकाश विज्ञानकी ज्योतियोंमें रूपांतरित होते जाते हैं,—यह चाहे कितनी भी कम या अधिक मात्रामें हो,—उतना ही हम इसे अपने मनका उनके मनमें रूपान्तर अनुभव करते हैं और उत्तरोत्तर वही हमारे अन्दर विचारक और द्रष्टा बनते जाते हैं। हम अपने लिये सोचना और देखना छोड़ देते हैं, और केवल वही सोचते हैं जो वे हमारे लिये सोचना चाहते हैं तथा केवल वही देखते हैं जो वे हमारे लिये देखते हैं। तब गुरु प्रेमीमें पूर्णरूपेण चरितार्थ हो जाते हैं; वे हमारी संपूर्ण मानसिक सत्ताको आलिंगित और अधिकृत करनेके लिये, उसका उपभोग एवं उपयोग करनेके लिये उसे अपने हाथमें ले लेते हैं।

वे स्वामी हैं; किन्तु भगवत्प्राप्तिके इस मार्गमें समस्त दूरी और पृथक्ता, समस्त भय, संभ्रम और निरे आज्ञापालनका भाव तिरोहित हो

जाते हैं, क्योंकि हम उनके इतने निकट तथा उनसे इतने एकीभूत हो जाते हैं कि ये चीजें टिक ही नहीं पातीं और हमारी सत्ताका प्रेमी भी इसे अपनाकर अपने अधिकारमें कर लेता है, इसका प्रयोग करता है और इसके साथ वह जो चाहता है करता है। आज्ञापालन सेवकका चिह्न है, किन्तु वह इस संबंधकी—दास्यकी—सबसे निचली सीढ़ी है। आगे चलकर हम आज्ञापालन नहीं करते, बल्कि उनकी इच्छाके अनुसार उसी प्रकार चलते हैं जिस प्रकार वाद्य-तार गायककी अँगुलिके संकेतपर सुर निकालता है। यंत्र बनना आत्म-समर्पण और नमनकी उच्चतर अवस्था ही है। परन्तु यह एक सजीव और प्रेमपूर्ण यंत्र होता है और इसका पर्यवसान यह होता है कि हमारी सत्ताकी संपूर्ण प्रकृति ईश्वरकी दासी बन जाती है, उनके स्वामित्व और दैवी अधिकार एवं प्रभुत्वके प्रति अपने आनन्दपूर्ण दासत्वमें हर्षित होती है। प्रगाढ़ आनन्दके साथ, बिना ननुनचके यह वह सब करती है जो वे इससे कराना चाहते हैं और वह सब वहन करती है जो वे इससे वहन कराना चाहते हैं, क्योंकि जो यह वहन करती है वह प्रियतम सत्ताका ही भार है।

वह सखा है, कष्ट और संकटमें परामर्शदाता, सहायक एवं रक्षक है, शत्रुओंसे बचानेवाला है, शूरवीर है जो हमारे लिये युद्ध लड़ता है या जिसकी ढालकी आड़में हम युद्ध करते हैं, वह रथी है, हमारे पथोंका कर्णधार है। यहाँ हम एकाएक निकटतर घनिष्ठता प्राप्त कर लेते हैं; वह हमारा संगी और नित्य-सहचर होता है, जीवनके खेलका साथी। परन्तु इतना होनेपर भी अभी एक प्रकारका भेद रहता है, वह रुचिकर भले ही हो, और सख्यका भाव उपकारकी भाव-भंगीद्वारा अत्यधिक सीमित रहता है। प्रेमी हमें चोट पहुँचा सकता, त्याग सकता और हमपर कुपित हो सकता है, यहाँतक प्रतीत हो सकता है कि वह विश्वासघात कर रहा है और फिर भी हमारा प्रेम स्थायी रहता है, इतना ही नहीं, बल्कि इन विरोधोंसे वह बढ़ता है; इनसे पुनर्मिलनका हर्ष और अधिकृत करनेका हर्ष बढ़ता है; इनके द्वारा भी वह प्रेमी हमारा सखा ही बना रहता है और जो कुछ भी वह करता है वह सब, हमें अंतमें पता चलता है, हमारी सत्ताके प्रेमी और सहायकने ही हमारी आत्माकी पूर्णताके लिये और हमारे अन्दर अपने आनन्दके लिये किया है। ये विरोध और अधिक समीपताकी ओर ही ले जाते हैं। वह हमारी सत्ताके माता-पिता भी हैं, इसके उत्पादक, रक्षक एवं कृपालु पालक-पोषक हैं और हमारी कामनाओंको पूरा करनेवाले हैं। वह एक शिशु हैं जो हमारी इच्छाके

अनुसार उत्पन्न होता है और जिसे हम पालते-पोसते तथा बढ़ाते हैं। इन सब चीजोंको हमारा प्रेमी अपनाता है; उसका प्रेम अपनी घनिष्ठता एवं एकतामें अपने अन्दर माता-पिताकी-सी हितचिंताको धारण किये रहता है और उससे हम जो माँगें करते हैं उनकी पूर्तिकी ओर ध्यान देता है। उस गभीरतम बहुमुख संबंधमें सब कुछ एकीभूत हो जाता है।

प्रेमी और प्रियतमका यह निकटतम संबंध प्रारंभसे प्राप्त कर लेना भी संभव है, पर यह पूर्णयोगके लिये उतना एकांगी नहीं होगा जितना किन्हीं केवल आनन्दरत भक्तिमार्गोंके लिये। यह संबंध अन्य संबंधोंके रंग-रूपोंका कुछ अंश प्रारंभसे ही अपने अन्दर ले लेगा, क्योंकि वह ज्ञान और कर्मका भी अनुसरण करता है और उसे गुरु, सखा और स्वामीके रूपमें भी भगवान्‌की आवश्यकता होती है। ईश्वर-प्रेमकी वृद्धिके साथ ही उसके अन्दर ईश्वर-ज्ञानका तथा उसकी प्रकृति और जीवनमें ईश्वरेच्छाकी क्रियाका विस्तार भी अवश्य होगा। दिव्य प्रेमी अपने-आपको प्रकाशित करता है; वह जीवनको अपने अधिकारमें कर लेता है। परन्तु तात्विक संबंध अभी भी उस प्रेमका ही रहेगा जिससे सभी चीजें प्रस्रवित होती हैं और जो अत्युत्कट एवं पूर्ण होता है और अपनी परिपूर्तिके सैकड़ों मार्गों, पारस्परिक स्वत्वके सभी साधनों तथा मिलनके हर्षके सहस्रों रूपोंकी खोज करता है। मनके सब भेद-प्रभेदों, इसकी सभी बाधाओं और "नहीं हो सकता"की उक्तियों, बुद्धिके सभी निष्प्राण विश्लेषणोंका यह मजाक उड़ाता है अथवा यह इन्हें मिलनकी कसौटियों, क्षेत्रों और द्वारोंके रूपमें ही प्रयुक्त करता है। प्रेम हमारे अन्दर अनेक प्रकारसे उदित होता है। यह प्रेमीके सौन्दर्यके प्रति जागृतिके रूपमें, उनकी आदर्श मुखछवि और मूर्तिके दर्शनके द्वारा, जगत्‌में पदार्थोंके सहस्रों रूपोंके पीछेसे हमारे प्रति उनके स्व-विषयक गुह्य संकेतोंके द्वारा, हृदयकी मन्द या आकस्मिक आवश्यकताके कारण, आत्माकी एक अव्यक्त प्यासके कारण, इस अनुभूतिके द्वारा कि हमारे समीप-स्थित कोई हमें प्रेमपूर्वक खींच रहा है या हमारा पीछा कर रहा है अथवा इस अनुभवके द्वारा उदित हो सकता है कि कोई आनन्दमय और सर्वसुन्दर सत्ता है जिसकी हमें अवश्य खोज करनी चाहिये।

हम रागपूर्वक उनकी खोज कर सकते और अदृष्ट प्रियतमका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु वह प्रेमी भी, जिसका हमें विचारतक नहीं आता, हमारा पीछा कर सकता है, इस संसारके बीच एकाएक हमारे सामने आ सकता है और प्रारंभमें हम चाहें या न चाहें, वह अपने ही लिये हमपर अपना अधिकार जमा सकता है। यहाँतक कि, शुरूमें वह प्रणयरोषके

साथ शत्रुके रूपमें भी हमारे पास आ सकता है और उसके साथ हमारे आरंभिक संबंध संघर्ष एवं संग्रामके हो सकते हैं। जहाँ पहले-पहल प्रेम एवं आकर्षण उत्पन्न होता है, वहाँ भी भगवान् और आत्माके संबंध चिरकाल-तक भ्रांति और रोष, ईर्ष्या और क्रोध, प्रेमके विवाद और कलह, आशा और निराशा और विरह एवं वियोगकी वेदनासे शवलित हो सकते हैं। अपने हृदयके समस्त आवेशोंको हम तवतक उनके प्रति विसर्जित करते हैं जवतक वे आनन्द और एकत्वके अनन्य मदमें शुद्ध नहीं हो जाते। परन्तु यह भी कोई नीरसता नहीं है; दिव्य प्रेमके आनन्दकी संपूर्ण चरम एकता और संपूर्ण शाश्वत विविधताका वर्णन करना मानवोच्चारित भाषाके लिये संभव ही नहीं है। हमारे उच्चतर और निम्नतर अंग दोनों इससे परिप्लुत हो जाते हैं, मन और प्राण भी उतने ही जितनी कि आत्मा। यहाँतक कि स्थूल शरीर भी इस हर्षमें अपना भाग ग्रहण करता है, स्पर्श अनुभव करता है, अपने सब अवयवोंमें, रग-रगमें सोम-सुराके—अमृतके प्रवाहसे परिपूर्ण हो जाता है। प्रेम और आनन्द सत्ताके अंतिम शब्द हैं, रहस्योंके रहस्य और गुह्यतम गुह्य हैं।

इस प्रकार विश्वमय और व्यक्तिभावापन्न होकर, अपनी तीव्रताओंतक उन्नीत, सर्वग्रासी, सर्व-आलिंगी और सर्व-परिपूरक होकर प्रेम एवं आनन्दका मार्ग परमोच्च मुक्ति प्रदान करता है। इसका सर्वोच्च शिखर अति-लौकिक मिलन है। किन्तु प्रेमके लिये पूर्ण मिलन ही मुक्ति है; इसके लिये मुक्तिका और कोई अर्थ ही नहीं है; यह सब प्रकारकी मुक्तियोंको अपने अन्दर समाविष्ट रखता है। अंतमें ये, जैसा कि कुछ लोग चाहेंगे, केवल एकके बाद दूसरीके क्रमसे प्राप्त होनेवाली और अतएव परस्पर-वर्जक भी नहीं हैं। हम मानव-आत्माके साथ भगवान्का पूर्ण मिलन, 'सायुज्य', लाभ करते हैं; उसमें वे सब तत्त्व अपनेको प्रकट करते हैं जो यहाँ भेदपर अवलंबित हैं, पर वहाँ भेद एकत्वका रूपमात्र है,—इसी प्रकार समीपता, संस्पर्श और परस्पर-सान्निध्य, 'सामीप्य', सालोक्यका आनन्द, परस्पर-प्रतिबिंबनका,—जिसे हम 'सादृश्य' कहते हैं—आनन्द और अन्य अद्भुत वस्तुएँ भी वहाँ प्रकट होती हैं जिनके लिये भाषाके पास अभी कोई नाम नहीं हैं। ऐसी कोई चीज नहीं है जो ईश्वर-प्रेमीकी पहुँचसे परे हो अथवा जो उसे प्रदान न की जाय; क्योंकि वह दिव्य प्रेमीका प्रेममात्र और प्रियतमकी आत्मा है।

चौथा भाग

आत्मसिद्धियोग

पहला अध्याय

पूर्णयोगका मूल सिद्धांत

हमारी मानव-सत्ताकी किसी एक या सभी शक्तियों (करणों) को लेकर उन्हें भागवत सत्तातक पहुँचनेके साधन बना देना—यही योगका मूल सिद्धान्त है। एक साधारण योगमें सत्ताकी किसी एक मुख्य शक्ति (करण) या उसकी शक्तियों (करणों) के किसी एक समूहको साधन, वाहन या पथ बनाया जाता है। पर समन्वयात्मक योगमें सभी शक्तियों (करणों) को एकत्र कर रूपांतरकारी साधन-सामग्रीमें सम्मिलित कर लिया जायगा।

हठयोगमें साधन है शरीर एवं प्राण। शरीरकी समस्त शक्तिको आसन तथा अन्य भौतिक प्रक्रियाओंके द्वारा उसकी चरम सीमाओंतक या सीमातीत रूपमें स्थिर, संगृहीत, शुद्ध, उन्नत और एकाग्र किया जाता है; प्राणकी शक्तिको भी इसी प्रकार आसन और प्राणायामके द्वारा शुद्ध, उन्नत और एकाग्र किया जाता है। फिर इन एकाग्र शक्तियोंको उस भौतिक केन्द्रकी ओर प्रचालित किया जाता है जिसमें दिव्य चेतना, मानव-देहके भीतर, गुह्य रूपमें स्थित है। ऐसा करनेसे प्राण-तत्त्वकी शक्ति या प्रकृति-शक्ति, जो पृथ्वी-सत्ताके सबसे निचले स्नायु-चक्र (मूलाधार) में सोयी हुई अपनी सब गुप्त सामर्थ्योंके साथ हमारी देहमें कुण्डल मारे पड़ी है, जाग उठती है। उसकी सामर्थ्योंको हमने सोयी हुई इस कारण कहा है कि हमारी साधारण क्रियाओंमें इनका उतना ही भाग सजग कार्यके रूपमें प्रकट होता है जितना मानवजीवनके परिमित प्रयोजनोंके लिये पर्याप्त है। हाँ, तो यह कुण्डलित प्राण-शक्ति जागकर एकके बाद एक केन्द्रमेंसे होती हुई ऊपरकी ओर आरोहण करती जाती है। इस प्रकार आरोहण करती हुई यह अपने मार्गमें हमारी सत्ताकी प्रत्येक क्रमिक ग्रन्थि अर्थात् स्नायविक प्राण, भावमय हृदय और साधारण मन, वाणी, दृष्टि, संकल्प और उच्चतर ज्ञानकी सामर्थ्योंको भी जगाती चलती है, जिससे कि अन्तमें यह मस्तिष्कके द्वारा तथा इसके ऊपर दिव्य चेतनासे जा मिलती है तथा उसके साथ एक हो जाती है।

राजयोगमें चुना हुआ साधन है मन। इसमें सबसे पहले हमारे

साधारण मनको संयमित और शुद्ध करके भागवत सत्ताकी ओर प्रेरित किया जाता है, फिर आसन और प्राणायामकी एक संक्षिप्त प्रक्रियाके द्वारा हमारी सत्ताकी भौतिक शक्तिको स्थिर, शान्त और एकाग्र किया जाता है, प्राणशक्तिको एक ऐसी तालवद्ध गतिका उन्मुक्त रूप दे दिया जाता है जिसे इच्छानुसार रोका जा सकता है और साथ ही उसे अपनी ऊर्ध्वमुख क्रियाकी उच्चतर शक्तिके रूपमें एकाग्र कर दिया जाता है, मन अपने आधारभूत शरीर और प्राणकी इस महत्तर क्रिया और एकाग्रतासे संपुष्ट और सवल होकर स्वयं भी अपने सव क्षोभ और आवेग तथा अपनी अभ्यासगत विचार-तरंगोंसे रहित एवं शुद्ध हो जाता है, भ्रम और विक्षेपसे मुक्त हो जाता है, अपनी एकाग्रताकी उच्चतम शक्ति प्राप्त कर लेता है, समाधिकी मग्नावस्थामें लीन हो जाता है। इस साधनाके द्वारा दो लक्ष्योंकी प्राप्ति होती है जिनमेंसे एक तो कालगत है और दूसरा नित्य। मनकी शक्ति एक अन्य एकाग्र क्रियामें ज्ञानकी असामान्य क्षमताओं, अमोघ संकल्प, ग्रहण-क्रियाकी गभीर ज्योति तथा विचार-विकिरणकी शक्तिशाली ज्योतिका विकास करती है जो कि हमारे सामान्य मनके संकुचित क्षेत्रसे सर्वथा परेकी वस्तुएँ हैं; यह यौगिक या गुह्य शक्तियाँ किंवा सिद्धियाँ प्राप्त कर लेती है जिनके चारों ओर कितने ही अधिक रहस्यका जाल वुन दिया गया है जो आवश्यक तो विलकुल नहीं है, किन्तु फिर भी शायद हितकर ही है। परन्तु एकमात्र अन्तिम लक्ष्य एवं एकमात्र सर्वप्रधान लाभ यह है कि मन शान्त होकर और प्रगाढ़ समाधिमें डूवकर दिव्य चेतनामें लीन हो सकता है और आत्माको भगवान्‌के साथ एक होनेके लिये वंधनसे मुक्त किया जा सकता है।

त्रिमार्ग मनुष्यके मनोमय अन्तरात्म-जीवनकी तीन मुख्य शक्तियोंको अपने चुने हुए करणोंके रूपमें ग्रहण करता है। ज्ञानमार्ग वुद्धि और मानसिक अन्तर्दृष्टिको चुनता है और शुद्धि एवं एकाग्रता तथा ईश्वरोन्मुख जिज्ञासाकी एक विशेप साधनाके द्वारा वह इन्हें सवसे महान् ज्ञान एवं अन्तर्दर्शन अर्थात् ईश्वर-ज्ञान और ईश्वर-दर्शनकी प्राप्तिके लिये अपने साधन वना लेता है। उसका लक्ष्य भगवान्‌का साक्षात्कार और ज्ञान प्राप्त करना तथा वही वन जाना है। कर्मोंका मार्ग किंवा क्रियामय मार्ग कर्मोंके कर्ताके संकल्पको अपने करणके रूपमें चुनता है; वह जीवनको भगवान्‌के प्रति यज्ञकी हविका रूप दे देता है और शुद्धि किंवा एकाग्रताके द्वारा तथा भगवदिच्छाके प्रति अधीनताकी एक विशेप साधनासे इसे विश्वके दिव्य प्रभुके साथ मानव-आत्माके संपर्क और वृद्धिशील एकत्वका साधन

बना देता है। भक्तिमार्ग आत्माकी भावमय एवं सौन्दर्यलक्षी शक्तियोंको चुनता है और उन सबको पूर्ण पवित्रता एवं तीव्रताके भावमें तथा खोजके असीम आवेगके साथ भगवान्‌की ओर मोड़कर भागवत सत्ताके साथ एकत्वके एक या अनेक संबंधोंके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेके साधन बना देता है। इन सब मार्गोंका लक्ष्य अपने-अपने ढंगसे परमात्माके साथ मानव-आत्माका मिलन या एकत्व साधित करना है।

किसी भी योगकी प्रक्रियाका स्वरूप, जिस करणका वह प्रयोग करता है उसीके अनुसार होता है; इस प्रकार हठयोगकी प्रक्रिया मनो-भौतिक है, राजयोगकी मानसिक और आंतरात्मिक, ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक और प्रज्ञात्मक है, भक्तिमार्ग आध्यात्मिक, भाविक और सौन्दर्यबोधात्मक है, कर्ममार्ग कार्यतः आध्यात्मिक और क्रिया-शक्तिमय है। इनमेंसे प्रत्येक अपनी विशिष्ट शक्तिके तरीकोंके अनुसार परिचालित होता है। परन्तु समस्त शक्ति अंतमें एक ही शक्ति है, समस्त शक्ति वस्तुतः आत्म-शक्ति ही है। प्राण, शरीर और मनकी साधारण प्रक्रियामें यह सत्य प्रकृतिकी एक ऐसी विकीर्ण विभेदक और विभाजक क्रियाके द्वारा, जो हमारे समस्त व्यापारोंकी एक सामान्य शर्त है, सर्वथा आच्छादित रहता है, यद्यपि वहाँ भी यह अंतमें प्रत्यक्ष हो जाता है; क्योंकि समस्त भौतिक शक्ति प्राणिक, मानसिक, आंतरात्मिक और आध्यात्मिक शक्तिको अपने अन्दर गुह्य रूपमें धारण किये है और अंतमें यह एकमेव शक्तिके इन रूपोंको अवश्य उन्मुक्त करेगी, प्राणिक शक्ति अन्य सब रूपोंको अपने अन्दर छुपाये है तथा उन्हें सक्रिय रूपमें प्रकट करती है, मानसिक शक्ति प्राण और शरीर तथा उनकी शक्तियों एवं क्रियाओंके आधारपर स्थित रहती हुई, हमारी सत्ताकी अविकसित या केवल अंशतः-विकसित आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक शक्तिको अपने अन्दर धारण किये है। पर जब योगके द्वारा इनमेंसे किसी शक्तिको विकीर्ण और विभाजक क्रियासे ऊपर उठाकर उसकी परमोच्च सीमातक पहुँचा दिया जाता है, उसे एकाग्र कर दिया जाता है तो वह एक व्यक्त आत्म-शक्ति बन जाती है तथा सब शक्तियोंकी मूल एकताको प्रकाशित कर देती है। अतएव, हठयोगकी प्रक्रियाका भी अपना शुद्ध आंतरात्मिक एवं आध्यात्मिक परिणाम होता है, राजयोगकी प्रक्रिया मानसिक साधनोंसे एक अत्युच्च आध्यात्मिक परिणति लाभ करती है। त्रिमार्ग अपने खोजके साधन तथा अपने लक्ष्योंमें पूर्णतः मानसिक और आध्यात्मिक प्रतीत हो सकता है, पर उससे भी ऐसे फल प्राप्त हो सकते हैं जो अधिक स्वाभाविक रूपमें अन्य मार्गोंके ही फल होते हैं। ये फल एक सहज-स्वाभाविक एवं

अनैच्छिक विकासके रूपमें ही हमारे सामने उपस्थित होते हैं, और इसका कारण भी यही है कि आत्म-शक्ति ही सर्व-शक्ति है और जहाँ यह एक दिशामें अपनी पराकाष्ठाको पहुँचती है वहाँ इसकी अन्य संभावनाएँ भी एक वास्तविक तथ्य या एक आरंभिक संभाव्य शक्तिके रूपमें प्रकट होने लगती हैं। शक्तियोंकी यह एकता तुरंत ही संकेत देती है कि एक समन्वयात्मक योग संभव है।

तांत्रिक साधना अपने स्वरूपसे ही एक समन्वयात्मक प्रणाली है। इसने इस विशाल वैश्व सत्यको अधिकृत कर लिया है कि सत्ताके दो ध्रुव हैं, **ब्रह्म** और **शक्ति, आत्मा** और **प्रकृति,** जिनकी तात्विक एकता सत्ताका रहस्य है; इसने यह भी जान लिया है कि प्रकृति आत्माकी शक्ति है या वह वास्तवमें शक्तिरूप आत्मा ही है। मनुष्यकी प्रकृतिको ऊँचा उठाकर उसे आत्माकी व्यक्त शक्ति बना देना ही इसकी प्रणाली है और आध्यात्मिक रूपांतरके लिये यह मनुष्यकी सारी-की-सारी प्रकृतिको एकत्र करती है। यह अपनी साधन-प्रणालीमें इन विधियोंको समाविष्ट करती है—शक्तिशाली हठयौगिक प्रक्रिया और विशेषकर स्नायु-केन्द्रों (चक्रों) का उद्घाटन तथा ब्रह्मसे मिलनेके लिये ऊपरकी ओर जाती हुई जागरित शक्तिका अपने मार्गमें उन केन्द्रोंमेंसे गुजरना, राजयौगिक शुद्धि, ध्यान और एकाग्रताका सूक्ष्मतर दबाव, संकल्प-शक्तिका समर्थतम आलम्बन, भक्तिकी प्रेरक-शक्ति और ज्ञानकी पद्धति। परन्तु वह इन विशिष्ट योगोंकी विभिन्न शक्तियोंको प्रभावशाली रूपमें एकत्र करके ही नहीं रुक जाती। दो दिशाओंमें यह अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्तिके द्वारा योग-पद्धतिके क्षेत्रको विस्तृत करती है। सर्व-प्रथम, यह मानवीय गुण-सामर्थ्य, कामना और कार्य-व्यापारके मुख्य स्रोतों (करणों) मेंसे कई एकको दृढ़तापूर्वक अपने हाथमें लेती है और उन्हें एक बलबर्द्धक साधनामेंसे गुजारती है और ऐसा करनेमें इसका पहला लक्ष्य यह होता है कि आत्मा अपनी प्रेरक शक्तियोंका प्रभुत्व प्राप्त कर ले और अंतिम प्रयोजन यह होता है कि वह इन्हें एक दिव्यतर आध्यात्मिक स्तरतक ऊँचा उठा ले जाय। और, फिर यह योगके लक्ष्योंमें केवल उस मुक्तिको ही समाविष्ट नहीं करती जो विशेष-विशेष पद्धतियोंका एकमात्र सर्व-प्रधान लक्ष्य है, बल्कि आत्माकी शक्तिके विश्वगत उपभोग (भुक्ति) को भी समाविष्ट करती है जिसे अन्य पद्धतियाँ मार्गमें प्रासंगिक, आंशिक और नैमित्तिक रूपसे तो स्वीकार कर सकती हैं, पर जिसे वे अपना हेतु या लक्ष्य बनानेसे कतराती हैं। इस प्रकार, तांत्रिक साधना एक अधिक साहसपूर्ण एवं विशालतर प्रणाली है।

समन्वयकी जिस पद्धतिका हम अनुसरण करते आ रहे हैं उसमें मूल तत्त्वके एक अन्य ही सूत्रका अनुसरण किया गया है जिसका मूल योगकी शक्यताओंके एक और ही दृष्टिकोणमें निहित है। यह तंत्रके लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये वेदान्तकी पद्धतिको लेकर चलता है। तांत्रिक प्रणालीमें शक्ति ही सर्व-प्रधान है, वही आत्माकी खोजकी कुंजी बनती है; हमारे समन्वयमें आत्मा, पुरुष सर्व-प्रधान है, वही शक्तिको ऊपर ले जानेकी रहस्यमय कुंजी बनता है। तंत्र-प्रणाली निचले तलसे आरंभ करती है और आरोहणकी सीढ़ीपर ऊपरकी ओर पग रखती हुई शिखरतक पहुँचती है; अतएव, सबसे पहले यह शरीर और उसके केन्द्रों (चक्रों) के स्नायु-मण्डलमें जागरित शक्तिकी क्रियापर बल देती है; षट् पद्मों (चक्रों) का उद्‌घाटन आत्माकी शक्तिके स्तरोंका ही उद्‌घाटन है। हमारा समन्वय मनुष्यको देहगत आत्माकी अपेक्षा कहीं अधिक मनोगत आत्मा मानता है और उसके अन्दर यह शक्ति भी स्वीकार करता है कि वह इसी स्तरसे योग-साधना आरंभ कर सकता है, उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति एवं सत्ताकी ओर अपने-आपको सीधे खोल देनेवाले मनोमय पुरुषकी शक्तिसे अपनी सत्ताको आध्यात्मिक बना सकता है और इस प्रकार वह जिस उच्चतर शक्तिको प्राप्त करता तथा कार्यरत कर देता है उसके द्वारा वह अपनी समूची प्रकृतिको पूर्ण बना सकता है। इसी कारण हमने आरंभमें इस बातपर बल दिया है कि मनोमय पुरुषकी शक्तियोंका उपयोग करके आत्माके तालोंमें ज्ञान, कर्म और प्रेमकी त्रिविध कुंजी लगायी जाय। हठयोगकी विधियोंको छोड़ा जा सकता है—यद्यपि उनके आंशिक प्रयोगमें हमें कोई आपत्ति नहीं,—राजयोगकी विधियाँ एक अनियमित अंगके रूपमें ही प्रवेश पा सकती हैं। छोटे-से-छोटे मार्गके द्वारा आध्यात्मिक शक्ति और सत्ताके विस्तृत-से-विस्तृत विकासतक पहुँचना और उसके द्वारा मानव-जीवनके संपूर्ण क्षेत्रमें मुक्त प्रकृतिको दिव्य बनाना ही हमारा उत्प्रेरक हेतु है।

जो मूल सूत्र हमारी दृष्टिके संमुख है वह है आत्म-समर्पण, मानव-सत्ताको भगवान्‌की सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्दमें उत्सर्ग कर देना, मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणीकी आत्मामें भगवान्‌से मिलनेके जितने भी केन्द्र-विन्दु हैं उन सवपर मिलन या अन्त:संपर्क प्राप्त करना, जिसके द्वारा स्वयं भगवान् अपनेको पर्देके पीछे छुपाये विना, प्रत्यक्ष रूपमें मानव-यंत्रके शासक और स्वामी बनकर, अपने सान्निध्य और मार्गदर्शनकी ज्योतिसे मनुष्यको दिव्य जीवन यापन करनेके लिये प्रकृतिकी सभी शक्तियोंमें पूर्ण बना दें। यहाँ हम योगके लक्ष्योंके और भी अधिक विस्तारपर पहुँच

जाते हैं। योगमात्रका सर्वसामान्य प्रारंभिक उद्देश्य है मानव-आत्माकी अपने वर्तमान प्राकृत अज्ञान एवं सीमाबंधनसे मुक्ति, उसका आध्यात्मिक सत्तामें पहुँचकर मुक्त हो जाना, परमोच्च आत्मा और भागवत सत्ताके साथ उसका मिलन। परन्तु साधारणतया इसे आरंभिक ही नहीं, अपितु संपूर्ण एवं अंतिम लक्ष्य बना दिया जाता है; आध्यात्मिक सत्ताका उपभोग तो इसमें अवश्य प्राप्त होता है, पर वह या तो आत्म-स्वरूपकी नीरवताके अन्दर मानवीय एवं वैयक्तिक सत्ताके लयके रूपमें प्राप्त होता है या फिर किसी उच्चतर स्तरपर एक अन्य प्रकारके जीवनमें। तांत्रिक पद्धति मुक्तिको अपना अंतिम लक्ष्य तो नियत करती है, पर एकमात्र लक्ष्य नहीं, वह अपने मार्गमें मानव-जीवनके अन्दर आध्यात्मिक शक्ति, ज्योति और आनन्दकी समग्र पूर्णता एवं मुक्तिको ग्रहण करती है; इतना ही नहीं, बल्कि उसे उस परमोच्च अनुभवकी झाँकी भी प्राप्त होती है जिसमें मोक्ष और वैश्व व्यापार एवं उपभोग समस्त वैषम्य-विरोधोंपर अंतिम विजयकी अवस्थामें एकीकृत हो जाते हैं। हमारी आध्यात्मिक शक्यताओंके संबंधमें यह जो विशालतर दृष्टि है इसीको लेकर हम आगे बढ़ते हैं, किन्तु हम एक और बातपर भी बल देते हैं जो हमारे योगमें एक अधिक पूर्ण सार्थकता ले आती है। हम मनुष्यमें स्थित आत्माको केवल एक ऐसी व्यक्तिगत सत्ता ही नहीं मानते जो भगवान्‌के साथ परात्पर एकत्व पानेके लिये आगे बढ़ रही है, बल्कि उसे एक ऐसी विराट् सत्ता भी मानते हैं जो सब जीवों तथा समस्त प्रकृतिमें भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त कर सकती है और इस विस्तृत दृष्टिको हम इसका पूरे-का-पूरा क्रियात्मक महत्व प्रदान करते हैं। मानव-आत्माका व्यक्तिगत मोक्ष और आध्यात्मिक सत्ता, चेतना और आनन्दमें भगवान्‌के साथ मिलनका व्यक्तिगत उपभोग सदा ही योगका प्रथम लक्ष्य होना चाहिये; अतएव, विश्वमें भगवान्‌के साथ एकत्वका मुक्त उपभोग, उसका दूसरे नम्बरका लक्ष्य हो जाता है; पर इसमेंसे एक तीसरा लक्ष्य भी प्रकट होता है, अर्थात् मानवजातिमें भगवान्‌का जो आध्यात्मिक उद्देश्य है उससे सहानुभूति रखते हुए तथा उसमें भाग लेकर सर्वभूतोंके साथ दिव्य एकताके अर्थको कार्यरूपमें परिणत करना। ऐसी अवस्थामें व्यक्तिगत योग अपने पृथक् रूपको त्यागकर मानवजातिमें दिव्य प्रकृतिके सामूहिक योगका अंग बन जाता है। मुक्ति प्राप्त व्यक्ति अपनी अध्यात्म-सत्ता एवं आत्म-स्वरूपमें भगवान्‌के साथ एक होकर अपनी प्राकृत सत्तामें एक ऐसा यंत्र बन जाता है जो आत्म-सिद्धि प्राप्त करनेमें तत्पर रहता है, ताकि मानवजातिमें भगवान् पूर्ण रूपसे प्रस्फुटित हो सकें।

इस प्रस्फुटनकी दो अवस्थाएँ होती हैं; उनमेंसे पहली है—पृथक्कारी मानव-अहंभावमेंसे निकलकर आत्माकी एकतामें विकास, इसके बाद दिव्य प्रकृतिकी उसके अपने वास्तविक एवं उच्चतर रूपोंमें प्राप्ति, पर उसकी प्राप्ति हमें मानसिक सत्ताके उन निम्नतर रूपोंमें नहीं करनी होगी जो वैश्व व्यक्तिमें दिव्य प्रकृतिके यथार्थ मूल लेख नहीं हैं, बल्कि उसका विकृत रूपांतर हैं, दूसरे शब्दोंमें, हमें एक ऐसी पूर्णताको अपना लक्ष्य बनाना होगा जिसके फलस्वरूप हमारी मानसिक प्रकृति पूर्ण आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक प्रकृतितक ऊँची उठ जाय। अतएव, ज्ञान, प्रेम और कर्मके इस सर्वांगीण योगको आध्यात्मिक तथा विज्ञानमय आत्म-सिद्धिके योगके रूपमें विस्तृत करना होगा। अतिमानसिक ज्ञान, संकल्प और आनन्द आत्माके प्रत्यक्ष करण हैं और इनकी प्राप्ति आत्मामें, दिव्य सत्तामें विकासके द्वारा ही हो सकती है, अतएव, इस प्रकारका विकास हमारे योगका प्रथम लक्ष्य होना चाहिये। मनोमय प्राणीको पहले विस्तृत होकर भगवान्के एकत्वकी अवस्थामें पहुँचना होगा, उसके बाद ही भगवान् व्यक्तिकी आत्मामें उसके अतिमानसिक विकासको पूर्णत्व प्रदान करेंगे। यही कारण है कि साधकके लिये ज्ञान, कर्म और प्रेमका त्रिविध मार्ग संपूर्ण योगका प्रधान स्वर बन जाता है, क्योंकि यही एक ऐसा सीधा मार्ग है जिसके द्वारा मनोमय पुरुष अपने उच्चतम भावावेगोंतक उठ जाता और वहाँ वह ऊपरकी ओर दिव्य एकत्वमें चला जाता है। और यही कारण है कि योगको सर्वांगपूर्ण होना चाहिये। क्योंकि, यदि अनन्तमें निमज्जन या भगवान्के साथ किसी प्रकारका घनिष्ठ एकत्व ही हमारा संपूर्ण लक्ष्य हो, तो सर्वांगीण योगका कुछ प्रयोजन ही नहीं रहेगा; हाँ, संपूर्ण मानव-सत्ताको उसके मूल स्रोतकी ओर उठा ले जानेसे हमें जो महत्तर तृप्ति प्राप्त हो सकती है उसके लिये सर्वांगपूर्ण योगकी आवश्यकता होनेकी बात दूसरी है। परन्तु वास्तविक लक्ष्यके लिये इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं होगी; क्योंकि भगवान्के साथ मिलन तो हम अंतरात्म-प्रकृतिकी किसी एक शक्तिके द्वारा भी प्राप्त कर सकते हैं; प्रत्येक शक्ति अपनी पराकाष्ठाको पहुँचकर ऊपरकी ओर अनन्त और निरपेक्ष सत्तामें उठ जाती है, अतएव, प्रत्येक शक्ति अनन्त सत्तातक पहुँचनेके लिये एक समर्थ मार्ग प्रदान करती है, क्योंकि सैकड़ों अलग-अलग मार्ग सनातनमें पहुँचकर एक हो जाते हैं। परन्तु विज्ञानमय अस्तित्वका अभिप्राय है संपूर्ण दिव्य और आध्यात्मिक प्रकृतिका पूर्ण उपभोग एवं उसपर पूर्ण अधिकार; और साथ ही इसका अर्थ है मनुष्यकी संपूर्ण प्रकृतिको उसकी दिव्य और आध्यात्मिक जीवन बितानेकी

शक्तिमें पूर्ण रूपसे उठा ले जाना, अतएव, इस योगके लिये यह शर्त आवश्यक हो जाती है कि इसे सर्वांगपूर्ण होना चाहिये।

साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि त्रिमार्गमेंसे किसी एकका भी अनुसरण यदि एक प्रकारके व्यापक भावसे किया जाय तो, अपने शिखरपर पहुँचकर, वह दूसरे मार्गोंकी शक्तियोंको भी अपने अन्दर समाविष्ट कर सकता है और उनका पूर्ण फल हमें प्राप्त करा सकता है। अतएव, इतना ही यथेष्ट है कि हम इनमेंसे किसी एकके द्वारा अपनी साधना आरंभ करें और उस विन्दुको ढूंढ़ निकालें जिसपर यह अपने ही विस्तारोंके द्वारा, प्रगतिकी अन्य रेखाओंसे जो पहले इसके समानान्तर थीं, मिल जाता है और फिर उनसे घुलमिलकर एक हो जाता है। तथापि एक अधिक कठिन, जटिल और पूर्ण प्रभावशाली प्रक्रिया यह होगी कि हम मानो, एक ही साथ, तीनों मार्गोंपर अर्थात् आत्म-शक्तिके त्रिविध चक्रपर आरूढ़ होकर अपनी साधना आरंभ करें। परन्तु इस प्रकारकी साधना करना संभव है या नहीं इस विषयका विवेचन हमें तबतक स्थगित रखना होगा जबतक हम यह न देख लें कि आत्मसिद्धियोगकी शर्तें और साधन-पद्धति क्या हैं। क्योंकि हम देखेंगे कि इस योगके निरूपणको भी पूर्ण रूपसे स्थगित रखना उचित नहीं होगा, बल्कि इसकी एक प्रकारकी तैयारी दिव्य कर्म, भक्ति और ज्ञानके विकासका अंग है तथा इसकी एक प्रकारकी दीक्षा उक्त विकासके द्वारा अग्रसर होती है।

दूसरा अध्याय

सर्वांगीण पूर्णता

मानव-सत्ताकी दिव्य पूर्णता ही हमारा लक्ष्य है। अतएव, पहले हमें यह जानना होगा कि वे मूल तत्त्व कौनसे हैं जो मनुष्यकी समग्र पूर्णताका गठन करते हैं; दूसरे जब हम अपनी सत्ताकी मानवीय पूर्णतासे भिन्न दैवी पूर्णताकी चर्चा करते हैं तो हमारा क्या मतलब होता है। समस्त विचारशील मानवजाति इस आधारभूत सत्यको सर्वसामान्य रूपसे स्वीकार करती है कि मानव-प्राणी अपना विकास कर सकता है, उसका मन पूर्णताके एक आदर्श प्रतिमानकी कल्पना करके एवं उसे स्थिर रूपसे अपने सामने रखकर उसका अनुसरण कर सकता है तथा उस आदर्श कोटिकी पूर्णताकी ओर वह कम-से-कम कुछ अंशमें अग्रसर हो सकता है, भले ही ऐसे लोगोंकी संख्या कितनी भी कम क्यों न हो जो इस संभावनाको जीवनका एकमात्र सर्व-प्रधान लक्ष्य प्रस्तुत करनेवाली समझकर इसकी ओर ध्यान देते हों। पर कुछ लोग इस आदर्शकी कल्पना एक ऐहलौकिक परिवर्तनके रूपमें करते हैं तथा दूसरे एक धार्मिक कायापलटके रूपमें।

ऐहलौकिक पूर्णताकी कल्पना कभी-कभी इस रूपमें की जाती है कि यह एक बाह्य, सामाजिक एवं व्यावहारिक वस्तु है जिसका अभिप्राय है—अपने मानव-बंधुओं एवं अपनी परिस्थितिके साथ अधिक बुद्धि-संगत व्यवहार, अधिक श्रेष्ठ एवं दक्षतापूर्ण नागरिक जीवन तथा अधिक उत्तमता एवं कुशलताके साथ कर्तव्यपालन, जीवन यापन करनेकी एक अधिक उत्कृष्ट, समृद्ध, सदय और सुखद प्रणाली जिसमें मनुष्य जीवनके अवसरोंका उपभोग दूसरोंके साथ मिलजुलकर अधिक न्याय्य एवं समस्वर रूपमें कर सके। और, फिर कुछ अन्य लोग एक अधिक आंतरिक एवं आत्मनिष्ठ आदर्शका पोषण करते हैं, वह आदर्श है—बुद्धि, संकल्प और विवेक-शक्तिको शुद्ध और उन्नत करना, प्रकृतिकी शक्ति और क्षमताको उच्च एवं व्यवस्थित करना, भद्रतर नैतिक, समृद्धतर सौन्दर्यात्मक, सूक्ष्मतर भाविक, कहीं अधिक स्वस्थ एवं सुशासित भौतिक और प्राणिक जीवन। कभी-कभी इनमेंसे किसी एक ही तत्त्वपर बल दिया जाता है तथा अन्य सबको प्रायः पूर्ण रूपसे त्याग दिया जाता है; कभी-कभी, अधिक विशाल

और सुसंतुलित मनके व्यक्ति इन तत्त्वोंके संपूर्ण सामंजस्यको ही एक समग्र पूर्णताकी कल्पनाके रूपमें अपने सामने लाते हैं। इसके लिये जो बाह्य साधन अपनाया जाता है वह है शिक्षा और सामाजिक संस्थाओंका परिवर्तन, या फिर आन्तरिक आत्म-अनुशासन तथा विकासको एक सच्चे साधनके रूपमें अधिक अच्छा समझा जाता है। अथवा उक्त दोनों लक्ष्योंको अर्थात् आंतरिक 'व्यक्ति'की पूर्णता तथा बाह्य जीवनकी पूर्णताको स्पष्ट रूपसे संयुक्त एवं एकीभूत भी किया जा सकता है।

परन्तु लौकिक लक्ष्य वर्तमान जीवन तथा इसके अवसरोंको अपना क्षेत्र मानता है; उधर धार्मिक लक्ष्य मृत्युके बादके किसी अन्य लोक (परलोक)के लिये तैयारी करनेके आदर्शको अपने सामने रखता है, इसका साधारण-से-साधारण आदर्श है किसी प्रकारका शुद्ध साधु-स्वभाव, इसका साधन है—अपूर्ण या पापमय मानव-सत्ताको भगवत्कृपाके द्वारा रूपांतरित करना अथवा शास्त्रके द्वारा प्रतिपादित या धर्मसंस्थापकके द्वारा निर्धारित नियमके अधीन रहकर उसका रूपांतर करना। धर्मका लक्ष्य सामाजिक परिवर्तनको भी अपने अन्दर समाविष्ट कर सकता है, पर वह परिवर्तन तब एक ऐसा परिवर्तन होता है जो पवित्र जीवनके सर्वसम्मत धार्मिक आदर्श और ढंगको स्वीकार करके संपन्न किया जाता है, वह संतोंका भ्रातृ-भाव तथा एक ऐसा देवशासन या ईश्वर-राज्य होता है जो पृथ्वीपर स्वर्गके राज्यको प्रतिबिंबित करता है।

अपने अन्य अंगोंकी भाँति इस अंगमें भी हमारे समन्वयात्मक योगका उद्देश्य अधिक समग्र एवं सर्वग्राही होना चाहिये, उसे आत्मसिद्धिके विशालतर आवेगके इन सब तत्त्वों या प्रवृत्तियोंको अपने अंतर्गत करके इनमें सामंजस्य या सच पूछो तो एकत्व स्थापित करना चाहिये। इस कार्यको सफलता-पूर्वक संपन्न करनेके लिये उसे उस सत्यको अधिकृत करना होगा जो साधारण धार्मिक सिद्धान्तसे अधिक विशाल तथा लौकिक सिद्धान्तसे अधिक उच्च है। समस्त जीवन एक प्रच्छन्न योग है अर्थात् यह प्रकृतिका अपने अन्दर छिपे दिव्य तत्त्वकी खोज और चरितार्थताकी ओर एक अस्पष्ट विकास है; जैसे-जैसे मनुष्यके ज्ञान, संकल्प, कार्य और जीवनके सभी करण उसके तथा जगत्के अन्दर स्थित परम आत्माकी ओर खुलते जाते हैं वैसे-वैसे यह दिव्य तत्त्व उसके अन्दर उत्तरोत्तर कम प्रच्छन्न, अधिक स्व-चेतन और प्रकाशमय तथा अधिक स्वराट् बनता जाता है। मन, प्राण, शरीर तथा हमारी प्रकृतिके सभी रूप इस विकासके साधन हैं, पर ये अपनी अंतिम पूर्णता अपनेसे परेकी किसी वस्तुकी ओर खुल करके ही प्राप्त

करते हैं, इसका पहला कारण तो यह है कि ये मनुष्यकी सत्ताका संपूर्ण स्वरूप नहीं हैं, दूसरा कारण यह है कि इनके अतिरिक्त जो अन्य वस्तु उसकी सत्ताका स्वरूप है वही उसकी पूर्णताकी कुंजी है और वही एक ऐसा प्रकाश लाती है जो उसके लिये उसकी सत्ताके संपूर्ण उच्च एवं विशाल सत्स्वरूपको प्रकाशित कर देता है।

अपनेसे परेकी वस्तुकी ओर खुलनेपर मन एक महत्तर ज्ञानके द्वारा, जिसका केवल अधूरा प्रकाश ही इसके अन्दर है, अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, प्राण एक शक्ति एवं संकल्पमें, जिसका यह एक वाह्य तथा अभीतक अस्पष्ट व्यापार है, अपनी सार्थकताको ढूंढ़ लेता है, शरीर जान जाता है कि वह सत्ताकी जिस शक्तिके स्थूल आधार एवं भौतिक आरंभ-विंदुके रूपमें कार्य करता है उसीका एक यंत्र बनकर रहना उसका चरम-परम उपयोग है। सबसे पहले तो स्वयं इन सबको विकसित होकर अपनी साधारण शक्यताओंको प्राप्त करना होगा; हमारा सारा ही सामान्य जीवन इन शक्यताओंकी प्राप्तिका प्रयोगात्मक प्रयास है और इस प्रारंभिक एवं प्रयोगात्मक आत्म-अनुशासनके लिये अवसर प्रदान करता है। परन्तु जीवन अपनी समग्र पूर्णता तवतक नहीं प्राप्त कर सकता जवतक वह सत्ताके महत्तर सत्स्वरूपकी ओर नहीं खुल जाता; एक समृद्धतर शक्ति तथा अधिक संवेदनपूर्ण प्रयोग एवं सामर्थ्यके इस प्रकारके विकासके द्वारा वह इस महत्तर सत्य-सत्ताका एक सुसिद्ध कार्यक्षेत्र वन जाता है।

वुद्धि, संकल्पशक्ति, नैतिक वोध, भावमय चित्त, सौन्दर्यवृत्ति और भौतिक सत्ताकी साधना और उन्नति अत्यंत हितकर हैं, पर अन्तमें हमें पता चलता है कि यह सव साधना और उन्नति निरंतर एक ही चक्करमें घूमते रहनामात्र है जिसका कोई अंतिम उद्धारकारी एवं आलोकप्रद लक्ष्य नहीं है; हमारी वुद्धि, संकल्पशक्ति आदि इस प्रकारका चक्कर तवतक काटती रहती हैं जवतक कि वे एक ऐसे स्थलपर नहीं पहुँच जातीं जहाँ वे आत्माकी शक्ति एवं उपस्थितिकी ओर अपने-आपको खोलकर उसकी प्रत्यक्ष क्रियाओंको अवकाश दे सकें। इस प्रकारकी प्रत्यक्ष क्रिया संपूर्ण सत्ताका रूपांतर साधित कर देती है जो कि हमारी वास्तविक पूर्णताकी अनिवार्य शर्त है। अतएव, आत्माके सत्य एवं उसकी शक्तिमें विकसित होना तथा उस शक्तिकी प्रत्यक्ष क्रियासे उसकी आत्म-अभिव्यक्तिका उपयुक्त साधन वनना, अर्थात् मनुष्यका भगवान्‌में जीवन धारण करना तथा परमात्माका मानवतामें दिव्य जीवन-यापन करना ही सर्वांगपूर्ण आत्मसिद्धि-योगका सिद्धान्त एवं संपूर्ण लक्ष्य होगा।

इस रूपांतरके प्रयत्नकी अपनी माँगके ही कारण इसकी प्रक्रियाके अन्दर दो अवस्थाएँ आवश्यक रूपसे आयेंगी। प्रथम, ज्योंही मनुष्य अपनी अंतरात्मा तथा अपने मन और हृदयके द्वारा इस दिव्य संभावनाको अनुभव करेगा तथा इसे जीवनका सच्चा लक्ष्य समझकर इसकी ओर मुड़ेगा त्योंही वह इसके लिये अपने-आपको तैयार करने तथा उसके अन्दरकी जो चीजें निम्न क्रियासे संबंध रखती हैं और आध्यात्मिक सत्य एवं उसकी शक्तिकी ओर उसके खुलनेमें बाधा डालती हैं, उन सबसे मुक्त होनेके लिये व्यक्तिगत रूपसे प्रयत्न करने लगेगा, ताकि इस मुक्तिके द्वारा वह अपनी आध्यात्मिक सत्ताको प्राप्त करके अपनी प्रकृतिकी सब गतियोंको उसकी आत्म-अभिव्यक्तिके निर्बाध साधनोंमें परिवर्तित कर सके। इस परिवर्तनके द्वारा ही, अपने लक्ष्यसे सज्ञान रहनेवाले स्व-चेतन योगका आरंभ होता है : तब एक नया जागरण होकर जीवनके उद्देश्यमें ऊर्ध्वमुख परिवर्तन आ जाता है। जबतक जीवनके इस समयके सामान्य प्रयोजनोंके लिये हम केवल एक ऐसी बौद्धिक, नैतिक एवं अन्य प्रकारकी आत्म-साधना ही करते रहते हैं जो मन, प्राण और शरीरके व्यापारके साधारण घेरेके परे नहीं जाती तबतक हम विश्व-प्रकृतिके अज्ञानावृत तथा अबतक—प्रकाशरहित प्रारंभिक योगमेंसे ही गुजर रहे हैं; हम अभी साधारण मानवीय पूर्णताकी खोज कर रहे हैं। भगवान्की और दिव्य पूर्णताकी, अपनी सारी सत्तामें उनके साथ एकत्वकी तथा अपनी सारी प्रकृतिमें आध्यात्मिक पूर्णताकी आध्यात्मिक कामना इस परिवर्तनका प्रभावशाली चिह्न है, हमारी सत्ता और हमारे जीवनके महान् सर्वांगीण रूपांतरकी प्रारंभिक शक्ति है।

व्यक्तिगत प्रयत्नके द्वारा एक प्रारंभिक परिवर्तन एवं प्राथमिक रूपांतर ही साधित किया जा सकता है; इसके परिणामस्वरूप हमारे मानसिक उद्देश्य, हमारा चरित्र और स्वभाव कम या अधिक मात्रामें आध्यात्मिक बन जाते हैं, तथा प्राणिक एवं शारीरिक जीवनपर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, वह शान्त एवं निष्क्रिय हो जाता है या उसकी क्रिया बदल जाती है। इस रूपांतरित आन्तरिक जीवनको भगवान्के साथ मनोमय पुरुषके किसी अन्तर्मिलन या एकत्वका तथा मनुष्यके मनमें दिव्य प्रकृतिके किसी आंशिक प्रतिबिम्बका आधार बनाया जा सकता है। अन्य किसी सहायताके बिना या किसी अप्रत्यक्ष सहायताके द्वारा मनुष्य अपने प्रयत्नके बलपर बस इतनी ही दूर जा सकता है, क्योंकि वह प्रयत्न मनका होता है और मन अपनेसे परे स्थायी रूपमें आरोहण नहीं कर सकता : अधिक-से-अधिक वह एक अध्यात्मभावित तथा आदर्श मनोमय स्थितितक ही उठ सकता है। यदि

वह इस सीमाके परे तीरकी तरह छूटकर चला जाय तो वह अपने ऊपर अधिकार खो बैठता है, प्राणको भी अपने वशमें नहीं रख पाता और फलत: लय-रूप समाधि या निष्क्रियतामें पहुँच जाता है। अत: इससे अधिक महान् पूर्णताकी प्राप्ति तभी हो सकती है यदि एक उच्चतर शक्ति कार्य-क्षेत्रमें उतर आये तथा सत्ताकी संपूर्ण क्रियाको अपने हाथमें ले ले। सुतरां, इस योगकी दूसरी अवस्था होगी—प्रकृतिकी समस्त क्रियाको निरन्तर इस महत्तर शक्तिके हाथोंमें सौंपना, व्यक्तिगत प्रयत्नका स्थान इस शक्तिके प्रभाव, अधिकार तथा कार्य-व्यवहारको देते जाना, और ऐसा तबतक करते रहना होगा जबतक कि जिन भगवान्की प्राप्तिके लिये हम अभीप्सा करते हैं वे योगके प्रत्यक्ष स्वामी बनकर सत्ताका समग्र आध्यात्मिक एवं आदर्श रूपांतर साधित न कर दें।

हमारे योगका यह दोहरा स्वरूप इसे पूर्णताके लौकिक आदर्शके परे उठा ले जाता है, जब कि इसके साथ ही यह उच्चतर, गभीरतर, पर अत्यधिक संकीर्ण धार्मिक सूत्रके भी परे चला जाता है। लौकिक आदर्श मनुष्यको सदा ही एक मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक सत्ता मानता है और उसका लक्ष्य बस इन सीमाओंके भीतर मानवीय पूर्णता प्राप्त करना ही होता है; इस पूर्णताका अभिप्राय है मन, प्राण और शरीरकी पूर्णता, बुद्धि एवं ज्ञान तथा संकल्प एवं शक्तिका विस्तार और परिष्कार, नैतिक चरित्र, लक्ष्य और आचार-व्यवहारका, सौन्दर्य-विषयक संवेदनशीलता और सर्जन-शक्तिका, भावोंकी संतुलित स्थिति एवं उनके उपभोगका, प्राण और शरीरकी निर्दोष अवस्थाका, नियमबद्ध क्रिया और यथायथ कुशलताका विकास और परिष्कार। यह लक्ष्य विशाल और पूर्ण अवश्य है, किन्तु फिर भी जितना चाहिये उतना विशाल और पूर्ण नहीं है, क्योंकि यह हमारी सत्ताके उस अन्य महत्तर तत्त्वकी उपेक्षा कर देता है जिसे मन अस्पष्ट तथा एक आध्यात्मिक तत्त्वके रूपमें परिकल्पित करता है। साथ ही, यह इस आध्यात्मिक तत्त्वको या तो अविकसित ही छोड़ देता है या फिर इसे केवल कभी-कभी होनेवाला एक उच्च अनुभव या एक अतिरिक्त गौण अनुभव अथवा मनके ही अपने असाधारण पक्षोंकी क्रियाका एक परिणाममात्र मानकर या अपनी उपस्थिति एवं स्थिरताके लिये मनपर निर्भर रहनेवाला तत्त्व समझकर पूर्ण-संतोषजनक रूपसे विकसित नहीं करता। यह लक्ष्य उच्च तभी बन सकता है जब यह हमारे मनकी उच्चतर एवं विस्तृततर भूमिकाओंको विकसित करनेका यत्न करे, किन्तु फिर भी यह एक पर्याप्त उच्च लक्ष्य नहीं बन सकता, क्योंकि हमारी शुद्ध-से-शुद्ध बुद्धि, हमारा

उज्ज्वल-से-उज्ज्वल मानसिक अन्तर्ज्ञान, हमारा गभीरतम मानसिक बोध एवं वेदन, प्रबलतम मानसिक संकल्प एवं बल या सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य एवं प्रयोजन जिस मनोतीत सत्ताकी मात्र फीकी किरणें हैं उसतक पहुँचनेके लिये यह अभीप्सा ही नहीं करता। और फिर एक बात यह भी है कि इस लौकिक आदर्शका लक्ष्य साधारण मानव-जीवनकी पार्थिव पूर्णतातक ही सीमित है।

पूर्णयोग किंवा समग्र पूर्णताका योग मनुष्यको एक ऐसी दिव्य आध्यात्मिक सत्ता मानता है जो मन, प्राण और शरीरके अन्दर तिरोभूत है; अतएव, इसका लक्ष्य है उसकी दिव्य प्रकृतिको मुक्त करके पूर्ण बनाना। यह पूर्णविकसित आध्यात्मिक सत्ताके अन्दर निवास करनेको उसका शाश्वत एवं यथार्थ जीवन बना देना चाहता है और मन, प्राण तथा शरीरकी अध्यात्मभावित कार्य-प्रवृत्तिको इस यथार्थ अन्तर्जीवनका बाह्य मानव-प्राकट्यमात्र। पर यह आध्यात्मिक जीवन कोई अस्पष्ट एवं अनिर्देश्य वस्तु न रह जाय अथवा इसका अनुभव अपूर्ण ही न रह जाय तथा यह मनोमय आधार एवं मानसिक सीमाओंपर ही निर्भर न रहे--इसके लिये यह पूर्णयोग मनसे परे अतिमानसिक ज्ञान, संकल्प, बोध, वेदन, अन्तर्ज्ञान, प्राणिक और शारीरिक क्रियाके गतिशक्तिमय आरंभ तथा आध्यात्मिक जीवनकी अपनी समस्त स्वाभाविक क्रियाके केन्द्रकी ओर जानेका यत्न करता है। यह मानव-जीवनको स्वीकार करता है, पर साथ ही जड़-पार्थिव जीवनके पीछे हो रहे विशाल अति-पार्थिव व्यापारको भी विचारमें लाता है, और जो भागवत सत्ता इन सब खण्डात्मक एवं निम्नतर अवस्थाओंका परम उद्गम है, उसके साथ यह अपना संबंध जोड़ लेता है, ताकि सारे-का-सारा जीवन अपने दिव्य स्रोतको जान जाय और ज्ञान, संकल्प तथा वेदनकी एवं इन्द्रिय और शरीरकी प्रत्येक क्रियामें दिव्य प्रवर्तक मूल प्रेरणाको अनुभव करे। लौकिक लक्ष्यके जो-जो सारभूत तत्त्व हैं उनमेंसे किसीको भी यह त्यागता नहीं, बल्कि उसे विशाल बनाता है, उसका जो महत्तर एवं सत्यतर अर्थ उससे आज छुपा हुआ है उसे ढूँढ़कर जीवनमें उतारता है, उसे एक सीमित, पार्थिव एवं मर्त्य वस्तुसे असीम, दिव्य और अमर मूल्योंवाली आदर्श वस्तुमें रूपांतरित कर देता है।

पूर्णयोग धार्मिक आदर्शके साथ कई बातोंमें साम्य रखता है, पर इस अर्थमें उससे आगे निकल जाता है कि यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। धार्मिक आदर्श केवल इस भूलोकसे परे ही दृष्टिपात नहीं करता, बल्कि इससे मुँह मोड़कर किसी स्वर्गपर अथवा यहाँतक कि सब स्वर्गोंसे परे किसी प्रकारके निर्वाणपर भी अपनी दृष्टि गड़ाता है। इसका पूर्णताका

आदर्श एक ऐसे आंतर या बाह्य परिवर्तनतक ही सीमित है जो चाहे किसी भी प्रकारका क्यों न हो, पर अन्तमें आत्माको मानव-जीवनसे परेके लोककी ओर मुड़नेमें सहायता पहुँचाये। पूर्णताके विषयमें इसका साधारण विचार यह है कि वह धर्म्य-नैतिक परिवर्तन है, क्रियाशील और भाव-प्रधान सत्ताका एक अति प्रभावशाली शोधन है, इसके साथ-साथ प्रायः ही प्राणिक आवेगोंके वैराग्यपूर्वक त्याग और निराकरणको उसके उत्कर्षकी पराकाष्ठा समझा जाता है; कम-से-कम, धर्मपरायण और सदाचारमय जीवनके अतिपार्थिव उद्देश्य और पुरस्कार या प्रतिफलको ही वह पूर्णताका स्वरूप मानता है। जहाँतक यह ज्ञान, संकल्प और सौन्दर्यवृत्तिके परिवर्तनको स्वीकार भी करता है वहाँतक इसका अभिप्राय उन्हें मानव-जीवनके लक्ष्योंसे भिन्न किसी अन्य लक्ष्यकी ओर मोड़ देना ही होता है और अन्तमें इसके परिणाम-स्वरूप सौन्दर्यवृत्ति, संकल्प-शक्ति और ज्ञानके समस्त पार्थिव लक्ष्योंका परित्याग ही हो जाता है। इसकी पद्धति, चाहे वह वैयक्तिक प्रयत्नपर बल दे या दैवी प्रभावपर, चाहे कर्म और ज्ञानपर बल दे या भगवत्कृपापर, लौकिक आदर्शकी तरह विकास करनेकी नहीं, वरंच परिवर्तन करनेकी पद्धति होती है; पर अन्तमें इसका लक्ष्य हमारी मानसिक और भौतिक प्रकृतिका परिवर्तन करना नहीं, वल्कि शुद्ध आध्यात्मिक प्रकृति और सत्ताको धारण करना ही होता है, और क्योंकि यह लक्ष्य यहाँ इस भूतलपर साधित नहीं हो सकता, किसी अन्य लोकमें संक्रमण या समस्त जगज्जीवनके त्यागके द्वारा इसकी सिद्धिकी आशा करता है।

परन्तु पूर्णयोग अपना आधार इस धारणापर रखता है कि आध्यात्मिक सत्ता एक सर्वव्यापक सत्ता है और उसकी पूर्णता, वास्तवमें, अन्य लोकोंमें जानेसे या अपनी जागतिक सत्ताका लय कर देनेसे नहीं प्राप्त होती, वल्कि हम आज अपने दृश्यमान रूपमें जो कुछ हैं उसमेंसे निकलकर उस सर्व-व्यापक सद्वस्तुकी चेतनामें विकसित होनेसे प्राप्त होती है जो हमारी सत्ताके सारतत्त्वमें सदा ही हमारा निज स्वरूप है। धार्मिक भक्तिके बाह्य रूपके स्थानपर वह दिव्य मिलनकी पूर्णतर आध्यात्मिक स्पृहाको प्रतिष्ठित करता है। इसमें हम व्यक्तिगत प्रयत्नसे साधनाका आरंभ करके भागवत प्रभाव और अधिकारके द्वारा होनेवाले रूपान्तरकी ओर अग्रसर होते हैं; परन्तु यह भागवत कृपा—यदि इसे यह नाम दिया जा सकता हो तो—ऊपरसे आनेवाला कोई गुह्य प्रवाह या संस्पर्शमात्र नहीं, वल्कि एक दिव्य उपस्थितिकी सर्वव्यापिनी क्रिया है। उस दिव्य उपस्थितिके बारेमें हमें अपने भीतर यह ज्ञान प्राप्त होता है कि वह हमारी सत्ताकी सर्वोच्च

आत्मा और स्वामीकी शक्ति है जो हमारी अन्तरात्मामें प्रविष्ट होकर इसे इस प्रकार अपने अधिकारमें कर लेती है कि हम उस उपस्थितिको अपने निकट तथा अपनी मर्त्य प्रकृतिपर दवाव डालती हुई अनुभव करते हैं, इतना ही नहीं, वरन् हम उसके नियमके अनुसार जीवन यापन करते हैं, उस नियमको जानते होते हैं और उसे अपनी अध्यात्मभावित प्रकृतिकी संपूर्ण शक्तिके रूपमें अधिकृत कर लेते हैं। इस शक्तिकी क्रिया जिस रूपांतरको साधित करेगी वह एक सर्वांगीण रूपांतर होगा जिसके द्वारा हमारी नैतिक सत्ता दिव्य प्रकृतिके 'सत्य' और 'ऋत'में, हमारी बौद्धिक सत्ता दिव्य ज्ञानके प्रकाशमें, हमारी भाविक सत्ता दिव्य प्रेम और एकत्वमें, हमारी क्रियाशील एवं संकल्पात्मक सत्ता दिव्य शक्तिकी क्रियामें, हमारी सौन्दर्यरसिक सत्ता दिव्य सौन्दर्यके पूर्ण ग्रहण और सर्जनशील उपभोगमें रूपांतरित हो जायगी, यह रूपांतर अन्ततोगत्वा प्राणिक और शारीरिक सत्ताके दिव्य रूपांतरको भी अपने अन्दर समाविष्ट कर लेगा। यह (पूर्णयोग) समस्त पूर्वजीवनको इस परिवर्तनकी दिशामें एक प्रकारका अनैच्छिक एवं अचेतन या अर्द्धचेतन प्राथमिक विकास मानता है और योगको इस परिवर्तनके लिये स्वेच्छापूर्ण एवं चेतन रूपसे प्रयत्न करने तथा इसे चरितार्थ करनेका एक साधन मानता है जिसके द्वारा अपने समस्त अङ्गोपाङ्गों-सहित मानव जीवनका संपूर्ण लक्ष्य, उसका रूपांतर हो जानेपर भी, चरितार्थ हो जाता है। परेके लोकोंमें विद्यमान विश्वातीत सत्य और जीवनको अंगीकार करते हुए यह पार्थिव सत्य एवं जीवनको भी उसी एक सत्ताका अविच्छिन्न रूप स्वीकार करता है और इस संसारके वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवनके परिवर्तनको उसके दिव्य प्रयोजनका एक स्वर मानता है।

विश्वातीत भगवान्की ओर अपने-आपको खोलना इस सर्वांगीण पूर्णताकी एक आवश्यक शर्त है; विश्वगत भगवान्के साथ अपने-आपको एक करना एक अन्य आवश्यक शर्त है। यहाँ आत्म-पूर्णताका योग ज्ञान, कर्म और भक्तिके योगोंके साथ मिल जाता है; क्योंकि जबतक परम सत्-चित्-आनन्दके साथ मिलन प्राप्त न हो जाय तथा सब पदार्थों और प्राणियोंमें विद्यमान उसकी विराट् आत्माके साथ एकत्व उपलब्ध न हो जाय तबतक मानवी प्रकृतिको दैवी प्रकृतिमें रूपांतरित करना अथवा उसे सत्ताके दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्दका यंत्र बनाना संभव नहीं। मानव व्यक्ति दैवी प्रकृतिको एक ऐसी निजी शक्तिके रूपमें नहीं प्राप्त कर सकता जो उसे दूसरोंसे पूर्णतया पृथक् कर दे; हाँ, यह अलग बात है कि वह इसमें आत्म-समाहित लय अवश्य प्राप्त कर सकता है। परन्तु विराट्

आत्माके साथ उक्त एकत्व कोई ऐसा अन्तरतम आध्यात्मिक एकत्व ही नहीं होना चाहिये, जो व्यक्तिके इस मानवीय जीवनके टिके रहनेतक, एक पृथक्कारी मानसिक, प्राणिक, शारीरिक सत्ताके द्वारा सीमित हो; क्योंकि समग्र पूर्णताका अभिप्राय है इस आध्यात्मिक एकत्वके द्वारा उस विराट् मन, विराट् प्राण और विराट् शरीरके साथ भी एकत्व प्राप्त करना जो विराट् पुरुषके अन्य स्थायी रूप हैं। और फिर, क्योंकि मानव-जीवनको तब भी मनुष्यके अन्दर चरितार्थ भगवान्के आत्म-प्राकट्यके रूपमें स्वीकार किया जायगा, हमारे जीवनमें संपूर्ण दैवी प्रकृतिकी क्रिया अवश्य घटित होनी चाहिये; और यह बात अतिमानसिक रूपांतरकी आवश्यकताको उत्पन्न कर देती है। यह रूपांतर स्थूल प्रकृतिकी अपूर्ण क्रियाका स्थान आध्यात्मिक सत्ताकी अपनी स्वाभाविक क्रियाको दे देता है और इसके मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक अंगोंको आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा अध्यात्म-मय बनाकर रूपांतरित कर देता है। ये तीन तत्त्व अर्थात् परमोच्च भगवान्के साथ मिलन, विश्वात्माके साथ एकत्व और इस परात्पर उद्गमसे तथा इस विश्वात्मभावके द्वारा, पर व्यक्तिको आत्मिक प्रणालिका तथा प्राकृतिक यंत्र बनाकर, अतिमानसका हमारे जीवन-व्यापारको संचालित करना मनुष्यकी सर्वांगीण दिव्य पूर्णताका सार हैं।

तीसरा अध्याय

आत्म-पूर्णताका मनोविज्ञान

इस प्रकार सारतः, इस दिव्य आत्म-पूर्णताका अर्थ है मानव-प्रकृतिको एक ऐसे आकारमें रूपांतरित कर देना जो दिव्य प्रकृतिके स्वरूपसे सादृश्य रखता हो तथा उसके साथ मूलतः एक हो, साथ ही, इसका अर्थ है मनुष्यमें ईश्वरकी प्रतिमूर्तिको वेगपूर्वक निर्मित करना और उसकी आदर्श रूपरेखाओंको भरना। इसे साधारणतया सादृश्य-मुक्ति कहा जाता है जिसका अर्थ है दृश्यमान मानवीय सत्ताके वंधनमेंसे निकलकर भगवत्सदृश स्थितिमें मुक्त हो जाना, अथवा गीताकी भाषाका प्रयोग करें तो इसे साधर्म्य-गति कह सकते हैं जिसका मतलव है परात्पर, विराट् और अन्तर्वासी भगवान्के साथ अपनी सत्ताका साधर्म्य प्राप्त कर लेना। ऐसे रूपान्तरके लिये हमारा जो मार्ग होना चाहिये उसे जानने तथा उसका ठीक विचार अपने मनमें लानेके लिये हमें इस मानव-प्रकृतिके वारेमें, जो अपने विविध तत्त्वोंके अस्तव्यस्त मिश्रणोंमें आज एक उलझी हुई वस्तु है, एक पर्याप्त कामचलाऊ धारणा वना लेनी होगी जिससे हम यह देख सकें कि इसके प्रत्येक अंगको जिस रूपांतरमेंसे गुजरना होगा उसका ठीक स्वरूप क्या है तथा उसका अधिक-से-अधिक प्रभावशाली साधन कौन-सा है। मानवीय अस्तित्व और जीवनकी वास्तविक समस्या यह है कि मनोमय मर्त्य जड़ देहकी गाँठमेंसे इसकी अंतर्निहित अमर्त्य सत्ताको कैसे उन्मुक्त किया जाय, इस मानसभावापन्न प्राणप्रधान पशुत्वमय मानवमेंसे इसके देवत्वके प्रच्छन्न संकेतोंके सुखद पूर्णैश्वर्यको कैसे प्रकट किया जाय। जीवन देवत्वके कितने ही प्राथमिक संकेतोंको विकसित करता है, पर उन्हें पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं करता; किन्तु योगका अर्थ है 'जीवन'की कठिनाईकी गाँठको खोलना।

सवसे पहले हमें मनोवैज्ञानिक जटिलताके उस केन्द्रीय रहस्यको जानना होगा जो इस समस्या तथा इसकी सभी कठिनाइयोंको जन्म देता है। परन्तु साधारण मनोविज्ञान जो केवल मन और उसके वाह्य व्यापारोंको उनके स्थूल रूपोंमें ही स्वीकार करता है, हमारे लिये तनिक भी सहायक नहीं होगा; अपने-आपको खोजने और अपना रूपांतर करनेकी इस दिशामें यह हमारा किंचित् भी मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता। जड़वादपर आधारित

वैज्ञानिक मनोविद्यामें अपनी समस्याके निराकरणका सूत्र पा सकना हमारे लिये और भी दुष्कर है क्योंकि वह यह मानती है कि शरीर और इसके साथ ही हमारी प्रकृतिके जीवविज्ञानीय एवं शरीरक्रियाशास्त्रीय तत्त्व (हमारे समग्र जीवनका) केवल आरंभ-बिन्दु ही नहीं, बल्कि संपूर्ण वास्तविक आधार हैं और मानव-मन, प्राण और शरीरसे विकसित, एक सूक्ष्म तत्त्वमात्र है। यह सत्य मानव-प्रकृतिके पशुत्वमय पक्षके बारेमें यथार्थ हो सकता है तथा मानव-मनके बारेमें भी यह वहाँतक यथार्थ हो सकता है जहाँतक कि वह हमारी सत्ताके भौतिक भागके द्वारा सीमित और परिच्छिन्न है। परन्तु मनुष्य और पशुमें सारा भेद ही यह है कि पशुका मन, जैसा कि हम इसे जानते हैं, अपने मूल स्रोतोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं जा सकता। शारीरिक जीवनने अंतरात्माके चारों ओर जो आवरण या घना खोल बुन रखा है उसे भेदकर तथा उससे बाहर निकलकर यह अपनी वर्तमान सत्तासे अधिक महान् सत्ता नहीं बन सकता, एक अधिक स्वतंत्र, विशाल और उत्कृष्ट जीवन नहीं बन सकता; परन्तु मनुष्यमें मन अपने-आपको एक ऐसी महत्तर शक्तिके रूपमें प्रकट करता है जो सत्ताके प्राणिक और भौतिक नियमके बंधनोंसे मुक्त होती है। तथापि मनुष्य जो कुछ है या बन सकता है वह इतना ही नहीं है: उसके अन्दर एक और भी महान् आदर्श शक्तिको विकसित और उन्मुक्त करनेकी सामर्थ्य है; यह शक्ति, यथाक्रम, उसकी प्रकृतिके मानसिक सूत्रकी सीमाओंको भी पार कर जाती है और आध्यात्मिक सत्ताके अतिमानसिक रूप एवं उसकी आदर्श-शक्तिको प्रकट कर देती है। योगमें हमें भौतिक प्रकृति और स्थूल मानव-व्यक्तित्वसे परे जाकर वास्तविक मानवकी समग्र प्रकृतिकी क्रियाओंको खोजना होगा। दूसरे शब्दोंमें हमें आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित मनोभौतिक ज्ञानको प्राप्त करके उसका प्रयोग करना होगा।

मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूपकी दृष्टिसे एक आत्मा है जो इस विश्वमें व्यक्तिगत और समष्टिगत अनुभव तथा आत्म-आविर्भावके लिये मन, प्राण और शरीरका उपयोग करती है,—यह सत्य आज हमारी वर्तमान बुद्धि और स्व-चेतनाके लिये कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो, पर योगके प्रयोजनोंके लिये हमें इसमें श्रद्धा रखनी होगी और ऐसा करनेपर हमें पता चलेगा कि हमारी श्रद्धा बढ़ते हुए अनुभव और महत्तर आत्मज्ञानके द्वारा सच्ची प्रमाणित होती है। मनुष्यकी यह वास्तविक आत्मा एक अनन्त सत्ता है जो व्यक्तिगत अनुभव लेनेके लिये अपने-आपको एक प्रत्यक्ष एवं सांत सत्तामें सीमित करती है। यह एक अनंत चेतना है जो सत्ताके

विविध ज्ञान और विविध बलके आनन्दके लिये अपने-आपको चेतनाके सांत रूपोंमें सीमित करती है। यह सत्ताका एक अनंत आनन्द है जो अपने-आपको तथा अपनी शक्तियोंको विस्तृत और संकुचित करता है, अपनी सत्ताके आनन्दके अनेकानेक रूपोंको छुपाता और ढूँढता है तथा उन्हें व्यक्त भी करता है, यहाँतक कि इस प्रक्रियामें यह अपनी प्रकृतिको प्रत्यक्षतः आच्छन्न कर देता तथा उसका निषेध भी कर डालता है। अपने-आपमें यह सनातन सच्चिदानन्द है, पर यह जटिलता अर्थात् अनन्तको सांतमें उलझा देना और फिर उस उलझी हुई ग्रन्थिको सुलझाना भी उसका एक रूप है; हम देखते हैं कि यह वैश्व और व्यक्तिगत प्रकृतिमें अपने इस रूपको धारण करता है। इस सनातन सच्चिदानन्दको, अपने अन्दर विद्यमान अपनी सत्ताकी इस वास्तविक आत्माको खोजकर इसमें निवास करना आध्यात्मिक सिद्धिका स्थिर आधार है, इसकी वास्तविक प्रकृतिको प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट करके उसे अपने करणोंमें अर्थात् अतिमानस, मन, प्राण और शरीरमें दिव्य जीवन-प्रणालीकी उत्पादिका बना देना आध्यात्मिक सिद्धिका सक्रिय सिद्धान्त है।

अतिमानस, मन, प्राण और शरीर आत्माके चार करण हैं। इन्हें वह प्रकृतिके व्यापारोंमें अपने-आपको प्रकट करनेके लिये प्रयोगमें लाती है। इनमेंसे अतिमानस आध्यात्मिक चेतना है जो स्वयंप्रकाश ज्ञान, संकल्प, इन्द्रिय-शक्ति, सौन्दर्यवृत्ति और ऊर्जाके रूपमें तथा अपने आनन्द और अपनी सत्ताकी आत्मसर्जनशील एवं आविर्भावकारी शक्तिके रूपमें कार्य करती है। मन भी इन्हीं शक्तियोंका एक व्यापार है, पर वह सीमित है तथा इनका प्रकाश उसे अत्यंत परोक्ष और आंशिक रूपमें ही प्राप्त होता है। अतिमानस एकतामें निवास करता है यद्यपि वह विभिन्नताका खेल भी खेलता है; मन विभिन्नताकी विभाजक क्रियामें निवास करता है, यद्यपि वह एकताकी ओर भी खुल सकता है। मन अज्ञानको धारण कर सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि सदा आंशिक और सीमित रूपसे कार्य करनेके कारण वह स्वभावसे ही अज्ञानकी शक्तिके रूपमें कार्य करता है : यहाँतक कि वह पूर्ण निश्चेतना या निर्ज्ञानमें अपनेको भूल जा सकता है और भूल ही जाता है, इस अवस्थासे जागकर वह आंशिक ज्ञानरूपी अज्ञानकी ओर विकसित हो सकता है और फिर अज्ञानसे पूर्ण ज्ञानकी ओर अग्रसर हो सकता है,—मनुष्यमें उसकी स्वाभाविक क्रिया यही है,—पर वह अपने बलपर पूर्ण ज्ञान कभी नहीं प्राप्त कर सकता। अतिमानस वास्तविक अज्ञानको धारण नहीं कर सकता; चाहे वह किसी विशेष क्रियाकी

सीमामें रहनेपर पूर्ण ज्ञानको अपने पीछे रख छोड़े, तथापि इसकी समस्त क्रिया उस पीछे रखे हुए ज्ञानसे संबंध बनाये रखती है और स्वयं-प्रकाश ज्ञानसे अनुप्राणित रहती है; चाहे यह जड़-प्राकृतिक निर्ज्ञानमें अपने-आपको ग्रस्त कर दे, फिर भी यह वहाँ पूर्ण संकल्प और ज्ञानके कार्योंको ठीक-ठीक संपन्न करता है। अतिमानस निम्नतर करणोंकी क्रियामें सहायता करता है; वस्तुतः यह उनकी क्रियाओंके गुप्त आश्रयके रूपमें उनके भीतर सदा ही विद्यमान रहता है। जड़तत्त्वमें यह वस्तुओंके अन्तर्निहित गुप्त 'विचार'की स्वयंचालित क्रिया एवं कार्यान्वितिके रूपमें उपस्थित रहता है; प्राणमें इसका अत्यन्त ग्राह्य रूप है अन्ध प्रेरणा, स्वयंप्रेरित, अवचेतन या अंशतः अवचेतन ज्ञान और क्रिया; मनमें यह सहज ज्ञानके रूपमें अर्थात् बुद्धि, संकल्प, संवेदन और सौन्दर्यवृत्तिके द्रुत, प्रत्यक्ष और अमोघ प्रकाशके रूपमें प्रकट होता है। परन्तु ये सब अतिमानसकी दीप्तियाँमात्र हैं जो अपेक्षाकृत तमसाच्छन्न करणोंकी सीमित क्रियाके साथ किसी प्रकारका मेल साध लेती हैं: उसकी अपनी विशिष्ट प्रकृति तो एक ऐसे विज्ञानसे युक्त प्रकृति है जो मन, प्राण और शरीरके लिये अतिचेतन है। अतिमानस या विज्ञान आत्माकी, अपने स्वाभाविक सत्स्वरूपमें स्थित आत्माकी, एक विशिष्ट, आलोकित और अर्थपूर्ण क्रिया है।

प्राण आत्माकी एक शक्ति है जो मन और शरीरकी क्रियाके अधीन है; यह मन और शरीरके द्वारा अपने-आपको चरितार्थ करती है और इन दोनोंके बीच एक कड़ीके रूपमें कार्य करती है। इसकी अपनी एक विशिष्ट क्रिया भी होती है, पर यह कहीं भी मन और शरीरसे स्वतंत्र रूपमें कार्य नहीं करती। कार्यरत आत्माकी समस्त शक्ति सत्ता और चेतना इन दो रूपोंमें कार्य करती है, अर्थात् वह सत्ताके रूपोंको निर्माण करने, चेतनाकी लीला और आत्मोपलब्धिको संपन्न करने और सत्ता एवं चेतनाका आनन्द लेनेके लिये कार्य करती है। सत्ताकी जिस निम्नतर रचनामें हम इस समय निवास करते हैं उसमें आत्माकी प्राण-शक्ति मन और जड़तत्त्व इन दो रूपोंके बीच कार्य करती है, जड़ उपादानकी रूप-रचनाओंको धारण करती है तथा उन्हें निर्मित भी करती है और भौतिक शक्तिके रूपमें कार्य करती है, मनकी चेतनाके रूपोंको तथा मानसिक शक्तिकी क्रियाओंको धारण करती है, मन और शरीरकी परस्पर-क्रियाको धारण करती है तथा संवेदक एवं स्नायविक शक्तिके रूपमें कार्य करती है। जिसे हम प्राण कहते हैं वह चेतन सत्ताकी एक ऐसी शक्ति है जो हमारे साधारण मानव-जीवनके कार्योंके लिये जड़तत्त्वमेंसे प्रकट होती है, इसमेंसे

और इसके अन्दर मन तथा उच्च शक्तियोंको उन्मुक्त करती है और स्थूल जीवनमें उनकी सीमित क्रियाको धारण करती है,—इस प्रकार जिसे हम मन कहते हैं वह चेतन सत्ताकी एक ऐसी शक्ति है जो शरीरमें अपनी चेतनाके प्रकाशके प्रति जाग जाती है तथा अपने बिलकुल आसपासकी शेष सारी सत्ताके प्रति भी चेतन हो जाती है और शुरू-शुरूमें शरीर और प्राणके द्वारा निश्चित किये हुए एक सीमित कार्यके घेरेमें अपनी क्रिया करती है, पर कुछ स्थलोंमें तथा एक विशेष ऊँचाईतक पहुँचनेपर इस कार्यको अतिक्रम कर इसके क्षेत्रसे परेकी क्रियाको कुछ अंशमें करने लगती है। परन्तु प्राण या मनकी सारी शक्ति इतनी ही नहीं है; उनकी अपनी विशिष्ट प्रकारकी चेतन सत्ताके स्तर भी हैं जो इस जड़पार्थिव स्तरसे भिन्न हैं; वहाँ वे अधिक स्वतंत्रताके साथ अपनी विशिष्ट क्रिया कर सकते हैं। स्वयं जड़तत्त्व या शरीर भी आत्मा-रूपी तत्त्वका एक परिसीमक रूप है जिसमें प्राण, मन और आत्मा निर्वतित एवं गुप्त रूपमें विद्यमान हैं तथा अपने बहिर्मुख करनेवाले कार्यमें डूबे रहनेके कारण अपने-आपको भूले हुए हैं, पर एक अनिवार्य विकासके द्वारा उसमेंसे अवश्य प्रकट होंगे। परन्तु जड़तत्त्व भी परिष्कृत होकर उपादानके अधिक सूक्ष्म रूप ग्रहण कर सकता है जिनमें वह अधिक प्रत्यक्ष रूपमें प्राण, मन और आत्माका घनता-युक्त आकार बन जाता है। स्वयं मनुष्यमें भी इस स्थूल-भौतिक शरीरके अतिरिक्त इसे आवृत्त करनेवाला एक प्राणमय कोष है तथा एक मनोमय कोष और आनन्द एवं विज्ञानका कोष भी है। परन्तु समस्त जड़तत्त्वमें एवं देहमात्रमें इन उच्चतर तत्त्वोंकी गुप्त शक्तियाँ निहित हैं; जड़तत्त्व प्राणकी ही एक रचना है जिसका सर्वप्रेरक विराट् आत्माके बिना कोई वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि यह आत्मा ही उसे शक्ति और स्थूल सत्ता प्रदान करती है।

यही है आत्मा और उसके करणोंका स्वरूप। परन्तु उसकी क्रियाओंको समझनेके लिये तथा हमारा जीवन जिस स्थिर गरारीमें घूमता रहता है उसमेंसे अपने करणोंको ऊपर उठानेके लिये जो ज्ञान हमें उन्नायक शक्ति दे सकता है उसे पानेके लिये हमें यह देखना होगा कि परम आत्माने अपनी सब क्रियाओंका आधार अपनी सत्ताके दो जुड़वें पक्षों अर्थात् पुरुष और प्रकृतिपर रखा है। इन दोनोंके साथ हमें शक्तिकी दृष्टिसे इन्हें भिन्न और पृथक् सत्ताएँ समझते हुए, व्यवहार करना होगा,—क्योंकि चेतनाके व्यवहारमें यह भेद सबल रूपमें विद्यमान है,—यद्यपि असलमें यह एक ही सद्वस्तुके दो पक्षमात्र हैं, एक ही चेतन सत्ताके दो ध्रुव हैं।

'पुरुष' आत्मा है जो अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंको जानता है, उन्हें अपनी सत्ताके द्वारा धारण करता है, अपनी सत्ताके आनन्दमें उनका उपभोग करता है या उनके उपभोगको त्याग देता है। प्रकृति आत्माकी शक्ति है, और यह उसकी शक्तिकी एक ऐसी क्रिया एवं पद्धति भी है जो सत्ताके नाम और रूपको निर्मित करती है, चेतना और ज्ञानकी क्रियाका विकास करती है, संकल्प और प्रेरणा तथा वल और ऊर्जाके रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है, आनन्दके उपभोगके रूपमें अपने-आपको चरितार्थ करती है। यह प्रकृति, माया एवं शक्ति है। यदि हम इसके अत्यंत वाह्य रूपपर, जिसमें कि यह पुरुषसे ठीक उलटी प्रतीत होती है, दृष्टिपात करें तो अपने उस रूपमें यह प्रकृति है, अर्थात् एक जड़ और यांत्रिक स्वयंचालित क्रिया है, यह निश्चेतन है या फिर पुरुषके प्रकाशके द्वारा ही चेतन होती है, इसकी क्रियाओंको वह जो आत्मिक प्रकाश देता है उसकी विविध कोटियों—प्राणिक, मानसिक और अतिमानसिक कोटियों—के द्वारा यह उन्नत होती है। यदि हम इसके उस दूसरे अर्थात् आन्तरिक रूपपर दृष्टि डालें जिसमें कि यह पुरुषके साथ एकत्वके अधिक निकट विचरण करती है, तो अपने उस रूपमें यह माया है, अर्थात् अस्तित्व और प्राकट्यका अथवा अस्तित्व और प्राकट्यके लयका एक संकल्प है; अस्तित्व और प्राकट्यके या इनके लयके सभी परिणाम, जो चेतनाके लिये प्रत्यक्ष होते हैं, इस संकल्पके साथ जुड़े रहते हैं। इसके साथ ही यह (मायारूप शक्ति) निवर्तन और विवर्तनका, अस्तित्व और उसके अभावका, आत्माके स्व-गोपन और स्व-अन्वेषणका संकल्प भी है। दोनों एक ही वस्तु अर्थात् शक्तिके दो पक्ष हैं; यह शक्ति आत्माकी सत्ताकी शक्ति है जो एक प्रतीयमान निश्चेतनाके भीतर आत्माकी ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके रूपमें अतिचेतन या चेतन या अवचेतन क्रिया करती है,—वास्तवमें ये सब क्रियाएँ एक ही आत्मामें एक ही साथ होती रहती हैं। इस शक्तिके द्वारा आत्मा अपने अन्दर सब वस्तुओंका सृजन करता है, अपनी अभिव्यक्तिके आकारमें तथा उसके पर्देके पीछे वह अपनी सारी सत्ताको छुपाता और ढूंढ़ता है।

पुरुष अपनी प्रकृतिकी इस शक्तिसे अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थितिको ग्रहण कर सकता है तथा सत्ताके उस विधान और रूपका अनुसरण कर सकता है जो किसी आत्म-रूपायणका अपना विशिष्ट विधान और रूप हो। यह अपनी स्वयंभू सत्ताकी शक्तिसे युक्त एक सनातन पुरुष और आत्मा है जो अपनी अभिव्यक्तियोंसे परे है तथा इनपर शासन

करता है; यह विराट् पुरुष और आत्मा है जो अपनी सत्ताके प्राकट्यकी शक्तिके रूपमें विकसित है, सांतमें अनंत है; यह व्यष्टिगत पुरुष और आत्मा है जो अपने प्राकट्यकी किसी विशिष्ट धाराके विकासमें निमग्न है, अनन्तमें सांत एवं परिवर्तनशील दिखायी देता है। इन तीनों अवस्थाओंमें यह एक साथ भी रह सकता है, अर्थात् यह एक ऐसी सनातन आत्मा हो सकता है जो विश्वमें विराट् स्वरूप तथा उसके सर्वभूतोंमें व्यक्तिगत रूप धारण किये हो; इसी प्रकार यह इन तीनों रूपोंमेंसे किसी एकमें अपनी चेतनाको स्थापित करके प्रकृतिकी क्रियाको अस्वीकार कर सकता है अथवा इसे अपने नियंत्रणमें रख सकता है या इसके प्रति प्रतिक्रिया कर सकता है, उस एकके सिवाय अन्य दोनों रूपोंको अपने पीछे या अपनेसे दूर रख सकता है, अपने-आपको शुद्ध सनातन सत्ता, आत्मधारक विराट् सत्ता या अन्यवर्जक व्यक्तिगत सत्ताके रूपमें जान सकता है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इसकी प्रकृतिका जो भी बाह्य स्वरूप हो, अपनी चेतनाके संमुखीन सक्रिय भागमें यह वही बन जाता है तथा उसी रूपमें अपनेको देखता है; पर ऐसा कभी नहीं होता कि यह जितना कुछ दिखायी देता है उतना कुछ ही हो; यह वह और भी बहुत कुछ होता है जो कुछ कि यह बन सकता है; गुप्त रूपमें, इसका जो भी अंश अभीतक छुपा हुआ है, यह वह सब ही है। कालमें होनेवाली अपनी किसी भी विशेष रूप-रचनासे यह अटल रूपमें बँध नहीं जाता, बल्कि उसे भेदकर उससे परे जा सकता है, उसे छिन्न-भिन्न या विकसित कर सकता है, अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप-रचनाका चुनाव या परित्याग कर सकता है, अपने अन्दरसे किसी महत्तर रूप-रचनाका नव-निर्माण कर उसे प्रकट भी कर सकता है। अपने करणोंमें अपनी चेतनाके संपूर्ण सक्रिय संकल्पके द्वारा यह अपने जिस स्वरूपमें विश्वास रखता है वही यह होता है या वही यह बनता चला जाता है,—**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**, अर्थात् जो कुछ बन सकनेमें वह विश्वास रखता है तथा जैसा बन सकनेमें इसकी पूर्ण श्रद्धा होती है, इसकी प्रकृति उसीमें बदलती जाती है, यह उसीको विकसित या उपलब्ध करता है।

पुरुषका अपनी प्रकृतिके ऊपर यह अधिकार आत्मसिद्धियोगमें अत्यधिक महत्व रखता है; यदि यह न हो तो हम चेतन प्रयत्न और अभीप्साके द्वारा अपने वर्तमान अपूर्ण मानव-जीवनके स्थिर चक्रमेंसे कभी नहीं निकल सकते; यदि कोई महत्तर पूर्णता हमारे लिये अभिप्रेत है तो हमें प्रतीक्षा करनी होगी कि प्रकृति विकासकी अपनी मन्द या तीव्र प्रक्रियाके द्वारा उसे साधित करे। सत्ताके निम्नतर रूपोंमें 'पुरुष' प्रकृतिके प्रति इस पूर्ण

अधीनताको स्वीकार करता है, पर जैसे-जैसे वह क्रमविकासकी शृंखलामें ऊँचा उठता है, वह अपने अन्दरके एक ऐसे तत्त्वके प्रति सचेतन होता जाता है जो प्रकृतिपर अपना अधिकार चला सकता है; परन्तु उसका यह स्वतंत्र संकल्प एवं अधिकार पूर्ण रूपसे वास्तविक तभी बनता है जब वह आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह परिवर्तन प्रकृतिकी एक प्रक्रियाके द्वारा ही संपन्न होता है; सुतरां, यह किसी मनमौजी जादूके द्वारा नहीं, वल्कि एक व्यवस्थित विकास तथा बुद्धिगम्य पद्धतिके द्वारा ही साधित होता है। जब पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, तब इस परिवर्तनकी प्रक्रिया अपने प्रभावशाली वेगके कारण बुद्धिको एक चमत्कार प्रतीत हो सकती है, तथापि वास्तवमें यह आत्माके सत्यके नियमके अनुसार ही अपना कार्य करती है,—तब हमारे अन्तःस्थ भगवान् अपने साथ हमारे संकल्प और हमारी सत्ताके घनिष्ठ एकत्वके द्वारा योगको अपने हाथमें ले लेते हैं और हमारी प्रकृतिके सर्वशक्तिमान स्वामीके रूपमें कार्य करते हैं। क्योंकि, भगवान् हमारी परमोच्च आत्मा तथा संपूर्ण प्रकृतिकी आत्मा हैं, सनातन और विराट् 'पुरुष' हैं।

पुरुष सत्ताके किसी भी स्तरमें अपने-आपको प्रतिष्ठित कर सकता है, सत्ताके किसी भी तत्त्वको अपनी शक्तिके तात्कालिक नायकके रूपमें अपनाकर उसके चेतन कार्यकी अपनी विशिष्ट प्रणालीकी क्रियामें जीवन यापन कर सकता है। पुरुष स्वयंस्थित सत्ताकी अनन्त एकताके तत्त्वमें निवास कर सकता है और समस्त चेतना, शक्ति, आनन्द, ज्ञान, संकल्प तथा क्रियाको इस रूपमें जान सकता है कि ये इस मूल सत् या सत्यके चेतन रूप हैं। वह अनन्त चेतन शक्ति अर्थात् तपस्के तत्त्वमें निवास कर सकता है और इसे इस रूपमें जान सकता है कि यह सत्ताके असीम आनन्दके उपभोगके लिये अपनी स्वयंभू सत्तामेंसे ज्ञान, संकल्प और शक्तिशाली आत्मिक क्रियाके परिणामोंको प्रकट कर रहा है। वह असीम स्वयंस्थित आनन्दके तत्त्वमें निवास कर सकता है और इस तथ्यसे सचेतन हो सकता है कि भागवत आनन्द अपनी शक्तिके द्वारा अपनी स्वयंभू सत्तामेंसे अपनी इच्छानुसार सत्ताके सामंजस्यका सृजन कर रहा है। इन तीनों अवस्थाओंमें एकताकी चेतना प्रबल होती है; 'पुरुष' अपनी सनातनता, विश्वव्यापकता और एकताकी चेतनामें निवास करता है, और वहाँ जो कोई विभिन्नता होती भी है वह पृथक् करनेवाली नहीं होती, बल्कि एकत्वका बहुलतामय रूपमात्र होती है। इसी प्रकार वह अतिमानसके तत्त्वमें अर्थात् उस प्रकाशमान आत्म-निर्धारक ज्ञान, संकल्प एवं कर्ममें भी निवास कर सकता है जो चिन्मय

सत्ताके पूर्ण आनन्दकी किसी सुसमन्वित अवस्थाका विकास करता है। उच्चतर विज्ञानमें एकता ही आधार है, पर वह विविधतामें आनन्द लेती है; विज्ञान या अतिमानसके निम्न स्तरमें विविधता ही आधार है, पर वह सदा ही एक चेतन एकताके साथ अपना संबंध बनाये रखती है और एकतामें ही आनन्द लेती है। चेतनाकी ये भूमिकाएँ हमारे वर्तमान स्तरसे परे हैं; ये हमारे साधारण मनके लिये अतिचेतन हैं, हमारा मन तो सत्ताके निम्न गोलार्धके अन्तर्गत है।

यह निम्न सत्ता वहाँ आरंभ होती है जहाँ पुरुष और प्रकृति अर्थात् विज्ञानमय पुरुष और मन, प्राण तथा शरीरमें स्थित पुरुषके बीच पर्दा पड़ जाता है। जहाँ यह पर्दा नहीं पड़ा होता वहाँ ये करणात्मक शक्तियाँ वैसी नहीं होतीं जैसी कि ये हमारे अन्दर हैं, बल्कि ये विज्ञान और आत्माकी एकीकृत क्रियाका प्रकाशयुक्त अंग होती हैं। मन जब अपने निर्णयोंके लिये अपने उद्गमभूत प्रकाशका आश्रय लेना भूल जाता है और अपने पृथक्कारक कार्य तथा उपभोगकी संभावनाओंमें निमग्न हो जाता है तो उसके अन्दर अपनी क्रियाके स्वतंत्र होनेका विचार उत्पन्न होता है। जब 'पुरुष' इस मन-रूपी तत्वमें निवास करता है तथा अभी प्राण और शरीरके अधीन नहीं बल्कि इनका उपयोक्ता होता है तो वह अपने-आपको एक मनोमय पुरुषके रूपमें जानता है जो अपने व्यक्तिगत ज्ञान, संकल्प और क्रियाबलके अनुसार अपने मानसिक जीवन, मानसिक शक्तियों और मूर्तियोंको तथा सूक्ष्म-मानसिक तत्वके आकारोंको निर्मित करता है। विराट् मनमें विद्यमान उस जैसी अन्य सत्ताओं और शक्तियोंके साथ उसके संबंधके कारण इस ज्ञान, संकल्प और क्रियाबलमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। जब वह प्राणके तत्त्वमें निवास करता है तो वह अपने-आपको विराट् प्राणके एक ऐसे केन्द्रके रूपमें जानता है जो विराट् प्राण-पुरुषकी उक्त प्रकारकी अपनी विशिष्ट परिवर्तनकारी अवस्थाओंमें अपनी इच्छाओंके अनुसार किसी क्रिया और चेतनाको अभिव्यक्त करता है; यह विराट् प्राण-पुरुष प्राणके अनेक व्यक्तिगत केन्द्रोंके द्वारा अपना कार्य कर रहा है। जब वह अन्नके तत्त्वमें निवास करता है, तो वह अपनेको एक ऐसी अन्नमय चेतनाके रूपमें जानता है जो अन्नमय सत्ताकी शक्तिके उक्त प्रकारके नियमके अनुसार कार्य करती है। जैसे-जैसे वह ज्ञानके पक्षकी ओर झुकता है, वैसे-वैसे वह कम या अधिक स्पष्ट रूपमें यह जानता जाता है कि वह मनोमय, प्राणमय या अन्नमय पुरुष है जो अपनी प्रकृतिका अवलोकन करता तथा उसके अन्दर अपनी क्रिया करता है या फिर जिसपर प्रकृति अपनी क्रिया करती है। परन्तु

जहाँ वह अज्ञानके पक्षकी ओर झुकता है, वहाँ वह अपनेको एक ऐसे अहंके रूपमें जानता है जो मन, प्राण या शरीरकी प्रकृतिके साथ तदाकारता स्थापित किये हुए है, अर्थात् वहाँ वह अपनेको प्रकृतिकी ही एक रचना समझता है। परन्तु अन्नमय पुरुषकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका परिणाम यह होता है कि पुरुषकी शक्ति रूप-निर्माणकी क्रियामें तथा स्थूलभौतिक गतिमें मग्न हो जाती है और फलतः चिन्मय पुरुष अपने स्वरूपको भूल जाता है। यह जड़ जगत् प्रतीयमान निश्चेतनासे ही आरंभ होता है।

विराट् पुरुष इन सब भूमिकाओंमें एक प्रकारसे एक ही साथ निवास करता है और इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वके आधारपर एक लोक या लोक-शृंखला तथा उसके प्राणियोंकी रचना करता है जो उस-उस तत्त्वकी प्रकृतिके अनुसार जीवन धारण करते हैं। मनुष्य ब्रह्माण्डका ही एक पिण्ड है; अतः उसकी अपनी सत्तामें भी ये सब भूमिकाएँ उसके अवचेतन-स्तरसे अतिचेतन-स्तरतक शृंखलाबद्ध रूपमें विद्यमान हैं। योगकी बढ़ती हुई शक्तिके द्वारा वह इन गुप्त लोकोंको जान सकता है जो उसके स्थूल एवं जड़तापन्न मन और इन्द्रियोंसे छुपे हुए हैं क्योंकि इन्हें केवल जड़ जगत्का ही ज्ञान प्राप्त होता है। इन लोकोंको जान लेनेपर उसे पता चलता है कि जिस प्रकार यह जड़ जगत् जिसमें वह रहता है कोई पृथक् और स्वयंस्थित सत्ता नहीं है उसी प्रकार उसकी स्थूल-भौतिक सत्ता भी कोई पृथक् तथा स्वयंस्थित वस्तु नहीं है, बल्कि उसकी सत्ता और जड़ जगत् दोनों ही उच्चतर भूमिकाओंसे सतत संबद्ध हैं तथा उनकी शक्तियोंसे और सत्ताओंसे प्रभावित होते रहते हैं। वह अपने अन्दर इन उच्चतर भूमिकाओंकी क्रिया शुरू करा सकता है और उसे बढ़ा सकता है तथा अन्य लोकोंके जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका भाग लेनेका आनन्द उठा सकता है,—ये लोक मृत्युके बाद या मृत्यु तथा स्थूल देहमें पुनर्जन्मके बीच विश्राम लेनेके लिये उसके निवासस्थान अर्थात् उसकी चेतनाके धाम होते हैं या बन सकते हैं। परन्तु उसकी सबसे प्रधान सामर्थ्य यह है कि वह अपने अन्दर उच्चतर तत्त्वोंकी शक्तियोंका, अर्थात् प्राणकी महत्तर शक्ति, मनकी शुद्धतर ज्योति, अतिमानसके प्रकाश और आत्माकी अनन्त सत्ता, चेतना एवं आनन्दको विकसित कर सकता है। आरोहणात्मक गतिके द्वारा वह मानवीय अपूर्णतामेंसे इस महत्तर पूर्णताकी ओर अपना विकास साधित कर सकता है।

परन्तु उसका लक्ष्य चाहे जो हो, उसकी अभीप्सा चाहे कितनी भी ऊँची क्यों न हो, फिर भी उसे अपनी साधनाका आरंभ अपनी वर्तमान अपूर्णताके नियमसे ही करना पड़ेगा, इसके स्वरूपको पूरी तरहसे अपने

विचारमें लाकर यह देखना होगा कि किस प्रकार इसे संभवनीय पूर्णताके नियममें रूपान्तरित किया जा सकता है। उसकी सत्ताका यह वर्तमान नियम जड़ जगतकी निश्चेतनासे, बाह्य आकारके अन्दर आत्माके तिरोभाव तथा जड़ प्रकृतिके प्रति अधीनतासे आरंभ होता है; और, यद्यपि इस जड़-तत्त्वमें प्राण और मनने अपनी शक्तियां विकसित कर ली हैं तथापि वे निम्नतर स्थूल-भौतिक तत्त्वके द्वारा सीमित हैं तथा इसके कार्यमें ही जकड़े हुए हैं, क्योंकि उसकी व्यावहारिक स्थूल चेतनाके अज्ञानके लिये यह निम्न-भौतिक तत्त्व ही उसका मूल तत्त्व है। यद्यपि वह देहधारी मनोमय प्राणी है तथापि उसके मनको शरीर तथा स्थूल प्राणके नियंत्रणमें रहना पड़ता है; तपःशक्ति और एकाग्रताके किसी कम या अधिक गुरुतर प्रयत्नके द्वारा ही उसका मन, प्राण और शरीरको सचेतन रूपसे नियंत्रणमें रख सकता है। इस क्रियामें अधिकाधिक वृद्धि करके ही वह पूर्णताकी ओर बढ़ सकता है,—और आत्म-शक्तिको विकसित करके ही वह इसे प्राप्त कर सकता है। उसके अन्दरकी प्रकृति-शक्तिको अधिकाधिक पूर्ण रूपमें अन्तरात्माकी एक सचेतन क्रिया किंवा आत्माके समस्त संकल्प और ज्ञानकी एक सचेतन अभिव्यक्ति बनना होगा। प्रकृतिको पुरुषकी शक्तिके रूपमें प्रकट होना होगा।

चौथा अध्याय

मानसिक सत्ताकी पूर्णता

इन अवस्थाओंमें आत्मसिद्धियोगका मूलभूत विचार यह होना चाहिये कि मनुष्यकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके साथ उसकी अंतरात्माके वर्तमान संबंधोंको पलट दिया जाय। मनुष्य इस समय एक अंशतः स्व-चेतन आत्मा है जो मन, प्राण और शरीरके अधीन तथा इनके द्वारा सीमित है; उसे एक ऐसी पूर्ण स्व-चेतन आत्मा बनना है जो अपने मन, प्राण और शरीरकी स्वामिनी हो। एक पूर्ण स्व-चेतन आत्मा इनके दावों और इनकी मांगोंसे सीमित न होती हुई अपने करणोंसे उच्चतर तथा इनकी मुक्त स्वामिनी होगी। मनुष्यके अतीत आध्यात्मिक, बौद्धिक और नैतिक प्रयासोंके अधिकांशका मतलब यही है कि वह इस प्रकार अपनी सत्ताका स्वामी बननेका प्रयास करता आ रहा है।

मनुष्यको किसी पूर्ण रूपसे सच्ची स्वतंत्रता और प्रभुताके साथ अपनी सत्ताका स्वामी बननेके लिये अपनी उच्चतम आत्माको, अपने अन्दरके उस वास्तविक मनुष्य या उच्चतम पुरुषको, ढूँढ़ना होगा जो स्वतंत्र है तथा अपनी अविच्छेद्य शक्तिका स्वामी है। उसे मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक अहं रहना छोड़ देना होगा; क्योंकि यह अहं सदा मानसिक, प्राणिक, भौतिक प्रकृतिकी ही एक रचना, उसका यंत्र एवं दास होता है। यह अहं उसकी वास्तविक आत्मा नहीं है बल्कि प्रकृतिका एक करण है जिसके द्वारा प्रकृतिने मनुष्यके अन्दर मन, प्राण और शरीरमें रहनेवाली एक सीमित एवं पृथक् व्यक्तिगत सत्ताकी भावना विकसित की है। इस करणके द्वारा वह इस प्रकार कार्य करती है मानों वह इस जड़ जगत्‌में एक पृथक् सत्ता हो। प्रकृतिने कुछ ऐसी यांत्रिक एवं संकीर्णकारी अवस्थाओंका विकास किया है जिनके अधीन यह कार्य घटित होता है; अंतरात्माका अपने-आपको अहंके साथ तदाकार कर देना एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रकृति अन्तरात्माको इस कार्यके लिये सहमत होने तथा इन यांत्रिक संकीर्णकारी अवस्थाओंको स्वीकार करनेके लिये प्रेरित करती है। जबतक तदाकारता बनी रहती है तबतक आत्मा इस यांत्रिक चक्र और संकीर्ण कार्यमें आप-से-आप कैद हुई रहती है और जबतक वह इनसे परे नहीं चली

जाती तबतक वह अपने वैयक्तिक जीवनका स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग नहीं कर सकती, सच्चे अर्थोंमें अपने-आपसे परे चले जाना तो दूर की बात रही। इसी कारण योगकी एक अनिवार्य क्रिया यह है कि जिस बाह्य अहं-बुद्धिके द्वारा हम मन, प्राण और शरीरकी क्रियाके साथ अपने-आपको एकाकार किये हुए हैं उससे हम पीछे हट जायँ तथा भीतर अपनी अंतरात्मामें रहने लगें। बहिर्मुख अहंबुद्धिसे मुक्ति आत्माके स्वातंत्र्य और प्रभुत्वका पहला पग है।

जब हम इस प्रकार पीछे हटकर अंतरात्मामें प्रवेश करते हैं तो हम पाते हैं कि हम मन नहीं हैं बल्कि एक मनोमय पुरुप हैं जो देहाधिष्ठित मनकी क्रियाके पीछे स्थित है। तब हम यह भी पाते हैं कि हम मानसिक और प्राणिक व्यक्तित्व भी नहीं हैं,—व्यक्तित्व तो प्रकृतिकी एक रचना है,—बल्कि हम मनोमय पुरुप हैं। हम अपने अन्दरके एक ऐसे पुरुषको जान जाते हैं जो आत्मज्ञान तथा विश्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनकी भूमिकापर स्थित है और जो आत्मानुभव एवं विश्वानुभव प्राप्त करनेके लिये तथा अंतर्मुख और बहिर्मुख कार्य-व्यापार करनेके लिये अपने-आपको एक व्यक्ति समझता है, किन्तु फिर भी मन, प्राण और शरीरसे भिन्न है। प्राणकी क्रियाओंसे तथा भौतिक सत्तासे भिन्न होनेकी यह भावना अत्यंत ही स्पष्ट होती है; कारण, यद्यपि पुरुप अपने मनको प्राण और शरीरमें ग्रस्त अनुभव करता है, तथापि वह जानता है कि चाहे स्थूल प्राण और शरीर समाप्त या विनष्ट हो जायँ, फिर भी वह अपनी मनोमय सत्तामें जीवन धारण करता रहेगा, परन्तु मनसे भिन्न होनेका अनुभव होना अधिक कठिन है और यह अनुभव उतने स्थिर रूपसे स्पष्ट भी नहीं होता। किन्तु फिर भी यह प्राप्त अवश्य होता है; इसके लक्षणके रूपमें मनोमय पुरुषोंको अपने तीन प्रकारके अन्तर्ज्ञानोंमेंसे, जिनमें यह निवास करता है, कोई एक या तीनों ही प्राप्त होते हैं; इनके द्वारा यह अपनी महत्तर सत्ताको जान जाता है।

सर्वप्रथम, उसे यह अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है कि मैं एक ऐसा पुरुष हूँ जो मनकी क्रियाका अवलोकन करता है; यह क्रिया उसे एक ऐसी चीज प्रतीत होती है जो उसके अन्दर और फिर भी उसके सामनेकी उसकी ज्ञानदृष्टिके एक विषयके रूपमें हो रही है। यह आत्म-चेतनता साक्षी पुरुषकी अन्तर्ज्ञानात्मक चेतना है। साक्षी पुरुष एक शुद्ध-चैतन्यस्वरूप पुरुष है जो प्रकृतिका निरीक्षण करता है और इसे एक ऐसे व्यापारके रूपमें देखता है जिसका चेतनापर प्रतिबिम्ब पड़ता है और जो उस चेतनाके द्वारा ही आलोकित होता है, पर जो अपने-आपमें उससे भिन्न है। मनोमय

पुरुषके लिये प्रकृति एक व्यापारमात्र है, पृथक्करण और संयोजन करनेवाले विचारका, संकल्प, संवेदन और भावावेगका, स्वभाव, चरित्र और अहंभावनाका एक जटिल व्यापार है; यह स्थूल शरीरके द्वारा लादी हुई अवस्थाओंमें प्राणिक आवेगों, आवश्यकताओं और कामनाओंके आधारपर अपना कार्य करती है। पर यह उनके द्वारा सीमित नहीं होती, क्योंकि यह उन्हें नयी दिशाओंमें मोड़ सकती है, अत्यधिक परिवर्तित, परिष्कृत और विस्तृत कर सकती है, इतना ही नहीं वल्कि यह विचार और कल्पनाके रूपमें तथा एक अत्यधिक सूक्ष्म और नमनीय रचनाओंवाले मानसिक लोकमें कार्य भी कर सकती है। पर इसके साथ ही मनोमय पुरुषको यह अन्तर्ज्ञान भी प्राप्त होता है कि एक ऐसी सत्ता भी है जो इस वर्तमान कार्य-व्यापारसे, जिसमें वह निवास करता है, अधिक विशाल और महान् है, अनुभवकी एक ऐसी भूमिका भी है जिसकी एक उपरितलीय योजना या एक चुनी हुई संकुचित और उथली क्रियामात्र है प्रकृतिका वर्तमान कार्य-व्यापार। इस अन्तर्ज्ञानके द्वारा वह प्रच्छन्न अन्तःसत्ताकी ड्योढ़ीपर स्थित हो जाता है; इस अन्तः-सत्ताकी संभाव्य शक्ति उससे अधिक विस्तृत है जिसे कि यह स्थूल मन उसके आत्मज्ञानके समक्ष प्रकट करता है। उसे अपना अंतिम और सबसे महान् अन्तर्ज्ञान इस आंतरिक अनुभवके रूपमें प्राप्त होता है कि एक ऐसा तत्व है जो उसका अधिक वास्तविक एवं मूलभूत स्वरूप है, जो मनसे उतना ही ऊँचा है जितना मन स्थूल प्राण और शरीरसे ऊँचा है। इस आंतरिक अनुभवके रूपमें उसे अपनी अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक सत्ताका अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है।

जिस स्थूल कार्य-व्यापारसे मनोमय पुरुष पीछेकी ओर हट गया है उसमें वह किसी भी समय फिरसे ग्रस्त हो सकता है, मन, प्राण और शरीरकी यांत्रिक क्रियाके साथ कुछ समयके लिये पूर्णतया एक होकर रह सकता है और अपने पुनरावर्ती सामान्य व्यापारको तन्मय होकर पुनः-पुनः दुहरा सकता है। परन्तु एक वार जब वह इससे पृथक् होनेकी क्रियाको संपन्न कर लेता है तथा कुछ समयके लिये इसमें निवास कर चुकता है, तो वह स्वयं अपने निकट विलकुल वही कभी नहीं हो सकता जो कुछ कि वह पहले था। वाह्य कार्यमें ग्रस्तता अव केवल पुनः-पुनः होनेवाली एक ऐसी आत्म-विस्मृतिका रूप धारण कर लेती है जिससे पीछे हटकर पुनः अपनेमें तथा शुद्ध आत्मानुभवमें प्रवेश करनेकी प्रवृत्ति उसके अन्दर बनी रहती है। यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि इस वाह्य चेतनाके जिस सामान्य व्यापारने पुरुषके लिये उसके आत्मानुभवका वर्तमान प्राकृतिक

रूप सृष्ट किया है उससे पीछे हटकर वह (पुरुष) अन्य दो स्थितियाँ भी धारण कर सकता है। उसे यह अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि मैं एक देहस्थित पुरुष हूँ जो प्राणको अपनी एक क्रिया तथा मनको इस क्रियाके प्रकाशके रूपमें प्रकट करता है। यह देहस्थित पुरुष अन्नमय चेतन-सत्ता अर्थात् **अन्नमय पुरुष** है। यह प्राण और मनको विशिष्ट रूपसे भौतिक अनुभवके लिये ही प्रयुक्त करता है,—और सब चीजोंको भौतिक अनुभवके ही परिणाम समझा जाता है। यह शरीरके जीवनसे परेकी किसी भी वस्तुपर दृष्टिपात नहीं करता; जहाँतक यह अपनी स्थूल व्यष्टि-सत्तासे परे किसी चीजको अनुभव करता भी है वहाँतक यह केवल इस स्थूल विश्वका तथा अधिक-से-अधिक स्थूल प्रकृतिकी आत्माके साथ अपने एकत्वका ही अनुभव प्राप्त करता है। परन्तु उसे यह अन्तर्ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है कि मैं एक प्राणमय पुरुष हूँ जिसने कालगत अभिव्यक्तिकी महान् गतिके साथ अपने-आपको एक कर रखा है तथा जो शरीरको एक आकार या एक आधारभूत इन्द्रियमय मूर्तिके रूपमें एवं मनको प्राणानुभूतिकी एक सचेतन क्रियाके रूपमें प्रकट करता है। यह प्राणस्थित आत्मा प्राणमय चेतन सत्ता है अर्थात् प्राणमय पुरुष है। यह स्थूल शरीरकी अवधि और सीमाओंसे परे भी देख सकती है, अपने पीछे और आगे अर्थात् भूत और भविष्यमें जीवनकी सनातनताको तथा विराट् प्राण-सत्ताके साथ अपने एकत्वको अनुभव कर सकती है, पर कालमें प्राणिक अभिव्यक्तिका जो सतत प्रवाह चल रहा है उससे परे नहीं देखती। ये तीन पुरुष परम आत्माके आंतरात्मिक रूप हैं जिनके द्वारा वह अपनी विश्वमय सत्ताके इन तीन स्तरों या तत्त्वोंमेंसे किसी एकके साथ अपनी चेतन सत्ताको एकीभूत करती है या उसपर अपने कार्यका आधार स्थापित करती है।

परन्तु मनुष्य अपने स्वभावसे ही एक मनोमय प्राणी हैं। इतना ही नहीं, वल्कि मन उसकी ऊँची-से-ऊँची वर्तमान भूमिका है जिसमें वह अपने वास्तविक स्वरूपके अधिक-से-अधिक निकट है तथा आत्माको नितान्त सुगम एवं विशाल रूपसे जान पाता है। उसकी पूर्णता या सिद्धिका मार्ग न तो यह है कि वह वाह्य या स्थूल जीवनमें ग्रस्त रहे और न यह कि वह प्राणमय या अन्नमय पुरुषमें ही स्थित रहे, वल्कि उसे उन तीन मानसिक अन्तर्ज्ञानोंकी प्राप्तिके लिये आग्रह करना होगा जिनके द्वारा वह अंतिम रूपसे भौतिक, प्राणिक और मानसिक स्तरोंके ऊपर उठ सके। यह आग्रह दो सर्वथा भिन्न रूप धारण कर सकता है जिनमेंसे प्रत्येकका अपना लक्ष्य एवं कार्य-प्रणाली होती है। उसके लिये यह सर्वथा संभव है कि वह इसे

एक ऐसी दिशामें खींच ले जाय जो प्रकृतिगत जीवनसे दूर हो अर्थात् जो मन, प्राण और शरीरसे अनासक्त एवं विरत होनेकी दिशा हो। वह अधिकाधिक एक ऐसे साक्षी पुरुषके रूपमें जीवन यापन करनेका यत्न कर सकता है जो प्रकृतिके कार्यका अवलोकन करता है, पर उसमें रस नहीं लेता, न उसे अनुमति ही देता है, बल्कि अनासक्त रहकर प्रकृतिके संपूर्ण कार्यका परित्याग कर डालता है तथा पीछे हटकर शुद्ध चेतन सत्तामें लौट जाता है। यह सांख्योंकी मुक्ति है। वह अपने भीतर उस विशालतर सत्तामें भी प्रवेश कर सकता है जिसका उसे अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है; इसी प्रकार वह स्थूल मनसे दूर हटकर उस स्वप्नावस्था या सुषुप्ति-अवस्थामें भी जा सकता है जो उसे चेतनाकी विशालतर या उच्चतर भूमिकाओंमें प्रवेश प्रदान करती है। इन भूमिकाओंमें जाकर वह पार्थिव सत्ताको अपनेसे उतार फेंक सकता है। प्राचीन कालमें यह माना जाता था कि मनुष्य उन अतिमानसिक लोकोंमें भी पहुँच सकता है जहाँसे वह पार्थिव चेतनामें या तो लौट ही नहीं सकता अथवा जहाँसे लौटना उसके लिये अनिवार्य नहीं है। परन्तु इस प्रकारकी मुक्ति अपनी स्पष्ट तथा सुनिश्चित पराकाष्ठाको तभी पहुँचती है यदि मनोमय प्राणी आध्यात्मिक सत्तामें ऊँचा उठ जाय। इस आध्यात्मिक सत्ताका अनुभव उसे तब प्राप्त होता है जब वह मनकी समस्त भूमिकासे दूर तथा ऊपर दृष्टिपात करता है। मनमात्रके परे दृष्टि डालना ही एक चाबी है जिसके द्वारा वह शुद्ध सत्‌में निमज्जित होकर या विश्वातीत सत्तामें भाग लेता हुआ पार्थिव सत्ताका पूर्णरूपेण परित्याग कर सकता है।

परन्तु यदि हमारा लक्ष्य प्रकृतिसे अपने-आपको अलग करके उससे मुक्त होना ही नहीं, बल्कि पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करना हो तो फिर इस प्रकारका आग्रह पर्याप्त नहीं हो सकता। हमें अपने अन्दर होनेवाले प्रकृतिके मानसिक, प्राणिक और भौतिक कार्यका अवलोकन करना होगा, उसके बन्धनकी ग्रंथियोंको तथा उनसे मुक्त होनेके लिये उन्हें खोलनेके सूत्रोंको ढूँढ निकालना होगा, उसकी अपूर्णताकी कुंजियोंको खोजकर पूर्णताकी कुंजीको हस्तगत करना होगा। जब द्रष्टा आत्मा किंवा साक्षी पुरुष अपनी प्रकृतिके कार्यके पीछे हटकर इसका निरीक्षण करता है, तो वह देखता है कि यह अपनी ही प्रेरणासे आरंभ होता है तथा अपनी यांत्रिक क्रियाकी शक्तिके द्वारा, गतिके सातत्यकी अर्थात् मानसिक गति, प्राणावेग तथा अनैच्छिक स्थूल यांत्रिक क्रियाके सातत्यकी शक्तिके द्वारा ही चलता रहता है। पहले-पहल तो सारी चीज एक स्वयंचालित यंत्रकी पुनरावर्तिनी

क्रिया प्रतीत होती है, यद्यपि वह सारी क्रिया मिलकर निरंतर एक सृजन, अभिवृद्धि एवं विकासकी ओर आरोहण करती है। उसे ऐसा लगता है मानों वह इस चक्रके अन्दर पकड़ाया हुआ हो, इसके प्रति अहं-बुद्धि होनेके कारण इसके साथ चिपका हुआ हो और जैसे-जैसे यंत्र चक्कर काटता है वैसे-वैसे उसके साथ वह भी चारों ओर तथा आगेकी ओर घुमाया जा रहा हो। उसके मानसिक, प्राणिक और भौतिक व्यक्तित्वको जब एक बार, प्रकृतिकी क्रियामें फँसी हुई तथा अपनेको उस क्रियाका अंग समझनेवाली आत्माके द्वारा न देखकर, इस स्थिर अनासक्त दृष्टिकोणसे देखा जाता है तो इसका स्वाभाविक रूप यों दिखायी देता है कि यह पूरे-का-पूरा प्रकृतिका एक यांत्रिक नियतिरूप निर्धारण है या उसके निर्धारणोंका एक प्रवाह है जिसे पुरुषने अपनी चेतनाकी ज्योति अर्पित कर रखी है।

परन्तु कुछ अधिक दीर्घ दृष्टि डालनेपर हमें पता चलता है कि यह नियतिकृत निर्धारण उतना पूर्ण नहीं है जितना कि यह प्रतीत होता था; प्रकृतिका व्यापार इसलिये चलता रहता है और इसका जो भी स्वरूप है वह इसलिये है कि पुरुष इसे अनुमति देता है। द्रष्टा पुरुष देखता है कि वह इस व्यापारको अपनी चेतन सत्ताके द्वारा धारण करता है तथा एक प्रकारसे अपनी चेतनाके द्वारा इसमें व्याप्त एवं ओतप्रोत भी है। वह जान जाता है कि उसके बिना यह जारी नहीं रह सकता और जहाँ वह इस अनुमतिको दृढ़तापूर्वक हटा लेता है, वहाँ अभ्यासगत व्यापार क्रमशः मन्द पड़ता जाता है और फिर क्षीण होकर बन्द हो जाता है। इस प्रकार उसके समग्र सक्रिय मनको पूर्ण रूपसे शान्त किया जा सकता है। तथापि उसके अन्दर एक निष्क्रिय मन भी है जो यंत्रवत् क्रिया करता रहता है, पर यदि वह इसकी क्रियासे पृथक् होकर अपने अन्दर चला जाय तो इसे भी शान्त किया जा सकता है। तब भी जीवनका कार्य-व्यापार अपने अत्यंत यांत्रिक भागोंमें बराबर चालू रहता है; पर उसे भी शान्त करके बन्द किया जा सकता है। तब ऐसा दिखायी देगा कि वह केवल **भर्ता** पुरुष ही नहीं है, बल्कि एक प्रकारसे अपनी प्रकृतिका स्वामी, **ईश्वर,** भी है। उसके अन्दर जो यह चेतना है कि मैं अनुमति देनेवाला नियन्ता हूँ तथा मेरी सहमति आवश्यक है उसीने उसे अहम्भावकी अवस्थामें यह सोचनेके लिये प्रेरित किया था कि मैं स्वतंत्र इच्छासे युक्त एक आत्मा या मनोमय पुरुष हूँ जो अपनी सब अभिव्यक्तियोंको आप ही निर्धारित करता है। तथापि यह स्वतंत्र इच्छा अपूर्ण एवं भ्रमात्मक-सी प्रतीत होती है, क्योंकि असलमें जिसे इच्छा कहते हैं वह स्वयं प्रकृतिकी एक

मशीनरी है और प्रत्येक पृथक् एवं व्यक्तिगत इच्छा अतीत कर्मके प्रवाहके द्वारा तथा तज्जनित अवस्थाओंकी समष्टिके द्वारा निर्धारित होती है,—यद्यपि यह प्रतिक्षण विशुद्ध एवं मौलिक रूपसे सृजन करनेवाली एक स्वयंजात इच्छा प्रतीत हो सकती है, क्योंकि उस कर्म-प्रवाहका परिणाम एवं वह अवस्था-समष्टि प्रतिक्षण एक नये विकास एवं नये निर्धारणके रूपमें ही हमारे सामने आती है। द्रष्टा पुरुष जान जाता है कि इस सब समयमें उसकी देन इतनी ही थी कि प्रकृति जो कुछ कर रही है उसे वह पीछे रहकर सहमति एवं अनुमति देता था। वह इस (प्रकृति)पर पूर्ण रूपसे शासन करनेके योग्य नहीं प्रतीत होता, बल्कि कुछ-एक सुनिश्चित संभावनाओंमें चुनाव करनेमें ही समर्थ दिखायी देता है: इसमें प्रतिरोध करनेकी एक शक्ति है जो इसके भूतकालिक वेगसे उत्पन्न हुई है; साथ ही, इसमें प्रतिरोधकी एक और भी बड़ी शक्ति है जो इसीकी पैदा की हुई कुछ-एक निश्चित अवस्थाओंकी समष्टिसे उत्पन्न हुई है। इन अवस्थाओं-को यह पुरुषके सामने एक ऐसी अटल नियम-शृंखलाके रूपमें उपस्थित करती है जिसका पालन करना उसके लिये आवश्यक है। वह इसकी कार्य करनेकी पद्धतिको आमूल रूपमें नहीं बदल सकता, इसके वर्तमान क्रिया-व्यापारके भीतरसे अपने संकल्पको स्वतंत्रतापूर्वक क्रियान्वित नहीं कर सकता, न ही, जबतक वह मनमें स्थित है तबतक, एक ऐसे ढंगसे इसके बाहर निकल सकता या ऊपर जा सकता है कि इसपर सचमुचमें स्वतंत्रतापूर्वक नियंत्रण कर सके। पुरुष और प्रकृति दोनों एक-दूसरेपर निर्भर जान पड़ते हैं, प्रकृति पुरुषकी अनुमतिपर अपना आधार रखती है, पुरुष प्रकृतिके कार्यके नियमपर, उसकी पद्धति एवं सीमाओंपर अपना आधार रखता है; स्वतंत्र इच्छाकी भावना प्रकृतिके निर्धारणसे इन्कार करती है, प्रकृतिके द्वारा किये हुए निर्धारणकी वास्तविकता स्वतंत्र इच्छाको पंगु कर देती है। पुरुष निश्चित रूपसे जानता है कि प्रकृति उसकी शक्ति है, किन्तु फिर भी वह इसके अधीन दिखायी देता है। वह अनुमन्ता पुरुष है, पर वह पूर्ण-निरपेक्ष स्वामी, ईश्वर, नहीं प्रतीत होता।

तथापि, किसी स्तरपर पूर्ण प्रभुत्व एवं वास्तविक 'ईश्वर'-त्व भी विद्यमान है। वह इसे अनुभव करता है और जानता है कि यदि वह इसे प्राप्त कर ले तो वह प्रकृतिका नियामक बन जायगा, इसकी इच्छाका निष्क्रिय एवं अनुमन्ता साक्षी तथा भर्ता पुरुष ही नहीं, बल्कि इसकी क्रियाओंका स्वतंत्र और शक्तिशाली प्रयोक्ता तथा निर्धारक भी बन जायगा। परन्तु उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियमन या प्रभुत्व मनसे परे

अवस्थित किसी अन्य भूमिकाकी वस्तु है। कभी-कभी वह अनुभव करता है कि मैं इसका प्रयोग भी कर रहा हूँ, पर एक प्रणालिका या यंत्रके रूपमें ही; तब यह उसे ऊपरसे प्राप्त होता है। अतः यह स्पष्ट है कि यह अतिमानसिक प्रभुत्व है। परम आत्माकी एक ऐसी शक्ति है जो मनोमय पुरुषसे बड़ी है; वह पहलेसे ही जानता है कि अपनी चेतन सत्ताके शिखरपर तथा उसके गुप्त अन्तस्तलमें मैं यही शक्ति हूँ। अतएव, निःसंदेह, नियंत्रण और प्रभुत्वकी प्राप्तिका मार्ग यह है कि वह इस परम आत्माके साथ तादात्म्य लाभ करे। यह तादात्म्य वह निष्क्रिय रूपसे, अर्थात् अपनी मानसिक चेतनामें आत्माकी शक्तिको प्रतिबिम्बित एवं ग्रहण करके, साधित कर सकता है, पर तब वह शक्तिका एक साँचा, वाहक या यंत्र ही होगा, उसका स्वामी नहीं होगा, न उसमें भाग ही ले सकेगा। इसी प्रकार, वह अपने मनको आंतरिक अध्यात्मसत्तामें लीन करके भी परम आत्माके साथ तादात्म्य प्राप्त कर सकता है, पर उस दशामें तादात्म्यकी समाधिमें उसका सचेतन कार्य समाप्त हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रकृतिका सक्रिय स्वामी बननेके लिये उसे किसी उच्चतर अतिमानसिक भूमिकातक उठना होगा जहाँ नियामक आत्माके साथ निष्क्रिय ही नहीं, वरन् सक्रिय एकत्व भी प्राप्त हो सकता है। इस महत्तर भूमिकातक आरोहण करनेका मार्ग ढूंढ़कर **स्वराट्** अर्थात् आत्म-शासक बनना ही उसकी पूर्णता या सिद्धिकी शर्त है।

इस आरोहणमें जो कठिनाई आती है उसका कारण है प्रकृतिमें रहनेवाला अज्ञान। वह पुरुष है, मानसिक और भौतिक प्रकृतिका **साक्षी** है, पर आत्मा और प्रकृतिका पूर्ण **ज्ञाता** नहीं है। मनकी भूमिकामें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उसकी चेतनाके द्वारा ही आलोकित होता है; वह मनोमय ज्ञाता है; पर उसे अनुभव होता है कि यह ज्ञान वास्तविक नहीं है, वरन् एक आंशिक खोज एवं आंशिक उपलब्धिमात्र है, यह तो मनसे अधिक महान् प्रकाशका एक गौण और अनिश्चित प्रतिबिम्ब है तथा कार्य करनेके लिये एक संकुचित एवं उपयोगी साधन है जो इस महत्तर प्रकाशसे ही प्राप्त हुआ है। मनके ज्ञानके परे है वास्तविक ज्ञान। यह वास्तविक ज्ञान किंवा प्रकाश परम आत्माका आत्म-चैतन्य एवं सर्व-चैतन्य है। मूल आत्म-चैतन्यकी प्राप्ति उसे सत्ताके मानसिक स्तरपर भी हो सकती है यदि वह मनोमय पुरुषमें इसके प्रतिबिम्बको ग्रहण करे अथवा मनोमय पुरुष आत्मामें लीन हो जाय, इसी प्रकार वह प्राणमय पुरुष एवं अन्नमय पुरुषमें भी इसे अवश्य प्राप्त कर सकता है, पर तब प्रतिबिम्ब

ग्रहण करने या लय होनेका तरीका मानसिक स्तरकी अपेक्षा भिन्न होता है। परन्तु इस मूल आत्म-चैतन्यको अपने कार्यकी आत्माके रूपमें प्रयुक्त करनेवाले एक क्रियाशक्तिमय सर्व-चैतन्यमें भाग लेनेके लिये उसे अतिमानसतक ऊपर उठना ही होगा, अपनी सत्ताका स्वामी बननेके लिये उसे आत्मा और प्रकृतिका ज्ञाता बनना होगा, **ज्ञाता ईश्वर**। यह कार्य कुछ अंशमें तो मनके उच्चतर स्तरपर किया जा सकता है जहाँ यह (मन) अतिमानसकी क्रियाके प्रत्युत्तरमें सीधे रूपसे अपनी क्रिया कर सकता है, पर अपने वास्तविक तथा पूर्ण स्वरूपमें यह सिद्धि मनोमय पुरुषकी नहीं, बल्कि विज्ञानमय पुरुषकी संपदा है। मनोमय पुरुषको उससे महान् विज्ञानमय पुरुषमें और फिर इसे भी आनन्दमय पुरुषमें उठा ले जाना इस सिद्धिका सर्वोच्च पथ है।

परन्तु अपनी वर्तमान प्रकृतिको बिलकुल जड़मूलसे बदले बिना तथा जो बहुतसे नियम इसकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ताकी जटिल ग्रन्थिके रूढ़ नियम प्रतीत होते हैं उन्हें त्यागे बिना कोई भी सिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती, इस योगकी सिद्धि प्राप्त करना तो दूरकी बात रही। इस ग्रन्थिका नियम एक निश्चित और सीमित उद्देश्यके लिये रचा गया है; वह उद्देश्य है—इस प्राणयुक्त देहमें कुछ कालके लिये मानसिक अहंका भरण-पोषण तथा रक्षण, उसपर स्वत्वस्थापन तथा उसकी वृद्धि, उसका उपभोग और अनुभव, उसकी आवश्यकता और क्रिया। इनके परिणाम-स्वरूप कुछ अन्य प्रयोजन भी सिद्ध हो जाते हैं, पर यह तात्कालिक तथा मूल-निर्धारक लक्ष्य और प्रयोजन है। इससे ऊँचे प्रयोजनकी सिद्धि तथा अधिक स्वतंत्र करणोंकी प्राप्तिके लिये इस ग्रन्थिको कुछ अंशमें छिन्न-भिन्न तथा अतिक्रम करके एक विशालतर सक्रिय समन्वयमें रूपांतरित करना होगा। पुरुष देखता है कि जिस नियमकी रचना की गयी है वह आत्मा और अनात्मा अर्थात् आभ्यन्तरिक सत्ता और बाह्य जगत्-विषयक प्रथम अव्यवस्थित चेतनामेंसे कुछ एक यांत्रिक पर विकासोन्मुख अनुभवोंको चुनकर एक अंशतः स्थिर और अंशतः अस्थिर रूपसे निर्धारित किया हुआ नियम है। इस निर्धारित नियमका मन, प्राण और शरीर पालन करते हैं, इसके लिये वे कभी एक-दूसरेपर सामंजस्य और मेलजोलके साथ क्रिया करते हैं तो कभी विरोध-वैषम्यके साथ तथा एक-दूसरेके कार्यमें हस्तक्षेप करके उसे मर्यादित करते हुए। स्वयं मनकी विविध क्रियाओंमें भी एक ऐसा ही मिश्रित सामंजस्य और असामंजस्य देखनेमें आता है, इसी प्रकार स्वयं प्राण और शरीरकी क्रियाओंमें हम यही बात पाते हैं। यह सब ही एक प्रकारकी

अव्यवस्थित व्यवस्था है, एक ऐसी व्यवस्था है जो सतत रूपसे घेरने और आक्रान्त करनेवाली अव्यवस्थामेंसे विकसित और परिकल्पित की गयी है।

यह पहली कठिनाई है जिसका पुरुषको सामना करना होगा। यह है—विश्व-प्रकृतिकी मिश्रित एवं अव्यवस्थित क्रिया अर्थात् एक ऐसी क्रिया जो स्पष्ट आत्मज्ञान, विशिष्ट उद्देश्य तथा सुदृढ़ साधनसे रहित है, जो इन वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एक प्रयत्नमात्र है तथा जिससे क्रियात्मक रूपमें एक सामान्य और सापेक्ष सफलता ही मिलती है, कुछ दिशाओंमें तो पुरुषको प्रकृतिकी अनुकूलताका एक आश्चर्यजनक परिणाम देखनेमें आता है, पर वहुत-सी दिशाओंमें इसकी अपूर्णताका दु:खकारी परिणाम भी अनुभव होता है। इस मिश्रित एवं अव्यवस्थित क्रियामें संशोधन करना होगा; शुद्धि आत्म-सिद्धिका एक अनिवार्य साधन है। इन सव अशुद्धियों और अपूर्णताओंके परिणामस्वरूप नाना प्रकारकी सीमाओं एवं वंधनोंका जन्म होता है : पर वंधनकी मुख्य ग्रन्थियाँ दो या तीन हैं जिनसे अन्य ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, उनमेंसे प्रधान ग्रन्थि है अहम्। इन सव ग्रन्थियोंसे छुटकारा पाना होगा; शुद्धि तवतक पूर्ण नहीं कही जा सकती जवतक कि वह मुक्तिको साधित न कर दे। अपिच, जव कुछ अंशमें शुद्धि और मुक्ति साधित हो जाय उसके वाद भी शुद्ध हुए करणोंको उच्चतर लक्ष्य एवं प्रयोजनके नियमके अनुरूप, कार्यकी एक विशाल, वास्तविक और पूर्ण व्यवस्थाके अनुसार रूपांतरित करनेका काम शेप रह जाता है। रूपांतरके द्वारा मनुष्य अस्तित्व, शान्ति, शक्ति और ज्ञानके वैभवकी एक प्रकारकी पूर्णता प्राप्त कर सकता है, यहाँतक कि एक अधिक महान् प्राणिक क्रियाशीलता तथा एक अधिक पूर्ण भौतिक जीवन भी प्राप्त कर सकता है। इस पूर्णताका एक परिणाम यह होता है कि उसे सत्ताका विशाल और पूर्ण आनन्द प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शुद्धि, मुक्ति, सिद्धि और भुक्ति (सत्ताका आनन्द)—ये इस योगके चार घटक अंग हैं।

परन्तु यदि पुरुप अपनी व्यक्तिगत सत्तापर वल दे तो यह सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती, अथवा, कम-से-कम, यह सुरक्षित एवं पूर्णतया विशाल नहीं हो सकती। सुतरां, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक अहंके साथ पुरुपने जो तदात्मता स्थापित कर रखी है उसका त्याग करना ही काफी नहीं है; उसे अपनी अंतरात्मामें भी भेदप्रधान नहीं, वरन् वास्तविक एवं विश्वभावापन्न व्यक्तित्वको प्राप्त करना होगा। अपनी निम्न प्रकृतिमें मनुष्य एक 'अहं' है जो अपने-आप तथा अन्य समस्त जगत्के वीच विचारत: एक स्पष्ट भेद-रेखा खींच देता है; उसके लिये अहं ही आत्मा ('स्व')

है, पर शेष सब जगत् अनात्मा ('पर') है, अपनी सत्तासे बाह्य है। उसका संपूर्ण कार्य-व्यापार आत्मा और जगत्-विषयक इसी विचारको लेकर आरंभ होता है तथा इसीपर आधारित है। पर वास्तवमें यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। मानसिक विचार और मानसिक या अन्य प्रकारकी क्रियामें वह अपने-आपको कितने ही तीव्र रूपमें पृथक् व्यक्ति क्यों न स्वीकार करे, फिर भी वह विराट् सत्तासे पृथक् नहीं हो सकता, उसका शरीर विराट् शक्ति एवं उपादान तत्त्वसे, उसका प्राण विराट् प्राणसे, उसका मन विराट् मनसे पृथक् नहीं हो सकता, उसकी अन्तरात्मा एवं आत्मा विराट् पुरुषकी अन्तरात्मा एवं आत्मासे पृथक् नहीं हो सकती। विराट् सत्ता प्रतिक्षण उसपर क्रिया करती है, उसपर आक्रमण करके अपना अधिकार स्थापित कर लेती है, उसके अन्दर अपना रूप गढ़ती है; इसके प्रतिक्रियास्वरूप वह भी विराट् सत्तापर क्रिया करता है, उसपर आक्रमण करके अपना अधिकार जमानेका यत्न करता है, उसका रूप गढ़ने, उसके आक्रमणको विफल करने तथा उसके करणोंको अपने अधिकारमें लाकर उनका प्रयोग करनेकी चेष्टा करता है।

यह संघर्ष एक आधारभूत एकताका परिणाम है। यह एकता आरंभमें हुई पृथक्ताके कारण बाध्य होकर संघर्षका रूप धारण कर लेती है; मानव-मनने एकताको जिन दो खण्डोंमें विभक्त कर रखा है वे एकताको पुनः प्राप्त करनेके लिये एक-दूसरेपर वेगपूर्वक टूट पड़ते हैं और उनमेंसे प्रत्येक पृथक् हुए खण्डको अधिकारमें लाकर अपने अन्दर मिलानेकी चेष्टा करता है। विश्व सदा व्यक्तिको निगल जानेकी चेष्टा करता है, अनन्त इस सान्तको जो अपनी आत्म-प्रतिरक्षाके लिये कटिबद्ध रहता है और यहाँतक कि आक्रमणके द्वारा भी उत्तर देता है, पुनः अपने अन्दर मिला लेनेका यत्न करता जान पड़ता है। पर सच पूछो तो विराट् पुरुष इस दृश्यमान संघर्षके द्वारा मनुष्यके अन्दर अपने ही उद्देश्यको सिद्ध कर रहा है, यद्यपि उद्देश्य और उसकी क्रियान्वितिका रहस्य एवं सत्य मनुष्यके ऊपरी चेतन मनको ज्ञात नहीं है; यह रहस्य एवं सत्य तो केवल आधारगत अवचेतन एकतामें अस्पष्ट रूपसे निहित है तथा केवल अधिशासक अतिचेतन एकतामें ही प्रकाशमान रूपसे ज्ञात है। मनुष्य भी अपने अहंको विस्तृत करनेके अनवरत आवेगके द्वारा एकताकी ओर प्रेरित होता है, उसका अहं अन्य अहम्मय सत्ताओंके साथ तथा विश्वके ऐसे भागोंके साथ, जिन्हें वह भौतिक, प्राणिक और मानसिक रूपसे अपने प्रयोग और अधिकारमें ला सकता है, यथासंभव उत्तम रीतिसे एकता स्थापित करता है। जैसे अपनी सत्ताका

ज्ञान एवं उसपर प्रभुत्व प्राप्त करना मनुष्यका लक्ष्य होता है, वैसे ही चारों ओरके प्राकृतिक जगत्, उसके पदार्थों, करणों तथा जीवोंका ज्ञान एवं प्रभुत्व प्राप्त करना भी उसका लक्ष्य होता है। आरंभमें वह अहंपूर्ण आधिपत्यके द्वारा इस लक्ष्यको सिद्ध करनेका यत्न करता है, पर जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वैसे-वैसे गुप्त एकताके द्वारा उत्पन्न सहानुभूतिका तत्त्व उसके अन्दर बढ़ता जाता है तथा अन्य भूतोंके साथ एक विशाल होते जानेवाले सहयोग एवं एकत्वका और विश्व-प्रकृति एवं विराट् पुरुषके साथ सामंजस्यका भाव उत्पन्न होता है।

मनमें अब स्थित साक्षी पुरुष देखता है कि उसके प्रयत्नकी अक्षमताका और सच पूछो तो मनुष्यके जीवन एवं उसकी प्रकृतिकी समस्त अपूर्णताका कारण है व्यक्तिका मूल स्रोतसे विच्छेद और उसके परिणामस्वरूप होनेवाला संघर्ष, ज्ञानका अभाव, सामंजस्यका अभाव, एकत्वका अभाव। अतएव, उसके लिये यह परमावश्यक है कि वह पृथक् करनेवाले व्यक्तित्वको अतिक्रम करके अपने-आपको विश्वमय बना ले, विश्वके साथ एक हो जाय। यह एकीकरण तभी संपन्न हो सकता है यदि हमारी आत्मा हमारे मनोमय पुरुषको विराट् मनके साथ, हमारे प्राणमय पुरुषको विराट् प्राण-पुरुषके साथ, हमारे अन्नमय पुरुषको भौतिक प्रकृतिकी विराट् अन्नमय चेतनाके साथ एक कर दे। जब हम ऐसा एकत्व साधित कर सकते हैं तब जितनी शक्ति, तीव्रता, गहराई, पूर्णता तथा स्थायिताके साथ हम ऐसा कर सकते हैं, हमारी प्रकृतिके कार्य-व्यापारपर इसके प्रभाव भी उतने ही महान् होते हैं। विशेषकर, मनकी मनके साथ, प्राणकी प्राणके साथ, प्रत्यक्ष और गहरी सहानुभूति एवं इनका एक-दूसरेके साथ प्रत्यक्ष और गहरा मेल बढ़ने लगता है, पृथक्तापर शरीरका आग्रह उत्तरोत्तर कम होता जाता है, प्रत्यक्ष मानसिक तथा अन्य प्रकारके पारस्परिक आदान-प्रदान एवं प्रभावपूर्ण परस्पर-क्रियाकी शक्ति बढ़ती जाती है; यह आदान-प्रदान एवं क्रिया वर्तमान अपूर्ण और अप्रत्यक्ष आदान-प्रदान एवं क्रियाको, जो आजतक देहाधिष्ठित मनके द्वारा प्रयुक्त सचेतन साधनका अधिक बड़ा भाग थी, सहायता पहुँचाती है। किन्तु फिर भी पुरुष देखता है कि यदि मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक प्रकृतिको अकेले अपने-आपमें देखा जाय तो इसमें विश्व-प्रकृतिके तीन गुणोंकी यन्त्रवत् असमान परस्पर-क्रियाके कारण कोई त्रुटि, अपूर्णता एवं अव्यवस्थित क्रिया सदा ही रहती है। इसे अतिक्रम करनेके लिये उसे मन, प्राण और शरीरकी विराट् भूमिकामें पहुँचकर भी वहाँसे विज्ञानमय एवं आध्यात्मिक विराट् पुरुषकी भूमिकातक उठना होगा,

विश्वके विज्ञानमय पुरुष अर्थात् विश्वात्मासे एक होना होगा। वह अपने तथा विश्वके भीतर अवस्थित एक उच्चतर तत्त्वकी विशालतर ज्योति और व्यवस्थाको, जो सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्‌की एक विशिष्ट क्रिया है, प्राप्त कर लेता है। यहाँतक कि वह अपनी प्राकृत सत्तापर भी इस ज्योति और व्यवस्थाका प्रभाव डाल सकता है; इतना ही नहीं, वरन् उसके अन्दर परम आत्माकी जो क्रिया होती है उसके क्षेत्रके अन्तर्गत और उसके प्रमाणके अनुसार वह इस जगत्‌पर जिसमें वह रहता है तथा अपने चारों ओरकी सभी वस्तुओंपर भी इस ज्योति और व्यवस्थाका प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। वह **स्वराट्** अर्थात् आत्मज्ञाता और आत्मशासक होता है, पर इस आध्यात्मिक एकता और परात्परताके द्वारा वह **सम्राट्** अर्थात् अपनी सत्ताके चारों ओरके जगत्‌का ज्ञाता और स्वामी भी बनने लगता है।

इस आत्मविकासमें अंतरात्माको अनुभव होता है कि इस सरणिपर चलकर उसने समग्र पूर्णयोगका लक्ष्य अर्थात् अपनी आत्मा और अपने विश्वभावापन्न व्यक्तित्वमें परमात्माके साथ मिलन साधित कर लिया है। जबतक वह इस जगत्-सत्तामें रहे, इस पूर्णताकी किरणें उसके अन्दरसे फूटती रहनी चाहियें,—क्योंकि यह तो जगत् और इनके प्राणियोंके साथ उसके एकत्वका एक आवश्यक परिणाम है। यह पूर्णता उसके चारों ओरके लोगोंमें एक ऐसे प्रभाव और कार्यके रूपमें विकीर्ण होनी चाहिये जो इसे पानेके योग्य सभी लोगोंको इसीकी ओर उठने या बढ़नेमें सहायक हों। और, शेष लोगोंके लिये यह एक ऐसे प्रभाव और कार्यके रूपमें प्रसृत होनी चाहिये जो मानवजातिको इस सर्वोच्च सिद्धिकी ओर तथा मनुष्योंके वैयक्तिक और सामाजिक जीवनमें एक महत्तर दिव्य सत्यकी किसी प्रतिमूर्तिकी ओर आध्यात्मिक रूपसे आगे ले जानेमें सहायता पहुँचावें, जैसा कि कोई विरला 'स्वराट्' और 'सम्राट्' व्यक्ति ही कर सकता है। ऐसा मनुष्य जिस सत्यतक स्वयं आरोहण कर चुका है उसकी एक ज्योति एवं शक्तिका रूप धारण कर लेता है तथा दूसरे लोगोंके आरोहणके लिये एक साधन बन जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

आत्माके करण

यदि हमें अपनी सत्ताकी सक्रिय पूर्णता प्राप्त करनी हो तो पहली आवश्यक बात यह है कि जिन करणोंका प्रयोग हमारी सत्ता आज बेसुरे रागके लिये करती है उनकी क्रियाको शुद्ध किया जाय। स्वयं सत्ता किंवा आत्माको, मनुष्यमें अवस्थित दिव्य सद्वस्तुको शुद्धिकी कोई आवश्यकता नहीं; वह तो सदासे शुद्ध है; उपनिषद् कहती है कि जैसे सूर्य देखनेवाली आँखके दोषोंसे प्रभावित या लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा अपने करणोंकी त्रुटियोंसे या मन, हृदय और शरीरके अपने कार्यगत स्खलनोंसे प्रभावित नहीं होती। मन, हृदय, प्राणिक-कामनामय पुरुष और देहस्थित प्राण अशुद्धिके घर हैं; अतएव, यदि हम चाहते हैं कि आत्मा अपना कार्य-व्यापार पूर्णतः निर्दोष रीतिसे करे तथा इस समय यह निम्न प्रकृतिके भ्रांतिपूर्ण सुखको जो न्यूनाधिक स्वीकृति प्रदान करती है उसकी छाप इसके कार्यपर न रहने पाये तो हमें इसके मन, हृदय आदि करणोंको ही शुद्ध करना होगा। साधारणतः जिसे सत्ताकी शुद्धि कहा जाता है वह एक अभावात्मक शुभ्रता एवं पापमुक्तता होती है; उसकी प्राप्ति हमें इस प्रकार होती है कि जिस भी कार्य, भाव, विचार या संकल्पको हम अशुद्ध समझते हैं उसका हम वारंवार नियंत्रण करते हैं। या फिर संपूर्ण जगत्को प्रभुमय देखना, कर्मका अभाव, क्रियाशील मन और कामनामय पुरुषको पूर्णरूपेण शान्त कर देना जो निवृत्तिमार्गी साधनाओंमें परम शान्ति प्राप्त करनेका साधन है—इन सबको ही साधारणतः हमारी सत्ताकी शुद्धि, सर्वोच्च अभावात्मक या निष्क्रिय शुद्धि, कहा जाता है; क्योंकि तब आत्मा अपने निर्मल सार तत्त्वके संपूर्ण सनातन शुद्ध स्वरूपमें प्रकट हो उठता है। इस शुद्ध आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति हो जानेपर उपभोग करने या संपन्न करनेके लिये और कुछ भी शेष नहीं रह जायगा। परन्तु इस योगमें हमारे सामने एक अधिक कठिन समस्या उपस्थित है, वह यह कि हमें अपने कर्ममें किसी प्रकारकी कमी किये विना उसे समग्र रूपमें, यहाँतक कि पहलेसे अधिक विशाल और शक्तिशाली रूपमें, करना है, एक ऐसा कर्म करना है जो सत्ताके पूर्ण आनन्दपर, अन्तरात्माके करणोंकी प्रकृति तथा आत्माकी मूल

प्रकृतिकी विशुद्धतापर प्रतिष्ठित हो। मन, हृदय, प्राण और शरीरको भगवान्‌के कार्योंको करना है, जिन कार्योंको वे इस समय करते हैं उन सभीको और उनसे भी अधिक कार्योंको, पर करना है दिव्य ढंगसे जैसा कि इस समय वे नहीं करते। पूर्णताके अन्वेषकको यह भलीभाँति हृदयंगम कर लेना होगा कि उसके सामने जो समस्या है उसका प्रमुख रूप यही है कि उसका लक्ष्य अभावात्मक, निषेधक, निष्क्रिय या शान्तिमय पवित्रता नहीं, वल्कि भावात्मक, विधेयात्मक तथा सक्रिय पवित्रता प्राप्त करना है। दिव्य शान्तिसे उसे परमात्माके परम पवित्र सनातन स्वरूपकी उपलब्धि होती है, दिव्य क्रियाशीलता इस उपलब्धिमें अंतरात्मा, मन और शरीरकी सत्य, विशुद्ध एवं अस्खलनशील क्रियाको भी जोड़ देती है।

अपिच, सर्वांगीण सिद्धि हमसे जिस शुद्धिकी माँग करती है वह समस्त जटिल करणोंकी, प्रत्येक करणके सभी भागोंकी पूर्ण शुद्धि ही है। अन्तिम रूपसे देखा जाय तो यह नैतिक प्रकृतिकी अधिक संकीर्ण नैतिक शुद्धि नहीं है। *नैतिकताका संवंध केवल हमारे कामनामय पुरुषसे तथा हमारी सत्ताके* सक्रिय वाह्य शक्तिप्रधान भागसे ही है; इसका क्षेत्र चरित्र और कर्मतक ही सीमित है। यह कुछ-एक विशेष कार्यों, विशेष कामनाओं, आवेगों तथा प्रवृत्तियोंका निषेध एवं दमन करती है,—यह कार्यमें कुछ-एक विशेष गुणोंको, जैसे सत्य, प्रेम, उदारता, करुणा तथा ब्रह्मचर्यको अपनानेकी शिक्षा देती है। जव यह हमारी सत्तामें इतना कार्य सिद्ध करा लेती है और पुण्य कर्मका एक सुनिश्चित आधार करा लेती है, अर्थात् जव हम शुद्ध संकल्प तथा कार्य करनेके निर्दोष स्वभावसे संपन्न हो जाते हैं तो इस (नैतिकता) का कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु सर्वांगीण सिद्धिसे संपन्न सिद्धको शुभ और अशुभसे परे परमात्माकी सनातन पवित्रताके विशालतर स्तरमें निवास करना होगा। उतावलीसे परिणाम निकालनेवाली अविवेक-पूर्ण वुद्धि "शुभ और अशुभसे परे" इस उक्तिका अर्थ अपनी ही कल्पनासे ऐसा करनेमें प्रवृत्त होगी कि सिद्ध पुरुष शुभ और अशुभ कार्योंको उदासीन भावसे करेगा तथा यह घोषणा करेगा कि आत्माके निकट इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है; वैयक्तिक कर्मके क्षेत्रमें यह अर्थ स्पष्टतः ही असत्य होगा और संभवतः अपूर्ण मानव-प्रकृतिकी स्वच्छन्द भोगवृत्तिपर पर्दा डालनेका काम करेगा, पर असलमें इस उक्तिका अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि चूंकि शुभ और अशुभ इस जगत्‌में एक-दूसरेके साथ सुख और दुःखके समान अविच्छेद्य रूपमें उलझे हुए हैं,—यह एक ऐसी स्थापना है जो इस समय कैसी भी सच्ची क्यों न हो तथा एक व्यापक

सिद्धान्तके रूपमें कितनी भी युक्तियुक्त क्यों न दीखती हो, तो भी महत्तर आध्यात्मिक विकासको प्राप्त हुए मनुष्यके बारेमें इसका सच्चा होना आवश्यक नहीं,—अतएव, मुक्त व्यक्ति आत्मामें निवास करेगा और अनिवार्यतः—अपूर्ण प्रकृतिकी सतत यांत्रिक क्रियाओंसे पीछे हटकर अपने अन्दर ही स्थित रहेगा। यह समस्त कार्य-व्यापारके अंतिम निरोधकी दिशामें एक अवस्थाके रूपमें भले ही संभव हो, पर स्पष्टतः ही, यह सक्रिय सिद्धिका आदर्श तो नहीं है। परन्तु शुभ और अशुभसे परे होनेका अर्थ यह है कि सर्वांगीण सक्रिय सिद्धिसे संपन्न सिद्ध व्यक्ति भागवत आत्माकी परात्पर शक्तिकी क्रियामें सक्रिय रूपसे जीवन धारण करेगा। यह शक्ति ऐसे सिद्ध पुरुषके अन्दर अपने कार्यके लिये अतिमानसको व्यक्तिभावापन्न रूप देकर इसके द्वारा विराट् संकल्प-शक्तिके रूपमें कार्य करती है। अतएव, ऐसे सिद्ध पुरुषके कर्म सनातन ज्ञान, सनातन सत्य, सनातन शक्ति, सनातन प्रेम और सनातन आनन्दके कर्म होंगे; किन्तु वह जो भी कार्य करेगा, सत्य, ज्ञान, शक्ति, प्रेम और आनन्द उस कार्यका सम्पूर्ण मूल भाव होंगे और ये सब तत्त्व उस कार्यके बाह्य रूपपर निर्भर नहीं करेंगे; ये ही अन्तःस्थ भावात्मासे उसके कार्यका निर्धारण करेंगे, पर कार्य भावात्माका निर्धारण नहीं करेगा, न ही यह इसे काम करनेके किसी नियत आदर्श या कठोर साँचेके अनुसार ढालेगा। उसके अन्दर किसी निरे चारित्रिक अभ्यासका प्रभुत्व नहीं होगा, बल्कि होगा केवल आध्यात्मिक अस्तित्व एवं संकल्प जिसके साथ बहुत हुआ तो कार्यके लिये एक स्वतंत्र एवं नमनीय स्वभावात्मक साँचा भी रहेगा। उसका जीवन सीधे ही सनातन स्रोतसे निकलते हुए एक प्रवाहके समान होगा, यह कोई ऐसा रूप नहीं होगा जो किसी अस्थायी मानवीय साँचेके अनुसार गढ़ा गया हो। उसकी पूर्णता किसी प्रकारकी सात्विक शुद्धि नहीं होगी, बल्कि एक ऐसी चीज होगी जो प्रकृतिके गुणोंसे ऊपर उठी होगी, अध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक आनन्द, एकत्व तथा तज्जनित सामंजस्यकी पूर्णता होगी; उसके कर्मोंकी बाह्य पूर्णता इस आंतर आध्यात्मिक परात्परता और विश्वमयताकी अभिव्यक्तिके रूपमें स्वतंत्रतापूर्वक गठित होगी। इस परिवर्तनके लिये उसे अपने भीतर आत्मा और अतिमानसकी उस शक्तिको सचेतन करना होगा जो इस समय हमारे मनके लिये अतिचेतन है। परन्तु यह शक्ति उसके अन्दर अपना कार्य तबतक नहीं कर सकती जबतक उसकी वर्तमान मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक सत्ता अपनी प्रकृत निम्न क्रियासे मुक्त न हो जाय। अतएव, निम्न सत्ताकी इस प्रकारकी शुद्धि करना सबसे पहले आवश्यक है।

दूसरे शब्दोंमें, हमें शुद्धिका कोई ऐसा सीमित अर्थ नहीं लेना चाहिये कि किन्हीं वाह्य रजोगुणी चेष्टाओंको चुनकर उन्हें नियमित करना, अन्य सब कार्योंका निषेध करना अथवा चरित्रके कुछ-एक रूपों या किन्हीं विशेष मानसिक एवं नैतिक क्षमताओंको उन्मुक्त करना—इसीका नाम शुद्धि है। ये चीजें तो हमारी निर्मित सत्ताके गौण लक्षण हैं, मूलभूत शक्तियाँ एवं प्रमुख बल नहीं। हमें अपनी प्रकृतिकी मौलिक शक्तियोंके विषयमें एक अधिक विशाल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होगा। हमें अपनी सत्ताके गठित भागोंको मूल सत्तासे पृथक् रूपमें स्पष्टतया जानना होगा, उनकी अशुद्धता या अशुद्ध क्रिया-रूपी मूल त्रुटिको ढूँढ़कर सुधारना होगा, यह निश्चय रखते हुए कि शेष सब फिर स्वभावतः ही ठीक हो जायगा। हमारा कर्तव्य अशुद्धताके बाह्य लक्षणोंका निदान करना नहीं है, अथवा यदि यह कार्य करना भी हो तो केवल गौणतया, एक सामान्य सहायक साधनके रूपमें ही करना होगा,—पर हमारा मुख्य कार्य है इसका बहुत गहरा निदान करके इसकी जड़ोंपर कुठाराघात करना। गहरा निदान करनेपर हमें पता चलता है कि अशुद्धताके दो रूप हैं जो संपूर्ण अव्यवस्थाकी जड़ हैं। उनमेंसे एक तो वह है जिसे हमारे अतीत विकासके स्वरूपसे अर्थात् भेदमूलक अज्ञानके स्वरूपसे उत्पन्न हुई त्रुटि कह सकते हैं; अपनी करणात्मक सत्ताके प्रत्येक भागकी विशिष्ट क्रियाको हम जो मूलतः अयथार्थ एवं अज्ञानमय रूप दे देते हैं वही इस त्रुटि या अशुद्धताका स्वरूप है। दूसरी अशुद्धता विकासकी क्रमिक प्रक्रियासे उत्पन्न होती है, क्योंकि इस प्रक्रियामें प्राण शरीरमें प्रकट होता है तथा उसीपर निर्भर करता है, अति-मानस मनमें उद्भूत होता है तथा उसपर शासन करनेके स्थानपर उसीका सहायक बन जाता है, स्वयं अंतरात्मा भी मनोमय प्राणीके शारीरिक जीवनकी एक घटनाके रूपमें ही प्रतीत होता है और आत्माको निम्नतर अपूर्णताओंमें ढक देता है। हमारी प्रकृतिकी यह दूसरी त्रुटि निम्नतर भागोंके प्रति उच्चतर भागोंकी इस अधीनतासे उत्पन्न होती है; यह (त्रुटि) कार्योंका एक प्रकारका मिश्रण (धर्मसंकर) ही है जिसके द्वारा निम्न करणकी अशुद्ध क्रिया उच्चतर करणकी विशिष्ट क्रियामें घुस जाती है और इसके अन्दर जटिलता, अशुद्ध दिशा एवं अव्यवस्था-रूपी एक और अपूर्णताकी वृद्धि कर देती है।

इस प्रकार जीवन-तत्त्व किंवा प्राणशक्तिकी अपनी विशिष्ट क्रिया उपभोग और प्राप्ति है, ये दोनों ही चीजें पूर्णतया उचित हैं, क्योंकि परमात्माने जगत्की रचना आनन्दके लिये ही की थी। आनन्दका मतलब है

एकके द्वारा वहुका, वहुके द्वारा एकका तथा वहुके द्वारा वहुका उपभोग एवं उसकी प्राप्ति; पर भेदजनक अज्ञान इस आनन्दको कामना एवं वासनाका असत्य रूप दे देता है, यह कामना एवं वासना समस्त उपभोग एवं प्राप्तिको कलुषित करके इसपर इसके विरोधी रूपों अर्थात् अभाव और दुःखको थोप देती है—यह पहले प्रकारकी त्रुटि (अशुद्धि) का उदाहरण है। फिर, क्योंकि मन जिस प्राणमेंसे विकसित होता है उसीमें उलझ जाता है, यह कामना और वासना मानसिक संकल्प और ज्ञानकी क्रियामें मिश्रित हो जाती हैं; यह मिश्रण संकल्पको वुद्धि-नियत संकल्पके और वुद्धिमत्तापूर्ण परिणाम उत्पन्न करनेमें सक्षम विवेकपूर्ण शक्तिके स्थानपर वासनामय संकल्प एवं कामनामय शक्ति वना देता है, और यह निर्णय-शक्ति तथा तर्कबुद्धिको विकृत कर देता है। परिणामतः हम अपनी कामनाओं और पूर्व धारणाओंके अनुसार ही निर्णय और तर्क-वितर्क करते हैं न कि शुद्ध निर्णय-शक्तिकी निःस्वार्थ निष्पक्षता तथा एक ऐसी वुद्धिकी यथार्थताके साथ जो केवल सत्यको स्पष्ट रूपमें जानना तथा इसकी क्रियाओंके लक्ष्योंको ठीक-ठीक समझना चाहती है। यह मिश्रणका एक उदाहरण है। ये दो प्रकारकी त्रुटियाँ, अर्थात् क्रियाका अशुद्ध रूप और क्रियाका अनुचित मिश्रण, इन विशेप दृष्टान्तोंतक ही सीमित नहीं हैं; वल्कि सभी करणोंसे तथा उनकी क्रियाओंके प्रत्येक मिश्रणसे संवंध रखती हैं। ये हमारी प्रकृतिकी संपूर्ण मितव्ययतापूर्ण व्यवस्थामें ओतप्रोत हैं। ये हमारी निम्नतर करणात्मक प्रकृतिकी मूलभूत त्रुटियाँ हैं, और यदि हम इन्हें सुधार सकें, तो हमारी करणात्मक सत्ता अपनी शुद्ध स्थितिमें पहुँच जायगी और हम शुद्ध संकल्पकी निर्मलता तथा शुद्ध भावमय हृदयका, अपने प्राणके शुद्ध भोग एवं शुद्ध कायाका आनन्दोपभोग करेंगे। यह प्रारंभिक अर्थात् मानवीय पूर्णता होगी, पर इसे दिव्य पूर्णताका आधार वनाया जा सकता है तथा आत्मोपलव्धिके प्रयत्नमें यह एक महत्तर एवं दिव्य पूर्णताकी ओर खुल सकती है।

मन, प्राण और शरीर हमारी निम्न प्रकृतिकी तीन शक्तियाँ हैं। परन्तु इन्हें विलकुल पृथक्-पृथक् रूपमें नहीं लिया जा सकता, क्योंकि प्राण एक जोड़नेवाली कड़ीके रूपमें कार्य करता है और शरीरको तथा एक वड़ी हदतक हमारे मनको भी अपना स्वभाव दे देता है। हमारा शरीर एक प्राणयुक्त शरीर है; प्राण-शक्ति इसकी सभी क्रियाओंमें मिल जाती है तथा उन्हें निर्धारित करती है। हमारा मन भी अधिकांशमें प्राणप्रधान मन है जो भौतिक संवेदनको ही ग्रहण करता है; अपने उच्चतर व्यापारोंमें ही यह स्वाभाविक रूपसे, प्राणग्रस्त स्थूल मनकी क्रियाओंसे अधिक वड़ी कोई

क्रिया कर सकता है। इन करणोंको हम इस चढ़ती हुई क्रम-श्रृंखलामें रख सकते हैं। सबसे पहले है हमारा शरीर जिसे भौतिक प्राणशक्ति अर्थात् स्थूल प्राण धारण किये है; यह प्राण संपूर्ण स्नायुमण्डलमें गति करता है और हमारे शरीरके कार्यपर अपनी छाप लगा देता है। परिणाम-स्वरूप, इसके सभी कार्य किसी जड़-यांत्रिक शरीरकी नहीं, बल्कि एक सजीव शरीरकी क्रियाका स्वभाव धारण किये रहते हैं। प्राण और भौतिक सत्ता इन दोनोंके मेलसे स्थूल शरीर बनता है। यह केवल बाह्य करण है, इसमें प्राणकी स्नायविक शक्ति स्थूल-भौतिक इन्द्रियोंसे युक्त शरीरके रूपमें कार्य करती है। इसके बाद आता है आभ्यन्तरिक करण, **अन्तःकरण,** चेतन मन। प्राचीन दर्शनमें इस अन्तःकरणको चार शक्तियोंमें विभक्त किया गया है; **चित्त** या आधारभूत मानसिक चेतना; **मन** अर्थात् इन्द्रियाश्रित मन; **बुद्धि; अहंकार** अर्थात् अहं-भावना। यह वर्गीकरण आरम्भविन्दुका काम कर सकता है, यद्यपि एक अधिक महान् क्रियात्मक प्रयोजनके लिये हमें कुछ और भेद करने होंगे। यह मन प्राणशक्तिसे व्याप्त है जो कि सूक्ष्म प्राणमय चेतनाके लिये तथा प्राणपर सूक्ष्म क्रियाके लिये यहाँ एक यन्त्र बनकर रहती है। इन्द्रियाश्रित मन और आधारभूत चेतना (चित्त)का एक-एक रेशा इस सूक्ष्म प्राणकी क्रियासे ओतप्रोत है, यह स्नायविक या प्राणिक एवं भौतिक मन है। यहाँतक कि बुद्धि और अहंकार भी इस प्राणसे अभिभूत हैं, यद्यपि इनके अन्दर मनको इस प्राणिक, स्नायविक एवं स्थूल-मानसिक भूमिकाके बंधनसे ऊपर उठानेकी शक्ति विद्यमान है। यह स्थूल तथा सूक्ष्म प्राण, चित्त और इन्द्रियाश्रित मन मिलकर हमारे अन्दर संवेदनप्रधान कामनामय पुरुषको जन्म देते हैं; यह कामनामय पुरुष उच्चतर मानवीय पूर्णता तथा इससे भी महान् दैवी पूर्णताकी प्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है। अन्तमें, हमारे वर्तमान चेतन मनके ऊपर एक गुह्य अतिमानस है जो इस दिव्य पूर्णताका वास्तविक साधन एवं निज धाम है।

चित्त अर्थात् आधारभूत चेतना अधिकांशमें अवचेतन है; इसकी, प्रकट और गुप्त, दो प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं, उनमेंसे एकमें यह निष्क्रिय या ग्रहणशील होता है और दूसरीमें सक्रिय या प्रतिक्रियाशील एवं रचनाकारी। एक निष्क्रिय शक्तिके रूपमें यह सभी बाह्य स्पर्शोंको ग्रहण करता है, उनको भी जिनका अनुभव मनको नहीं होता या जिनकी ओर वह ध्यान नहीं देता। उन सब स्पर्शोंको यह निष्क्रिय अवचेतन स्मृतिके वृहत् भण्डारमें संचित कर रखता है। मन एक सक्रिय स्मृति-शक्तिके रूपमें इस भण्डारमेंसे

उन्हें प्राप्त कर सकता है। पर साधारणतः मन इसमेंसे उसी चीजको ग्रहण करता है जिसे इसने उसके प्रथम स्पर्शके समय ध्यानपूर्वक देखा और समझा था,—जिसे इसने अच्छी तरह देखा तथा ध्यानपूर्वक समझा था उसे तो अधिक आसानीसे ग्रहण करता है और जिसे इसने ध्यानपूर्वक नहीं देखा था या अच्छी तरह नहीं समझा था उसे कम आसानीसे; साथ ही, चेतनाके अन्दर यह शक्ति भी है कि सक्रिय मनने जिस चीजको बिलकुल ही नहीं देखा था या जिसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था अथवा जिसे सचेत रूपमें अनुभवतक नहीं किया था उसे भी यह प्रयोगके लिये उपरितलपर मनके पास भेज सकती है। यह शक्ति उन असामान्य अवस्थाओंमें ही प्रत्यक्ष रूपसे कार्य करती है जब अवचेतन चित्तका कोई भाग मानो ऊपरी तलपर आ जाता है अथवा जब हमारे अन्दरकी प्रच्छन्न सत्ता प्रकट होकर मनकी ड्योढ़ीपर आ खड़ी होती है और कुछ समयके लिये मनके बाह्य प्रकोष्ठकी हलचलमें कुछ भाग लेती है जहाँ कि बाह्य जगत्‌के साथ हमारा सीधा व्यवहार एवं आदान-प्रदान चलता है और अपने साथ हमारे आभ्यंतरिक व्यवहार उपरितलपर प्रस्फुटित होते हैं। स्मृति-शक्तिकी यह क्रिया संपूर्ण मानसिक व्यापारके लिये इतनी मौलिक रूपसे आवश्यक है कि कभी-कभी यह कहा जाता है—स्मरणशक्ति ही मनुष्य है। यहाँतक कि शरीर और प्राणकी अवमानसिक क्रियामें भी, जो चेतन मनके नियंत्रणमें न रहती हुई भी इस अवचेतन चित्तकी क्रियासे परिपूर्ण है, एक प्रकारकी प्राणिक एवं शारीरिक स्मृति कार्य करती है। प्राण और शरीरके अभ्यास अधिकांशमें इस अवमानसिक स्मरणशक्तिके द्वारा ही निर्मित होते हैं। इस कारण इन्हें चेतन मन और संकल्पकी अधिक शक्तिशाली क्रियाके द्वारा अनिश्चित सीमातक बदला जा सकता है, पर ऐसा तभी हो सकता है जब चेतन मन एवं संकल्प विकसित होकर प्राणिक और शारीरिक कार्यके नये नियमके लिये आत्माके संकल्पको अवचेतन चित्ततक पहुँचानेका साधन प्राप्त करनेमें सफल हो जाय। अपिच, हमारे प्राण और शरीरकी संपूर्ण रचनाका वर्णन इस रूपमें किया जा सकता है कि यह आदतोंका गट्ठर है। ये आदतें अतीत प्राकृतिक विकाससे निर्मित हुई हैं और इस गुप्त चेतनाकी सुस्थिर स्मृतिके द्वारा एक साथ सुरक्षित रखी गयी हैं। क्योंकि, प्राण और शरीरके समान चित्त अर्थात् चेतनाका मौलिक उपादान भी विश्व-प्रकृतिमें सर्वत्र व्याप्त है, पर जड़ात्मक प्रकृतिमें यह अवचेतन और यांत्रिक है।

किन्तु वास्तवमें मन या अन्तःकरणकी समस्त क्रिया इस चित्त या आधारभूत चेतनामेंसे उद्भूत होती है, यह चेतना हमारे सक्रिय मनके लिये

कुछ अंशमें तो चेतन है और कुछ अंशमें अवचेतन या प्रच्छन्न। जब इसपर बाहरसे जगत्के संपर्कोंका आघात पड़ता है अथवा जब यह स्वानुभवात्मक अन्त:सत्ताकी चिन्तनात्मक शक्तियोंसे प्रेरित होती है तो यह कुछ विशेष प्रकारकी अभ्यस्त क्रियाओंको उपरितलपर फेंकती है। इन क्रियाओंका साँचा हमारे विकासके द्वारा निर्धारित हुआ होता है। क्रियाके इन रूपोंमेंसे एक है भावप्रधान मन,—सुविधाजनक संक्षेपके लिये हम इसे हृदय कह सकते हैं। हमारे भावावेग प्रतिक्रिया और प्रत्युत्तरकी तरंगें, **चित्तवृत्तियाँ,** हैं जो आधारभूत चेतनासे उठती हैं। उनकी क्रिया भी अधिकांशमें अभ्यास और भावमय स्मृतिके द्वारा नियंत्रित होती है। वे कोई अलंघ्य सत्य नहीं हैं, अटल नियम नहीं हैं; हमारी भावमय सत्ताका ऐसा एक भी नियम नहीं है जो हमारे लिये वस्तुत: अनिवार्य हो तथा जिसके अधीन होनेके सिवा हमारे लिये और कोई चारा न हो; हम इस बातके लिये बाध्य नहीं हैं कि मनपर पड़नेवाले अमुक आघातोंके प्रति शोकके रूपमें प्रतिक्रिया करें तथा अमुक आघातोंके प्रति क्रोधके रूपमें, किन्हीं अन्य आघातोंके प्रति घृणा या विद्वेषके रूपमें प्रतिक्रिया करें एवं किन्हीं औरके प्रति पसन्दगी या प्रेमके रूपमें। ये सब चीजें तो हमारे भावना-प्रधान मनके अभ्यासमात्र हैं; इन्हें आत्माके सचेतन संकल्पके द्वारा बदला जा सकता है; इनका दमन किया जा सकता है; यहाँतक कि हम शोक, क्रोध एवं घृणाके प्रति तथा रुचि और अरुचिके द्वन्द्वके प्रति समस्त अधीनतासे सर्वथा ऊपर भी उठ सकते हैं। इन चीजोंके दास हम तभीतक रहते हैं जबतक हम भावप्रवण मनमें होनेवाली चित्तकी यांत्रिक क्रियाके अधीन बने रहते हैं, पर यह एक ऐसी क्रिया है जिससे मुक्त होना अतीत अभ्यासकी शक्तिके कारण और विशेषकर मनके प्राणिक भाग अर्थात् स्नायविक प्राणप्रधान मन या सूक्ष्म प्राणके अति दृढ़ आग्रहके कारण कठिन है। भावप्रधान मनकी यह प्रकृति चित्तकी एक प्रकारकी प्रतिक्रिया ही है, इसमें वह स्नायविक प्राण-संवेदनोंपर और सूक्ष्म प्राणकी प्रतिक्रियाओंपर एक प्रकारसे घनिष्ठ रूपमें निर्भर करता है, उसकी यह प्रकृति एक इतनी विशिष्ट प्रकृति है कि कुछ भाषाओंमें उसे चित्त और प्राण, हृदय एवं प्राणमय पुरुष कहा जाता है। नि:सन्देह, वह कामनामय पुरुषकी एक अत्यंत प्रत्यक्षत: उत्तेजक तथा प्रबलतया आग्रहपूर्ण क्रिया है जिसे प्राणिक कामना और प्रतिक्रियाशील चेतनाके मिश्रणने हमारे अन्दर जन्म दिया है। किन्तु फिर भी सच्चा भावप्रधान पुरुष, हमारे अन्दरका सच्चा चैत्य, कोई कामनामय पुरुष नहीं, बल्कि शुद्ध प्रेम और आनन्दसे युक्त पुरुष है;

पर हमारी शेष सच्ची सत्ताके समान वह भी तभी प्रकट हो सकता है जब कामनामय जीवनके द्वारा उत्पन्न विकृति ऊपरी सतहपरसे मिट जाय और पहलेकी तरह हमारी सत्ताकी एक विशिष्ट क्रिया न रहे। इस कार्यको संपन्न कराना हमारी शुद्धि, मुक्ति और सिद्धिका एक आवश्यक अंग है।

सूक्ष्म प्राणकी स्नायविक क्रिया हमारे शुद्ध संवेदनात्मक मनमें अत्यंत प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत होती है। यह स्नायविक मन वस्तुतः अन्तःकरणकी समस्त क्रियाका पीछा करता है और बहुधा संवेदनसे भिन्न अन्य मानसिक क्रियाओंके अधिक बड़े अंशका निर्माण करता प्रतीत होता है। भावावेगोंपर यह विशेष रूपसे आक्रमण करता है और उनपर प्राणकी छाप लगा देता है; यहाँतक कि भय भावावेगकी अपेक्षा कहीं अधिक एक स्नायविक संवेदन है, क्रोध अधिकांशमें या बहुधा ही एक संवेदनात्मक प्रत्युत्तर होता है जो भावावेशके रूपमें परिणत हो जाता है। अन्य भाव अधिकांशमें हृदयके अर्थात् अधिक अंतरीय होते हैं, पर वे सूक्ष्म प्राणकी स्नायविक और भौतिक लालसाओं या आवेगपूर्ण वहिर्मुखी प्रवृत्तियोंके साथ संवंध जोड़ लेते हैं। प्रेम हृदयका एक आवेग है और एक शुद्ध भाव हो सकता है,—क्योंकि हम देहाधिष्ठित मन हैं, समस्त मानसिक क्रियाको जीवनपर किसी प्रकारका प्रभाव तथा शरीरके उपादान-तत्त्वमें कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न करनी ही चाहिये, यहाँतक कि विचार भी कोई ऐसा प्रभाव एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, पर यह आवश्यक नहीं कि वे प्रभाव और प्रतिक्रिया इसी कारणवश भौतिक ढंगके ही हों,—किन्तु हृदयका प्रेम शरीरमें रहनेवाली प्राणिक कामनाके साथ सहजमें ही संवंध स्थापित कर लेता है। इस भौतिक तत्त्वको शारीरिक कामनाके प्रति उस दासतासे जिसे कामवासना कहते हैं, मुक्त एवं शुद्ध किया जा सकता है, यह एक ऐसा प्रेम वन सकता है जो शरीरका प्रयोग भौतिक तथा मानसिक एवं आध्यात्मिक समीपताके लिये करे; पर यह भी संभव है कि प्रेम अपने-आपको सब चीजोंसे, यहाँतक कि अत्यन्त निर्दोप भौतिक तत्त्वसे भी या इसकी छायाके सिवा सभी चीजोंसे पृथक् करके आत्माके साथ आत्मा एवं चैत्यके साथ चैत्यके मिलनके लिये एक शुद्ध क्रिया वन जाय। तथापि संवेदनप्रधान मनका अपना विशेप धर्म भावावेश नहीं है, वल्कि सचेतन स्नायविक प्रत्युत्तर एवं स्नायविक भाव-भावना है, स्थूल इन्द्रिय और शरीरको किसी कार्यके लिये प्रयुक्त करनेका आवेग है, सचेतन प्राणिक लालसा और कामना है। एक पहलू तो है ग्रहणशील प्रत्युत्तरका और दूसरा है शक्तिशाली प्रतिक्रियाका। इन चीजोंका अपना विशेप

स्वाभाविक उपयोग तभी होता है जब उच्चतर मन यांत्रिक रूपसे इनके अधीन न होकर इनकी क्रियाको नियंत्रित एवं व्यवस्थित करता है। किन्तु इससे भी ऊँची अवस्था वह होती है जब ये आत्माके सचेतन संकल्पके द्वारा एक प्रकारका रूपांतर प्राप्त कर लेती हैं; यह संकल्प सूक्ष्म प्राणको उसकी विशिष्ट क्रियाका अशुद्ध या कामनामय रूप नहीं, बल्कि यथार्थ रूप प्रदान करता है।

हमारी साधारण चेतनामें मन अर्थात् इन्द्रियाश्रित मन ज्ञानप्राप्तिके लिये तो वाह्य स्पर्शोंको ग्रहण करनेवाली स्थूल ज्ञानेन्द्रियोंपर निर्भर करता है और इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कार्यके लिये शरीरकी कर्मेन्द्रियोंपर। इन्द्रियोंके स्थूल एवं बाह्य कार्यका स्वरूप भौतिक एवं स्नायविक होता है, और इन्हें सहजमें ही स्नायुओंकी क्रियाके परिणाम-मात्र समझा जा सकता है; प्राचीन ग्रंथोंमें इन्हें कहीं-कहीं **प्राणाः** अर्थात् स्नायविक या प्राणिक क्रियाएँ भी कहा गया है। किन्तु फिर भी उनके *अन्दर जो सारभूत वस्तु है वह कोई स्नायविक उत्तेजना नहीं, वरन् एक* चेतना है अर्थात् चित्तकी एक क्रिया है जो हमारी इन्द्रियका तथा इस इन्द्रिय-रूपी माध्यमसे प्राप्त होनेवाले स्नायविक स्पर्शका उपयोग करती है। मन अर्थात् इन्द्रियाश्रित मन एक ऐसी क्रिया है जो आधारभूत चेतनासे उद्भूत होती है; जिसे हम इन्द्रिय कहते हैं उसका संपूर्ण सारतत्त्व इस क्रियामें ही निहित है। देखना, सुनना, चखना, सूँघना और छूना वास्तवमें शरीरके नहीं मनके गुण हैं; परन्तु स्थूल मन, जिसका हम साधारणतया प्रयोग करते हैं, स्नायुमण्डल तथा स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुए वाह्य स्पर्शोंतक ही अपनेको सीमित रखकर उन्हींको इन्द्रियानुभवका रूप देता है। परन्तु आभ्यन्तरिक मनमें भी देखने, सुनने और विषयके साथ संपर्क स्थापित करनेकी अपने ढंगकी एक सूक्ष्म शक्ति है जो स्थूल इन्द्रियोंपर अवलम्बित नहीं है। अपिच, इसमें स्थूल पदार्थके साथ मनका सीधा संबंध एवं आदान-प्रदान स्थापित करनेकी शक्ति भी है—जो अपनी क्रियाकी पराकाष्ठा होनेपर भौतिक स्तरके भीतर या परेकी वस्तुके अन्तर्निहित तत्त्वोंका बोधतक प्राप्त करा देती है,—इतना ही नहीं, वरन् इसमें मनका मनके साथ सीधा संबंध एवं आदान-प्रदान स्थापित कर देनेकी शक्ति भी है। इन्द्रियोंपर (वाह्य जगत्के) जो आघात होते हैं उनके क्षेत्रको, उनके मूल्यों और वेगोंको मन परिवर्तित, संशोधित तथा नियंत्रित भी कर सकता है। साधारणतया हम मनकी इन शक्तियोंका प्रयोग या विकास नहीं करते; ये अन्तःसत्तामें प्रच्छन्न रहती हैं और एक अनियमित तथा उत्तेजनात्मक

क्रियाके रूपमें कभी-कभी ही उद्भूत होती हैं, कुछ लोगोंके मनमें ये अन्योंकी अपेक्षा अधिक शीघ्रतासे प्रकट होती हैं, या फिर ये सत्ताकी असामान्य अवस्थाओंमें ही ऊपरी सतहपर आती हैं। दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवणशक्ति, विचार और आवेगका स्थानान्तरण, दूरविचार-प्राप्ति, अधिक साधारण प्रकारकी अनेकों गुह्य शक्तियाँ,—इन सबके मूलमें (सूक्ष्म, आभ्यंतर) एक मनकी उक्त शक्तियाँ ही कार्य करती हैं। जिन शक्तियोंको गुह्य कहते हैं उन्हें अधिक अच्छे ढंगसे, एक अपेक्षाकृत कम रहस्यमय रूपमें यों वर्णित किया जाता है कि ये मनकी अद्यावधि प्रच्छन्न क्रियाकी शक्तियाँ हैं। संमोहन-वशीकरणके तथा और भी बहुतसे दृग्विषय इन्द्रियाश्रित मनकी इस प्रच्छन्न क्रियापर आधार रखते हैं, यह मतलब नहीं कि इन दृग्विषयोंके सभी तत्त्वोंका गठन एकमात्र यही क्रिया करती है, पर पारस्परिक संबंध, आदान-प्रदान तथा प्रत्युत्तरका प्रथम आश्रयभूत साधन यही होती है, यद्यपि वास्तविक क्रियाका अधिकांश आंतरिक बुद्धिसे ही संबंध रखता है। भौतिक मन, अतिभौतिक मन—यह दोनों प्रकारका इन्द्रियाधिष्ठित मन हमारे अन्दर है और हम इसका उपयोग कर सकते हैं।

बुद्धि चेतन सत्ताकी एक रचना है जो आधारभूत चित्तमेंसे उत्पन्न हुए अपने आरंभिक रूपोंसे सर्वथा परे है; यह ज्ञान और संकल्पकी शक्तिसे युक्त बुद्धि है। यह मन, प्राण और शरीरकी शेष सब क्रियाओंको अपने हाथमें लेकर उन्हें निष्पन्न करनेका यत्न करती है। यह स्वरूपतः आत्माकी विचार-शक्ति एवं संकल्प-शक्ति है जो मानसिक क्रियाके निम्न रूपमें परिणत हो गयी है। इस बुद्धिकी क्रियाको हम तीन क्रमिक भूमिकाओंमें विभक्त कर सकते हैं। उनमेंसे पहली भूमिका है निम्न बोधात्मक समझ जो इन्द्रियाश्रित मन, स्मरण-शक्ति, हृदय और संवेदनात्मक मनके संदेशोंको केवल ग्रहण और अंकित करती है; समझती और प्रत्युत्तर देती है। इनकी सहायतासे वह एक प्राथमिक चिंतनात्मक मनको जन्म देती है जो इनके द्वारा प्राप्त तथ्योंके परे नहीं जाता, बल्कि अपने-आपको इनके साँचेके अनुसार ढाल लेता है और इनकी पुनरावृत्तियोंको ही गुंजारित करता है, इनके सुझाये हुए विचार और संकल्पके अभ्यस्त घेरेमें ही चक्कर काटता रहता है अथवा, प्राणके सुझावोंके प्रति बुद्धिकी आज्ञानुवर्तिताके साथ, ऐसे किन्हीं भी नये निर्धारणोंका अनुसरण करता है जो उसके बोध और विचारके समक्ष प्रस्तुत हों। इस प्राथमिक बुद्धिका उपयोग तो हम सभी प्रचुर मात्रामें करते हैं; इसके परे बुद्धिके व्यवस्थाकारी या चयनशील विवेक एवं संकल्पकी शक्ति है जिसका कार्य एवं लक्ष्य जीवन-विषयक बौद्धिक

विचारके निमित्त ज्ञान और संकल्पकी एक आपात सत्य, उपयुक्त और सुस्थिर व्यवस्थाको प्राप्त करनेके लिये यत्न करना है।

इस गौण या मध्यवर्ती बुद्धिका स्वरूप अधिक विशुद्ध रूपमें बौद्धिक होनेपर भी, इसका उद्देश्य वस्तुतः व्यावहारिक है। यह एक विशेष प्रकारकी बौद्धिक रचना, ढाँचे एवं नियमका निर्माण करती है जिसके अनुसार यह आभ्यंतरिक एवं बाह्य जीवनको ढालनेका यत्न करती है ताकि यह किसी प्रकारके बुद्धिमूलक संकल्पके प्रयोजनोंके लिये एक प्रकारके प्रभुत्व और अधिकारके साथ उसका (जीवनका) प्रयोग कर सके। यही बुद्धि हमारी सामान्य बौद्धिक सत्ताको हमारे नियत सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक मानदण्ड, हमारी गढ़ी-गढ़ायी सम्मतियाँ तथा विचार एवं उद्देश्यसंबंधी हमारे प्रचलित आदर्शमान प्रदान करती है। यह अत्यधिक विकसित है और सभी मनुष्योंमें एकमात्र विकसित बुद्धिका प्रधान पद ग्रहण करती है। परन्तु इसके परे एक विवेक बुद्धि है, बुद्धिकी एक उच्चतम क्रिया है, जो निष्कामभावसे शुद्ध सत्य और यथार्थ ज्ञानकी खोजमें लगी रहती है; वह जीवन और जगत् तथा हमारी दृश्यमान सत्ताओंके पीछे वास्तविक सत्यको खोजने और अपनी इच्छाशक्तिको सत्यके नियमके अधीन करनेका यत्न करती है। यदि हममेंसे कोई इस उच्चतम बुद्धिका प्रयोग किसी शुद्ध रूपमें कर भी पाते हैं तो वे विरले ही होते हैं, किन्तु इसके लिये प्रयत्न करना अन्तःकरणकी सबसे ऊँची क्षमता है।

बुद्धि वस्तुतः एक मध्यवर्ती भूमिका है; इसके ऊपर एक कहीं अधिक उच्च सत्यमानस है जो हमें इस समय सक्रिय रूपमें उपलब्ध नहीं है, पर जो आत्माका प्रत्यक्ष करण है; इसके नीचे शरीरमें विकसित हुए मानव-मनका स्थूल जीवन है। इसमें ज्ञान और संकल्प-संबंधी जो शक्तियाँ हैं वे इसे महत्तर प्रत्यक्ष सत्य-मानस या अतिमानससे ही प्राप्त होती हैं। बुद्धि अहं-भावनाको ही अपनी मानसिक क्रियाका केन्द्र बनाती है, वह भावना यह है कि मैं यह मन, प्राण और शरीर ही हूँ अथवा इनकी क्रियाके द्वारा निर्धारित एक मनोमय सत्ता हूँ। बुद्धि इस अहंभावनाकी सेवा करती है चाहे यह भावना हमारी अपनी अहंता किंवा अहमात्मक सत्ताके द्वारा सीमित हो अथवा अपने चारों ओरके जीवोंके प्रति हमारी सहानुभूतिके द्वारा विस्तृत हो। एक अहं-बुद्धि पैदा हो जाती है जो शरीर, व्यक्ति-भावापन्न प्राण तथा मानसिक प्रत्युत्तरोंकी भेदजनक क्रियापर अपना आधार रखती है, और बुद्धिमें रहनेवाली अहंभावना इस अहंके विचार, स्वभाव और व्यक्तित्वकी संपूर्ण क्रियाका केन्द्र होती है। निम्न स्तरकी समझ

और मध्यवर्ती बुद्धि अनुभव और आत्म-विस्तार प्राप्त करनेकी इसकी कामनाके यंत्र हैं। परन्तु जब उच्चतम बुद्धि और इच्छाशक्तिका विकास हो जाता है तब हम उस तत्त्वकी ओर मुड़ सकते हैं जिसे ये बाह्य वस्तुएँ उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाके प्रति द्योतित करती हैं। तब अपने 'अहं'को आत्मा, परमात्मा, भगवान् किंवा एकमेव सत्ताके मानसिक प्रतिबिम्बके रूपमें देखा जा सकता है; यह एकमेव सत्ता परात्पर और विश्वमय होनेके साथ-साथ अपने बहुत्वमें व्यक्ति-रूप भी है; जिस चेतनामें ये सब चीजें संयुक्त हो जाती हैं, एक ही सत्ताके पक्ष बनकर अपने यथार्थ संबंधोंको प्राप्त कर लेती हैं, उसे तब इन सब भौतिक तथा मानसिक आवरणोंसे मुक्त करके प्रकट किया जा सकता है। जब हम अतिमानसकी भूमिकामें पहुँचते हैं तब बुद्धिकी शक्तियाँ नष्ट नहीं हो जातीं, बल्कि उन सबको उनके अतिमानसिक मूल्योंमें परिणत कर देना होता है। परन्तु अतिमानसका विवेचन एवं बुद्धिका रूपांतर उच्चतर सिद्धि या दिव्य पूर्णताके प्रश्नसे संबंध रखता है। इस समय हमें मनुष्यकी सामान्य सत्ताकी शुद्धिपर विचार करना है, यह शुद्धि उक्त प्रकारके किसी भी रूपांतरकी तैयारीके रूपमें आवश्यक है तथा हमें अपनी निम्न प्रकृतिके बंधनोंसे मुक्त कराती है।

छठा अध्याय

शुद्धि

निम्नतर मनकी शुद्धि

हमें इन सब करणोंकी जटिल क्रियापर विचार करके इनकी शुद्धि आरंभ करनी होगी। और इसका सबसे सरल उपाय यह होगा कि हम प्रत्येक करणमें विद्यमान दो प्रकारके मौलिक दोषोंपर अपनी दृष्टि एकाग्र कर और उनका मूल स्वरूप स्पष्ट रूपमें समझकर उन्हें सुधारें। परन्तु एक प्रश्न यह भी है कि हम आरंभ कहाँसे करें। क्योंकि, हमारे करण एक-दूसरेके साथ अत्यधिक उलझे हुए हैं तथा किसी एक करणकी पूर्ण शुद्धि अन्य सब करणोंकी पूर्ण शुद्धिपर भी निर्भर करती है, और यह कठिनाई, निराशा तथा परेशानीका एक बड़ा कारण है,—उदाहरणार्थ, जब हम समझते हैं कि हमने बुद्धिको शुद्ध कर लिया है, तब हम यही पाते हैं कि यह अभी भी अशुद्धताओंसे आक्रान्त तथा आच्छन्न हो जाती है, क्योंकि हृदयके भावावेश और संकल्पशक्ति तथा संवेदनात्मक मन अभी भी निम्न प्रकृतिकी अनेक अशुद्धताओंसे प्रभावित हो जाते हैं तथा वे अशुद्धियाँ आलोकित बुद्धिमें पुनः घुस जाती हैं और हम जिस शुद्ध सत्यकी खोज कर रहे हैं उसका प्रतिबिंब इसे ग्रहण नहीं करने देतीं। पर, दूसरी ओर, इस अवस्थाका लाभ यह होता है कि जब एक महत्वपूर्ण करण पर्याप्त शुद्ध हो जाता है तो उसका उपयोग दूसरे करणोंकी शुद्धिके साधनके रूपमें किया जा सकता है, यदि एक पग दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ा लिया जाय तो उससे अन्य सब पगोंका उठाना अधिक आसान हो जाता है तथा अनेकों कठिनाइयोंसे भी छुटकारा प्राप्त हो जाता है। तो फिर वह कौन-सा करण है जो अपनी शुद्धि और पूर्णताके द्वारा शेष करणोंकी पूर्णताको अत्यंत सुगम एवं प्रभावशाली रूपमें साधित कर सकता है अथवा अत्यंत प्रबल वेगके साथ इसमें सहायता पहुँचा सकता है?

क्योंकि हम मनके कोशमें आवृत आत्मा हैं, एक ऐसी अंतरात्मा हैं जो यहाँ प्राणयुक्त स्थूल शरीरमें मनोमय पुरुषके रूपमें विकसित हुई है, अतएव हमें इस परम वांछनीय करणकी खोज स्वभावतया अपने अंतःकरणमें ही करनी होगी। और अन्तःकरणमें भी, स्पष्टतः ही, मनुष्यके लिये यह

अभिमत है कि उसे वह सब कार्य बुद्धि एवं उसके संकल्पके द्वारा ही करना चाहिये जिसे भौतिक या स्नायविक प्रकृति उसके लिये नहीं करती, जैसा कि वह वनस्पति और पशुमें करती है। जबतक किसी उच्चतर अतिमानसिक शक्तिका विकास नहीं हो जाता तबतक बुद्धिमूलक संकल्प ही हमारी कार्यसिद्धिके लिये मुख्य साधनबल है और अतएव, इसे शुद्ध करना हमारा अत्यंत प्रमुख रूपसे आवश्यक कार्य हो जाता है। एक बार जब हमारी बुद्धि और संकल्प-शक्ति उन सब चीजोंसे मुक्त होकर भली-भाँति शुद्ध हो जाती हैं जो उन्हें सीमित करके उनसे अशुद्ध क्रिया कराती हैं या उन्हें अशुद्ध दिशा प्रदान करती हैं तब उन्हें सुगमतासे पूर्ण बनाया जा सकता है, साथ ही उन्हें इस योग्य भी बनाया जा सकता है कि वे सत्यके सुझावोंका प्रत्युत्तर दे सकें, अपने-आपको तथा शेष सारी सत्ताको समझ सकें, जो कार्य वे कर रहे हों उसे स्पष्ट रूपसे तथा सूक्ष्म एवं विवेकपूर्ण यथार्थताके साथ देख सकें और द्विविधा या आतुरतासे युक्त किसी भ्रांति या किसी स्खलनशील विच्युतिके बिना उस कार्यको करनेके ठीक मार्गका अनुसरण कर सकें। अन्तमें उनकी प्रतिक्रियाको अतिमानसकी पूर्ण विवेक-दृष्टियों तथा उसके अंतर्ज्ञानों, अंतःप्रेरणाओं और सत्यदर्शनोंकी ओर खोला जा सकता है, तथा उसका विकास एक अधिकाधिक प्रकाशमय और यहाँतक कि निर्भ्रान्त क्रियाके द्वारा साधित हो सकता है। परन्तु अन्तःकरणके अन्य निम्नतर भागोंमें शुद्धिसंबंधी जो प्राकृतिक बाधाएँ हैं उन्हें आरंभिक रूपसे दूर किये बिना बुद्धिप्रधान संकल्पकी शुद्धि साधित नहीं की जा सकती, और अन्तःकरणकी संपूर्ण क्रियामें अर्थात् इन्द्रिय-बोध, मानसिक संवेदन, भावावेश, क्रियाशील आवेग, बुद्धि और संकल्पमें रहनेवाली मुख्य प्राकृतिक बाधा सूक्ष्म प्राणका मिश्रण तथा उसकी प्रबल माँग है। अतएव इस प्राणसे निपटना होगा, इसके प्रबल मिश्रणको बहिष्कृत करके इसकी माँगका निषेध करना होगा तथा इसे शान्त करके शुद्धिके लिये तैयार करना होगा।

यह कहा ही जा चुका है कि प्रत्येक करणकी अपनी एक विशेष और उचित क्रिया होती है और साथ ही उसकी विशेष क्रियाका एक विकृत रूप एवं अशुद्ध सिद्धान्त भी होता है। सूक्ष्म प्राणकी अपनी विशेष क्रिया है शुद्ध प्राप्ति और भोग। यह प्राण जिस क्रियाके लिये हमें सूक्ष्म-भौतिक आधार प्रदान करता है वह है—विचार, संकल्प, कर्म और क्रियाशील आवेगका एवं कर्मके परिणाम, भावावेश, इन्द्रियबोध और संवेदनका उपभोग करना तथा इनकी सहायतासे पदार्थों और व्यक्तियों एवं जीवन और जगत्का

भी उपभोग करना। जगत्का वस्तुतः पूर्ण उपभोग हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब हम स्वयं जगत्का या जगत्के लिये जगत्का उपभोग करनेके स्थानपर उसमें विद्यमान ईश्वरका उपभोग करें, जब स्थूल पदार्थ नहीं, बल्कि उनमें विद्यमान आत्माका आनन्द ही हमारे उपभोगका वास्तविक एवं मूल विषय होता है और जब पदार्थ तो केवल आत्माका एक रूप एवं प्रतीक किंवा आनन्दके सागरकी लहरें मात्र होते हैं। परन्तु इस आनन्दकी प्राप्ति भी तभी हो सकती है जब हम गुप्त आध्यात्मिक सत्ताको उपलब्ध करके अपने अंगोंमें प्रतिबिम्बित कर सकें, और इसे पूर्ण रूपमें तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम अतिमानसिक क्षेत्रोंमें आरोहण संपन्न कर लें। इस बीचमें इन वस्तुओंका यथोचित, स्वीकार्य एवं सर्वथा वैध मानवीय उपभोग किया जा सकता है; भारतीय मनोविज्ञानकी भाषामें कहें तो यह उपभोग प्रधानतया सात्विक ढंगका होता है। यह एक प्रकारका आलोकित उपभोग होता है जो मुख्य रूपसे तो बोधग्राही, सौन्दर्यरसिक एवं भावप्रधान मनके द्वारा और केवल गौण रूपसे ही संवेदनात्मक, स्नायविक एवं भौतिक सत्ताके द्वारा प्राप्त किया जाता है। पर यह सब भोग बुद्धिके स्पष्ट शासनके वशमें होता है, अर्थात् यह यथार्थ बुद्धि, यथार्थ संकल्प, जीवनके आघातोंके यथार्थ ग्रहण, यथार्थ व्यवस्था, सत्यके यथार्थ वेदन तथा वस्तुओंके नियम, आदर्श अर्थ, सौन्दर्य और उपयोगके अधीन होता है। मन उनके उपभोगका शुद्ध रस ले लेता है और जो कुछ भी अव्यवस्थित, विक्षुब्ध एवं विकृत है उसका त्याग कर देता है। स्वच्छ और निर्मल रसको मन जो इस प्रकार ग्रहण करता है उसमें सूक्ष्म प्राणको 'जीवनका पूर्ण संवेदन' तथा 'समग्र सत्ताद्वारा तन्मयकारी भोग', इन तत्त्वोंका संचार करना होगा; इन तत्त्वोंके बिना मनका रस-ग्रहण एवं उसकी प्राप्ति पर्याप्त मूर्त नहीं होगी, वह इतनी सूक्ष्म होगी कि देहधारी आत्माको पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकेगी। भोगमें इस प्रकारका योगदान करना ही इसका अपना विशेष कार्य है।

जो विकृति भोगकी क्रियामें घुसकर उसकी शुद्धतामें बाधा डालती है वह एक प्रकारकी प्राणिक वासना है; सूक्ष्म प्राण हमारी सत्तामें जो सबसे बड़ी विकृति लाता है वह कामना है। कामनाका मूल, जिस वस्तुका हम अभाव अनुभव करते हैं उसे अधिकृत करनेकी प्राणिक वासना है, कामनाका मतलब है प्राप्ति और तुष्टिके लिये हमारे सीमित प्राणकी सहज-प्रवृत्ति। यह अभावकी भावनाको जन्म देती है,—पहले तो भूख, प्यास, कामवासना-रूपी अधिक सीधी-सादी प्राणिक लालसाको और फिर मनकी

इन सूक्ष्म-प्राणिक क्षुधाओं, तृषाओं और कामवृत्तियोंको जन्म देती है; ये सूक्ष्म क्षुधाएँ आदि हमारी सत्ताको कहीं अधिक वेदना पहुँचाती हैं जो तुरंत प्रतिकारकी माँग करती है तथा सारी सत्तामें फैल जाती है; कामनासे उत्पन्न यह क्षुधा अनन्त होती है, क्योंकि यह एक अनन्त सत्ताकी क्षुधा होती है, यह तृषा भी तृप्तिके द्वारा केवल कुछ समयके लिये ही शान्त हो सकती है, पर अपने स्वभावमें दुष्पूर ही होती है। सूक्ष्म प्राण संवेदनात्मक मनपर आक्रमण करके उसमें संवेदनोंकी अशान्त तृषा जगा देता है, क्रियाशील मनको यह प्रभुत्व, स्वत्व, आधिपत्य एवं सफलताके लोभसे तथा प्रत्येक आवेगकी परिपूर्तिकी कामनासे आक्रान्त करता है, भावप्रधान मनको रुचि और अरुचि तथा राग और द्वेषके भावोंको तृप्त करनेकी कामनासे परिपूरित कर देता है, भयजनित जुगुप्साओं और आतंकों तथा आशाजनित आयासों और निराशाओंको जन्म देता है, शोककी यंत्रणाओं तथा हर्षके क्षणस्थायी ज्वरों एवं उसकी उत्तेजनाओंको हमपर लादता है, बुद्धि और उसके संकल्पको इन सब चीजोंके सहायक बनाकर उन्हींके ढंगके विकृत एवं पंगु यंत्रोंमें परिणत कर देता है, अर्थात् संकल्पको वासनाके संकल्पमें तथा बुद्धिको सीमित, अधीर और कलहरत पूर्वनिर्णय एवं सम्मतिके पक्षपाती, स्खलनशील और उत्सुक अनुयायीमें बदल डालता है। कामना समस्त दुःख, निराशा और वेदनाकी जड़ है; कारण, यद्यपि इसमें विषयोंके पीछे दौड़ने तथा उनसे तुष्टि प्राप्त करनेका उत्तेजनात्मक हर्ष होता है, पर, क्योंकि यह सदा ही सत्तापर तनाव डालती है, यह अपनी दौड़-धूप तथा प्राप्तिमें श्रम, क्षुधा और संघर्षको साथ लिये फिरती है, शीघ्र थक जाती है, परिमितता अनुभव करती है, अपनी सभी प्राप्तियोंसे असंतुष्ट होकर शीघ्र ही निराश हो जाती है, सतत और अस्वाभाविक उत्तेजना, क्लेश एवं अशान्तिको अनुभव करती है। कामनासे मुक्त होना सूक्ष्म प्राणकी एकमात्र स्थिर और अनिवार्य शुद्धि है,——क्योंकि इस प्रकार ही हम कामनामय आत्माको और अपने सभी करणोंमें उसके व्यापक मिश्रणको दूर करके उसके स्थानपर शान्त आनन्दसे युक्त मनोमय पुरुषको और अपनी सत्ता तथा जगत् एवं प्रकृतिके ऊपर उसके निर्मल और विशुद्ध प्रभुत्वको स्थापित कर सकते हैं; यह मनोमय पुरुष एवं इसका यह प्रभुत्व ही मानसिक जीवन और उसकी पूर्णताका स्फटिकोपम शुभ्र आधार है।

सूक्ष्म प्राण सभी उच्चतर क्रियाओंमें हस्तक्षेप करके उन्हें विकृत कर देता है, पर स्वयं उसके इस दोषका कारण यह है कि विश्वप्राणने जड़-तत्त्वमेंसे प्रकट होते समय शरीरमें जिन भौतिक करणोंको विकसित किया

है उनकी प्रकृति सूक्ष्म प्राणमें हस्तक्षेप करके उसे विकृत कर डालती है। इसीने शरीरमें विद्यमान व्यक्तिगत प्राणको विश्वके प्राणसे पृथक् कर दिया है और उसपर अभाव, परिमितता, क्षुधा, तृषा, अप्राप्त वस्तुकी लालसा, भोगकी चिर अन्धवत् खोज एवं प्राप्तिकी बाधापूर्ण और दुष्पूर आवश्यकताके स्वभावकी छाप लगा दी है। वस्तुओंकी निरी भौतिक व्यवस्थामें सुगमतासे नियंत्रित और सीमित होती हुई यह सूक्ष्म प्राणमें अपने-आपको अमित रूपसे विस्तृत करती है और जैसे-जैसे मन विकसित होता है एक ऐसी वस्तु बन जाती है जो कठिनतासे ही मर्यादित होनेवाली, दुष्पूर और अनियमित होती है तथा अव्यवस्था और व्याधिको उत्पन्न करनेमें लगी रहती है। अपिच, सूक्ष्म प्राण स्थूल जीवनके ऊपर आधार रखता है, स्थूल शरीरकी स्नायविक शक्तिके द्वारा सीमित हो जाता है, उसके द्वारा मनकी क्रियाओंको भी सीमित कर देता है और शरीर तथा इस (मन)के बीच एक ऐसी कड़ीका काम करता है कि यह भी शरीरपर निर्भर रहने लगता है, थकान, अक्षमता, व्याधि, अव्यवस्था, उन्मत्तता, क्षुद्रता और अनिश्चितताके वशमें हो जाता है, और यहाँतक कि स्थूल मनकी क्रियाओंके संभवनीय विलयका कारण बनता है। परिणामतः, हमारा मन अपनी ही सामर्थ्यसे युक्त एक शक्तिशाली करण, चेतन आत्माका एक स्पष्ट यंत्र तथा प्राण और शरीरका नियंत्रण एवं प्रयोग करने और उन्हें पूर्ण बनानेमें स्वतंत्र और समर्थ होनेके स्थानपर, एक मिश्रित रचनाके रूपमें प्रतीत होता है; यह प्रधानतया स्थूल मन है जो अपनी स्थूल इन्द्रियोंसे सीमित है तथा शरीरमें रहनेवाले प्राणकी माँगों एवं बाधाओंके वशमें है। इस अवस्थासे छुटकारा तभी प्राप्त हो सकता है यदि हम विश्लेषणकी एक प्रकारकी क्रियात्मक, आन्तरिक एवं मनोवैज्ञानिक क्रिया करें; उस क्रियाके द्वारा हम जान जाते हैं कि मन एक स्वतंत्र एवं पृथक् शक्ति है, उसे स्वतंत्र क्रिया करनेके लिये पृथक् कर लेते हैं, सूक्ष्म और स्थूल प्राणमें भेद भी जान लेते हैं और उन्हें पहलेकी तरह मनको शरीरके अधीन बनानेवाली कड़ी नहीं, बल्कि बुद्धिमें कार्य कर रहे 'विचार' और 'संकल्प'को आगे पहुँचानेवाले माध्यम तथा उसके आदेशों और निर्देशोंका अनुसरण करनेवाले यंत्र बना देते हैं। प्राण तब स्थूल जीवनपर मनके प्रत्यक्ष नियंत्रणको क्रियान्वित करनेके लिये एक निष्क्रिय साधन बन जाता है। यह नियंत्रण कार्य करनेकी हमारी अभ्यस्त स्थितिके लिये कितना ही असामान्य क्यों न हो, पर यह संभव है,—यह वशीकरणके दृग्विषयोंमें कुछ हदतक दृष्टि-गोचर होता है, यद्यपि ये दृग्विषय अस्वस्थ रूपमें असामान्य होते हैं, क्योंकि

इनमें किसी दूसरेका संकल्प ही सुझाव और आदेश देता है,—इतना ही नहीं, वल्कि जव अंतःस्थ उच्चतर आत्मा संपूर्ण सत्ताकी वागडोर सीधे अपने हाथमें ले लेता है तव यह नियंत्रण एक स्वाभाविक क्रिया वन जाता है। तथापि इसका पूर्ण प्रयोग अतिमानसिक स्तरसे ही किया जा सकता है, क्योंकि वास्तविक और अमोघ विचार तथा संकल्प केवल वहीं स्थित हैं और मनोमय भूमिकामें तो विचारात्मक मन, आध्यात्मिक वनकर भी, एक सीमित प्रतिनिधि ही होता है, भले उसे एक अत्यंत शक्तिशाली प्रतिनिधि क्यों न वना लिया जाय।

ऐसा समझा जाता है कि कामना मानव-जीवनकी वास्तविक चालक-शक्ति है और इसे निकाल फेंकनेका अर्थ जीवनके स्रोतोंको वन्द कर देना होगा; कामनाकी तृप्ति मनुष्यका एकमात्र भोग है और इसका उन्मूलन करनेका अर्थ निवृत्तिमार्गीय वैराग्यके द्वारा जीवनके आवेगको शान्त कर देना होगा। पर आत्माके जीवनकी वास्तविक चालक-शक्ति है संकल्प-शक्ति; कामना तो हमारे वर्तमान प्रभुत्वपूर्ण शारीरिक जीवन और स्थूल मनमें संकल्पशक्तिका एक विकृत रूप है। जगत्पर स्वत्व प्राप्त करने तथा उसका उपभोग करनेकी आत्माकी मूल प्रवृत्ति आनन्द प्राप्त करनेकी उसकी शक्ति (इच्छाशक्ति)में निहित है, और कामनाकी तृप्ति-रूपी भोग तो आनन्द-प्राप्तिकी इच्छाका प्राणिक एवं शारीरिक हीन-रूप है। शुद्ध इच्छाशक्ति और कामना अर्थात् आनन्द-प्राप्तिकी आंतरिक इच्छा और मन तथा शरीरकी वाह्य वासना एवं कामनामें भेद जानना हमारे लिये आवश्यक है। यदि हम अपनी सत्ताके अनुभवमें क्रियात्मक रूपसे यह भेद नहीं कर सकते तो हमारे लिये केवल दो ही मार्ग खुले रह जाते हैं, या तो हम जीवनका उच्छेद करनेवाले वैराग्य और जीनेकी स्थूल इच्छामेंसे किसी एकको चुन लें या फिर इन दोनोंमें एक भद्दा, अनिश्चित और अस्थिर समझौता करनेका यत्न करें। सच पूछो तो अधिकतर लोग यही कुछ करते हैं; वहुत थोड़ेसे लोग ऐसे भी होते हैं जो जीवनकी सहज-प्रवृत्तिको कुचलकर तपस्वियोंकी-सी पूर्णताके लिये यत्न करते हैं; वहुतसे लोग जीनेकी स्थूल इच्छाका अनुसरण भी करते हैं, अवश्य ही, वे उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन कर लेते हैं तथा कुछ ऐसे प्रतिवंध लगा लेते हैं जिन्हें समाज उनपर लागू करता है या जिन्हें अपने मन तथा कार्योंपर लागू करनेकी शिक्षा साधारण सामाजिक मनुष्यको दी गयी है; कुछ अन्य लोग नैतिक तपस्या तथा कामनामय मानसिक एवं प्राणिक सत्ताकी संयत तृप्तिके वीच एक प्रकारके संतुलनका आदर्श स्थापित करते हैं और इस संतुलनमें

अविक्षिप्त मन तथा स्वस्थ मानव-जीवनके सुनहरे मध्यम मार्गका दर्शन करते हैं। परन्तु हम जिस पूर्णताकी खोज कर रहे हैं वह, अर्थात् जीवनमें संकल्पशक्तिका दैवी साम्राज्य, उक्त मार्गोंमेंसे किसीसे भी प्राप्त नहीं होता। प्राण अर्थात् प्राणमय सत्ताको सर्वथा कुचल डालनेका अर्थ है जीवनकी उस शक्तिका ही उच्छेद कर डालना जिसके द्वारा मनुष्यमें स्थित देहधारी आत्माका अधिकतर कार्य-कलाप पोषण प्राप्त करता है; जीनेकी स्थूल इच्छाको तृप्त करनेका अर्थ है अपूर्णतासे तुष्ट रहना; इनमें समझौता करनेका अर्थ है अधबीचमें ही रुक जाना और न तो भूतलपर अधिकार पाना न स्वर्गपर। पर यदि हम कामनाके द्वारा अविकृत शुद्ध संकल्पशक्तिको और वासनाके किसी भी विक्षोभसे पीड़ित या सीमित न होनेवाली आनन्द-लाभकी शान्त आंतरिक इच्छाको अधिकृत कर सकें तो हम प्राणको इस प्रकार रूपांतरित कर सकते हैं कि वह मनपर अत्याचार और आक्रमण करनेवाला उसका शत्रु न रहकर एक आज्ञाकारी यंत्र बन जाय। तब हमें अनुभवद्वारा पता चलेगा कि शुद्ध संकल्पशक्ति कामनाकी भड़क उठनेवाली, धुएँसे दबी-घुटी, शीघ्र क्लान्त एवं पराजित हो जानेवाली ज्वालासे कहीं अधिक स्वतंत्र, शान्त, स्थिर और प्रभावपूर्ण शक्ति है। इन महत्तर शक्तियोंको भी हम चाहें तो कामनाके नामसे पुकार सकते हैं, पर तब हमें यह मानना होगा कि एक दिव्य कामना भी है जो प्राणकी लालसासे भिन्न वस्तु है, एक भागवत कामना भी है जिसकी यह अन्य एवं निम्नतर कामना एक अन्धकारमय छाया है और जिसमें इसे रूपान्तरित करना होगा। पर जो वस्तुएँ अपने स्वरूप तथा आन्तरिक कार्यमें सर्वथा भिन्न हैं उनके लिये भिन्न नाम रखना ही अधिक अच्छा है।

अतएव, शुद्धिका पहला कदम है प्राणको कामनासे मुक्त करना और इसके साथ ही, प्रासंगिक रूपसे, अपनी प्रकृतिकी साधारण स्थितिको पलटकर प्राणमय सत्ताको एक ऐसे रूपमें परिणत कर देना कि वह एक कष्ट देनेवाली प्रभुत्वपूर्ण शक्ति न रहकर स्वतंत्र और अनासक्त मनका आज्ञाकारी यंत्र बन जाय। जैसे-जैसे सूक्ष्म प्राणकी इस विकृतिमें सुधार होता है वैसे-वैसे अन्तःकरणके शेष मध्यवर्ती भागोंकी शुद्धिका कार्य सुगम होता जाता है, और जब यह सुधार पूरा हो जाता है तब उन्हें भी सहजमें पूर्ण रूपसे शुद्ध किया जा सकता है। ये मध्यवर्ती भाग हैं—भावप्रधान मन, ग्रहणशील संवेदनात्मक मन और सक्रिय संवेदनात्मक मन या क्रियाशील आवेगोंवाला मन। ये सब एक तीव्रतः जटिल परस्पर-क्रियाके साथ एक-दूसरेपर अवलम्बित हैं। भावप्रधान मनकी विकृति राग-द्वेष अर्थात्

भाविक आकर्षण और विकर्षणके द्वन्द्वपर आधारित है। हमारे भावोंकी समस्त जटिलताका और हमारी अंतरात्मापर उनके अत्याचारका मूल कारण यह है कि भावों और संवेदनोंमें रहनेवाला कामनामय पुरुष इन आकर्षणों और विकर्षणोंके प्रति अपने अभ्यस्त ढंगसे प्रतिक्रिया करता है। राग और द्वेष, आशा और भय, हर्ष और शोक---सबके स्रोत इस एक उद्गममें ही हैं। हमारी प्रकृति अर्थात् हमारी सत्ताका प्रथम स्वभाव, या फिर हमारा निर्मित (प्रायः ही विकृत) स्वभाव अर्थात् हमारी सत्ताकी दूसरी प्रकृति जिस चीजको हमारे मनके सामने प्रिय (**प्रियम्**) के रूपमें प्रस्तुत करती है उसे हम पसन्द करते हैं, प्रेम करते हैं, उसका स्वागत और उसकी आशा करते हैं, उसमें आनन्द लेते हैं; जिस चीजको यह अप्रिय (**अप्रियम्**) के रूपमें हमारे सामने रखती है उससे हम घृणा करते हैं, उसे नापसन्द करते हैं, उससे भयभीत होकर पीछे हटते हैं या दुःख मानते हैं। भाविक प्रकृतिकी यह आदत बुद्धिप्रधान संकल्पके मार्गमें बाधा पहुँचाती है और बहुधा ही इसे भावप्रधान सत्ताका असहाय दास बना देती है या, कम-से-कम, इसे स्वतंत्र निर्णय तथा प्रकृतिका शासन नहीं करने देती। इस विकृतिको सुधारना होगा। सूक्ष्म प्राणमेंसे कामनाको तथा भाविक चित्तमेंसे उसके मिश्रणको दूर करनेसे यह सुधारका कार्य सुगम हो जाता है। कारण, तब आसक्ति, जो हृदयको बाँधनेवाली दृढ़ ग्रन्थि है, शिथिल होकर हृदयके तारोंसे अलग हो जाती है; राग-द्वेषका अनैच्छिक एवं यांत्रिक अभ्यास बना रहता है, पर क्योंकि वह आसक्तिके द्वारा दृढ़ नहीं बनाया जाता, उसके साथ संकल्प और बुद्धिके द्वारा अधिक आसानीसे निपटा जा सकता है। अशांत हृदयको वशमें करके राग-द्वेषके स्वभावसे मुक्त किया जा सकता है।

पर, यदि ऐसा हो जाय तो जैसा कामनाके उन्मूलनके संबंधमें लोग समझते हैं, वैसे ही हृदयकी शुद्धिके बारेमें भी यह समझा जा सकता है कि यह भावप्रधान सत्ताकी मृत्यु ही होगी। अवश्य, यह ऐसी ही होगी यदि विकृतिका उन्मूलन तो कर दिया जाय, पर उसके स्थानपर भाविक चित्तकी यथार्थ क्रियाको स्थापित न किया जाय; तब मन भावावेशकी हलचल या तरंगसे सर्वथा रहित शून्य उदासीनताकी निष्क्रिय अवस्थामें या शान्तिमय निष्पक्षताकी ज्योतिर्मय अवस्थामें पहुँच जायगा। इनमेंसे पहली अवस्था किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं; दूसरी अवस्था निवृत्तिमार्गीय साधनाकी सिद्धि हो सकती है, पर पूर्णयोगकी सिद्धिमें, जो प्रेमका परित्याग नहीं करती और आनन्दकी विविध गतिसे भी नहीं कतराती, यह बस केवल

एक ऐसी अवस्था हो सकती है जिसे पार करना होता है, एक ऐसी प्रारंभिक निष्क्रियता हो सकती है जिसे समुचित क्रियाके प्रथम आधारके रूपमें स्वीकार किया जाता है। आकर्षण और विकर्षण, राग और द्वेष सामान्य मनुष्यके लिये एक आवश्यक यांत्रिक क्रिया हैं, उसके चारों ओरका जगत् उसपर जो हजारों प्रीतिकर और भयंकर, सहायक और बाधक आघात करता है उनमेंसे स्वाभाविक और सहज-प्रेरित ढंगसे चुनाव करनेके लिये ये राग-द्वेष आदि प्रथम सिद्धान्तका काम करते हैं। बुद्धि इस कार्य-सामग्रीको लेकर अपना कार्य शुरू करती है और एक अधिक ज्ञानपूर्ण, तर्कसंगत तथा स्वेच्छाप्रेरित चुनावके द्वारा स्वाभाविक एवं सहजप्रेरित चुनावको सुधारनेका यत्न करती है; कारण, यह स्पष्ट ही है कि प्रिय वस्तु सदा सत्य, अधिक वांछनीय एवं वरणीय ही नहीं होती; न अप्रिय वस्तु असत्य, त्याज्य एवं अस्वीकार्य ही होती है; प्रिय और शुभ, **प्रेयस्** और **श्रेयस्**, में भेद करना होगा, और चुनावका कार्य यथार्थ तर्कबुद्धिको करना होगा, न कि आवेशकी तरंगको। पर जब आवेशात्मक विचारको पीछे हटा दिया जाता है तथा हृदय ज्योतिर्मय निष्क्रियतामें शान्त हो रहता है तब बुद्धि चुनावके कार्यको कहीं अधिक अच्छे ढंगसे कर सकती है। तभी हृदयकी यथार्थ क्रिया उपरितलपर प्रकट हो सकती है; क्योंकि तब हम देखते हैं कि इस आवेशाधीन कामनामय पुरुषके पीछे प्रेममय, निर्मल हर्षमय एवं आनन्दस्वरूप आत्मा, शुद्ध चैत्य, सदा ही प्रतीक्षा कर रहा था, वह क्रोध, भय, घृणा, द्वेषके विकारोंसे आच्छादित था और इसलिये जगत्का आलिंगन राग-द्वेषरहित प्रेम तथा आनन्दके साथ नहीं कर सकता था। पर शुद्ध हृदय क्रोध, भय, घृणा तथा प्रत्येक प्रकारकी जुगुप्सा एवं विकर्षणसे मुक्त होता है : वह सार्वभौम प्रेमसे युक्त होता है, वह इस जगत्में परमेश्वरके द्वारा प्राप्त नानाविध आनन्दको प्रशान्त मधुरता तथा निर्मलताके साथ ग्रहण कर सकता है। पर वह प्रेम और आनन्दका असंयत दास नहीं होता; वह कामना नहीं करता, कर्मोंके स्वामी होनेका दावा करनेका यत्न नहीं करता। कर्म करनेके लिये चुनाव करनेकी जो क्रिया आवश्यक होती है वह मुख्य रूपसे बुद्धिपर छोड़ दी जाती है और जब बुद्धिको पार कर लिया जाता है तब वह अतिमानसिक संकल्प, ज्ञान और आनन्दकी भूमिकामें रहनेवाली आत्मापर छोड़ दी जाती है।

ग्रहणशील संवेदनात्मक मन भावावेगोंका स्नायुमय मानसिक आधार है; वह वस्तुओंके आघातोंको मानसिक रूपसे ग्रहण करता है और उनके प्रति मानसिक सुख और दुःख-रूपी प्रतिक्रियाएँ करता है जो चित्तगत राग

और द्वेषके द्वन्द्वका आरंभ-बिन्दु हैं। हृदयके सभी भावावेगोंकी स्नायविक मनमें एक सहचारी प्रतिक्रिया भी होती है जो उनके अपने ही अनुरूप होती है, और हम प्रायः ही देखते हैं कि जब हृदय द्वन्द्वोंकी मूलभूत सभी इच्छाओंसे मुक्त हो जाता है तब भी स्नायविक मनके विक्षोभकी जड़ बची रहती है, अथवा स्थूल मनमें एक ऐसी स्मृति बची रहती है जिसे बुद्धिके संकल्पके द्वारा जितना ही हटाया जाता है, उतनी ही वह अधिकाधिक दूर हटकर एक सर्वथा भौतिक रूप धारण करती जाती है। अन्तमें तो वह बाहरसे आनेवाला एक सुझावमात्र रह जाती है जिसे मनके स्नायविक तन्तु तब भी कभी-कभी प्रत्युत्तर देते हैं जबतक कि पूर्ण शुद्धि उन्हें आनन्दकी उसी प्रकाशपूर्ण विश्वमयतामें ले जाकर मुक्त नहीं कर देती जिसे शुद्ध हृदय पहले ही प्राप्त कर चुका है। सक्रिय और शक्तिशाली आवेगात्मक मन प्रतिक्रियाका निम्नतर करण या वाहक है; उसकी विकृति यह है कि वह अपवित्र आवेशप्रधान एवं संवेदनात्मक मनके सुझाव तथा प्राणकी कामनाके अधीन हो जाता है, शोक, भय, घृणा, इच्छा, कामवासना, लालसा तथा अन्य सब अशांत वृत्तियोंके द्वारा प्रेरित कार्यके आवेगोंका दास बन जाता है। उसके कार्यका ठीक रूप यह है कि वह बल, शौर्य और स्वभावगत सामर्थ्यसे संपन्न एक ऐसी शुद्ध क्रियाशील शक्ति बनकर रहे जो अपने लिये या निम्न करणोंका हुक्म बजानेके लिये कार्य न करे, बल्कि शुद्ध बुद्धि और संकल्प या विज्ञानमय पुरुषके आदेशोंको आगे पहुँचानेके लिये एक निष्पक्ष प्रणालिकाके रूपमें कार्य करे। जब हम इन विकृतियोंसे मुक्त होकर अपने मनको कार्यके इन सत्यतर रूपोंको अपनानेके लिये निर्मल बना लेते हैं तब निम्न मन शुद्ध होकर पूर्णताकी प्राप्तिके लिये तैयार हो जाता है। पर यह पूर्णता शुद्ध और आलोकित बुद्धिकी प्राप्तिपर निर्भर करती है; क्योंकि बुद्धि मनोमय प्राणीकी प्रधान शक्ति है और साथ ही 'पुरुष'का प्रधान मानसिक करण है।

सातवाँ अध्याय

बुद्धि और सङ्कल्पकी शुद्धि

बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये हमें पहले उसकी विशेष जटिल रचनाको समझना होगा। और इसके लिये सर्वप्रथम हमें मन और बुद्धि (अर्थात् विवेकशील प्रज्ञा एवं आलोकित संकल्प)के पारस्परिक भेदको स्पष्ट रूपमें हृदयंगम कर लेना होगा जिसकी साधारण भाषामें उपेक्षा ही की जाती है। मनका मतलब है इन्द्रियाधिष्ठित मन। मनुष्यका प्राथमिक मन बुद्धि और संकल्पसे युक्त करण बिलकुल ही नहीं होता; वह पाशव, भौतिक या इन्द्रियाश्रित मन होता है; वह अपने संपूर्ण अनुभवका गठन अपने ऊपर पड़नेवाले बाह्य जगत्‌के प्रभावों तथा अपनी उस देहबद्ध चेतनाके द्वारा करता है जो इस प्रकारके अनुभवकी बाह्य उत्तेजनाको प्रत्युत्तर देती है। बुद्धि तो केवल एक गौण शक्तिके रूपमें प्रकट होती है जिसने विकासमें प्रथम स्थान ले लिया है, पर फिर भी वह जिस निम्न करणका प्रयोग करती है उसपर आश्रित रहती है; वह अपनी क्रियाओंके लिये ऐन्द्रिय मनपर निर्भर करती है और अपने उच्चतर धरातलपर तो वह वही कुछ करती है जो कि वह शरीर या इन्द्रिय-रूपी आधारपरसे ज्ञान और कर्मको कठिनाई और परिश्रमके साथ एवं विशेष विघ्न-बाधाओंके बाद विस्तारित करके कर सकती है। सामान्य प्रकारका मानव-मन अर्द्ध-आलोकित स्थूल या इन्द्रियाश्रित मन ही है।

वास्तवमें मन बाह्य चित्तसे विकसित हुआ है; यह बाह्य स्पर्शोंके द्वारा उत्तेजित एवं उद्‌बुद्ध चेतनाके स्थूल उपादानका प्रथम संघटन है। भौतिक रूपमें हम जड़-तत्त्वके अन्दर प्रसुप्त एक आत्मा हैं जो बाह्य चेतनाके स्थूल तत्त्वसे व्याप्त एक प्राणयुक्त शरीरकी आंशिक चेतनातक विकसित हो चुकी है; यह चेतना इस बाह्य जगत्‌के, जिसमें हम अपनी चेतन सत्ताका विकास कर रहे हैं, बाह्य आघातोंके प्रति कम या अधिक सचेत और सजग है। पशुमें बहिर्मुख चेतनाका यह तत्त्व अनुभव और कार्य करनेवाले मनकी एक सुव्यवस्थित मानसिक इन्द्रिय या करणके रूपमें अपने-आपको संघटित कर लेता है। वास्तवमें इन्द्रिय देहस्थित चेतनाका अपने चारों ओरकी वस्तुओंके साथ मानसिक संस्पर्श है। यह संस्पर्श

मूल रूपमें सदा ही एक मानसिक व्यापार होता है; पर वास्तवमें यह मुख्य रूपसे पदार्थों और उनके गुणोंके साथ संबंध स्थापित करनेवाली कुछ-एक स्थूल इन्द्रियोंके विकासपर निर्भर करता है; अपने ऊपर पड़नेवाले उन पदार्थों और गुणोंके संस्कारोंको यह अपने अभ्यासवश उनका मानसिक मूल्य प्रदान कर सकता है। जिन्हें हम स्थूल इन्द्रियाँ कहते हैं उनमें दो तत्त्व होते हैं, प्रथम, हमारी इन्द्रियोंपर किसी पदार्थका जो स्थूल-प्राणमय संस्कार पड़ता है वह और दूसरा, मनोमय प्राणके द्वारा हम उस संस्कारको जो मूल्य प्रदान करते हैं वह; ये दोनों तत्त्व मिलकर हमारे दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श तथा उन सब प्रकारके संवेदनोंका गठन करते हैं जिनके लिये कि ये दर्शन आदि और मुख्यतः स्पर्श, आरंभ-बिन्दु या प्रथम संचारक साधनका काम करते हैं। परन्तु मन इन्द्रियोंपर पड़नेवाले संस्कारोंको स्थूल इन्द्रियपर निर्भर न करनेवाले एक सीधे संक्रमणके द्वारा ग्रहण करके उनसे परिणाम निकाल सकता है। निम्न सृष्टि किंवा पशु-जगत्में यह तथ्य अधिक स्पष्ट रूपमें दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि मनुष्यमें इस प्रत्यक्ष बोधके लिये सचमुच ही एक अधिक महान् सामर्थ्य है, मनमें रहनेवाली छठी इन्द्रियशक्ति है, फिर भी उसने केवल स्थूल इन्द्रियोंपर तथा उनकी पूरकके रूपमें बुद्धिकी क्रियापर ही निर्भर रहकर इस शक्तिको स्थगित अवस्थामें रख छोड़ा है।

अतएव, मनका सर्वप्रथम कार्य तो इन्द्रियानुभवको व्यवस्थित करना है; इसके साथ ही वह देहस्थित चेतनाके संकल्पकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओंको भी व्यवस्थित करता है और शरीरको एक साधनके रूपमें प्रयुक्त करता है, अथवा, जैसा कि साधारणतया कहा जाता है, वह कर्मेन्द्रियोंको अपने करणके रूपमें प्रयुक्त करता है। इस स्वाभाविक कार्यमें भी दो तत्त्व होते हैं, स्थूल-प्राणमय आवेग और उसके पीछे सहज-प्रेरणात्मक संकल्प-वेगका प्रभाव जो मनोमय-प्राणिक शक्तिसे पूर्ण होता है। यह सब प्राथमिक बोधों और कार्यों-रूपी उस संबंध-सूत्रका गठन करता है जो समस्त विकसनशील प्राणियोंके जीवनको जोड़नेवाला एक सामान्य सूत्र है। पर इसके अतिरिक्त **मनस्** या इन्द्रियाश्रित मनमें एक परिणामभूत प्राथमिक विचार-तत्त्व भी होता है जो प्राणि-जीवनकी क्रियाओंके साथ-साथ ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार प्राणयुक्त शरीरमें चेतना अर्थात् **चित्तकी** एक प्रकारकी व्यापक एवं प्रभुत्वशाली क्रिया होती है जो इस ऐन्द्रिय मनका रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार ऐन्द्रिय मनमें भी एक प्रकारकी व्यापक एवं प्रभुत्वशाली शक्ति होती है जो इन्द्रियलब्ध अनुभवोंको मानसिक ढंगसे

प्रयोगमें लाती है, उन्हें बोधों तथा प्राथमिक विचारोंमें परिणत कर देती है, एक अनुभवको अन्य अनुभवोंसे संवद्ध करती है और किसी-न-किसी ढंगसे इन्द्रियानुभवके आधारपर ही विचार, अनुभव और संकल्प करती है।

यह संवेदनात्मक विचार-शक्ति जो इन्द्रिय, स्मृति, और संस्कारपर तथा प्राथमिक विचारों एवं उनसे निकाले हुए अनुमानों या गौण विचारोंपर आधारित है, समस्त प्राणियोंके विकसित जीवन और मनमें सामान्य रूपसे पायी जाती है। निःसंदेह मनुष्यने इसे अत्यधिक विकसित करके एक ऐसा अमित क्षेत्र एवं जटिलता प्रदान कर दी है जो पशुके लिये अप्राप्य है, तथापि यदि वह यहीं रुक जाय तो वह केवल एक महाशक्तिशाली पशु ही रहेगा। वह पशुके क्षेत्र और उसकी उच्चताके परे इस कारण पहुँच जाता है कि वह अपनी विचार-क्रियाको इन्द्रियाश्रित मनसे थोड़े वहुत अंशमें मुक्त एवं पृथक् करने, इससे पीछे हटकर इसकी दी हुई सामग्रीका निरीक्षण करने और इसपर ऊपरसे एक पृथक्कृत एवं अंशतः स्वतंत्र वुद्धिके द्वारा कार्य करनेमें समर्थ हो गया है। पशुकी वुद्धि और संकल्पशक्ति ऐन्द्रिय मनमें उलझी हुई हैं और अतएव वे पूर्ण रूपसे इसके द्वारा परिचालित होती हैं तथा इसके संवेदनों, इन्द्रियानुभवों और आवेगोंकी धारामें वहा ले जायी जाती हैं; यह (ऐन्द्रिय मन) अन्धप्रेरणासे चालित होता है। मनुष्य एक ऐसी तर्क-वुद्धि एवं संकल्पशक्तिका अर्थात् अपना और सवका निरीक्षण करनेवाले एवं चिन्तन तथा वुद्धिपूर्वक संकल्प करनेवाले मनका प्रयोग कर सकता है जो पहलेकी तरह ऐन्द्रिय मनमें नहीं फँसा होता, वल्कि इसके ऊपर तथा पीछे स्थित होकर अपने निज अधिकारसे और एक प्रकारकी पृथक्ता तथा स्वतंत्रताके साथ कार्य करता है। वह चिन्तनशील है, उसे वुद्धिप्रधान संकल्पकी एक प्रकारकी सापेक्ष स्वतंत्रता प्राप्त है। उसने अपने अन्दर वुद्धिको मुक्त करके एक पृथक् शक्ति वना लिया है।

पर यह वुद्धि है क्या? यौगिक ज्ञानके दृष्टिकोणसे हम कह सकते हैं कि यह अंतरात्माका, प्रकृतिमें स्थित आन्तरिक चेतन सत्ता अर्थात् पुरुषका वह करण है जिसके द्वारा वह अपने-आप तथा अपनी परिस्थितियोंपर किसी प्रकारका चेतन एवं व्यवस्थित प्रभुत्व प्राप्त करती है। चित्त और मनकी समस्त क्रियाके पीछे यह अन्तरात्मा किंवा 'पुरुप' उपस्थित होता है; पर जीवनके निम्न रूपोंमें यह अधिकतर अवचेतन, अर्द्ध-जागृत या प्रसुप्त ही रहता है, प्रकृतिके यांत्रिक कार्यमें डूवा रहता है; तथापि जैसे-जैसे यह जीवनकी क्रमशृंखलामें ऊँचे उठता है, यह उत्तरोत्तर जागृत होकर

अधिकाधिक आगे आता जाता है। बुद्धिकी सक्रियताके द्वारा यह पूर्ण जागरणकी क्रिया आरंभ कर देता है। मनकी निम्न क्रियाओंमें 'पुरुष' प्रकृतिको अपने अधिकारमें रखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उसके अधीन रहता है; क्योंकि वहाँ यह पूर्ण रूपसे उस यांत्रिक क्रियाका दास बना रहता है जो इसे एक देहधारीके चेतन अनुभवकी अवस्थामें लायी है। पर बुद्धिमें हम एक ऐसी वस्तुतक पहुँच जाते हैं जो अभी होती तो प्रकृतिका करण है, पर फिर भी जिसके द्वारा प्रकृति पुरुषको इस कार्यके लिये सहायता देती एवं सन्नद्ध करती प्रतीत होती है कि यह उसे समझ ले तथा अधिकारमें लाकर उसका स्वामी बन जाय।

पर बुद्धिके द्वारा प्राप्त यह समझ, अधिकार या स्वामित्व पूर्ण नहीं होता, इसका कारण या तो यह है कि हमारी बुद्धि-शक्ति अभीतक स्वयं अपूर्ण है, अभीतक केवल अर्द्ध-विकसित एवं अर्द्ध-गठित है, या यह है कि वह अपने स्वभावकी दृष्टिसे केवल एक मध्यवर्ती करण है, और पूर्ण ज्ञान तथा प्रभुत्व प्राप्त कर सकनेसे पहले हमें बुद्धिसे महान् किसी तत्वतक ऊँचे उठना होगा। तथापि यह एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि हमारे अन्दर एक ऐसी शक्ति है जो पाशव जीवनसे कहीं महान् है, एक ऐसा सत्य है जो ऐन्द्रिय मनके द्वारा अनुभूत प्राथमिक सत्यों या बाह्य रूपोंसे अधिक महान् है, और तब हम उस सत्यको प्राप्त करनेका यत्न कर सकते हैं तथा कार्य और नियंत्रणकी एक अधिक महत् और सफल शक्तिकी ओर, अपनी प्रकृति और अपने चारों ओरकी वस्तुओंकी प्रकृतिके ऊपर एक अधिक प्रभावपूर्ण शासन, एक उच्चतर ज्ञान, उच्चतर शक्ति एवं उच्चतर और विशालतर उपभोगकी ओर तथा सत्ताके एक अधिक उन्नत स्तरकी ओर बढ़नेका प्रयास कर सकते हैं। तो इस प्रवृत्तिका अंतिम लक्ष्य क्या है? स्पष्टतः ही, लक्ष्य यह है कि पुरुष अपने तथा वस्तुओंके उच्चतम और पूर्णतम सत्यको, अंतरात्मा या आत्मा तथा प्रकृतिके महत्तम सत्यको प्राप्त कर ले, सत्ताकी एक ऐसी सक्रिय और निष्क्रिय अवस्थाको प्राप्त कर ले जो इस सत्यका परिणाम हो या इससे अभिन्न हो, साथ ही इस महत्तम ज्ञानकी शक्तिको तथा जिस महत्तम सत्ता एवं चेतनाकी ओर वह खुले उसके उपभोगको भी प्राप्त कर ले। प्रकृतिमें चेतन सत्ताके विकासका अंतिम परिणाम यही होना चाहिये।

अतएव, अपनी अंतरात्मा और आत्माके संपूर्ण सत्य तथा अपनी मुक्त और समग्र सत्ताके ज्ञान, महिमा और आनन्दको प्राप्त करना ही बुद्धिकी शुद्धि, मुक्ति और सिद्धिका लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु आम धारणा

यह है कि इसका अर्थ पुरुषका प्रकृतिके ऊपर पूर्ण प्रभुत्व नहीं वरन् उसका परित्याग है। प्रकृतिके कार्यको त्यागकर ही हम आत्माको प्राप्त कर सकते हैं। जैसे बुद्धि, यह जानकर कि ऐन्द्रिय मन हमें केवल ऐसे बाह्य रूपोंका ही ज्ञान कराता है जिनमें आत्मा प्रकृतिके अधीन है, उनके पीछे अवस्थित अधिक वास्तविक सत्योंको ढूँढ़ निकालती है, वैसे ही अंतरात्माको भी यह ज्ञान प्राप्त करना होगा कि बुद्धि भी प्रकृतिके ऊपर प्रयोगमें लायी जानेपर हमें केवल बाह्य रूपोंका बोध प्रदान कर सकती है और इस प्रकार हमारी दासताको बढ़ा ही सकती है; यह ज्ञान प्राप्त करके अंतरात्माको बाह्य रूपोंके पीछे आत्माके विशुद्ध सत्यको ढूँढ़ निकालना होगा। आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो प्रकृतिसे बिलकुल भिन्न है और बुद्धिको प्राकृतिक पदार्थोंके प्रति आसक्ति तथा उनमें संलग्नतासे अपनेको मुक्त करके शुद्ध करना होगा; केवल इस प्रकार ही वह शुद्ध पुरुष और आत्माको अनुभव कर सकती है तथा प्राकृत पदार्थोंसे पृथक् कर सकती है : शुद्ध पुरुष एवं आत्माका ज्ञान ही एकमात्र वास्तविक ज्ञान है, शुद्ध पुरुष और आत्माका आनंद ही एकमात्र आध्यात्मिक उपभोग है, शुद्ध पुरुष एवं आत्माकी चेतना और सत्ता ही एकमात्र वास्तविक चेतना और सत्ता हैं। इस विचारके अनुसार, कर्म और संकल्प बन्द ही हो जायँगे, क्योंकि कर्ममात्र प्रकृतिका कर्म है; शुद्ध पुरुष एवं आत्मा बननेके संकल्पका अर्थ है कर्म करनेके समस्त संकल्पका अन्त।

परन्तु आत्माकी सत्ता, चेतना और शक्तिकी तथा उसके आनन्दकी उपलब्धि पूर्णता प्राप्त करनेकी शर्त्त है,—क्योंकि अंतरात्मा अपनी सत्ताके सत्यको जानकर, प्राप्त तथा चरितार्थ करके ही मुक्त और सिद्ध बन सकती है, पर इसके साथ-ही-साथ हम यह भी मानते हैं कि प्रकृति आत्माकी एक सनातन क्रिया एवं अभिव्यक्ति है; प्रकृति शैतानका फंदा नहीं है, भ्रामक आकृतियोंका कोई ऐसा समूह नहीं है जिसे कामना, इन्द्रिय, प्राण और मानसिक संकल्प एवं बुद्धिने उत्पन्न किया हो, बल्कि ये बाह्य आकार आत्माके संकेत और इंगित हैं और इन सबके पीछे आत्माका एक सत्य विद्यमान है जो इनसे परे है तथा इनका प्रयोग करता है। हम यह मानते हैं कि प्रकृतिमें एक आध्यात्मिक विज्ञान एवं संकल्पशक्ति अन्तर्निहित है जिसके द्वारा सर्वव्यापी गुप्त आत्मा अपने सत्यको जानती है, संकल्प करती है, प्रकृतिमें अपनी सत्ताको प्रकट करके उसका नियमन करती है; उस विज्ञानको प्राप्त करना, उसके साथ अन्तर्मिलन लाभ करना या उसके कार्यमें भाग लेना हमारी पूर्णताका अंग होना चाहिये। अतः बुद्धिकी शुद्धिका लक्ष्य यह होगा कि हम अपने आत्म-स्वरूपके सत्यको प्राप्त करें, पर साथ

करता है जब वह अपने व्यक्तिगत संस्कार, सिद्धान्त और मत-अभिमतसे परे हटकर आत्मज्ञान और सहजबोधकी उस ज्योतिको ढूँढ़ लेता है जो इन्द्रियों और बुद्धिकी सभी क्रियाओंको तथा समस्त आत्मानुभव और विश्वानुभवको आलोकित करती है। संकल्पशक्ति अपनी पूर्णता तब प्राप्त करती है जब वह अपने आवेगों तथा कार्य-साधनके अभ्यस्त ढर्रोंसे दूर और पीछे हटकर भीतर प्रवेश करती है और आत्माकी उस आंतरिक शक्तिको खोज लेती है जो अन्तर्ज्ञानात्मक एवं प्रकाशमय क्रिया तथा मौलिक एवं सामंजस्यपूर्ण सृजनका उद्‌गम है। पूर्णता-प्राप्तिकी क्रियाका अर्थ है—निम्न प्रकृतिके समस्त प्रभुत्वसे हटकर बुद्धिमें आत्मा और 'पुरुष'की सत्ता और शक्ति एवं उसके ज्ञान और आनन्दको शुद्ध एवं शक्तिशाली रूपमें प्रतिबिंबित करना।

आत्मसिद्धियोगका अभिप्राय इस द्विविध क्रियाको यथासंभव अधिक-से-अधिक पूर्ण बनाना है। बुद्धिमें कामनाका मिश्रणमात्र एक प्रकारकी अपवित्रता है। कामनासे रँगी हुई बुद्धि अपवित्र बुद्धि है और वह सत्यको विकृत कर देती हैं; कामनासे रँगी हुई संकल्पशक्ति अशुद्ध संकल्पशक्ति है और वह अंतरात्माके कार्यपर विकृति, पीड़ा और अपूर्णताकी छाप लगा देती है। कामनामय पुरुषके भावावेगोंका मिश्रण मात्र एक अपवित्रता है और वह भी ज्ञान तथा कर्मको पूर्वोक्त ढंगसे विकृत कर देता है। संवेदनों और आवगोंके प्रति बुद्धिकी अधीनता मात्र एक अपवित्रता है। विचार और संकल्पशक्तिको कामना, उद्वेगजनक भावावेश तथा विक्षेपकारी या प्रभुत्वशाली आवेगके प्रति अनासक्त होकर पीछेकी ओर स्थित होना होगा तथा अपने निज अधिकारके बलपर कार्य करना होगा, ऐसा उन्हें तबतक करते रहना होगा जबतक वे उस महत्तर मार्गदर्शिका अर्थात् संकल्पशक्ति, तपस् या दिव्य शक्तिको न खोज लें जो कामना, मानसिक संकल्प और आवेगका स्थान ले लेगी, तथा जबतक कि वे आत्माके उस आनन्द या शुद्ध हर्षको एवं आलोकित आध्यात्मिक ज्ञानको न खोज लें जो इस शक्तिके कार्यमें अपने-आपको प्रकट करेंगे। यह पूर्ण अनासक्ति, जो पूर्ण आत्म-शासन, **शम, समता** और **शान्ति**के बिना प्राप्त नहीं हो सकती, बुद्धिकी शुद्धिकी ओर सबसे अधिक सुनिश्चित पग है। शान्त, सम और अनासक्त मन ही शान्तिको अपने अन्दर प्रतिबिंबित कर सकता है अथवा मुक्त आत्माके कर्मका आधार बन सकता है।

स्वयं बुद्धि एक मिश्रित एवं अशुद्ध क्रियाके बोझसे दबी हुई है। जब हम उसके अपने वास्तविक रूपोंमें उसका विश्लेषण करते हैं तो हमें पता

चलता है कि उसकी क्रियाकी तीन अवस्थाएँ या तीन उत्तरोत्तर ऊँचे स्तर हैं। सर्वप्रथम, उसका सबसे निचला आधार एक अभ्यस्त एवं रूढ़ क्रिया है जो उच्चतर बुद्धि और ऐन्द्रिय मनके बीचकी कड़ी है, एक प्रकारकी प्रचलित बोधशक्ति (समझ) है यह बोधशक्ति अपने-आपमें इन्द्रियोंकी साक्षीपर तथा कर्मके उस नियमपर आश्रित रहती है जिसे तर्कबुद्धि जीवनके विषयमें ऐन्द्रिय मनकी अनुभूति तथा वृत्तिके आधारपर निर्धारित करती है। यह अपने-आप शुद्ध विचार और संकल्प नहीं कर सकती, पर यह उच्चतर बुद्धिकी त्रियाओंको लेकर उन्हें सम्मतिके सिक्के, विचारके रूढ़ मानदण्ड या कार्यके नियममें परिणत कर देती है। जब हम चिन्तनात्मक मनका एक प्रकारका व्यावहारिक विश्लेषण करते हैं तथा उसमेंसे इस बोधशक्तिको बाद दे देते हैं और उच्चतर बुद्धिको उसके पीछे मुक्त, साक्षी एवं शान्त रूपमें धारण किये रहते हैं तो हमें पता चलता है कि यह सामान्य एवं रूढ़ बोधशक्ति व्यर्थका चक्कर काटने लगती है, अपनी सब गढ़ी हुई सम्मति-योंको तथा वस्तुओंके बाह्य स्पर्शोंके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओंको दुहराती रहती है, पर कोई प्रबल सामंजस्य साधित नहीं कर सकती, न किसी कार्यका बीड़ा ही उठा सकती है। जैसे-जैसे यह अधिकाधिक यह अनुभव करती है कि उच्चतर बुद्धि इसे अनुमति नहीं देती, वैसे-वैसे यह असफल होने लगती है, उसका आत्म-विश्वास और अपने रूपों एवं अभ्यासोंमें विश्वास डिगने लगता है, यह बुद्धिकी क्रियामें भी अविश्वास करनें लगती है तथा दुर्बल पड़कर निस्तब्ध होती जाती है। दौड़ते रहने, चक्कर काटने और पुनरावृत्ति करनेवाले इस रूढ़ चिन्तनात्मक मनको शान्त करना विचार-शक्तिको नीरव करनेकी उस क्रियाका जो योगकी सर्वाधिक प्रभावशाली साधनाओंमेंसे एक है, सबसे मुख्य भाग है।

पर स्वयं उच्चतर बुद्धिकी पहली अवस्था क्रियाशील व्यवहारलक्षी बौद्धिकताकी होती है जिसमें सृजन, कर्म और संकल्प ही वास्तविक प्रेरक होते हैं और विचार एवं ज्ञान तो मुख्यतः क्रियान्वितिके लिये प्रयुक्त होने-वाली आधारभूत धारणाओं तथा सुझावोंकी रचनाके लिये काममें लाये जाते हैं। इस व्यवहारलक्षी बुद्धिके लिये सत्य बुद्धिकी एक ऐसी रचनामात्र है जो बाह्य तथा आन्तरिक जीवनके कार्यके लिये एक प्रभावशाली साधन है। जब हम इसे उस और भी उच्च स्तरकी बुद्धिसे, जो वैयक्तिक रूपसे एक प्रभावशाली सत्यका सृजन करनेकी अपेक्षा परम सत्यको निर्व्यक्तिक रूपसे प्रतिबिंबित करनेका यत्न करती है, पृथक् कर लेते हैं तो हमें पता चलता है कि यह व्यवहारलक्षी बुद्धि क्रियाशील ज्ञानके द्वारा अनुभवको

उत्पन्न, विकसित और विस्तृत कर सकती है, परन्तु इसे अपने आधार और पायेके रूपमें सर्वसामान्य, रूढ़ बोधशक्तिपर आश्रित रहना पड़ता है और अपना सारा बल जीवन तथा अभिव्यक्तिपर ही देना होता है। अतएव यह अपने-आपमें जीवन और कर्मकी प्रेरणा देनेवाले संकल्पसे युक्त मन है, ज्ञानात्मक मनकी अपेक्षा कहीं अधिक संकल्पात्मक मन है : यह किसी सुनिश्चित, स्थिर और शाश्वत सत्यमें नहीं, बल्कि सत्यके उन विकासोन्मुख एवं परिवर्तनशील पक्षोंमें निवास करती है जो हमारे जीवन और प्राकटचके बदलते हुए रूपोंके लिये उपयोगी होते हैं अथवा, अधिक-से-अधिक, जीवनके अभिवर्धन और विकासमें सहायक होते हैं। अपने-आपमें यह व्यवहार-लक्षी मन हमें न तो कोई दृढ़ आधार प्रदान कर सकता है और न ही कोई स्थिर लक्ष्य; यह नित्यताके किसी सत्यमें नहीं, वर्तमान कालके सत्यमें निवास करता है। परन्तु जब यह रूढ़ बोध-शक्तिकी अधीनतासे मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है तो यह महान् स्रष्टा होता है और उच्चतम मानसिक तर्कशक्तिके साथ मिलकर तो यह जीवनमें सत्यको कार्यान्वित करनेके लिये एक शक्तिशाली वाहन एवं साहसी सेवक बन जाता है। इसके कार्यका मूल्य उच्चतम सत्यान्वेषिणी बुद्धिके मूल्य एवं शक्ति-सामर्थ्यपर निर्भर करेगा। पर अकेला अपने-आप यह कालका खिलौना और प्राण (जीवन) का क्रीतदास है। निश्चल-नीरवताकी साधना करनेवालेको इसे अपनेसे दूर फेंक देना होगा; समग्र भगवान्को पानेके अभिलाषी साधकको इसे अतिक्रम कर जाना होगा, जीवनमें व्यग्र इस चिंतनात्मक मनके स्थानपर एक महत्तर कार्यसाधक आध्यात्मिक संकल्प अर्थात् आत्माके सत्य-संकल्पको प्रतिष्ठित करके उसके द्वारा इसे रूपांतरित करना होगा।

बौद्धिक संकल्प और तर्कशक्तिकी तीसरी एवं उत्कृष्टतम अवस्था उस बुद्धिकी है जो किसी वैश्व सद्वस्तुको या उससे भी ऊँचे किसी स्वयंस्थित सत्यको उसीकी खातिर खोजती है और फिर उस सत्यमें जीवन धारण करनेका यत्न करती है। यह प्रधानतया ज्ञानात्मक मन है और संकल्पात्मक मन तो यह केवल गौण रूपसे ही है। अपनी जिज्ञासावृत्तिकी अति होनेपर यह प्राय: ज्ञान प्राप्त करनेके एकमात्र संकल्पको छोड़कर, सामान्यत: संकल्पको धारण करनेमें असमर्थ ही हो जाती है; कर्मके लिये यह व्यवहारलक्षी मनकी सहायतापर निर्भर करती है और अतएव कर्म करनेके समय मनुष्य अपने उच्चतम ज्ञानके द्वारा अधिकृत सत्यकी पवित्रतासे पतित होकर उसकी एक मिश्रित निम्नतर, अस्थिर और अपवित्र क्रियान्वितिमें ग्रस्त होता चला जाता है। ज्ञान और संकल्पमें यह असामंजस्य विरोध-रूप न होनेपर भी

मानव-बुद्धिके मुख्य दोषोंमेंसे एक है। पर समस्त मानव-चिन्तनकी कुछ अन्य स्वाभाविक सीमाएँ भी हैं। यह उच्चतम बुद्धि मनुष्यके अन्दर अपने शुद्ध रूपमें कार्य नहीं करती; निम्न मन अपने दोषोंके द्वारा इसपर आक्रमण करता है, इसे निरन्तर तमसाच्छन्न, विकृत और आवृत करता रहता है और इसके अपने विशेष कार्यमें बाधा पहुँचाता है या उसे पंगु कर देता है। मानव-बुद्धिको मानसिक विच्युतिकी इस आदतसे यथासंभव अधिक-से-अधिक मुक्त एवं शुद्ध भले ही कर दिया जाय फिर भी वह एक ऐसी शक्ति रहती है जो सत्यकी खोज करती है पर उसे संपूर्ण या प्रत्यक्ष रूपमें कभी भी नहीं प्राप्त कर पाती; वह तो आत्माके सत्यको केवल प्रतिविंवित कर सकती है और उसे सीमित मानसिक मूल्य एवं सुस्पष्ट मानसिक आकार प्रदान करके अपना वनानेका यत्न कर सकती है। उसका प्रतिविंव भी वह समग्र रूपमें ग्रहण नहीं करती, वल्कि या तो एक अनिश्चित समग्रताको पकड़ पाती है या फिर सीमित व्योरोंके कुल योगको। सर्वप्रथम वह किसी एक या दूसरे आंशिक प्रतिविम्बको अपनी पकड़में लाती है और उसे रूढ़ मनके अभ्यासके वशमें करके एक स्थिर एवं वन्धनकारक सम्मतिमें परिणत कर देती है; इस प्रकार वह जो दृष्टिकोण बना लेती है उसीसे समस्त नये सत्यको परखती है और अतएव उसे एक सीमित करनेवाले पूर्वनिर्णयके रंगमें रँग देती है। सीमावद्ध करनेवाली सम्मतिके इस अभ्याससे उसे यथासंभव अधिक-से-अधिक मुक्त कर भी दो, फिर भी वह एक अन्य वन्धनके वशमें रहती है, वह यह कि व्यवहारलक्षी मन उससे प्रत्येक नये सत्यको तुरत-फुरत क्रियान्वित करनेकी मांग करता है। यह मांग उसे विशालतर सत्यकी ओर वढ़नेके लिये अवकाश ही नहीं देती, वल्कि जिस सत्यको वह पहले जांच-परख तथा जान-समझ करके जीवनमें उतार चुकी है उसीमें उसे उस सत्यकी प्रभावशाली चरितार्थताकी शक्तिके द्वारा वाँधे रखती है। इन सव वंधनोंसे मुक्त होकर वुद्धि सत्यको प्रतिविंवित करनेवाला एक शुद्ध और नमनीय दर्पण वन सकती है, तव वह एक ज्योतिमें दूसरी ज्योतिकी वृद्धि करती है तथा एक साक्षात्कारसे दूसरे साक्षात्कारकी ओर अग्रसर होती है। तव वह केवल अपनी स्वाभाविक सीमाओंसे ही सीमित होती है।

ये सीमाएँ मुख्यतः दो प्रकारकी हैं। प्रथम, उसके साक्षात्कार केवल मानसिक होते हैं; साक्षात् सत्यतक पहुँचनेके लिये हमें मनोमय वुद्धिके परे जाना होगा। दूसरे, मन अपने स्वभावसे ही उसे उसकी पकड़में आये सत्योंका प्रभावशाली एकीकरण नहीं करने देता। वह केवल उन्हें पास-

पास रखकर उनके विरोधोंको देख सकती है अथवा उनमें एक प्रकारका अपूर्ण, कार्यक्षम एवं व्यावहारिक मेल ही स्थापित कर सकती है। पर अन्तमें उसे पता चलता है कि सत्यके पहलू अनन्त हैं और इस (सत्य) के बौद्धिक रूपोंमेंसे कोई भी पूर्णतः यथार्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा अनन्त है और आत्मामें सब कुछ ही सत्य है, पर मनमें ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं जो आत्माके संपूर्ण सत्यको प्राप्त करा सके। ऐसी दशामें या तो बुद्धि अनेक प्रतिविम्बोंको ग्रहण करनेवाला एक शुद्ध दर्पण वन जाती है, अर्थात् उसपर जिस भी सत्यकी किरणें पड़ती हैं उसे वह प्रतिबिंबित करती है, पर वह उसे क्रियान्वित करनेमें सफल नहीं होती और जब उसे कार्यमें लगाया जाता है तो या तो वह निर्णय करनेमें असमर्थ रहती है या गड़वड़ा जाती है, अथवा (यदि वह सब सत्योंके लिये दर्पणका काम नहीं करती तो) उसे एक चुनाव करना पड़ता है और इस प्रकार व्यवहार करना पड़ता है मानों वह आंशिक सत्य ही संपूर्ण सत्य हो, यद्यपि वह जानती होती है कि बात ऐसी नहीं है। वह अज्ञानकी असहाय परिधिके भीतर कार्य करती है, यद्यपि वह अपने कार्यकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् सत्यसे युक्त हो सकती है। इसके विपरीत, वह जीवन और विचारसे मुँह मोड़कर अपने-आपको अति-क्रम करने तथा अपनेसे परेके सत्यमें प्रवेश करनेका यत्न भी कर सकती है। यह कार्य वह सद्वस्तुके किसी पक्ष या तत्व अथवा किसी प्रतीक या संकेतको पकड़में लाकर तथा उसके एक निरपेक्ष, सर्वग्रासी एवं सर्ववर्जक रूपका साक्षात्कार प्राप्त करके कर सकती है या फिर समस्त विचार एवं जीवन जिस निर्विशेष 'सत्' या 'असत्' में लीन हो जाते हैं उसके विषयमें किसी विचारको अधिगत तथा प्रत्यक्ष करके भी वह यह कार्य कर सकती है। तव बुद्धि-प्रकाशमय निद्रामें लीन हो जाती है और आत्मा आध्यात्मिक सत्ताके किसी अनिर्वचनीय शिखरपर पहुँच जाती है।

अतएव बुद्धिकी शुद्धिका कार्य करते हुए हमें या तो इन उपरिवर्णित संभावनाओंमेंसे किसी एकको चुन लेना होगा या फिर अंतरात्माको मनोमय भूमिकासे आध्यात्मिक विज्ञानमें उठा ले जानेका अत्यंत विरल साहस-कार्य करनेके लिये यत्न करना होगा और इस प्रकार यह देखना होगा कि इस दिव्य ज्योति एवं शक्तिके निज अन्तस्तलमें हमें क्या सत्य प्राप्त हो सकता है। यह विज्ञानमय कोश दिव्य ज्ञान-संकल्पके सूर्यको अपने अन्दर धारण किये है जो परमोच्च चिन्मय पुरुषके द्युलोकमें प्रोज्ज्वल रूपसे चमक रहा है, हमारी मनोमय बुद्धि और संकल्प-शक्ति तो उसकी विकीर्ण और विचलित रश्मियों और प्रतिच्छायाओंका एक केन्द्रमात्र हैं। उसमें दिव्य एकत्व है,

किन्तु फिर भी या वास्तवमें इसी कारण वह अनेकता एवं विभिन्नताको नियंत्रित कर सकता है : जो भी चुनाव, आत्म-परिसीमन एवं संमिश्रण वह करता है वह उसपर अज्ञानके द्वारा नहीं लादा जाता, बल्कि एक स्वराट् दिव्य ज्ञानकी शक्तिके द्वारा स्वयं विकसित होता है। जब विज्ञान उपलब्ध हो जाता है तो उसे मानवसत्ताको दिव्य बनानेके लिये संपूर्ण प्रकृतिपर प्रयुक्त किया जा सकता है। पर विज्ञानमें एकदम ही आरोहण कर जाना संभव नहीं; यदि ऐसा करना संभव हो तो इसका अर्थ होगा सूर्यके द्वारोंमेंसे, **सूर्यस्य द्वारा,** एकाएक और जोर-जबर्दस्तीसे तीरकी तरह छूटते हुए या उन्हें तोड़ते हुए ऊपर चले जाना या उनमेंसे चुपकेसे निकलकर ऊपर भाग जाना, जिसके बाद निकट भविष्यमें वहाँसे लौटनेकी कोई संभावना नहीं रहती। हमें अन्तर्ज्ञानात्मक या ज्ञानदीप्त मनको एक शृंखला या सेतु बनाना होगा, यह मन प्रत्यक्ष विज्ञान-ज्योति नहीं है, पर इसमें विज्ञानका प्रथम गौण रूप निर्मित हो सकता है। यह ज्ञानदीप्त मन आरंभमें एक मिश्रित-सी शक्ति होगा जिसको हमें मनपर निर्भर रहनेकी उसकी समस्त प्रवृत्तिसे तथा मानसिक रूप-रचनाओंसे मुक्त कर शुद्ध करना होगा ताकि संकल्प और विचारकी समस्त क्रिया एक आलोकित विवेकशक्ति, अन्तर्ज्ञान, अन्त:प्रेरणा और दिव्य साक्षात्कारके द्वारा तत्त्वदृष्टि तथा सत्यदर्शी संकल्पमें रूपान्तरित हो जाय। यह बुद्धिकी अंतिम शुद्धि होगी और इसके साथ ही विज्ञानमय सिद्धिके लिये तैयारी भी।

आठवाँ अध्याय

आत्माकी मुक्ति

मनोमय सत्ता और सूक्ष्म प्राणकी शुद्धि आध्यात्मिक मुक्तिके लिये आधार तैयार कर देती है––स्थूल-भौतिक शुद्धि अर्थात् शरीर और स्थूल प्राणकी शुद्धिका प्रश्न हम अभी एक ओर छोड़ देते हैं, यद्यपि सर्वांगीण सिद्धिके लिये वह भी आवश्यक है। शुद्धि मुक्तिकी शर्त है। शुद्धि मात्र एक प्रकारकी मुक्ति या छुटकारा ही है; क्योंकि इसका अर्थ है संकीर्णता, बंधन तथा अंधकार उत्पन्न करनेवाली अपूर्णताओं एवं गड़बड़ियोंको दूर हटाना: कामना-रूपी अशुद्धिको दूर करनेसे सूक्ष्म प्राण मुक्त हो जाता है, अशुद्ध भावावेगों और उद्वेगजनक प्रतिक्रियाओं-रूपी अशुद्धिको दूर करनेसे हृदय मुक्त हो जाता है, ऐन्द्रिय मनके अज्ञानजनक सीमित विचार-रूपी अशुद्धिको दूर करनेसे बुद्धि मुक्त हो जाती है, कोरी बौद्धिकता-रूपी अशुद्धिको दूर करनेसे विज्ञानमय मुक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह सब तो करणोंकी मुक्ति है। आत्माकी मुक्तिका स्वरूप अधिक विशाल एवं तात्त्विक है; उसका अभिप्राय मर्त्य सीमासे बाहर निकलकर आत्माकी असीम अमरतामें उन्मुक्त हो जाना है।

कुछ-एक चिंतन-प्रणालियोंके लिये मुक्तिका अर्थ है––समस्त प्रकृतिका परित्याग कर देना, शुद्ध सत्ताकी नीरव अवस्था, निर्वाण या लय, प्राकृत सत्ताका किसी परिभाषातीत परब्रह्ममें लय, **मोक्ष**। परन्तु हमारा लक्ष्य लीनता एवं मग्नताका आनन्द, निष्क्रिय शान्तिकी विशालता, आत्मनिर्वाण-रूपी मोक्ष या परब्रह्ममें आत्म-निमज्जन नहीं है। हम मुक्तिके विचारको केवल यह अर्थ प्रदान करेंगे कि यह एक ऐसा आन्तरिक परिवर्तन है जो मुक्तिके ढंगके समस्त अनुभवमें सामान्य रूपसे देखनेमें आता है और जो सिद्धिके लिये आवश्यक तथा आध्यात्मिक मुक्तिके लिये अनिवार्य है। हमें पता चलेगा कि तब इसका अभिप्राय सदा दो चीजोंसे होता है; वे चीजें हैं––परित्याग और ग्रहण, इनमेंसे एक तो मुक्तिका निषेधात्मक पक्ष है और दूसरा भावात्मक; मुक्तिकी निषेधात्मक गतिका अर्थ है अपनी सत्ताकी निम्न प्रकृतिके प्रधान बंधनों एवं मुख्य ग्रंथियोंसे छुटकारा पाना, उसके भावात्मक पक्षका अर्थ है उच्चतर आध्यात्मिक सत्तामें उन्मुक्त या विकसित

होना। परन्तु ये प्रधान ग्रंथियाँ—मन, हृदय और सूक्ष्म प्राणशक्तिकी करणात्मक ग्रंथियोंसे भिन्न एवं अधिक गहरी ऐंठनें हैं क्या? हम देखते हैं कि गीतामें हमारे लिये इनका निर्देश किया गया है और इनपर बड़े बलपूर्वक तथा निरन्तर, प्रबल शब्दोंमें एवं बारम्बार आग्रह किया गया है; ये चार ग्रंथियाँ हैं, कामना, अहंकार, द्वन्द्व और प्रकृतिके तीन गुण; क्योंकि गीताके विचारमें मुक्त होनेका अर्थ है निष्काम और निरहंकार होना, मन, अंतरात्मा और आत्मामें सम तथा त्रिगुणसे रहित, **निस्त्रैगुण्य,** होना। हम इस परिभाषाको स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि मुक्तिके सभी मौलिक तत्त्व इसकी विशालतामें समा जाते हैं। दूसरी ओर, मुक्तिका भावात्मक अभिप्राय है अपनी आत्माको विश्वात्माके साथ एक करना, विश्वसे परे भी भगवान्‌के साथ एकात्मता लाभ करना, उच्चतम दिव्य प्रकृतिको धारण करना,—यूँ कहें कि भगवान्‌के समान बनना या अपनी सत्ताके धर्ममें उनके साथ साधर्म्य लाभ करना। यही मुक्तिका संपूर्ण और समग्र आशय है और यही आत्माकी सर्वांगपूर्ण मुक्ति है।

सूक्ष्म प्राणकी कामना-रूपी अशुद्धिको दूर करनेके संबंधमें हम पहले भी एक प्रकरणमें कह चुके हैं। स्थूल प्राणकी लालसा तो इस कामनाका विकासात्मक या, यूँ कहें कि, क्रियात्मक आधार है। पर यह मानसिक एवं सूक्ष्म-प्राणिक प्रकृतिकी बात है; आध्यात्मिक निष्कामताका अर्थ तो इससे अधिक विशाल एवं मौलिक है: क्योंकि कामनाकी दो ग्रंथियाँ हैं, एक है प्राणमें विद्यमान निम्नतर ग्रंथि जो करणोंमें लालसाके रूपमें दृष्टिगोचर होती है; दूसरी है स्वयं अंतरात्मामें रहनेवाली अत्यंत सूक्ष्म ग्रंथि जिसका प्रथम आधार या **प्रतिष्ठा** है बुद्धि और जो हमारे बंधनके इस सूक्ष्म जालका अन्तरतम मूल है। जब हम नीचेसे देखते हैं तो कामना हमारे सामने प्राणशक्तिकी एक ऐसी लालसाके रूपमें प्रस्तुत होती है जो भावावेगोंमें हृदयकी लालसाका सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है और बुद्धिमें उसकी सौन्दर्यात्मक, नैतिक, क्रियाशील या तर्कप्रधान शक्तिकी लालसा, अभिरुचि एवं उत्तेजनाका और भी सूक्ष्म ग्रहण कर लेती है। यह कामना साधारण मनुष्यके लिये एक आवश्यक तत्त्व है; व्यक्तिके रूपमें वह अपने समस्त कर्मको किसी प्रकारकी निम्न या उच्च लालसा, अभिरुचि या आवेशकी सेवामें ग्रस्त किये विना न तो जी सकता है और न कोई कार्य ही कर सकता है। पर जब हम कामनापर ऊपरकी भूमिकासे दृष्टिपात करनेमें समर्थ हो जाते हैं तो हम देखते हैं कि करणोंकी इस कामनाको आश्रय देनेवाली वस्तु है आत्माकी संकल्पशक्ति। एक संकल्प, **तपस्** या **शक्ति**

है जिसके द्वारा गुप्त आत्मा अपने बाह्य करणोंको उनकी समस्त क्रियाके लिये बाध्य करती है और उससे अपनी सत्ताका सक्रिय हर्ष, आनन्द, आहरण करती है जिसमें वे यदि चेतन रूपसे भाग लेते भी हैं तो अत्यंत अस्पष्ट एवं अपूर्ण रूपसे ही लेते हैं। यह तपस् उस परात्पर आत्माकी संकल्पशक्ति है जो विश्वरूपी विराट् व्यापारको उत्पन्न करती है, उस विश्वात्माकी संकल्प-शक्ति है जो इस व्यापारको धारण तथा अनुप्राणित करती है, उस स्वतंत्र जीवात्माकी संकल्पशक्ति है जो विश्वात्माके 'बहु' रूपोंका आत्मा-रूपी केन्द्र है। यह एक ही संकल्पशक्ति है जो एक साथ इन तीनोंमें स्वतंत्र रूपमें विद्यमान है, व्यापक, समस्वर एवं एकीकृत है; जब हम आत्मामें निवास तथा कर्म करते हैं तो हमें अनुभव होता है कि यह तपस् सत्ताके आध्या-त्मिक आनन्दकी एक निरायास और निष्काम संकल्पशक्ति है, स्वयंस्फूर्त और आलोकित, अपने-आपको चरितार्थ और धारण करनेवाली, तृप्त और आनन्दपूर्ण संकल्पशक्ति है।

पर ज्योंही जीवात्मा अपनी सत्ताके विराट् और परात्पर सत्यसे मुँह मोड़कर अहंभावकी ओर झुकता है, इस संकल्पशक्तिको अपनी निजी वस्तु, एक पृथक् व्यक्तिगत शक्ति, बनानेकी चेष्टा करता है, त्योंही इस संकल्पशक्तिका स्वरूप बदल जाता है: यह एक प्रयत्न, आयास एवं शक्तिमय तापका रूप धारण कर लेती है जो अपनी कार्यसिद्धि और स्वत्व-प्राप्तिके आवेशमय हर्षोंसे युक्त हो सकता है, पर जिसके साथ उसकी दुःख-दायक प्रतिक्रियाएँ और श्रमजन्य पीड़ा भी जुड़ी रहती हैं। यही आयास प्रत्येक करणमें कामना, इच्छा या लालसा-रूपी बौद्धिक, भाविक, क्रियाशील, संवेदनात्मक या प्राणिक संकल्पमें परिवर्तित हो जाता है। जब करण, अपने-आपमें, कार्य आरंभ करनेके अपने प्रत्यक्ष संकल्पसे एवं विशेष प्रकारकी कामनासे मुक्त एवं शुद्ध हो जाते हैं तब भी यह अपूर्ण संकल्पशक्ति, तपस्, बनी रह सकती है, और जबतक यह आंतरिक क्रियाके उद्गमको छुपाती है या उसके अपने विशिष्ट रूपको विकृत कर देती है तबतक अंतरात्मा स्वतंत्रताका आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती, अथवा यदि कर भी सकती है तो कर्ममात्रसे पराङ्मुख होकर ही प्राप्त कर सकती है; यहाँतक कि यदि इस संकल्पशक्तिको टिके रहने दिया जाय तो यह प्राणिक या अन्य कामनाओंको फिरसे भड़का देगी या, कम-से-कम सत्तापर उनकी ऐसी छाया डालेगी जिससे उनकी याद ताजी हो जायेगी। कामनाके इस आध्यात्मिक बीज या आरंभका भी बहिष्कार करना होगा, इसका भी त्याग और उन्मूलन करना होगा: साधकको या तो सक्रिय शान्ति एवं पूर्ण आन्तरिक नीरवताका

वरण करना होगा या फिर विराट् संकल्पके साथ अर्थात् दिव्य शक्तिके तपस्‌के साथ एकत्व प्राप्त करके उस एकत्वमें अपनी व्यक्तिगत कार्य-प्रवृत्ति, **संकल्पारंभ,** को विलीन कर देना होगा। निष्क्रिय मार्ग यह है कि साधक अन्दरसे निश्चल बने, प्रयत्न, इच्छा एवं आशासे या कार्य करनेकी समस्त प्रवृत्तिसे रहित हो, **निश्चेष्ट, अनीह, निरपेक्ष, निवृत्त** बने; सक्रिय मार्ग यह है कि वह अपने मनमें इस प्रकार निश्चल एवं निर्व्यक्तिक रहे, पर अपने शुद्ध हुए करणोंके द्वारा परमोच्च संकल्पशक्तिको उसके शुद्ध आध्यात्मिक रूपमें कार्य करने दे। तब, यदि अंतरात्मा आध्यात्मीकृत मनके स्तरपर निवास करे तो वह केवल यंत्र ही बनती है, पर स्वयं न तो कार्यका संकल्प-रूप आरंभ करती है और न कार्य ही करती है अर्थात् **निष्क्रिय** और **सर्वारंभ-परित्यागी** होती है। परन्तु, यदि वह ऊपर उठकर विज्ञानभूमिकामें पहुँच जाय तो वह यंत्र होनेके साथ-साथ दिव्य कर्मके आनन्दमें तथा दिव्य आनन्दके परमोल्लासमें भाग भी लेती है; वह अपने अन्दर प्रकृति और पुरुषको एक कर देती है।

अहं-वृत्ति अर्थात् सत्ताकी पार्थक्यजनक वृत्ति अज्ञान और बंधनके समस्त उद्वेगकारी प्रयासका अवलंब है। जबतक मनुष्य अहंबुद्धिसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसे वास्तविक मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अहंका स्थान बुद्धिमें माना जाता है; अहंभाव विवेककारी मन और बुद्धिका अज्ञान ही है, क्योंकि ये मन और बुद्धि अशुद्ध रूपमें विवेक करते हैं और मन, प्राण तथा शरीरके व्यक्तिभावापन्न रूपको भेदभावजनक सत्ताका सत्य समझते हैं और समस्त सत्ताकी एकताके महत्तर एवं समन्वयकारी सत्यसे विमुख हो जाते हैं। कम-से-कम, मनुष्यमें जो अहंमय विचार विद्यमान है वही भेदभावप्रधान सत्ताके असत्यका मुख्य आधार है; अतएव इस विचारसे मुक्त होना, इससे उलटे विचारपर अर्थात् एकताके, एक ही 'पुरुष', एक ही आत्मा, एक ही प्राकृत सत्ताके विचारपर चित्तको एकाग्र करना ही प्रभावशाली उपाय है; पर अकेला अपने-आपमें यह पूर्ण रूपसे सफल नहीं होता। कारण, यद्यपि अहं इस अहं-बुद्धिको अपना आधार बनाता है फिर भी अपनी विशेष प्रकारकी आग्रहशीलताके लिये या अपने स्थायित्वके आवेशके लिये उसे सबसे अधिक शक्तिशाली साधन ऐन्द्रिय मन, प्राण और शरीरकी सामान्य क्रियामें ही मिलता है। अपने अन्दरसे अहं-बुद्धिका उन्मूलन तबतक पूर्ण रूपसे संभव नहीं होता या पूर्णतया प्रभावशाली नहीं होता जबतक ये करण शुद्ध न हो जायँ; इसका कारण यह है कि इनकी क्रिया सतत रूपसे अहंकारमय एवं पार्थक्यजनक होती है और फलतः ये बुद्धिको उसी प्रकार हर

ले जाते हैं जिस प्रकार, गीतामें कहा गया है कि, समुद्रमें आँधी नौकाको उड़ा ले जाती है, बुद्धिके ज्ञानको ये निरंतर तमसाच्छन्न करते रहते हैं या कुछ समयके लिये लुप्त ही कर देते हैं और अतएव वह ज्ञान हमें फिरसे प्राप्त करना पड़ता है, इसके लिये हमें जो प्रयत्न करना होता है वह ठीक भगीरथके पुरुषार्थकी ही याद दिलाता है। परन्तु, यदि निम्न करणोंमेंसे अहंमय कामना, इच्छा, संकल्प, अहंकारपूर्ण आवेश एवं भावावेशको तथा स्वयं बुद्धिमेंसे भी अहंतामय विचार और अभिरुचिको दूर करके उन्हें शुद्ध कर लिया जाय तो एकत्वके आध्यात्मिक सत्यके ज्ञानको एक दृढ़ आधार प्राप्त हो सकता है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक अहंभाव सब प्रकारके सूक्ष्म रूप ग्रहण करता रहता है और हम अपनेको इससे मुक्त समझते रहते हैं जब कि वास्तवमें हम इसके यंत्रोंके रूपमें कार्य कर रहे होते हैं और हमें बस एक प्रकारका बौद्धिक संतुलन ही प्राप्त हुआ होता है जो सच्ची आध्यात्मिक मुक्ति नहीं है। और फिर, अहंकी सक्रिय भावना-को निकाल फेंकना ही काफी नहीं है; इससे तो केवल मनकी निष्क्रिय अवस्था ही प्राप्त हो सकती है, पृथक् सत्ताकी एक विशेष प्रकारकी निष्क्रिय एवं जड़ शान्ति राजसिक अहंभावका स्थान ले सकती है, पर यह भी सच्ची मुक्ति नहीं है। अहंभावनाके स्थानपर परात्पर भगवान् एवं विराट् पुरुषके साथकी एकताको स्थापित करना होगा।

एकताको स्थापित करनेकी इस आवश्यकताका कारण यह है कि बुद्धि नानाविध क्रीड़ा करनेवाले अहंकारकी प्रतिष्ठा या मुख्य भित्तिमात्र है; पर अपने मूलमें यह अहंकार हमारी आध्यात्मिक सत्ताके एक सत्यका ह्रास या विकार है। सत्ताका वह सत्य यह है कि एक परात्पर सत् परम पुरुष या आत्मा है, जगत्का एक त्रिकालातीत आत्मा, एक सनातन सत्ता या भगवान् है, अथवा उस भागवत सत्ताके विषयमें आजकल जो मानसिक धारणाएँ प्रचलित हैं उनकी तुलनामें हम उसे अतिभागवत (भगवान्‌से परेकी) सत्ता भी कह सकते हैं। वह सत्ता यहाँ अन्तर्यामी रूपमें विद्यमान है, अपनी भुजाओंमें सबका आलिंगन किये हुए है, सर्व-चालक और सर्व-नियामक है, महान् विश्वात्मा है; और व्यक्ति सनातनकी सत्ताकी एक चेतन शक्ति है, वह उनके साथ नित्य ही अनेकविध संबंध स्थापित कर सकता है, पर अपनी सनातन-सत्ताके सत्स्वरूपके अन्तस्तलमें उनके साथ एक भी है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे बुद्धि समझ सकती है, एक बार शुद्ध हो जानेपर तो वह इसे प्रतिबिम्बित करके अन्य करणोंतक भी पहुँचा सकती है, इसे एक गौण एवं अमौलिक ढंगसे धारण भी कर सकती है, पर इसका पूर्ण

साक्षात्कार तो आत्माकी भूमिकामें ही किया जा सकता है, वहाँ पहुँचकर ही इसे पूर्ण रूपसे जीवनमें उतारा जा सकता तथा प्रभावशाली बनाया जा सकता है। जब हम आत्मामें निवास करते हैं तब हम अपनी सत्ताके इस सत्यको केवल जानते ही नहीं बल्कि हम स्वयं यही सत्य होते हैं। तब व्यक्ति आत्मामें, आत्माके आनन्दमें, विराट् सत्ता एवं त्रिकालातीत भगवान्के साथ तथा अन्य सब भूतोंके साथ अपने एकत्वका उपभोग करता है और अहं-भावसे आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करनेका मूल आशय यही है। किन्तु ज्योंही अंतरात्मा मनोमय बंधनकी ओर झुकती है, त्योंही उसके अन्दर अपने पृथक् आत्मिक व्यक्तित्वकी एक विशेष भावना उत्पन्न होती है जिसके अपने नानाविध आनन्द उसे प्राप्त होते हैं, पर वह किसी भी क्षण पूर्ण अहंबुद्धि एवं अज्ञानमें तथा एकत्वके विस्मरणकी अवस्थामें पतित हो सकती है। इस पृथक् व्यक्तिकी भावनासे मुक्त होनेके लिये भगवान्के विचार और साक्षात्कारमें अपने-आपको डुबा देनेका यत्न किया जाता है, और आध्यात्मिक तपस्याकी कुछ-एक पद्धतियोंमें यह यत्न समस्त व्यक्तिगत सत्ताके उच्छेदके लिये एक कठोर प्रयासका रूप ग्रहण कर लेता है, और इस प्रकार उनमें लयात्मक समाधिकी अवस्थामें पहुँचकर भगवान्के साथके सभी व्यक्तिगत या विराट् संबंधोंका परित्याग कर दिया जाता है, कुछ अन्य पद्धतियोंमें इसका रूप यह हो जाता है कि व्यक्ति इस लोकमें न रहकर भगवान्में तन्मय हो उन्हींमें निवास करनेका यत्न करता है अथवा वह उनकी उपस्थिति-में सतत निमग्न या एकचित्त होकर जीवन धारण करनेका अभ्यास करता है, **सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य मुक्ति**। पूर्णयोगके लिये जो मार्ग प्रस्तुत किया जाता है वह यह है कि हम अपनी संपूर्ण सत्ताको ऊपर ले जाकर भगवान्को समर्पित कर दें; इसके द्वारा हम न केवल अपनी आध्यात्मिक सत्तामें उनके साथ एक हो जाते हैं अपितु हम उनमें और वे हममें निवास भी करने लगते हैं, जिससे कि हमारी सारी-की-सारी प्रकृति उनकी उपस्थिति-से पूर्ण होकर दिव्य प्रकृतिमें रूपान्तरित हो जाती है; हम अपनी आत्मा एवं चेतनामें तथा अपने प्राण एवं भौतिक तत्वमें भगवान्के साथ एक हो जाते हैं और साथ ही इस एकतामें रहते-सहते तथा चलते-फिरते हैं और इसका नानाविध आनन्द भी उठाते हैं। अहंभावसे इस प्रकारकी संपूर्ण मुक्ति एवं दिव्य आत्मा और प्रकृतिकी प्राप्ति हमारी वर्तमान भूमिकामें केवल सापेक्ष रूपमें ही पूर्ण हो सकती है, पर जैसे-जैसे हम विज्ञान-भूमिकाकी ओर खुलते और उसमें आरोहण करते हैं वैसे-वैसे यह अपनी चरम पूर्णताको प्राप्त करने लगती है। यह मुक्त पूर्णता है।

अहंसे मुक्ति तथा कामनासे मुक्ति दोनों मिलकर केन्द्रीय आध्यात्मिक मुक्तिकी नींव स्थापित कर देती हैं। यह बोध, यह विचार एवं अनुभव कि मैं इस जगत्‌में एक पृथक् स्वयं-स्थित सत्ता रखनेवाला जीव हूँ, और अपनी सत्ताकी चेतना एवं शक्तिको इस अनुभवके साँचेमें ढालना—यही समस्त दुःख, अज्ञान और पापका मूल है। और इसका कारण यह है कि यह अनुभव वस्तुओंके समस्त वास्तविक सत्यको ज्ञान तथा व्यवहारमें मिथ्या रूप दे देता है; यह सत्ता तथा चेतनाको सीमित कर देता है और हमारी सत्ताके शक्ति-सामर्थ्य एवं आनन्दको भी सीमित कर देता है; यह सीमा फिर जीवन तथा चैतन्यकी अशुद्ध प्रणालीको जन्म देती है, हमारी सत्ता और चेतनाकी शक्तिका प्रयोग करनेकी अशुद्ध प्रणालीको तथा सत्ताके आनन्दके मथ्यिा, विकृत एवं विपरीत रूपोंको उत्पन्न करती है। इस प्रकार सत्तामें सीमित हुई तथा अपने परिपार्श्वमें दूसरोंसे स्वतः ही पृथक् हुई अंतरात्मा फिर अपने परम आत्मा एवं ईश्वरके साथ तथा इस जगत्‌के एवं अपने चारों ओरकी सब वस्तुओंके साथ अपनी एकता और समस्वरताको अनुभव नहीं करती; उलटे वह इस विश्वके साथ अपना असामंजस्य अनुभव करती है, अन्य प्राणियोंके साथ, जो वस्तुतः उसकी ही दूसरी आत्माएँ हैं पर जिनके साथ वह अनात्माके रूपमें व्यवहार करती है, संघर्ष और विरोध-वैपम्यमें ग्रस्त रहती है; और जवतक यह विरोध-वैषम्य एवं असामंजस्य बने रहते हैं तबतक वह अपने जगत्‌को अपने अधिकारमें नहीं ला सकती तथा विराट् जीवनका आनन्द नहीं उठा सकती, वल्कि तवतक वह भय, व्याकुलता तथा सब प्रकारकी वेदनाओंसे संकुल रहती है, अपनी रक्षा और अभिवृद्धि करने तथा अपनी परिस्थितियोंको अपने अधिकारमें लानेके लिये कष्टप्रद संघर्षमें उलझी रहती है,—क्योंकि अपने जगत्‌को अपने अधिकारमें लाना अनन्त आत्माका निज स्वभाव है तथा प्राणिमात्रकी एक आवश्यकता एवं बलवती प्रवृत्ति है। इस श्रम और पुरुपार्थसे उसे जो नाना प्रकारका संतोष प्राप्त होता है वह सीमित, विकृत एवं असंतोषप्रद ढंगका होता है: क्योंकि उसे जो एकमात्र वास्तविक संतोष मिलता है वह आत्मविकासका, अपने स्वरूपकी अधिकाधिक पुनः प्राप्तिका, सुसंगति और समस्वरताके किसी साक्षात्कारका तथा सफल आत्म-सर्जन एवं आत्मोपलब्धिका संतोप होता है, पर अहं-चेतनाके आधारपर वह इन चीजोंका जो थोड़ा-सा अंश प्राप्त कर सकती है वह सदा सीमित, असुरक्षित, अपूर्ण एवं क्षणिक ही होता है। वह अपनी सत्ताके साथ भी कलहमें रत रहती है,—इसका पहला कारण तो यह है कि अपनी सत्ताके केन्द्रीय सामंजस्यकारी सत्यपर

अधिकार न होनेसे वह अपनी प्रकृतिके करणोंको ठीक ढंगसे नियंत्रणमें नहीं रख सकती, न वह उनकी प्रवृत्तियों, शक्तियों और माँगोंमें समस्वरता ही स्थापित कर सकती है; समस्वरताका रहस्य उसे ज्ञात ही नहीं है; क्योंकि उसे अपनी एकता एवं आत्म-उपलब्धिका रहस्य भी प्राप्त नहीं है; और दूसरे, अपनी उच्चतम आत्माको उपलब्ध न किये होनेसे उसे उसकी प्राप्तिके लिये संघर्ष करना पड़ता है तथा जबतक वह अपनी सच्ची उच्चतम सत्ताको उपलब्ध नहीं कर लेती तबतक वह शान्ति भी नहीं प्राप्त कर सकती। इस सबका अर्थ यह है कि वह भगवान्‌के साथ एकीभूत नहीं है; क्योंकि भगवान्‌के साथ एकीभूत होनेका अर्थ है अपनी आत्माके साथ एक होना, विश्वके साथ तथा सर्वभूतोंके साथ एकमय होना। यह एकता ही यथार्थ एवं दिव्य जीवनका रहस्य है। पर अहं इसे प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपने मूल स्वभावसे ही पृथक्ताको उत्पन्न करनेवाला है और क्योंकि हमारे अपने स्वरूपकी अपनी मनोवैज्ञानिक सत्ताकी दृष्टिसे भी वह एकताका एक मिथ्या केन्द्र है; क्योंकि वह हमारी संपूर्ण सत्ताके सनातन आत्माके साथ नहीं, बल्कि एक परिवर्तनशील मानसिक, प्राणिक, एवं भौतिक व्यक्तित्वके साथ तादात्म्य स्थापित करके उसी तादात्म्यमें हमारी सत्ताकी एकताको पानेका यत्न करता है। पर केवल आध्यात्मिक सत्तामें ही हम सच्ची एकताको प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि वहाँ व्यक्ति विशाल होकर अपनी संपूर्ण सत्ताके साथ तदाकार हो जाता है और अपने-आपको विराट् सत्ता तथा परात्पर भगवान्‌के साथ एक अनुभव करता है।

मानव-आत्माका समस्त दुःख-कष्ट जीवन-यापनकी इस मिथ्या, अहं-भावमय और भेदजनक प्रणालीसे उत्पन्न होता है। जो आत्मा अपनी चेतनामें सीमित होनेके कारण **अनात्मवान्** है अर्थात् जिसने अपनी मुक्त स्वयंभू-सत्ताको प्राप्त नहीं किया है वह अपने ज्ञानमें भी सीमित होती है; और यह सीमित ज्ञान मिथ्यात्वजनक ज्ञानका रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसी दशामें उसे बाध्य होकर सत्य ज्ञानको पुनः प्राप्त करनेके लिये संघर्ष करना पड़ता है, पर भेदजनक मनमें विद्यमान अहंभाव ज्ञानके प्रदर्शनों किंवा खण्डोंसे ही संतोष मान लेता है, उन खण्डोंको जोड़कर वह किसी ऐसे समुच्च-यात्मक या प्रभुत्वशाली विचारका रूप दे देता है जो असत्य या अपूर्ण होता है, और इस विचारात्मक ज्ञानसे उसकी आशा पूरी नहीं होती तथा एकमात्र ज्ञेय वस्तुके नूतन अनुसंधानके लिये उसे इसका त्याग कर देना पड़ता है। वह एकमात्र वस्तु है भगवान्, परम पुरुष, परम आत्मा जिसमें विराट् और व्यक्तिगत सत्ता अन्ततोगत्वा अपनी सही आधारशिला तथा

सही समस्वरताओंको पा लेती हैं। और फिर, अहं-बद्ध आत्मा अपनी शक्तिके सीमित होनेके कारण अनेक दुर्बलताओंसे परिपूर्ण होती है; अयथार्थ ज्ञानके साथ सत्ताका अयथार्थ संकल्प, उसकी अयथार्थ प्रवृत्तियाँ एवं आवेश भी जुड़े ही रहते हैं, और मानवको जो पापका भान होता है उसका मूल इस अयथार्थताके तीव्र अनुभवमें ही निहित है। अपनी प्रकृतिकी इस त्रुटिको वह आचार-व्यवहारके ऐसे मानदण्डोंके द्वारा सुधारनेका यत्न करता है जो उसे पुण्य-विषयक अहम्मय चेतना एवं पुण्यवृत्तिकी तुष्टिके द्वारा पापविषयक अहम्मय चेतना और पापवृत्तिकी तुष्टियोंको अर्थात् सात्विक अहंकारके द्वारा राजसिक अहंकारको दूर करनेमें सहायता पहुँचाये। परन्तु मूल पापको दूर करना होगा, वह मूल पाप है—भागवत सत्ता एवं भागवत संकल्पशक्तिसे अपनी सत्ता और संकल्पशक्तिका विच्छेद; जब वह भागवत संकल्पशक्ति और सत्ताके साथ एकताको पुनः प्राप्त कर लेता है, तब वह पाप और पुण्यसे ऊपर उठकर अपनी दिव्य प्रकृतिकी असीम स्वयं-स्थित पवित्रता एवं सुरक्षाकी अवस्थामें पहुँच जाता है। वह अपने अपूर्ण ज्ञानको व्यवस्थित करके तथा अपने अर्द्ध-आलोकित संकल्प एवं सामर्थ्यको नियंत्रित करके और उन्हें बुद्धिके किसी क्रमबद्ध प्रयत्नके द्वारा संचालित करके अपनी दुर्बलताओंको सुधारनेका यत्न करता है; पर इसका परिणाम सदा यह होता है कि उसकी कर्म-शक्तिका मार्ग एवं मानदण्ड सीमित, अनिश्चित, परिवर्ती और स्खलनशील ही रहता है। जब वह मुक्त आत्माकी विशाल एकता, भूमाको पुनः प्राप्त कर लेता है तभी उसकी प्रकृतिके करण पूर्णरूपेण अनन्त आत्माके यंत्रकी भाँति गति कर सकते हैं और उस शुभ, सत्य तथा शक्तिके पगोंका अनुसरण कर सकते हैं जो अपनी सत्ताके सर्वोच्च केन्द्रसे कार्य करनेवाली मुक्त आत्माकी निज संपदा हैं। और फिर, क्योंकि उसकी सत्ताका आनन्द सीमित है, वह आत्माके सुरक्षित, स्वयंस्थित और पूर्ण आनन्दको आयत्त नहीं कर सकता, न वह विराट् विश्वके उस आनन्दको ही अधिगत कर सकता है जो जगत्को निरन्तर गतिमान् रखता है, वह तो केवल सुखों और दुःखों एवं हर्षों और शोकोंकी मिश्रित एवं परिवर्तनशील शृंखलामें ही विचरण कर सकता है, या फिर उसे किसी चेतन (जानबूझकर धारण की हुई) निश्चेतना या जड़ उदासीनताकी ही शरण लेनी पड़ती है। अहं-प्रधान मन इससे भिन्न कुछ कर भी नहीं सकता, और जिस आत्माने अपनेको अहंके रूपमें बहिर्मुख कर दिया है वह जीवनके इस असंतोषजनक, गौण, अपूर्ण, प्रायः ही विकृत, विक्षुब्ध या सारशून्य उपभोगोंमें ग्रस्त रहती है; तथापि आध्यात्मिक एवं विराट् आनन्द मानवके भीतर उसकी अंतरात्मा

एवं आत्मामें तथा भगवान् और जगत्के साथ उसकी गुप्त एकतामें सदा-सर्वदा विद्यमान है। अहंकी बेड़ीको तोड़कर उसके पीछे स्थित मुक्त आत्मा एवं अमर आध्यात्मिक सत्तामें प्रवेश करना—इसीको अंतरात्माका अपनी सनातन दिव्यताको पुनः प्राप्त करना कहते हैं।

अपूर्ण, भेदजनक अस्तित्वको धारण करनेकी इच्छा एक अयथार्थ **तपस्** (संकल्प) है जो प्रकृतिमें रहनेवाली आत्माको इस प्रकारका यत्न करनेके लिये प्रेरित करता है कि वह अपने-आपको, अपनी सत्ता और चेतनाको तथा अपनी सत्ताके सामर्थ्य एवं आनन्दको भेदप्रधान अर्थमें व्यक्तिगत रूप प्रदान करे, इन वस्तुओंको अपनी निजी समझते हुए, अर्थात् इनपर भगवान्-का तथा एकमेव विश्वात्माका नहीं वरन् अपना निजका अधिकार मानते हुए इन्हें धारण करे। यह अयथार्थ संकल्प ही उसे इस गलत दिशाकी ओर मोड़ देता है तथा अहंको उत्पन्न करता है। अतएव इस मूल कामनासे मुँह मोड़ना तथा इसके पीछे रहनेवाली उस कामनारहित संकल्प-शक्तिको प्राप्त करना अत्यावश्यक है जिसका सत्ता-सम्बन्धी संपूर्ण उपभोग एवं जीवन-धारण-सम्बन्धी समस्त संकल्प मुक्त, विराट् और एकीकारक आनन्दका उपभोग है एवं इसी आनन्दको प्राप्त करनेका संकल्प है। कामना-स्वरूप संकल्पसे मुक्ति तथा अहंभावसे मुक्ति—ये दोनों चीजें एक ही हैं, और कामनात्मक संकल्प तथा अहंभावके सुखद विलोपसे जो एकत्व साधित होता है वही मुक्तिका सार है।

नौवाँ अध्याय

प्रकृतिकी मुक्ति

हमारी सत्ताके दो पक्ष हैं, एक तो अनुभव करनेवाली चेतन आत्मा और दूसरा, कार्यवाहिका प्रकृति, जो आत्माको सतत और विविध रूपमें अपने अनुभव प्रदान कर रही है; ये दोनों पक्ष मिलकर हमारी आंतरिक अवस्थाकी सभी वृत्तियोंको तथा उसकी प्रतिक्रियाओंको निर्धारित करते हैं। प्रकृति घटनाओंका स्वरूप तथा अनुभव लेनेवाले करणोंके रूप पुरुषके सामने प्रस्तुत करती है, आत्मा अनुभवके संपर्कमें आनेपर या तो इन घटनाओंके प्रति प्रकृतिके द्वारा निर्धारित प्रतिक्रियाको अनुमति प्रदान करती है या फिर वह किसी और प्रतिक्रियाको निर्धारित करनेके लिये एक संकल्प करती है जिसे वह प्रकृतिपर बलपूर्वक थोपती है। करणोंकी अहम्मय चेतना तथा कामनात्मक संकल्पशक्तिको दी हुई स्वीकृति अनुभवकी निम्नतर भूमिकाओंमें उतरनेके लिये आत्माकी आरम्भिक अनुमति है। इन भूमिकाओंमें वह अपनी सत्ताकी दिव्य प्रकृतिको भूल जाती है; अतः अहं-चेतना तथा कामना-मय संकल्पका परित्याग करना एवं मुक्त आत्माको तथा सत्ताकी दिव्यानन्द-मय संकल्पशक्तिको पुनः प्राप्त करना ही आत्माकी मुक्ति है। पर दूसरी ओर, कुछ अन्य वस्तुएँ भी हैं जिन्हें स्वयं प्रकृति अपने अंशदानोंके रूपम इस जटिल मिश्रणमें मिला देती है, जब एक बार आत्माकी उक्त प्रथम एवं आरंभिक अनुमति प्राप्त हो जाती है तथा उसे संपूर्ण बाह्य कार्य-व्यापारका नियम बना दिया जाता है तब प्रकृति अपनी क्रियाओं और रचनाओं-विषयक आत्माके अनुभवमें अपने अंशदानोंको बलपूर्वक मिला देती है। प्रकृतिके मौलिक अंशदान दो हैं, गुण और द्वन्द्व। प्रकृतिकी जिस निम्न क्रियामें अर्थात् अपरा प्रकृतिमें हम जीवन यापन करते हैं उसके अन्दर कुछ-एक मूल गुण हैं, वे गुण उसकी निम्नताका संपूर्ण आधार हैं। मन, प्राण और शरीर-रूपी अपनी प्रकृतिकी शक्तियोंसे युक्त आत्मापर इन गुणोंका सतत प्रभाव पड़नेके परिणामस्वरूप आत्माको एक विभक्त एवं विषमतापूर्ण अनुभव प्राप्त होता है, उसके अन्दर विरोधी वस्तुओंके द्वन्द्वकी सृष्टि होती है, उसके समस्त अनुभवमें एक हलचल उत्पन्न होती है और वह विपरीत वस्तुओंके किंवा संयुक्त होनेवाले भावात्मक और अभावात्मक तत्वोंके स्थायी जोड़ों

अर्थात् द्वन्द्वोंके बीच झूलती रहती है या इनका एक मिश्रण बनी रहती है। अतएव अहंकार और कामनामय संकल्पसे पूर्ण मुक्तिका परिणाम यह होगा कि आत्मा अपरा प्रकृतिके गुणोंसे अतीत होनेकी अवस्था, त्रैगुणातीत्यको प्राप्त कर लेगी, इस मिश्रित और विषमतापूर्ण अनुभवसे मुक्त हो जायगी तथा प्रकृतिकी द्वन्द्वमय क्रियाका अन्त या समाधान हो जायगा। पर प्रकृतिके पक्षमें भी मुक्ति दो प्रकारकी होती है। मुक्तिका पहला रूप प्रकृतिके बंधनसे छूटकर आत्माके प्रशान्त आनन्दमें पहुँच जाना है। प्रकृतिकी मुक्तिका इससे परतर रूप वह है जिसके द्वारा वह दिव्य कोटिकी प्रकृतिमें तथा विश्वानुभव प्राप्त करनेकी आध्यात्मिक शक्तिमें परिणत हो जाती है; इस प्रकारकी मुक्ति परम शान्तिको ज्ञान, शक्ति, आनन्द और प्रभुत्वके परम क्रियाशील आनन्दसे परिपूरित कर देती है। परमोच्च आत्मा और उसकी परा प्रकृतिका दिव्य एकत्व ही सर्वांगीण मुक्ति है।

क्योंकि प्रकृति आत्माकी शक्ति है, उसकी क्रिया मूलतः गुणरूप ही होती है। कोई यहाँतक कह सकता है कि प्रकृति आत्माके अनन्त गुणोंकी सत्तात्मक शक्ति एवं उनका कार्यगत विकासमात्र है। बाकी सब चीजें तो उसके बाह्य एवं अधिक यांत्रिक रूपोंसे संबंध रखती हैं; पर गुणोंका यह खेल मूल वस्तु है, शेष सब तो इसका परिणाम एवं यान्त्रिक संयोग है। जब एक बार हम मूल शक्ति और गुणकी क्रियाको सुधार लेते हैं तो शेष सब कुछ अनुभवग्राही पुरुषके नियंत्रणके अधीन हो जाता है। पर वस्तुओंकी निम्न प्रकृतिमें अनन्त गुणोंका खेल एक सीमित मान-प्रमाण, तथा विभक्त एवं संघर्षमय क्रियाके अधीन होता है, ऐसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्वों तथा उनके विरोधोंकी प्रणालीके अधीन होता है जिनमें सामंजस्योंकी किसी व्यावहारिक गतिशील प्रणालीको स्थापित करके सक्रिय बनाये रखना होता है; सामंजस्यमें लाये हुए इन विरोधों एवं परस्पर-विरोधी गुणोंमें तथा अनुभवकी विषम शक्तियों और प्रणालियोंमें एक केवल कामचलाऊ, अपूर्ण एवं अनिश्चितप्राय समझौता या कोई अस्थिर एवं परिवर्तशील संतुलन बलपूर्वक स्थापित किया जाता है; इन सबकी क्रीड़ा उन तीन गुणोंकी आधारभूत क्रियाके द्वारा संचालित होती है जो प्रकृतिके रचे हुए समस्त पदार्थोंमें एक-दूसरेके साथ मिले हुए हैं तथा परस्पर संघर्ष भी करते रहते हैं। सांख्य-प्रणालीमें, जिसे भारतके दार्शनिक चिन्तन और योगके सभी संप्रदाय इस प्रयोजनके लिये सर्वसामान्य रूपसे अंगीकार करते हैं, इन तीन गुणोंका **सत्व**, **रजस्** और **तमस्**—ये तीन नाम दिये गये

हैं*; **तमस्** निष्क्रियताका तत्व एवं उसकी शक्ति है; **रजस्** क्रिया, आवेश, प्रयत्न, संघर्ष और आरंभका तत्त्व है, सत्व सात्म्यकरण, संतुलन और सामंजस्यका तत्व है। इस वर्गीकरणका दार्शनिक आधार क्या है इससे हमें कुछ मतलब नहीं; पर अपने मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक आधारकी दृष्टिसे यह अत्यधिक क्रियात्मक महत्वकी वस्तु है, क्योंकि ये तीन तत्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त हैं, उन्हें उनकी सक्रिय प्रकृतिका मोड़ प्रदान करनेके लिये, उनका परिणाम और उनकी क्रियान्विति निर्धारित करनेके लिये मिलकर काम करते हैं, और हमारे आंतरिक अनुभवमें उनकी विषम क्रिया हमारे सक्रिय व्यक्तित्व, हमारे स्वभाव एवं हमारी प्रकृतिके वैशिष्ट्यका और किसी अनुभवके प्रति हमारी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाके विशेष स्वरूपका गठन करनेवाली शक्ति है। हमारे अन्दर होनेवाले कर्म और अनुभवका समस्त स्वरूप प्रकृतिके इन तीन गुणों या अवस्थाओंमेंसे किसी एककी प्रधानता एवं इनकी आनुपातिक परस्पर प्रतिक्रियाके द्वारा निर्धारित होता है। व्यक्तिभावापन्न आत्मा इनके सांचेमें ढलनेके लिये मानों वाध्य ही होती है; साथ ही इनपर किसी प्रकारका स्वतंत्र नियंत्रण रखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक वह प्रायः इनके नियंत्रणमें ही रहती है। वह मुक्त तभी हो सकती है यदि वह इनकी विषम क्रिया तथा इनके अपर्याप्त मेल-मिलापों एवं अनिश्चित सामंजस्योंके कष्टप्रद कलहकी स्थितिसे ऊपर उठ जाय तथा उसका परित्याग कर दे; इसके लिये वह चाहे इनकी क्रियाकी अर्द्ध-व्यवस्थित अवस्थासे मुक्त होकर पूर्ण शान्ति एवं निश्चलताका आश्रय ले या फिर प्रकृतिकी इस निम्नतर प्रवृत्तिसे ऊपर उठकर इन गुणोंकी क्रियापर उच्चतर नियंत्रण स्थापित करे या उसका रूपान्तर ही कर डाले। या तो उसे इन गुणोंसे रहित हो जाना होगा या इन्हें अतिक्रम करना होगा।

ये गुण हमारी प्राकृत सत्ताके प्रत्येक भागपर अपना प्रभाव डालते हैं। निःसंदेह, इनका प्रवलतम सापेक्ष प्रभुत्व इसके तीन विभिन्न अंगों अर्थात् मन, प्राण और शरीरपर है। **तमस्,** अर्थात् जड़ताका तत्व, जड़ प्रकृतिमें तथा हमारी भौतिक सत्तामें सबसे अधिक प्रबल है। इस तत्वकी क्रिया दो प्रकारकी होती है, शक्तिसंबंधी जड़ता और ज्ञानसंबंधी जड़ता। जिस वस्तु या व्यक्तिपर प्रधान रूपसे तमस्का शासन होता है उसकी शक्ति मन्द क्रिया एवं निष्क्रियताकी ओर या फिर एक ऐसी यांत्रिक क्रियाकी ओर प्रवृत्त

---

*इस विषयपर कर्मयोगमें विचार किया जा चुका है। यहाँ प्रकृतिके सामान्य रूप और सत्ताकी पूर्ण मुक्तिके दृष्टि-विन्दुसे इसका पुनः निरूपण किया गया है।

होती है जिसपर उसका नहीं बल्कि अंधकारमय शक्तियों का अधिकार होता है, वे शक्तियाँ उसे क्रिया-शक्तिके एक यांत्रिक चक्रमें घुमाती रहती हैं। इसी प्रकार वह अपनी चेतनामें निश्चेतना या आवृत्त अवचेतना अथवा अनिच्छा-मूलक, मन्द या किसी प्रकारकी यांत्रिक सचेतन क्रियाकी ओर मुड़ जाता है; उस क्रियाको अपनी शक्तिके सबंधमें कोई चेतन बोध नहीं होता, बल्कि वह एक ऐसे बोधके द्वारा परिचालित होती है जो उसे अपनेसे बाह्य या कम-से-कम अपनी सक्रिय चेतनतासे छुपा हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, हमारे शरीरका मूल तत्व अपने स्वभावमें जड़ और अवचेतन है, एक यांत्रिक एवं अभ्यस्त स्वयं-चालित क्रियाके सिवा वह और कुछ नहीं कर सकता : यद्यपि अन्य प्रत्येक करणकी भांति उसमें भी क्रियाका तत्व अर्थात् रजोगुण और उसकी स्थिति तथा क्रियाके संतुलनका तत्त्व अर्थात् सत्त्वगुण—दोनों विद्यमान हैं, प्रतिक्रिया करनेवाला एक सहजात तत्व एवं एक गुप्त चेतना विद्यमान है, तथापि उसकी राजसिक क्रियाओंके एक बहुत बड़े भागका संचालन प्राणशक्ति ही करती है और उसे अपनी समस्त प्रकट चेतना मनोमय पुरुषसे ही प्राप्त होती है। रजस्तत्व या रजोगुणका प्रबलतम प्रभुत्व प्राणिक प्रकृतिपर है। हमारे अन्दरका प्राणतत्व ही सबसे प्रबल एवं क्रियाशील चालक-शक्ति है, पर पार्थिव प्राणियोंमें प्राणिक शक्ति कामना-शक्तिके अधि-कारमें है; कामना ही मनुष्य और पशुकी अधिकांश गति और क्रियाकी सबसे प्रबल प्रवर्तिका है, इसका प्रभुत्व इतना प्रबल है कि बहुत-से लोग इसे समस्त कर्मकी जनक और हमारी सत्ताका आदि मूलतक समझते हैं। अपि च, क्योंकि रजस् अपनेको एक ऐसे जड़ प्राकृतिक जगत्‌में पाता है, जो निश्चेतना तथा यन्त्रवत् चालित तमस्‌के तत्त्वसे अपना कार्य आरंभ करता है, उसे एक बड़ी भारी विपरीत शक्तिका सामना करते हुए अपना कार्य करना पड़ता है; अतएव, उसका संपूर्ण कार्य एक प्रयत्न एवं संघट्टका तथा स्वत्व-प्राप्तिके लिये एक ऐसे आक्रान्त एवं बाधायुक्त संघर्षका रूप ग्रहण कर लेता है जो प्रत्येक पगपर एक सीमाकारी दुर्बलता, निराशा और वेदनासे पीड़ित होता है : यहाँतक कि उसे प्राप्त होनेवाली सफलताएँ भी अनिश्चित-सी होती हैं, प्रयत्नकी प्रतिक्रियाके द्वारा सीमाबद्ध और क्षत-विक्षत हो जाती हैं और इसलिये बादमें हमें उनकी परिमितता और क्षणभंगुरताका स्वाद लेना पड़ता है। सत्वके तत्त्व अर्थात् सत्वगुणका प्रबलतम प्रभुत्व मनपर है, मनके उन निम्नतर भागोंपर तो कुछ विशेष नहीं है जो राजसिक नहीं हैं, जो राजसिक प्राणशक्तिके द्वारा शासित हैं, पर बुद्धि तथा बुद्धिप्रधान संकल्प-शक्तिपर अत्यधिक मात्रामें है। बुद्धि, तर्कशक्ति तथा बुद्धिप्रधान

संकल्पशक्ति अपने सत्वगुणप्रधान स्वभावके कारण वाह्य जगत्के साथ ज्ञान तथा वोधमय संकल्पशक्तिके द्वारा सात्म्य स्थापित करनेके सतत प्रयत्नकी ओर प्रेरित होती हैं, साथ ही वे एक संतुलन, किसी प्रकारकी स्थिरताके तत्व एवं किसी नियमको तथा स्वाभाविक घटना एवं अनुभूतिके परस्पर-विरोधी तत्वोंके सामंजस्यको प्राप्त करनेके लिये अनवरत यत्न करनेमें भी प्रवृत्त होती हैं। इस प्रकारकी तुष्टिको सत्वगुण नाना प्रकारसे तथा तुष्टिलाभकी नाना मात्राओंमें प्राप्त करता है। सात्म्य, संतुलन और सामंजस्यकी प्राप्तिके परिणामस्वरूप सदा ही सुख, आराम, प्रभुत्व और सुरक्षाकी एक सापेक्ष, पर कम या अधिक तीव्र एवं तृप्तिकारक अनुभूति प्राप्त होती है, वह अनुभूति राजसिक कामना और आवेगकी तुष्टिके द्वारा असुरक्षित रूपमें प्राप्त होनेवाले अशान्त एवं उग्र सुखोंसे भिन्न प्रकारकी होती है। प्रकाश और सुख सत्वगुणके विशेष लक्षण हैं। शरीरधारी और प्राणयुक्त मनोमय प्राणीकी संपूर्ण प्रकृति इन तीन गुणोंके द्वारा निर्धारित होती है।

परन्तु हमारी सत्ताके संस्थानके प्रत्येक भागमें ये केवल प्रधान शक्तियोंकी तरह काम करते हैं। ये तीनों गुण हमारी उलझी मानसिक सत्ताके प्रत्येक तन्तु एवं प्रत्येक अंगमें मिश्रित और संयुक्त होकर परस्पर संघर्ष करते हैं। हमारे मनका स्वभाव, हमारी बुद्धि एवं संकल्पशक्तिका तथा हमारी नैतिक, सौन्दर्यग्राही, भावमय, क्रियाशील और संवेदनात्मक सत्ताका स्वभाव इन गुणोंके द्वारा ही निर्मित होता है। तमस् उस समस्त अज्ञानता, जड़ता, दुर्बलता एवं अक्षमताको लाता है जो हमारी प्रकृतिको पीड़ित करती हैं, तमसाच्छन्न वुद्धि निर्ज्ञान, अबुद्धि, अभ्यस्त विचारों और यांत्रिक धारणाओंके प्रति आसक्ति, विचारने और ज्ञान प्राप्त करनेसे इन्कार करनेकी वृत्ति, संकुचित मन, नवीन विचारोंके प्रति बन्द मार्ग, मानसिक अभ्यासका वेगशाली चक्र और अन्धकारमय एवं धूमिल स्थान—इन सबका जन्मदाता तमोगुण ही है। वह संकल्पशक्तिकी निर्बलता, श्रद्धा, आत्मविश्वास और 'आरंभ'-के अभाव, कार्य करनेकी अरुचि, प्रयत्न और अभीप्सासे कतरानेकी वृत्ति तथा तुच्छ और क्षुद्र भावनाको उत्पन्न करता है; हमारी नैतिक और क्रियाशील सत्तामें वह निष्क्रियता, भीरुता, नीचता, दीर्घसूत्रता, क्षुद्र और हीन हेतुओंके प्रति असंयत अधीनता, अपनी निम्न प्रकृतिके प्रति दुर्बलतापूर्ण वश्यताको जन्म देता है। हमारी भावप्रधान प्रकृतिमें वह संवेदनशून्यता एवं उदासीनताको तथा सहानुभूति एवं उन्मुक्तताके अभावको लाता है, वन्द आत्मा एवं क्रूर हृदयको जन्म देता है, शीघ्र थक जानेवाले आवेश और वेदनों-की-मन्दताको उत्पन्न करता है, हमारी सौन्दर्यात्मक और संवेदन-

प्रधान प्रकृतिमें वह सौन्दर्यवृत्तिकी जड़ता, प्रतिक्रिया-शक्तिकी परिमितता एवं सौन्दर्यके प्रति संवेदनहीनताको तथा उन सब चीजोंको लाता है जो मनुष्यमें स्थूल, तामसिक और असंस्कृत भावनाको उत्पन्न करती हैं। रजस् हमारी सामान्य सक्रिय प्रकृतिको उसकी सभी शुभ और अशुभ वृत्तियां एवं क्रियाएँ प्रदान करता है; जब वह सत्वगुणके पर्याप्त अंशके द्वारा अभी विशुद्ध नहीं हुआ होता तब वह अहंकार, स्वेच्छाचारिता और उग्रता, बुद्धिकी विकृत, आग्रहपूर्ण या अतिरंजक क्रिया, पक्षपात, अपनी सम्मतिके प्रति आसक्ति, भूलसे चिपके रहनेकी वृत्ति, सत्यके प्रति नहीं बल्कि हमारी कामनाओं एवं अभिरुचियोंके प्रति बुद्धिकी अधीनता, धर्मांध या सांप्रदायिक मन, स्वच्छन्दता, गर्व, अभिमान, स्वार्थ, महत्वाकांक्षा, कामवासना, लोभ, क्रूरता, घृणा, ईर्ष्या, नाना प्रकारके प्रेममूलक अहंकार, समस्त पाप और वासनाएँ, सौन्दर्यबोधकी अतिरंजनाएँ, संवेदनात्मक और प्राणिक सत्ताकी व्याधियाँ और विकृतियाँ—इन सभीकी ओर प्रवृत्ति रखता है। जब प्रकृतिमें तमोगुण प्रधान होता है तो वह अपने निज अधिकारसे ही असंस्कृत, जड़ और अज्ञानमय प्रकृतिवाले मनुष्यको जन्म देता है, रजोगुण कर्म, आवेश और कामनाके श्वाससे चालित, प्राणवन्त, चंचल एवं क्रियाशील मानवकी सृष्टि करता है। सत्वगुण एक अधिक उच्च कोटिके मानवको जन्म देता है। सत्वगुणकी देनें ये हैं—विवेकशील और संतुलित मन, निष्पक्ष, सत्यान्वेषिणी एवं उन्मुक्त बुद्धिकी विशदता, बुद्धिके अधीन या नैतिक भावनाके द्वारा परिचालित संकल्पशक्ति, आत्म-संयम, समता, स्थिरता, प्रेम, सहानुभूति, शिष्टता, मिताचार, सौन्दर्यग्राही और भाविक चित्तकी सूक्ष्मता, संवेदनात्मक सत्तामें सुकोमलता, समुचित ग्रहणशीलता, मितव्यवहार और समतोलता, प्रभुत्वशाली बुद्धिके वशमें रहनेवाली और उसके द्वारा परिचालित प्राणशक्ति। सात्विक प्रकृतिकी पूर्णताके निदर्शन होते हैं दार्शनिक, संत और ज्ञानी व्यक्ति तथा राजसिक प्रकृतिकी पूर्णताके राजनीतिज्ञ, योद्धा और शक्तिशाली कर्मवीर। परन्तु सभी मनुष्योंमें ये गुण एक-दूसरेके साथ कम या अधिक प्रमाणमें संमिश्रित पाये जाते हैं, बहुविध व्यक्तित्व देखनेमें आता है और बहुतोंमें तो एक गुणका प्रभुत्व दूर होकर एक बड़ी मात्रामें दूसरेकी प्रधानता स्थापित हो जाती है एवं कोई एक या दूसरा गुण बारी-बारीसे प्रधानता प्राप्त करता रहता है; यहाँतक कि बहुतेरोंकी प्रकृतिका वह रूप भी जो उनकी सत्ताका परिचालन करता है मिश्रित ढंगका होता है। जीवन-पटके रंगोंका समस्त वैचित्र्य एवं वैविध्य इन गुणोंकी बुनावटके जटिल नमूनेसे बना हुआ है।

परन्तु जीवनकी विपुल विविधतासे, यहाँतक कि मन और प्रकृतिकी सात्विक समस्वरतासे भी आध्यात्मिक पूर्णताका स्वरूप गठित नहीं होता। इनसे एक सापेक्ष पूर्णता अवश्य प्राप्त हो सकती है, पर वह अपूर्णतासे युक्त होती है, एक प्रकारकी अपूर्ण उच्चता, शक्ति एवं सुन्दरता होती है, श्रेष्ठता और महानताकी एक परिमित मात्रा तथा बाहरसे लादी हुई एवं संदिग्ध रूपसे धारण की हुई समतोलता होती है। इनके द्वारा एक सापेक्ष प्रभुत्व भी प्राप्त होता है, पर वह प्राणका शरीरपर या मनका प्राणपर प्रभुत्व होता है, मुक्त और स्वराट् आत्माका अपने करणोंपर स्वतंत्र प्रभुत्व नहीं। यदि हम आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें गुणोंके परे जाना होगा। यह स्पष्ट ही है कि तमस्पर विजय पानी होगी; जड़ता, अज्ञान और अक्षमता सच्ची पूर्णताके अंग नहीं हो सकते; पर विश्व-प्रकृतिमें इसपर विजय रजस्की एक ऐसी शक्तिके द्वारा ही पायी जा सकती है जिसे सत्वकी बढ़ती हुई शक्तिकी सहायता प्राप्त हो। रजस्पर भी विजय पानी होगी; अहंकार, वैयक्तिक कामना और स्वार्थपरायण आवेग सच्ची पूर्णताके अंग नहीं हैं, परन्तु सत्ताको आलोकित करनेवाले सत्वकी तथा कर्मशीलताको परिमित करनेवाले तमस्की शक्तिके द्वारा ही इसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। स्वयं सत्व गुणसे भी सर्वोच्च या सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त नहीं होती; सत्व सदा ही सीमित प्रकृतिका गुण होता है; सात्विक ज्ञान सीमित मनका प्रकाश होता है; सात्विक संकल्प भी सीमित बुद्धिप्रधान शक्तिका एक प्रकारका शासन होता है। अपि च, सत्व विश्वप्रकृतिमें अकेले अपने-आप कार्य नहीं कर सकता, बल्कि उसे समस्त कार्यके लिये रजस्की सहायता-पर निर्भर करना पड़ता है; परिणामस्वरूप, सात्विक कार्य भी सदैव रजस्की त्रुटियोंके अधीन रहता है; अहंकार, व्यामूढ़ता, असंगति, एकदेशीय प्रवृत्ति, सीमित एवं अतिरंजित संकल्प जो अपनी सीमाओंके उग्र रूपमें अपने-आपको अतिरंजित करता है—ये सभी त्रुटियाँ साधु-सन्त, दार्शनिक और ज्ञानीके भी विचार और कर्मका पीछा करती हैं। अहंकार सात्विक, राजसिक किंवा तामसिक तीनों प्रकारका होता है, उसका उच्चतम रूप ज्ञान या पुण्यका अहंकार होता है; किन्तु मनका अहंकार, चाहे किसी भी प्रकारका क्यों न हो, मुक्तिके साथ असंगत है। अतएव तीनों ही गुणोंको अतिक्रम करना होगा। सत्व हमें प्रकाशके निकट ला सकता है, पर जब हम दिव्य प्रकृतिके ज्योतिर्मय स्वरूपमें प्रवेश करते हैं तो सत्वका परिमित प्रकाश हमसे दूर हट जाता है।

इस त्रिगुणातीत अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये साधारणतया निम्न

प्रकृतिके कर्मके त्यागका आश्रय लिया जाता है। इस त्यागके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति कर्म न करनेकी प्रवृत्तिपर वल देने लगता है। सत्व जव अपने-आपको प्रवल करना चाहता है तो वह रजस्से छुटकारा पानेकी चेष्टा करता है और इस उद्देश्यसे निष्क्रियता-रूपी तामसिक तत्वकी सहायताके लिये अपने अन्दर पुकार लाता है; यही कारण है कि एक विशेष कोटिके अतिशय सात्विक मनुष्य गभीर रूपसे आन्तरिक सत्तामें ही निवास करते हैं, पर सक्रिय वाह्य जीवनमें वे कदाचित् बिलकुल ही निवास नहीं करते, या फिर उसमें वे सर्वथा अक्षम और असफल ही रहते हैं। मुक्तिका अन्वेषक इस दिशामें और भी आगे जाता है, वह अपनी प्राकृत सत्तामें आलोकित तमोगुणको, एक ऐसे तमोगुणको जो इस रक्षाकारी आलोकके कारण अशक्ति-रूप होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक शान्ति-रूप ही होता है, बलपूर्वक स्थापित करता है और इस प्रकार वह सत्वगुणको आत्माकी ज्योतिमें अपना लय करनेकी स्वतंत्रता प्रदान करनेका यत्न करता है। शरीरमें, कामना और अहंकारसे युक्त एवं सक्रिय प्राणिक पुरुषमें तथा बाह्य मनमें अचंचलता और स्थिरता वलात् स्थापित कर दी जाती हैं, जव कि सात्विक प्रकृति ध्यानमें अपनी शक्ति लगाकर, अपने-आपको एकमात्र भजन-आराधनमें ही एकाग्र करके, अपने संकल्पको भीतर परम देवकी ओर मोड़कर अपने-आपको आत्मामें निमज्जित करनेका यत्न करती है। यह शमप्रधान मुक्तिके लिये भले ही पर्याप्त हो पर सर्वांगीण सिद्धिकी अंगभूत स्वतंत्रताके लिये पर्याप्त नहीं है। यह मुक्ति निष्क्रियतापर निर्भर करती है और अतएव यह पूर्णतः स्वयंस्थित तथा निरपेक्ष नहीं है; ज्योंही आत्मा कर्मकी ओर मुड़ती है त्योंही वह देखती है कि प्रकृतिकी क्रिया अव भी पुरानी अपूर्ण चेष्टा ही है। आत्माको प्रकृतिसे एक ऐसी मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है जो निष्क्रियताके द्वारा उपलब्ध होती है, पर उसे प्रकृतिमें रहते हुए एक ऐसी मुक्ति प्राप्त नहीं होती जो सक्रियता हो या निष्क्रियता दोनों अवस्थाओंमें सर्वांग-पूर्ण और स्वयंस्थित हो। तव यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी मुक्ति और पूर्णता संभव हैं और इस पूर्ण स्वतंत्रताकी प्राप्तिकी शर्त क्या हो सकती है?

सामान्य धारणा यह है कि ऐसी मुक्ति एवं पूर्णता संभव ही नहीं हैं, क्योंकि कर्ममात्र निम्न गुणोंका ही एक परिणाम होता है, आवश्यक रूपसे दोषपूर्ण, सदोषम्, होता है, गुणोंकी क्रिया, विषमता, असमतोलता और चंचल संघर्षमयतासे उत्पन्न होता है; पर जव ये विषम गुण पूर्ण संतुलनकी अवस्थामें पहुँच जाते हैं, तो प्रकृतिका समस्त व्यापार वन्द हो जाता है

और अंतरात्मा अपनी शान्तिमें विश्राम लेती है। हम कह सकते हैं, भगवान् या तो अपनी नीरवतामें ही स्थित हो सकते हैं या फिर वे प्रकृतिमें उसके करणोंके द्वारा ही कार्य कर सकते हैं, पर उस दशामें उन्हें उसकी संघर्षमयता तथा अपूर्णताका रूप धारण करना होगा। यह बात मानव-आत्माके अन्दर भगवान्के साधारण प्रतिनिधि-तुल्य कर्मके बारेमें सत्य हो सकती है क्योंकि तब भगवान् देहधारी अपूर्ण मनोमय सत्तामें पुरुष और प्रकृतिके वर्तमान संबंधोंके अनुसार कर्म करते हैं, पर उनकी पूर्णतामयी दिव्य प्रकृतिके संबंधोंके संबंधमें यह बात सत्य नहीं। गुणोंका संघर्ष निम्न प्रकृतिकी अपूर्णतामें भगवान्की दिव्य प्रकृतिका एक प्रकारका अपूर्ण प्रतिनिधित्वमात्र करता है; तीन गुण जिन शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करते हैं वे भगवान्की तीन मूल शक्तियाँ हैं जो केवल एक पूर्ण शान्तिमय संतुलनमें ही स्थित नहीं हैं बल्कि दिव्य कर्मके एक पूर्ण सामंजस्यमें एकीभूत भी हैं। आध्यात्मिक सत्तामें तमस् दिव्य शान्तिका रूप धारण कर लेता है; वह शान्ति कोई जड़ता या कार्य करनेकी अक्षमता नहीं होती बल्कि एक पूर्ण शक्ति होती है जो अपनी संपूर्ण सामर्थ्यको अपने अन्दर धारण किये रहती है और अत्यंत विशाल एवं वृहत कर्मको भी नियंत्रित करने तथा शान्तिके नियमके अनुगत बनानेमें समर्थ होती है : रजस् आत्माकी कार्यसिद्धिक्षम, आरंभकारक एवं विशुद्ध संकल्पशक्तिका रूप धारण कर लेता है, वह शक्ति कामना, प्रयत्न एवं आयासपूर्ण आवेश न होकर सत्ताकी वही पूर्ण शक्ति होती है जो अनन्त, अक्षुब्ध एवं आनन्दपूर्ण कर्म करनेमें समर्थ है। सत्व एक विकृत मानसिक **प्रकाश** न रहकर दिव्य सत्ताकी स्वयंभू **ज्योति** बन जाता है जो सत्ताकी पूर्ण शक्तिका सारतत्व है और दिव्य शान्ति तथा कर्मसंबंधी दिव्य संकल्प-शक्ति दोनोंके एकत्वमय स्वरूपको आलोकित करती है। साधारण मुक्ति दिव्य शान्तिमें निश्चल दिव्य ज्योतिको प्राप्त करती है, पर सर्वांगीण मुक्ति इस महत्तर त्रयात्मक एकताको अपना लक्ष्य बनायेगी।

जब प्रकृतिकी यह मुक्ति प्राप्त हो जाती है तो प्रकृतिके द्वन्द्वोंसे भी, पूरे आध्यात्मिक अर्थमें, मुक्ति प्राप्त हो जाती है। निम्न प्रकृतिमें द्वन्द्व सात्विक, राजसिक और तामसिक अहंकी रचनाओंसे अभिभूत आत्मापर गुणोंकी लीलाका अनिवार्य प्रभाव हैं। इस द्वन्द्वकी ग्रन्थि है अज्ञान जो पदार्थोंके आध्यात्मिक सत्यको पकड़में लानेमें असमर्थ है और अपूर्ण बाह्य रूपोंपर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, पर उनके आन्तरिक सत्यपर प्रभुत्व रखते हुए नहीं बल्कि आकर्षण और विकर्षण, सामर्थ्य और असामर्थ्य, राग और द्वेष, सुख और दुःख, हर्ष और शोक, स्वीकार और विरोधके परस्पर-

संघट्ट और बदलते हुए संतुलनका क्रीड़ास्थल रहते हुए उनके संपर्कमें आता है; समस्त जीवन हमारे सामने इन वस्तुओं अर्थात् प्रिय और अप्रिय, सुन्दर और असुन्दर, सत्य और असत्य, सौभाग्य और दुर्भाग्य, सफलता और विफलता, शुभ और अशुभकी विषम ग्रन्थी या प्रकृतिके दुहरे जटिल जालेके रूपमें उपस्थित होता है। अपनी रुचियों और अरुचियोंके प्रति आसक्ति अंतरात्माको शुभ और अशुभ तथा हर्षों और शोकोंके इस जालेमें बाँधे रखती है। मुक्तिका अन्वेषक अपने-आपको आसक्तिसे मुक्त कर लेता है, द्वन्द्वोंको अपनी अन्त:सत्तासे दूर फेंक देता है, पर, क्योंकि द्वन्द्व जीवनका संपूर्ण कार्य, उपादान एवं ढाँचा प्रतीत होते हैं, इस मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये जीवनका त्याग ही सर्वाधिक सुगम उपाय दिखायी देगा, भले वह त्याग, जहाँतक कि शरीरमें रहते हुए करना संभव है वहाँतक, कर्मोका वाह्य एवं भौतिक त्याग हो या कर्मोंसे एक आंतरिक निवृत्ति, प्रकृतिके संपूर्ण कर्मके लिये अनुमति देनेसे इन्कार-रूप हो या कर्मसे मोक्षजनक विरक्ति, **वैराग्य**। इस प्रकार अंतरात्मा प्रकृतिसे पृथक् हो जाती है। तव वह ऊपर बैठी हुई, उदासीन और अविचलित भावसे, प्राकृत सत्तामें गुणोंके कलहका निरीक्षण करती है, और मन तथा शरीरके सुख-दु:खको एक निर्विकार साक्षीके रूपमें देखती है। अथवा वह अपनी उदासीनताको वाह्य मनमें भी वलात् स्थापित कर सकती है और विश्वके कार्य-व्यापारको, जिसमें वह अव पहलेकी तरह सक्रिय आन्तरिक भाग नहीं लेती, एक अनासक्त द्रष्टाकी तटस्थ शान्ति या तटस्थ आनन्दके साथ देखती है। इस साधनाकी परिणति जन्मके परित्याग और नीरव आत्मामें प्रयाण, **मोक्ष**, के रूपमें होती है।

परन्तु यह परित्याग मुक्तिकी अंतिम संभवनीय परिभाषा नहीं है। पूर्ण मुक्ति तव प्राप्त होती है जब आत्मा वैराग्यपर आधारित इस **मुमुक्षुत्वसे**, मुक्तिकी इस उत्कण्ठासे, भी परे चली जाती है; तव आत्मा प्रकृतिके निम्नतर कर्मके प्रति आसक्ति तथा भगवान्के विराट् जगद्व्यापारके प्रति समस्त घृणा दोनोंसे मुक्त हो जाती है। यह मुक्ति अपनी पूर्णताको तव प्राप्त करती है जव आध्यात्मिक विज्ञान प्रकृतिके कर्मका अतिमानसिक ज्ञान रखते हुए और अतएव उसे अंगीकार करते हुए तथा उसे आरंभ करनेके अतिमानसिक ज्योतिर्मय संकल्पसे युक्त होकर कार्य कर सकता है। विज्ञान प्रकृतिमें निहित आध्यात्मिक प्रयोजनको, वस्तुओंमें विद्यमान भगवान्को, खोज निकालता है; जिन वस्तुओंका वाह्य रूप अमंगलमय प्रतीत होता है उन सवमें भी वह मंगलमय आत्माको ढूंढ लेता है; वह आत्मा उनके अन्दर तथा उनमेंसे उन्मुक्त हो उठती है, अपूर्ण या विपरीत रूपोंके विकार

झड़ जाते हैं या फिर वे अपने उच्चतर दिव्य सत्यमें रूपांतरित हो जाते हैं,––वैसे ही जैसे कि गुण अपने दिव्य तत्वोंमें लौट जाते हैं,––और आत्मा उस विराट्, असीम और निरपेक्ष 'सत्य', 'शिव', 'सुन्दर' और आनन्दमें निवास करती है जो अतिमानसिक या आदर्श दिव्य प्रकृति है। प्रकृतिकी मुक्ति आत्माकी मुक्तिके साथ एक हो जाती है, और इस सर्वांगीण मुक्तिके रूपमें सर्वांगीण सिद्धिका आधार स्थापित हो जाता है।

दसवाँ अध्याय

सिद्धिके मूलतत्व

जब आत्मा करणात्मक प्रकृतिकी असत्य और अव्यस्थित क्रियासे रहित एवं शुद्ध होकर अपनी स्वयंस्थित सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्दमें युक्त हो जाती है और जब स्वयं प्रकृति भी संघर्षकारी गुणों तथा द्वन्द्वोंकी इस निम्न क्रियाके जालसे मुक्त होकर दिव्य शान्ति और दिव्य कर्मके उच्च सत्यमें पहुँच जाती है तब आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना संभव हो जाता है। शुद्धि और मुक्ति सिद्धिकी अनिवार्य पूर्वावस्थाएँ हैं। आध्यात्मिक सिद्धिका अर्थ विकासके द्वारा भागवत सत्ताकी प्रकृतिके साथ एकत्व प्राप्त करना ही हो सकता है, और इसलिये भागवत सत्ताके विषयमें हमारी जैसी परिकल्पना होगी वैसा ही आध्यात्मिक सिद्धिकी खोजका हमारा लक्ष्य एवं प्रयत्न होगा और उसके लिये हमारी पद्धति भी वैसी ही होगी। मायावादीके लिये सत्ताका सर्वोच्च या, सच पूछो तो, एकमात्र वास्तविक सत्य निर्विकार, निर्गुण एवं आत्म-सचेतन ब्रह्म है और इसलिये आत्माकी निर्विकार शान्ति, निर्व्यक्तिकता और शुद्ध आत्म-चेतनतामें विकसित होना ही उसका सिद्धि-विषयक विचार है तथा विश्वगत एवं व्यक्तिगत सत्ताका परित्याग करके शान्त आत्म-ज्ञानमें प्रतिष्ठित होना ही उसका मार्ग है। बौद्धमतावलम्बीके लिये उच्चतम सत्य सत्ताका अस्वीकार है, अतः उसके लिये सत्ताकी क्षणिकता और दुःखमयताका तथा कामनाकी विनाशकारी निःसारताका बोध, अहं-कारका तथा उसे धारण करनेवाले विचार-संस्कारोंका एवं कर्मकी श्रृंखला-ओंका विलय ही सर्वांगपूर्ण मार्ग हैं। परमोच्च-सत्ताविषयक अन्य विचार इससे कम निषेधात्मक हैं; प्रत्येक दर्शन अपने-अपने विचारके अनुसार भगवान्के साथ कुछ सादृश्य प्राप्त करता है और प्रत्येक अपना-अपना मार्ग ढूंढ निकालता है; उदाहरणार्थ, भक्तका प्रेम और पूजन तथा प्रेमके द्वारा भगवान्के साथ सादृश्यका विकास करना। परन्तु सर्वांगीण योगके लिये सिद्धिका अर्थ एक ऐसी दिव्य आत्मा और दिव्य प्रकृतिको प्राप्त करना होगा जो जगत्में दिव्य संबन्ध और दिव्य कर्मको खुला क्षेत्र प्रदान करेंगे; अपने समग्र स्वरूपमें उसका अर्थ संपूर्ण प्रकृतिको दिव्य बनाना तथा उसके अस्तित्व और कर्मकी समस्त असत्य ग्रंथियोंका परित्याग

भी करना होगा, पर इस सिद्धिमें हमारी सत्ताके किसी भी भागका या हमारे कर्मके किसी भी क्षेत्रका परित्याग नहीं किया जायगा। अतएव सिद्धिकी ओर हमारी प्रगति, निश्चय ही, एक विशाल और जटिल क्रिया होगी और उसके परिणामों एवं व्यापारोंका क्षेत्र भी असीम तथा बहुविध होगा। किसी सूत्र या पद्धतिको ढूँढ निकालनेके लिये हमें सिद्धिके कुछ-एक सारभूत एवं मौलिक तत्वों तथा आवश्यक साधनोंपर अपना ध्यान एकाग्र करना होगा; क्योंकि यदि ये सुरक्षित रूपमें प्राप्त हो जायं तो शेप सब कुछ इनका एक स्वाभाविक विकास या इनकी क्रियाका एक विशेप परिणाममात्र प्रतीत होगा। इन तत्त्वोंको हम छः विभागोंमें बांट सकते हैं, ये एक बड़े परिमाणमें एक-दूसरेपर अवलंबित हैं, किन्तु फिर भी अपने प्राप्त होनेकी क्रमकी दृष्टिसे ये एक प्रकारसे स्वभावत: ही क्रमिक होते हैं। इनकी प्राप्तिकी क्रिया आत्माकी मौलिक समतासे आरंभ होगी और ऊपर आरोहण करती हुई एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त करेगी जहाँ ब्राह्मी एकताकी विशालतामें हमारी पूर्णता-प्राप्त सत्ताके द्वारा भगवान्का आदर्श कर्म संपन्न हो सके।

इसके लिये प्रथम आवश्यक साधन यह है कि अन्तरात्मा अपनी तात्विक और प्राकृतिक दोनों प्रकारकी सत्तामें एक ऐसी मूलभूत सम-स्थितिको प्राप्त करे जहाँसे वह प्रकृतिके पदार्थों, स्पर्शों और कार्य-व्यापारोंको समभावसे देख सके तथा उनका सामना कर सके। इस स्थितिको हम पूर्ण **समतामें** विकसित होकर ही प्राप्त कर सकते हैं। आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म सबमें एक ही है और इसलिये वह सबके प्रति एक समान है; वह सम ब्रह्म है, **समं ब्रह्म**, जैसा कि गीतामें कहा गया है, जहाँ समताके इस विचारका पूर्ण रूपसे विकास करके कम-से-कम उनके एक पहलूके अनुभवका निर्देश किया गया है; एक संदर्भमें गीताने इससे भी आगे बढ़कर यहाँतक कह डाला है कि समता और योग एक ही वस्तु हैं, **समत्वं योग उच्यते**। अर्थात् समता ब्रह्मके साथ एकताका, ब्रह्म-स्वरूप होनेका तथा अनन्तमें सत्ताकी अचलायमान आध्यात्मिक स्थितिके विकासका चिह्न है। इसकी महत्ताका वर्णन जितना किया जाय उतना ही थोड़ा है; क्योंकि यह इस बातका चिह्न है कि हम अपनी प्रकृतिके अहम्मूलक निर्धारणोंसे परे चले गये हैं, द्वन्द्वोंके प्रति अपनी दासतापूर्ण प्रतिक्रियाको जीत चुके हैं, गुणोंके विकारशील विक्षोभकी अवस्थाको पार कर गये हैं तथा मुक्तिकी स्थिरता और शान्तिमें प्रविष्ट हो गये हैं। समता चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है जो हमारी संपूर्ण सत्ता और प्रकृतिमें अनन्तकी सनातन शान्तिको ले आती है। अपि च, यह एक सुरक्षित और पूर्ण रूपसे दिव्य कर्मकी शर्त है; अनन्तके विराट् विश्व-व्यापारकी

सुरक्षितता एवं विशालता उसकी सनातन शान्तिपर आधारित है और इस शान्तिको वह कभी भंग नहीं करती, न कभी इससे च्युत ही होती है। पूर्ण आध्यात्मिक कर्मका स्वभाव भी ऐसा ही होना चाहिये; आत्मा, बुद्धि, मन, हृदय और प्राकृत चेतनामें,—यहाँतक कि अत्यंत भौतिक चेतनामें भी,—सभी वस्तुओंके प्रति सम और एक होना तथा, करणीय कार्यके प्रति उन (आत्मा, बुद्धि आदि) की बाह्य अनुकूलता कैसी भी हो, उनकी सभी क्रियाओंको सदा और अक्षुब्ध रूपमें दिव्य समता और शान्तिसे पूर्ण बनाना ही उसका अन्तरतम नियम होना चाहिये। इसे समताका निष्क्रिय या मौलिक, आधारभूत एवं ग्रहणक्षम पक्ष कहा जा सकता है, पर इसके साथ ही इसका एक सक्रिय एवं प्रभुत्वशील पक्ष भी है, एक सम आनन्द भी है, जो केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब समताकी शान्ति प्रतिष्ठित हो जाय और जो इसकी पूर्णताका आनन्दमय पुष्प है।

सिद्धिके लिये अगला आवश्यक साधन यह है कि मानव-प्रकृतिके सभी क्रियाशील अंगोंको उनकी शक्ति एवं सामर्थ्यकी उस सर्वोच्च अवस्था एवं उच्चतम क्रियात्मक भूमिकातक उठा ले जाया जाय जहाँ वे मुक्त, पूर्ण, आध्यात्मिक और दिव्य कर्मके सच्चे यंत्रोंके दिव्य स्वरूपमें रूपांतरित होनेके योग्य बन जाते हैं। क्रियात्मक प्रयोजनोंके लिये हम बुद्धि, हृदय, प्राण और शरीरको अपनी प्रकृतिके ऐसे चार अंगोंके रूपमें ले सकते हैं जिनको हमें इस प्रकार तैयार करना होगा, और इसके लिये हमें उनकी पूर्णताका गठन करनेवाली अवस्थाओंको खोजना होगा। इसके अतिरिक्त, हमारे अन्दर चरित्र और आन्तरिक प्रकृति अर्थात् स्वभावका क्रियाशील बल (वीर्य) भी विद्यमान है जो हमारे करणोंकी शक्तिको कार्यव्यवहारमें सफल बनाता है और उन्हें उनकी विशिष्टता एवं दिशा प्रदान करता है; इस वीर्यको इसकी सीमाओंसे मुक्त करना होगा, विशाल, अखण्ड और सर्वतोमुखी बनाना होगा ताकि हमारे अन्दरकी समस्त मानवता दिव्य मानवताका आधार बन सके, और तब पुरुष, हमारे अन्दरका वास्तविक मानव, दिव्य 'पुरुष' इस मानव-यंत्रमें पूर्ण रूपसे कार्य कर सके और इस मानव-आधारके द्वारा पूर्णरूपेण प्रकाशित हो सके। अपनी पूर्णता-प्राप्त प्रकृतिको दिव्य बनानेके हित हमें दैवी शक्तिको अपनी सीमित मानव-शक्तिका स्थान लेनेके लिये आवाहन करना होगा ताकि यह एक महत्तर असीम शक्ति, दैवी प्रकृति, भागवती शक्ति, की प्रतिमूर्त्तिमें परिणत हो जाय और उसके बलसे भर जाय। यह पूर्णता उसी अनुपातमें बढ़ेगी जिसमें कि हम पहले तो उस शक्तिके तथा उसके स्वामीके, जो हमारे अस्तित्व और कर्मोंका भी प्रभु

है, मार्गदर्शनके प्रति और फिर उनकी प्रत्यक्ष क्रियाके प्रति अपने-आपको सर्मापित कर सकेंगे; और इस प्रयोजनके लिये श्रद्धा, हमारी पूर्णता-प्राप्तिकी अभीप्साओंमें, हमारी सत्ताकी एक अनिवार्य और महान् चालक शक्ति है,—यहाँ जिस श्रद्धाकी आवश्यकता है वह भगवान् और शक्तिमें श्रद्धा है जो हृदय और बुद्धिमें आरंभ होगी पर हमारी संपूर्ण प्रकृतिको, उसकी समस्त चेतना तथा समस्त क्रियाशील प्रेरकशक्तिको अपने अधिकारमें कर लेगी। ये चार चीजें सिद्धिके इस दूसरे तत्त्वके अनिवार्य साधन हैं, करणात्मक प्रकृतिके अंगोंकी समग्र शक्तियाँ, आंतरिक प्रकृतिकी पूर्णता-प्राप्त क्रियाशक्ति, करणोंको दिव्य-शक्तिकी क्रियामें रूपांतरित करना और उस रूपांतरका आवाहन तथा समर्थन करनेके लिये हमारे सब करणोंमें पूर्ण श्रद्धा, **शक्ति, वीर्य, दैवी प्रकृति, श्रद्धा।**

परन्तु जबतक यह विकास हमारी सामान्य प्रकृतिके उच्चतम स्तरपर ही संपन्न होता है तबतक हम पूर्णताकी एक प्रतिबिंबित एवं संकुचित मूर्तिको ही अपने अन्दर धारण कर सकते हैं जो हमारे मन, प्राण और शरीरके अन्दर आत्माके निम्नतर रूपोंमें परिणत हो जाती है, पर दिव्य विज्ञान और उसकी शक्तिकी उच्चतम अवस्थाओंके रूपमें हमें जो दिव्य पूर्णता प्राप्त हो सकती है उसे हम धारण नहीं कर सकते। वह पूर्णता तो इन निम्नतर तत्त्वोंसे परे अतिमानसिक विज्ञानमें ही प्राप्त होगी; अतएव सिद्धिका अगला सोपान मनोमय सत्ताका विज्ञानमय सत्तामें विकास होगा। यह विकास तब साधित होता है जब हम इस मानसिक सीमाको तोड़कर इसके परे चले जाते हैं, अपनी सत्ताके उस अगले उच्चतर स्तर या प्रदेशकी ओर एक डग ऊपर उठा लेते हैं जो मानसिक प्रतिबिम्बोंके चमकीले आवरणके कारण इस समय हमसे छुपा हुआ है और जब हम अपनी संपूर्ण सत्ताको इस महत्तर चेतनाके रूपोंमें परिणत कर लेते हैं। स्वयं विज्ञानमें भी अनेक क्रमिक स्तर हैं जो अपने उच्चतम शिखरपर पूर्ण और अनन्त आनन्दमें जा खुलते हैं। जब एक बार विज्ञानका आवाहन करके उसे प्रबल रूपसे सक्रिय बना दिया जायगा तो वह बुद्धि, संकल्पशक्ति, ऐन्द्रिय मन, हृदय और प्राणिक तथा सांवेदनिक सत्ताकी सभी अवस्थाओंको उत्तरोत्तर अपने हाथमें लेकर एक ज्योतिर्मय एवं सामंजस्यकारी रूपांतरके द्वारा सत्यके एकत्वमें तथा दिव्य सत्ताके बल और आनन्दमें परिणत कर देगा। वह हमारी संपूर्ण बौद्धिक, संकल्पात्मक, क्रियाशील, नैतिक, सौन्दर्यग्राही, संवेदनप्रधान, प्राणिक और भौतिक सत्ताको उस ज्योति और शक्तिमें ऊपर उठा ले जायगा तथा उन्हें उनके अपने उच्चतम भावमें रूपांतरित कर देगा। भौतिक

सीमाओंको दूर करके एक अधिक पूर्ण एवं दिव्य-यंत्र-स्वरूप शरीरका विकास करनेकी शक्ति भी विज्ञानमें विद्यमान है। उसका प्रकाश अतिचेतनके क्षेत्रोंको खोल देता है और अवचेतनमें वलपूर्वक अपनी किरणें फेंककर तथा अपना ज्योतिर्मय प्रवाह उँडेलकर उसके धुंधले संकेतों एवं अवरुद्ध रहस्योंको आलोकित कर देता है। मनकी ऊँची-से-ऊँची भूमिकाके भी क्षीणतर आलोकके रूपमें अनन्तका जो प्रकाश प्रतिविम्वित होता है उससे अधिक महान् प्रकाशमें वह हमें प्रवेश प्रदान करता है। जहाँ वह वैयक्तिक आत्मा और प्रकृतिको, दिव्य जीवनके सच्चे अर्थमें, पूर्ण बनाता है और हमारी सत्ताकी विभिन्न अवस्थाओंको एक पूर्ण सामंजस्यका रूप देता है, वहाँ वह अपने समस्त कार्यका आधार उस एकत्वपर स्थापित करता है जो उसका उद्गम है और फिर प्रत्येक वस्तुको उस एकत्वमें ही उठा ले जाता है। व्यक्तित्व और निर्व्यक्तिक सत्, जो सत्ताके दो सनातन पक्ष हैं, पुरुपोत्तमकी अध्यात्म-सत्ता और प्रकृति-देहमें उसके द्वारा एक हो जाते हैं।

विज्ञानमय सिद्धिको, जिसका स्वरूप आध्यात्मिक है, यहाँ इस देहमें ही संपन्न करना होगा, वह स्थूल जगत्के जीवनको अपने एक क्षेत्रके रूपमें ग्रहण करती है, यद्यपि विज्ञान जड़ जगत्से परेके स्तरों और लोकोंकी प्राप्तिका द्वार भी हमारे लिये खोल देता है। अतएव स्थूल शरीर कर्मका आधार, **प्रतिष्ठा**, है जिसे तुच्छता या उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता और न जिसे आध्यात्कि विकाससे वहिष्कृत ही किया जा सकता है : भूतलपर संपूर्ण दिव्य जीवनके एक वाह्य यंत्रके रूपमें शरीरकी पूर्णता, अनिवार्यतः ही, विज्ञानमय रूपांतरका भाग होगी। वह परिवर्तन भौतिक चेतना और उसके करणोंमें विज्ञानमय पुरुपके तथा यह ऊपरकी ओर जिसमें खुलता है उस आनन्दमय पुरुपके नियमको लानेसे सावित होगा। इस क्रियाको यदि इसके उच्च-से-उच्च परिणामतक ले जाया जाय तो यह संपूर्ण भौतिक चेतनाको आध्यात्मिक बनाती तथा आलोकित कर देती है और शरीरके नियमको भी दिव्य नियममें परिणत कर देती है। कारण, इस स्थूलतः प्रत्यक्ष और इन्द्रियगोचर आधारके स्थूल अन्नमय कोपके पीछे मनोमय पुरुपका सूक्ष्म शरीर है जो स्थूल शरीरको प्रच्छन्न रूपसे धारण करता है तथा जिसे एक उत्कृष्टतर सूक्ष्म चेतनाके द्वारा जाना जा सकता है, साथ ही इसके पीछे विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुपका आध्यात्मिक या कारण-रूप शरीर भी है। उन शरीरोंमें आध्यात्मिक-देह-धारणकी समस्त सिद्धि उपलब्ध हो सकती है और शरीरका जो दिव्य नियम अवतक कभी प्रकट नहीं हुआ वह भी प्रकट हो सकता है। जिन शारीरिक सिद्धियोंको कुछ-एक योगी प्राप्त

करते हैं उनमेंसे बहुत-सी सूक्ष्म शरीरके नियमके यत्किंचित् उद्घाटनसे या स्थूल देहमें आध्यात्मिक शरीरके नियमके किसी अंशके आवाहनसे प्राप्त होती हैं। इसके लिये साधारण विधि है—हठयोगकी भौतिक प्रक्रियाओंके द्वारा (जिनका कुछ अंश राजयोगमें भी समाविष्ट है) या तांत्रिक साधनाकी विधियोंके द्वारा चक्रोंको खोलना। यद्यपि किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें पूर्णयोग ऐच्छिक रूपसे इन विधियोंका उपयोग कर सकता है तथापि ये अनिवार्य नहीं हैं; क्योंकि यहाँ निम्न सत्ताका परिवर्तन करनेके लिये उच्चतर सत्ताकी शक्तिपर भरोसा किया जाता है, मुख्य रूपसे एक ऐसी क्रियाको पसन्द किया जाता है जो ऊपरसे निम्न स्तरपर की जाती है न कि इससे उलटे ढंगसे, और अतएव योगके इस भागमें करणके परिवर्तनके रूपमें विज्ञानकी उच्चतर शक्तिके विकासकी प्रतीक्षा की जायगी।

तब विज्ञानके आधारपर सत्ताका पूर्ण कर्म और उपभोग ही शेष रह जायगा, क्योंकि यह तभी पूर्णतया संभव होगा। पुरुष अपनी अनन्त सत्ताकी विविधताओंको प्रकट करनेके लिये, ज्ञान, कर्म और उपभोगके लिये, अपने-आपको विराट् रूपमें व्यक्त करना आरंभ करता है; विज्ञान आध्यात्मिक ज्ञानका पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त कराता है और उसके ऊपर वह दिव्य कर्मकी नींव रखता है तथा जगत् एवं अस्तित्वके उपभोगको सत्यके नियम और आत्माकी मुक्ति एवं पूर्णताके अनुरूप ढाल देता है। परन्तु वह कर्म गुणोंका निम्न व्यापार नहीं होगा और न वह उपभोग ही गुणोंके निम्न व्यापारसे प्राप्त होनेवाला वह अहंकारमय उपभोग होगा जो अधिकांशमें राजसिक कामनाकी तुष्टिका उपभोग हुआ करता है—जीवन-यापनकी हमारी वर्तमान प्रणाली तो ऐसा कर्म और उपभोग करनेकी ही है। जो कामना शेष रहेगी—यदि उसे कामनाका नाम दिया जाय तो,—वह दिव्य कामना होगी, अर्थात् आनन्द प्राप्त करनेके लिये 'पुरुष' की अपनी इच्छाशक्ति होगी, एक ऐसे 'पुरुष'की जो अपनी मुक्ति और सिद्धिकी अवस्थामें पूर्णता-प्राप्त प्रकृति तथा उसके समस्त करणोंके कार्यका आनन्दोपभोग करेगा। दिव्य पराप्रकृति हमारी संम्पूर्ण मानव-प्रकृतिको अपने उच्चतर दिव्य सत्यके नियममें उन्नीत कर देगी और उस नियममें कार्य करती हुई अपने कर्म और अस्तित्वका विराट् आनन्दोपभोग उस आनन्दमय ईश्वर, सत्ता और कर्मोंके प्रभु आनन्दस्वरूप परम-आत्माको अर्पित करेगी जो उसके सब कार्योंका अधिष्ठाता और नियंता है। व्यक्तिकी आत्मा इस कर्म और अर्पणका वाहन होगी, वह ईश्वर तथा प्रकृति दोनोंके साथ अपने एकत्वका एक ही साथ रसास्वादन करेगी और विराट् पुरुष तथा प्रकृतिके एकत्वके उच्चतम

रूपोंमें अनन्त और सान्तके साथ, ईश्वर और जगत् तथा इसके प्राणियोंके साथ सब प्रकारके संबंधोंका आनन्दोपभोग करेगी।

समस्त विज्ञानमय विकास ऊपरकी ओर आरोहण करता हुआ आनन्दके दिव्य तत्त्वमें जा पहुँचता है; वह आनन्दतत्त्व सच्चिदानन्द या सनातन ब्रह्मकी आध्यात्मिक सत्ता, चेतना और आनन्दके पूर्णैश्वर्यका आधार है। पहले वह मानसिक अनुभवमें प्रतिबिम्बित होकर प्राप्त होता है, उसके बाद वह विज्ञानसे प्राप्त होनेवाली घनीभूत ज्योतिर्मय चेतना, चिद्घन, में एक महत्तर पूर्णताके साथ तथा अधिक प्रत्यक्ष रूपमें प्राप्त होगा। सिद्ध या पूर्णता-प्राप्त 'पुरुष' इस ब्राह्मी चेतनामें पुरुषोत्तमके साथ एक होकर जीवन धारण करेगा, वह 'सर्व'मय ब्रह्म, **सर्वं ब्रह्म**में, अनन्त सत्ता और अनन्त गुणोंवाले ब्रह्म, **अनन्तं ब्रह्म**में, स्वयंभू-चैतन्य-स्वरूप और विश्व-ज्ञानमय ब्रह्म, **ज्ञानं ब्रह्म**में, स्वयंभू-आनन्द-स्वरूप और विराट् अस्तित्व-आनन्दमय ब्रह्म, **आनन्दं ब्रह्म**में सचेतन होकर निवास करेगा। वह संपूर्ण विश्वको एकमेवकी अभिव्यक्ति अनुभव करेगा, समस्त गुणों और कर्मोंको उसकी विराट् और असीम शक्तिकी क्रीड़ा तथा समस्त ज्ञान एवं सचेतन अनुभवको उस चेतनाका बहिःप्रवाह अनुभव करेगा, और यह सब अनुभव उसे एकमेव आनन्दके विविध रूपोंमें ही होगा। उसकी भौतिक सत्ता समस्त जड़ प्रकृतिके साथ एक होगी, उसकी प्राणिक सत्ता विश्वके प्राणके साथ, उसका मन वैश्व मनके साथ, उसका आध्यात्मिक ज्ञान और संकल्प दिव्य ज्ञान और संकल्पके निज स्वरूपके साथ तथा उनके इन प्रणालिकाओंके द्वारा प्रवाहित होनेवाले रूपके साथ एक होंगे, उसकी आत्मा सर्वभूतोंमें स्थित एकमेव आत्माके साथ एक होगी। विश्व-सत्ताकी समस्त विविधता उसके लिये उसी एकतामें परिवर्तित हो जायगी और उसके आध्यात्मिक अर्थका रहस्य प्रकट हो जायगा। कारण, इस आध्यात्मिक सत्ता और आनन्दमें वह उस 'तत्' के साथ एक होगा जो समस्त सत्ताका उद्गम और आधार है, सबका अन्तर्वासी, मूल आत्मतत्त्व और उपादान-शक्ति है। यह होगी आत्मसिद्धिकी पराकाष्ठा।

ग्यारहवाँ अध्याय

समताकी पूर्णता

आध्यात्मिक सिद्धिके लिये सर्वप्रथम आवश्यक साधन है पूर्ण समता। योगमें हम सिद्धि शब्दका प्रयोग जिस अर्थमें करते हैं उसमें इसका आशय अदिव्य अपरा प्रकृतिसे बाहर निकलकर दिव्य परा प्रकृतिमें विकसित होना है। ज्ञानकी परिभाषामें इसका अर्थ है उच्चतर सत्ताके स्वरूपको धारण करना और अत्यंत अंधकारमय एवं खण्डित निम्नतर सत्ताको त्याग देना अथवा अपनी अपूर्ण अवस्थाको अपने वास्तविक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्वकी अखण्ड ज्योतिर्मय पूर्णतामें रूपांतरित करना। भक्ति और आराधनाकी परिभाषामें इसका अर्थ है अपनी प्रकृति या अपनी सत्ताके नियमके साथ, भगवान्‌की प्रकृति या उसकी सत्ताके नियमके साथ उत्तरोत्तर सादृश्य स्थापित करना, जिसकी हम अभीप्सा करते हैं उसके साथ एकमय होना,—क्योंकि यदि यह सादृश्य या सत्ताके नियमकी यह एकता न हो तो उस परात्पर एवं विश्वगत और इस व्यक्तिगत आत्मामें एकत्व साधित नहीं हो सकता। परमोच्च दिव्य प्रकृति समतापर प्रतिष्ठित है। उसके संबंधमें यह कथन सभी अवस्थाओंमें सत्य है, भले हम परमोच्च सत्ताको शुद्ध एवं प्रशान्त पुरुष तथा आत्माके रूपमें देखें या विश्व-सत्ताके दिव्य स्वामीके रूपमें। शुद्ध आत्मा सम और अचलायमान है, जगत्‌की सभी घटनाओं तथा उसके सभी संबंधोंका तटस्थ शान्तिके साथ अवलोकन करनेवाला साक्षी है। यद्यपि वह उनसे विरक्त नहीं होता,—विरक्तिका नाम समता नहीं है, यदि आत्माकी जगत्-सत्ताके प्रति यही वृत्ति होती तो जगत् उत्पन्न ही न हो सकता, न वह अपने विकासके वृत्तोंपर आगे ही बढ़ सकता,—तथापि अनासक्ति, सम दृष्टिकी शान्ति, जो प्रतिक्रियाएँ बाह्य प्रकृतिमें फँसी आत्माको पीड़ित करती हैं तथा जो उसे अक्षम बनानेवाली उसकी दुर्बलता हैं उनसे ऊपर होना, ये सब प्रशान्त अनन्त ब्रह्मकी पवित्रताका असली सारतत्व हैं तथा जगत्‌की अनेकमुखी गतिके प्रति उसकी तटस्थ स्वीकृति एवं सहायताके लिये आवश्यक अवस्थाएँ हैं। परन्तु परम आत्माकी जो शक्ति इन गतियोंको नियंत्रित और विकसित करती है उसमें भी यही समता एक आधारभूत अवस्था है।

पदार्थोंका स्वामी उनकी प्रतिक्रियाओंसे प्रभावित या विक्षुब्ध नहीं हो सकता; यदि वह प्रभावित या विक्षुब्ध हो जाय तो वह उनके अधीन है, उनका स्वामी नहीं, अपने प्रभुत्वशाली संकल्प और ज्ञानके अनुसार तथा उनके संबंधोंके पीछे जो कुछ विद्यमान है उसके आंतरिक सत्य और उसकी आंतरिक आवश्यकताके अनुसार उनका विकास करनेके लिये स्वतंत्र नहीं है, वरन् सच पूछो तो वह क्षणस्थायी आकस्मिक संयोग और दृग्विषयकी मांगके अनुसार कार्य करनेके लिये विवश है। सभी वस्तुओंका सत्य उनकी गहराइयोंकी शान्तिमें निहित है, उपरितलपर उनका जो परिवर्तनशील अस्थिर तरंगमय रूप दिखायी देता है उसमें नहीं। परम चिन्मय पुरुष अपने दिव्य ज्ञान, संकल्प और प्रेमके द्वारा इन गहराइयोंसे ही उनके विकासका संचालन करता है—हमारे अज्ञानको वह विकास कितनी ही वार एक क्रूर अव्यवस्था और पथभ्रष्टता-रूप प्रतीत होता है—किन्तु परम पुरुष उपरितलके कोलाहलसे विक्षुब्ध नहीं होता। भागवत प्रकृति हमारे अन्धान्वेषणों और आवेगोंमें भाग नहीं लेती; जव हम भगवान्‌के कोप या अनुग्रहकी चर्चा करते हैं या यह कहते हैं कि भगवान् मनुष्यमें दुःख झेलते हैं, तो हम एक मानवीय भाषाका प्रयोग कर रहे होते हैं जो हमारे द्वारा वर्णित गतिके आन्तरिक अर्थका अशुद्ध निरूपण करती है। जव हम स्थूलतलदर्शी मनसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक सत्ताके शिखरोंपर पहुँचते हैं तो हम भगवान्‌के कोप या प्रसादके वास्तविक सत्यको कुछ-कुछ देख पाते हैं। कारण, तव हम देखते हैं कि, आत्माकी नीरव शान्तिमें किंवा उसके विश्वगत कार्य-व्यापारमें, भगवान् सदा ही सच्चिदानन्द हैं, अर्थात् वे चिन्मय पुरुषकी असीम सत्ता, असीम चेतना एवं स्व-प्रतिष्ठित शक्ति हैं, उसकी समस्त सत्तामें व्याप्त एक असीम आनन्द हैं। तव हम स्वयं एक समत्वपूर्ण ज्योति, शक्ति और आनन्दमें निवास करने लगते हैं—वे ज्योति, शक्ति और आनन्द हमारी चेतन सत्ताके अन्दर उन दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्दका ही एक विशेष रूप होते हैं जो आत्मा और पदार्थोंमें विद्यमान हैं तथा उपर्युक्त असीम मूल स्रोतोंसे सक्रिय विराट् प्रवाहोंके रूपमें आते हैं। उस ज्योति, शक्ति और आनन्दके प्रभावसे हमारे अन्दरका गुप्त पुरुष एवं आत्मा मनके द्वारा प्रस्तुत जीवन-विषयक अनुभवोंके विवरणके द्वैतात्मक स्वरूपको स्वीकार करता है तथा उसे सदा ही अपने पूर्ण अनुभवकी पोषक सामग्रीमें रूपान्तरित कर देता है, और यदि इस समय भी हमारे अन्दर एक गुप्त महत्तर सत्ता न होती तो हम विश्व-शक्तिका दवाव सहन न कर सकते और न इस महत् और भयानक जगत्‌में जीवन धारण ही कर सकते। हमारी आत्मा और प्रकृतिकी

पूर्ण समता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम विक्षुब्ध और अज्ञ बाह्य चेतनासे पीछे हटकर स्वर्गके इस आन्तरिक राज्यमें प्रवेश कर सकते हैं और आत्माकी महिमा, शान्ति और आनन्दके सनातन राज्यों, **राज्यं समृद्धम्,** को प्राप्त कर सकते हैं। योगका आत्मसिद्धि प्राप्त करनेका लक्ष्य हमसे जिस समत्व-साधनाकी माँग करता है उसका पूर्ण फल एवं समग्र निमित्त दिव्य प्रकृतिकी ओर यह आत्म-उत्थान ही है।

हमारी सत्ताके संपूर्ण तत्वको उसके विक्षुब्ध-मानसिकता-रूपी वर्तमान उपादानसे आत्माके तत्वमें रूपांतरित करनेके लिये आत्माकी पूर्ण समता एवं शान्ति अनिवार्य है। यदि हम अपने वर्तमान अव्यवस्थित और अज्ञान-युक्त कर्मके स्थानपर प्रकृतिकी शासक और विराट् पुरुषके साथ समस्वरित मुक्त आत्माके स्वराट् और ज्योतिर्मय कर्मोंको प्रतिष्ठित करनेकी अभीप्सा रखते हों तब भी यह समता एवं शान्ति समान रूपसे अनिवार्य है। यदि हममें आत्माकी समता नहीं है और हमारी प्रकृतिकी चालक-शक्तियोंमें भी समता नहीं है तो दिव्य-कर्म तो क्या सर्वांगपूर्ण मानवीय कर्म भी हम नहीं कर सकते। भगवान् सबके प्रति सम हैं, अपने रचे हुए विश्वके निष्पक्ष भर्ता हैं जो सबको समत्वपूर्ण नेत्रोंसे देखते हैं, विकसनशील सत्ताके जिस नियमको उन्होंने अपनी सत्ताकी गहराइयोंमेंसे प्रकट किया है उसे वे स्वीकृति प्रदान करते हैं, जो कुछ सहन करना आवश्यक हो उसे सहन करते हैं, जिसे दबाना आवश्यक हो उसे दबा देते हैं, जिसे उभारना आवश्यक हो उसे उभारते हैं, समस्त कारणों और परिणामोंके पूर्ण और समत्वयुक्त ज्ञानके साथ तथा सभी दृग्विषयोंके आध्यात्मिक और व्यावहारिक अर्थको कार्यान्वित करते हुए, सृजन, पालन और संहार करते हैं। परमेश्वर कामना-के किसी विक्षुब्ध आवेगके वश सृष्टिकी रचना नहीं करते, न वे पक्षपात-पूर्ण अभिरुचि-रूपी आसक्तिके द्वारा उसका धारण-पोषण करते हैं और न ही क्रोध, घृणा या वैराग्यके आवेशमें आकर उसका संहार करते हैं। भगवान् बड़े और छोटे, न्यायी और अन्यायी तथा अज्ञ और विज्ञ—सबके साथ उनकी आत्माके रूपमें व्यवहार करते हैं; यह आत्मा सत्तामात्रके साथ गहरे और घनिष्ठ रूपमें संबद्ध तथा एक होनेके कारण सबको उनकी प्रकृति और आवश्यकताके अनुसार पूर्ण ज्ञान एवं शक्तिके साथ तथा यथोचित् प्रमाणमें परिचालित करती है। पर इस सब कार्यके द्वारा वह समस्त वस्तुओंको युगयुगव्यापी विकास-चक्रोंके मूलमें विद्यमान अपने विशाल लक्ष्यके अनुसार संचालित करती है तथा क्रमविकासमें अंतरात्माको उसकी दृश्य-मान प्रगति और प्रतिगतिके द्वारा ऊपरकी ओर, सदैव उच्चसे उच्चतर

विकासकी ओर उठा ले जाती है जो कि विश्वमें कार्य कर रही प्रेरणाका आशय है। आत्मसिद्धिके लिये यत्नशील व्यक्तिको, जो भगवान्‌की इच्छा-शक्तिके साथ एकता प्राप्त करना चाहता है तथा अपनी प्रकृतिको दिव्य उद्देश्यका यंत्र बनानेकी चेष्टा करता है, मानव-अज्ञानके अहंकारमय और पक्षपातपूर्ण विचारों तथा प्रेरक-भावोंसे बाहर निकलकर अपनेको विशाल बनाना होगा और इस परम समताकी प्रतिमूर्तिमें अपने-आपको ढालना होगा।

कर्ममें यह समत्वपूर्ण स्थिति पूर्णयोगके साधकके लिये विशेष रूपसे आवश्यक है। सर्वप्रथम उसे उस समत्वपूर्ण अनुमति एवं समबुद्धिका विकास करना होगा जो दिव्य कर्मके नियमपर अपनी अपूर्ण इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत अभीप्साकी उग्र मांगको थोपनेकी चेष्टा किये बिना उस नियमके प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया करेगी। जो व्यक्ति भगवान्‌के पूर्ण यंत्रोंके रूपमें कार्य करना चाहते हैं उनसे जिस पहली चीजकी मांग की जाती है वह एक ज्ञान-पूर्ण निर्व्यक्तिकता एवं प्रशान्त समता है, एक विश्वमयता है जो सभी वस्तुओं-को भगवान् अर्थात् 'एकं सत्' की अभिव्यक्तियोंके रूपमें देखती है, वस्तुओंकी गतिविधिके संबंधमें क्रुद्ध, क्षुब्ध एवं अधीर नहीं होती और इसके दूसरी ओर उत्तेजित, अति उत्सुक और अविवेकशील भी नहीं होती, वरन् यह देखती है कि विधानका अनुसरण और कालके पदक्षेपका सम्मान करना आव-श्यक है, पदार्थों और प्राणियोंकी वर्तमान अवस्थाका निरीक्षण करती और उसे सहानुभूतिपूर्वक समझती है, पर उनके वर्तमान रूपके पीछे उनके आन्त-रिक गूढ़ाशयोंको भी देखती है और आगेकी ओर उनकी दिव्य संभावनाओंके अनावरणपर भी दृष्टिपात करती है। परन्तु यह निर्व्यक्तिक अनुमति एक आधारमात्र है। मनुष्य एक ऐसे विकासका यंत्र है जो आरंभमें एक संघर्षका छद्मवेश धारण करता है, पर अपने सतत, ज्ञानपूर्ण सामंजस्य-स्थापन-रूपी सत्यतर और गभीरतर अर्थको अधिकाधिक प्रकट करता जाता है और विश्वकी विराट् समस्वरताके गभीरतम सत्य और मर्मको उत्तरोत्तर अधिक प्रमाणमें धारण करता जायगा; वह सत्य एवं मर्म इस समय सामंजस्य और संघर्षके मूलमें प्रच्छन्न रूपसे ही विद्यमान हैं। सिद्धिप्राप्त मानव-आत्माको इस विकासकी विधियोंको द्रुत वेग प्रदान करनेके लिये सदैव एक यंत्रके रूपमें कार्य करना होगा। इसके लिये एक दिव्य शक्तिको, जो अपने अन्तःस्थ दिव्य संकल्पकी प्रभुताके साथ कार्य करती है, उसकी प्रकृतिके अन्दर कुछ-न-कुछ मात्रामें अवश्य उपस्थित होना चाहिये। परन्तु वह शक्ति अपने कार्यको पूर्णतया सिद्ध कर सके, सतत स्थायी और धीर-स्थिर

रूपसे संपन्न कर सके और सच्चे अर्थमें दिव्य बन सके—इसके लिये उसे मानव-आत्माकी आध्यात्मिक समता, शान्ति, सर्वभूतोंके साथ निर्व्यक्तिक और समत्वपूर्ण तदात्मता तथा सब शक्तियोंकी ठीक समझके आधारपर ही अपना कार्य करना होगा। भगवान् विश्वके अगणित व्यापारोंमें अति महत् शक्तिके साथ कार्य करते हैं, पर अविचल एकता, स्वतंत्रता और शान्तिकी आश्रयदायिनी ज्योति और शक्तिके द्वारा ही करते हैं। सिद्धिप्राप्त आत्माके दिव्य कर्मोंका ढंग भी यही होना चाहिये। और समता ही सत्ताकी वह अवस्था है जो कर्म करनेकी इस परिवर्तित भावनाको संभव बनाती है।

परन्तु मानवीय पूर्णताके लिये भी उसके एक अन्यतम प्रधान तत्व और यहाँतक कि उसके आवश्यक वातावरणके रूपमें समता अपरिहार्य है। मानवीय पूर्णताको यदि अपने इस नामके योग्य बनना है तो उसके लक्ष्यमें आत्म-प्रभुत्व तथा परिस्थितियोंपर प्रभुत्व—ये दो चीजें अवश्य समाविष्ट होनी चाहियें; ये (प्रभुत्व-रूप) शक्तियाँ मानव-प्रकृतिको जिस बड़ीसे बड़ी मात्रामें प्राप्त हो सकती हैं उस मात्रामें इन्हें पानेके लिये उसे यत्न करना होगा। प्राचीन भाषामें कहें तो मनुष्यका आत्म-सिद्धिविषयक आवेग **स्वराट्** और **सम्राट्** बननेका ही आवेग है। परन्तु यदि वह निम्न प्रकृतिके आक्रमणके अधीन हो, हर्ष और शोकके विक्षोभके सुख और दुःखके प्रबल स्पर्शोंके, अपने भावावेशों और आवेगोंके कोलाहलके, अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचियोंके बंधनके, कामना और आसक्तिकी दृढ़ शृंखलाओंके आवेशमूलक पक्षपातसे पूर्ण व्यक्तिगत निर्णय और सम्मतिकी संकीर्णताके, अपने अहंकारके सैकड़ों स्पर्शोंके तथा विचार, भाव और कर्मपर उसकी अटल छापके अधीन हो तो वह स्वराट् बन ही नहीं सकता। ये सब चीजें निम्न 'स्व' के प्रति दासता-रूप हैं, यदि मनुष्यको अपनी प्रकृतिका राजा बनना हो तो उसे चाहिये कि अपने अन्दरकी महत्तर 'मैं' के द्वारा निम्न 'स्व' को अपने पैरों तले रखे। इन सब चीजोंपर विजय पाना आत्म-शासन (स्वाराज्य) की शर्त है; पर उस विजयकी भी शर्त तथा उसकी प्रक्रियाका सार है समता। इन सब चीजोंसे, हो सके तो, पूर्णतः मुक्त होना या कम-से-कम इनका स्वामी तथा इनसे उच्चतर होना—इसीका नाम है समता। और फिर, जो अपना प्रभु नहीं है वह अपनी परिस्थितियोंका प्रभु भी नहीं हो सकता। इस बाह्य प्रभुत्वके लिये जिस ज्ञान, संकल्प एवं सामंजस्यकी जरूरत है वह आंतरिक विजयके राज-पुरस्कारके रूपमें ही प्राप्त हो सकता है। वह उस स्वराट् अंतरात्मा एवं मनकी संपदा है जो निष्पक्ष समताके साथ सत्य, ऋत तथा विश्वव्यापी बृहत्का अनुसरण करता है; इन सत्य, ऋत तथा

बृहत्की भूमिकामें ही यह प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है,—हमारी अपूर्णताके सम्मुख ये जो महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं उसका भी स्वराट् आत्मा सदा अनुसरण करता है, पर यह उस सबको भी समझता तथा पूरा अवकाश देता है जो इनका विरोध करता तथा इनकी अभिव्यक्तिमें बाधा डालता प्रतीत होता है। यह नियम हमारे वर्तमान मानव-मनके स्तरोंपर भी सत्य है, जहाँ हम केवल सीमित पूर्णता ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु योग अपने आदर्शकी सिद्धिके लिये स्वाराज्य और साम्राज्यके इस लक्ष्यको अपने हाथमें लेकर इसे एक विशालतर आध्यात्मिक आधारपर स्थापित कर देता है। वहाँ यह अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेता है, आत्माकी दिव्यतर भूमिकाओंकी ओर खुल जाता है; क्योंकि अनन्तके साथ एकत्व तथा सांत पदार्थोंपर आध्यात्मिक शक्तिकी क्रियाके द्वारा ही हमारी सत्ता और प्रकृतिकी एक प्रकारकी उच्चतम सर्वांगीण पूर्णता अपना सहज-स्वाभाविक आधार प्राप्त करती है।

आत्माकी ही नहीं बल्कि प्रकृतिकी भी पूर्ण समता आत्मसिद्धि-योगकी शर्त है। प्रत्यक्षतः ही, इसके लिये पहला कदम यह होगा कि हम अपनी भावप्रधान और प्राणिक सत्तापर विजय प्राप्त करें; क्योंकि बड़े-से-बड़े विक्षोभके उद्गम, असमता और दासताकी सर्वाधिक दुर्दान्त शक्तियाँ और हमारी अपूर्णताकी सबसे अधिक आग्रहपूर्ण मांग हमारी भाविक और प्राणिक सत्तामें ही निहित हैं। अपनी प्रकृतिके इन भागोंकी समता हमें शुद्धि और मुक्तिसे प्राप्त होती है। हम कह सकते हैं कि समता मुक्तिका असली चिह्न ही है। प्राणिक कामनाके आवेगके आधिपत्यसे तथा आत्मापर वासनाओंके प्रचण्ड प्रभुत्वसे मुक्त होनेका मतलब है शान्त और समतापूर्ण हृदयको तथा एक ऐसे प्राण-तत्वको प्राप्त करना जो विश्वात्माकी विशाल और समदृष्टिसे नियंत्रित हो। कामना प्राणकी अशुद्धि और बंधन-शृंखला है। मुक्त प्राणका अभिप्राय है संतुष्ट और तृप्त प्राणमय पुरुष जो बाह्य पदार्थोंके स्पर्शका सामना बिना किसी कामनाके करता है और एक समान प्रत्युत्तरके साथ उनका स्वागत करता है; मुक्त होकर, रुचि और अरुचिके दासतापूर्ण द्वन्द्वसे ऊपर उठकर, सुख-दुःखकी प्रबल प्रेरणाओंके प्रति उदासीन रहता हुआ, प्रिय वस्तुओंके द्वारा हर्षोत्फुल्ल तथा अप्रियके द्वारा क्षुब्ध और अभिभूत न होता हुआ, जो स्पर्श उसे पसन्द हैं उनके साथ आसक्तिके भावमें न चिपकता हुआ और जिनके प्रति उसे तीव्र घृणा है उन्हें उग्रतापूर्वक दूर न हटाता हुआ वह अनुभवके मूल्योंकी एक महत्तर प्रणालीकी ओर उन्मुक्त हो जायगा। संसारसे उसके पास भय या अनुनयके साथ जो कुछ भी

आयगा उस सबको वह उच्चतर तत्वोंके आगे अर्थात् आत्माके प्रकाश एवं शान्त आनन्दके स्पर्शमें रहनेवाले या उसके द्वारा परिवर्तित बुद्धि और हृदयके आगे विचारार्थ पेश करेगा। इस प्रकार शान्त होकर, आत्माके वशीभूत होकर और पहलेकी तरह हमारे अन्दरकी गभीरतर एवं सूक्ष्मतर अन्तरात्मा-पर अपने प्रभुत्वको लादनेकी चेष्टा न करता हुआ यह प्राणमय पुरुष स्वयं अध्यात्ममय हो जायगा और पदार्थोंके साथ आत्माके दिव्यतर व्यवहारोंके विशुद्ध और उदात्त यंत्रके रूपमें कार्य करेगा। यहाँ प्राण-आवेग तथा उसके सहजात उपयोगों और कार्योंका वैराग्यपूर्वक उच्छेद करनेका कोई प्रश्न ही नहीं है; आवश्यकता है इसका रूपांतर करनेकी न कि उच्छेद। प्राणका कार्य है उपभोग, पर सत्ताका वास्तविक उपभोग एक आंतरिक आध्यात्मिक आनन्द है, न कि हमारे प्राणिक, भाविक या मानसिक सुखके समान मर्या-दित और अशान्त आनन्द, प्राणिक, भाविक और मानसिक सुख आज स्थूल मनकी प्रधानताके कारण हीनतासे ग्रस्त हैं, पर वास्तविक उपभोग तो एक विराट् और गहन-गभीर आनन्द है, आध्यात्मिक आनन्दका एक पुंजीभूत सघन रूप है जो आत्मा और समस्त सत्ताके शान्त परमोल्लासमें प्राप्त होता है। स्वत्व-प्राप्ति प्राणका कार्य है, स्वत्वप्राप्तिके द्वारा ही अंतरात्माको पदार्थोंका आनन्दोपभोग प्राप्त होता है, पर यह स्वत्वप्राप्ति वास्तविक होती है, एक विशाल और आन्तरिक वस्तु होती है, यह उस बाहरी पकड़पर निर्भर नहीं करती जो हमें पकड़में लायी गयी वस्तुके अधीन कर देती है। समस्त बाह्य प्राप्ति एवं उपभोग आध्यात्मिक आनन्दकी अपनी ही जगत्-सत्ताके रूपों और दृग्विषयोंके साथ तृप्त और समलीलाका एक साधनमात्र होगा। अहंकारमय प्राप्ति, अर्थात् भगवान्‌पर तथा जीवों और जगत्‌पर अहंके अधिकारके अर्थमें वस्तुओंको अपनी बना लेनेकी वृत्ति, **परिग्रह**, को त्यागना होगा, ताकि यह महत्तर वस्तु अर्थात् यह विशाल, विश्वमय और सर्वांगपूर्ण जीवन प्राप्त हो सके। **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**, —कामना और प्राप्ति-की अहंकारमय भावनाका त्याग करनेसे ही आत्मा अपनी सत्ताका तथा विश्वका दिव्य रूपमें आनन्दोपभोग करती है।

इसी प्रकार मुक्त हृदय एक ऐसा हृदय होता है जो भावों और रागा-वेशोंके आँधी-तूफानसे मुक्त होता है; शोक, क्रोध, घृणा और भयका आक्रा-मक स्पर्श, प्रेमजनित असमता, हर्षजनित विक्षोभ और दुःखजन्य वेदना—ये सब समत्वपूर्ण हृदयसे दूर हो जाते हैं जिससे कि वह एक विशाल, शान्त, सम, प्रकाशमय, एवं दिव्य तत्व ही बना रहता है। ये वस्तुएँ हमारी सत्ताकी मूल प्रकृतिके लिये अनिवार्य नहीं हैं, बल्कि हमारी बाह्य और सक्रिय मानसिक

एवं प्राणिक प्रकृतिकी वर्तमान बनावटकी तथा अपनी परिस्थितियोंके साथ उसके व्यवहारोंकी उपज हैं। हमारी अहंबुद्धि ही हमारे हृदयकी इन अशुद्ध क्रियाओंके लिये उत्तरदायी है क्योंकि वह हमें ऐसे पृथक् जीवोंके रूपमें कार्य करनेके लिये प्रेरित करती है जो अपनी पृथक् व्यक्तिगत मांग और अनुभूतिको विश्वके मूल्योंकी कसौटी बनाते हैं। जब हम अपने अन्तःस्थ भगवान् तथा विश्वगत आत्माके साथ एकत्वमें जीवन धारण करते हैं तो ये अपूर्णताएँ हमसे झड़कर अलग हो जाती हैं और आंतर आध्यात्मिक सत्ताके शान्त और सम बल एवं आनन्दमें विलीन हो जाती हैं। वह भागवत सत्ता सदा ही हमारे अन्दर विद्यमान है और इसके पूर्व कि बाह्य स्पर्श हमारे अन्तःस्थ प्रच्छन्न चैत्य पुरुषमेंसे होते हुए उसतक पहुँचे वह उन्हें रूपांतरित कर डालती है; यह चैत्य पुरुष उसका एक गुप्त साधन है जिसके द्वारा वह अपने सत्ता-संबंधी आनन्दका उपभोग करती है। हृदयकी समताके द्वारा हम अपने उपरितलपर रहनेवाले अशांत कामनामय पुरुषसे दूर हट जाते हैं, इस गभीरतर सत्ताके द्वारोंको खोल डालते हैं, इसकी प्रतिक्रियाओंको प्रकाशमें ले आते हैं और जो कुछ भी हमारी भावप्रधान सत्ताको प्रलोभित करता है उस सबपर उनके सच्चे दिव्य मूल्योंको आरोपित करते हैं। इस पूर्णताका फल होता है आध्यात्मिक वेदन प्राप्त करनेवाला, मुक्त, प्रसन्न, समत्वयुक्त और विश्वप्रेमी हृदय।

इस पूर्णतामें भी कठोर वैराग्यमय संवेदनहीनता या तटस्थ आध्यात्मिक उदासीनताका अथवा आत्मदमनकी कष्ट-साध्य कर्कश तपस्याका कोई प्रश्न नहीं है। यह भावप्रधान प्रकृतिका उच्छेद नहीं, रूपान्तर है। यहाँ हमारी बाह्य प्रकृतिमें जो भी चीजें अपने-आपको विकृत या अपूर्ण रूपोंमें प्रस्तुत करती हैं उन सबका कुछ महत्व और उपयोग है, जब हम उनसे पीछे हटकर दिव्य सत्ताके महत्तर सत्यमें प्रवेश करते हैं तो उनका महत्व और उपयोग प्रकट हो जाते हैं। प्रेमका उच्छेद नहीं होगा बल्कि वह पूर्णताको पहुँच जायगा, विस्तृत होकर अपनी विशालतम क्षमताको पा लेगा, गहरा होकर अपने आध्यात्मिक हर्षोल्लासको प्राप्त कर लेगा, ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम बन जायगा, अपनी आत्माके रूपमें तथा भगवान्की सत्ताओं और शक्तियोंके रूपमें सभी वस्तुओंसे प्रेमका रूप धारण कर लेगा; एक विशाल एवं सार्वभौम प्रेम, जो नानाविध संबंध स्थापित करनेमें सर्वथा समर्थ होगा, क्षुद्र हर्षों और शोकों तथा आग्रहपूर्ण मांगोंसे युक्त दावा करनेवाले, अहंकारमय और स्वार्थपरायण प्रेमका स्थान ले लेगा; यह स्वार्थपरायण प्रेम उन क्रोधों, ईर्ष्याओं, तुष्टियों, एकता-प्राप्तिके उतावले प्रयत्नों

तथा क्लान्ति, संबंध-विच्छेद और विरहकी गतियोंके समस्त चित्र-विचित्र जालसे पीड़ित होता है जिन्हें हम आज इतना अधिक महत्व देते हैं। दुःखका अस्तित्व समाप्त हो जायगा, पर विश्वजनीन एवं समत्वपूर्ण प्रेम और सहानुभूति उसका स्थान ले लेंगे, वह सहानुभूति दूसरोंके दुःखमें दुःख अनुभव करनेवाली नहीं होगी वल्कि एक ऐसी शक्ति होगी जो अपने-आप दुःख-मुक्त होनेके कारण दूसरोंका धारण-पोषण करने, उन्हें सहायता पहुँचाने और मुक्त करनेमें सक्षम होती है। मुक्त आत्मामें घृणा और क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकते, पर उसमें भगवान्‌की वह प्रवल रुद्र-शक्ति प्रकट हो ही सकती है जो घृणाके विना युद्ध और क्रोधके विना संहार कर सकती है क्योंकि वह जिन वस्तुओंका विनाश करती है उन्हें वरावर ही अपने अंग एवं अपनी अभिव्यक्तियोंके रूपमें जानती होती है और अतएव जिनमें ये अभिव्यक्तियाँ मूर्तिमंत होती हैं उनके प्रति उसकी सहानुभूति और समझमें कोई भी अंतर नहीं पड़ता। हमारी समस्त भावमय प्रकृति इस उच्च मोक्षसाधक रूपांतरमेंसे गुजरेगी; पर यह ऐसा कर सके इसके लिये पूर्ण समता एक अनिवार्य, फलप्रद अवस्था है।

अपनी शेष सारी सत्तामें भी हमें इसी समताको स्थापित करना होगा। हमारी संपूर्ण क्रियाशील सत्ता असमान आवेगोंके अर्थात् निम्न अज्ञानमय प्रकृतिकी अभिव्यक्तियोंके प्रभावके अधीन कार्य कर रही है। इन आवेगोंका हम अनुसरण करते हैं या कुछ अंशमें नियंत्रण करते हैं या फिर इनपर अपनी तर्कवुद्धि, परिष्कारक सौन्दर्य-भावना और सौन्दर्यग्राही मन तथा नियामक नैतिक विचारोंका परिवर्तनकारी और संशोधक प्रभाव डालते हैं। हमारे प्रयासका मिश्रित परिणाम यह होता है कि हमारे अन्दर सत्य और असत्य, उपयोगी और हानिकारक तथा सामंजस्यपूर्ण या अव्यवस्थित कार्योंका एक उलझा हुआ स्वर उत्पन्न हो जाता है, मानवीय तर्क और अतर्क, पुण्य और पाप, मान और अपमान तथा उच्च और नीचका और लोकसम्मत तथा लोकनिन्दित पदार्थों एवं कार्योंका परिवर्तनशील मानदण्ड स्थापित हो जाता है, आत्म-प्रशंसा और आत्मनिन्दाका अथवा आत्म-पवित्रता और आत्म-घृणा एवं पश्चात्ताप, लज्जा और नैतिक निराशाका अत्यधिक विक्षोभ उठ खड़ा होता है। निःसन्देह, इस समय ये चीजें हमारे आध्यात्मिक विकासके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। परन्तु एक महत्तर पूर्णताका अभिलाषी साधक इन सव द्वन्द्वोंसे पीछे हटकर इन्हें सम दृष्टिसे देखेगा और समताके द्वारा क्रियाशील तपस् अर्थात् आध्यात्मिक शक्तिकी तटस्थ और विराट् क्रियाको अपने अन्दर स्थापित कर लेगा; उस तपस्‌में उसकी अपनी शक्ति और

संकल्प दिव्य क्रियाके एक महत्तर शान्त रहस्यके शुद्ध और उपयुक्त यंत्रोंमें परिणत हो जाते हैं। इस क्रियाशील समताके आधारपर वह साधारण मानसिक मानदण्डोंको अतिक्रम कर जायगा। उसकी संकल्प-दृष्टिको अपनेसे परे एक दिव्य सत्ताकी पवित्रताकी ओर तथा दिव्य ज्ञानके द्वारा परिचालित दिव्य संकल्पशक्तिकी प्रेरणाकी ओर देखना होगा; उसकी पूर्णताप्राप्त प्रकृति उस दिव्य संकल्पशक्तिका ही एक यंत्र बनकर रहेगी। यह सब तबतक सर्वथा असंभव ही रहेगा जबतक क्रियाशील अहं भाविक और प्राणिक आवेगोंके तथा व्यक्तिगत निर्णयकी पसन्दगियोंके अधीन रहकर उसके कार्यमें हस्तक्षेप करता रहेगा। संकल्पशक्तिकी पूर्ण समता ही वह शक्ति है जो कर्मोंकी निम्न प्रेरणाकी इन ग्रंथियोंको छिन्न-भिन्न कर डालती है। यह समता निम्न आवेगोंको प्रत्युत्तर नहीं देगी, बल्कि मनके ऊपर अवस्थित प्रकाशसे आनेवाली महत्तर दृष्टिसंपन्न प्रेरणाको प्राप्त करनेके लिये सजग होकर प्रतीक्षा करेगी और बुद्धिके द्वारा निर्णय और नियंत्रण नहीं करेगी, बल्कि अन्तर्दृष्टिके उच्चतर स्तरसे प्राप्त होनेवाले प्रकाश और मार्गदर्शनकी प्रतीक्षा करेगी। क्रियाशील प्रकृति जैसे-जैसे ऊपर अतिमानसिक सत्ताकी ओर आरोहण करेगी और भीतर आध्यात्मिक विशालताकी ओर विस्तृत होगी, वैसे-वैसे वह भाविक और प्राणिक प्रकृतिकी तरह रूपांतरित होकर अध्यात्ममय बनती जायगी और दिव्य प्रकृतिकी एक शक्तिके रूपमें विकसित होती जायगी। करणोंका उनकी अपनी नयी क्रियाके साथ सामंजस्य साधनेमें अनेक स्खलन, भूलें और त्रुटियाँ होंगी, पर समताको अधिकाधिक धारण करती जानेवाली अंतरात्मा इन चीजोंसे अत्यधिक चलायमान या व्यथित नहीं होगी, क्योंकि आत्माके अन्दर तथा मनके ऊपर अवस्थित ज्योति और शक्तिके मार्गदर्शनकी ओर उन्मुक्त होकर वह दृढ़ विश्वासके साथ अपने-अपने मार्गपर बढ़ती जायगी और रूपांतरकी प्रक्रियाके उतार-चढ़ावों तथा उसकी पूर्तिकी प्रतीक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शान्तिके साथ करेगी। गीतामें भगवान्ने जो प्रतिज्ञा की है कि "सब धर्मोंका परित्याग करके एकमात्र मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सब पापों और बुराइयोंसे मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर", वह उसके दृढ़ निश्चयका लंगर होगी।

चिन्तनात्मक मनकी समता प्रकृतिके करणोंकी पूर्णताका एक अंग एवं अत्यावश्यक अंग होगी। अपनी बौद्धिक अभिरुचियों, अपने निर्णयों और अपनी सम्मतियों तथा कल्पनाओंके प्रति, अपने मनकी आधारभूत स्मृति-शक्तिके सीमाकारी संस्कारों, अपने यांत्रिक मनकी वर्तमान पुनरावृत्तियों, अपने व्यवहारलक्षी मनके आग्रहों और यहाँतक कि अपने बौद्धिक सत्य-

मानसकी सीमाओंके प्रति हमारी वर्तमान आकर्षक एवं स्व-समर्थक आसक्तिको भी अन्य आसक्तियोंकी तरह समाप्त हो जाना होगा और समत्वपूर्ण अन्त-र्दृष्टिकी तटस्थताके आगे शीश झुकाना होगा। समत्वयुक्त चिन्तनात्मक मन ज्ञान और अज्ञान एवं सत्य और भ्रान्तिके द्वन्द्वोंपर, जिन्हें हमारी चेतनाके सीमित स्वभाव तथा हमारी बुद्धिके पक्षपातने और उसके तर्कों एवं सहज-बोधोंकी छोटीसी पूँजीने जन्म दिया है, दृष्टिपात करेगा और बन्धनग्रंथिकी किसी भी रज्जुसे बद्ध हुए बिना उन दोनोंको स्वीकार करेगा और उन दोनोंसे परेकी ज्योतिर्मय अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये प्रतीक्षा करेगा। अज्ञान-के अन्दर वह एक ऐसे ज्ञानको देखेगा जो कारामें बद्ध है और मुक्त होनेका यत्न कर रहा है या इसकी बाट जोह रहा है, भ्रान्तिमें वह एक ऐसे सत्यको कार्य करते देखेगा जो अपनेको खो बैठा है या जिसे अन्धान्वेषी मनने भ्रामक रूपोंमें पटक दिया है। दूसरी ओर, वह अपने ज्ञानके द्वारा अपने-आपको आबद्ध एवं सीमित नहीं रखेगा अथवा उसके कारण नये प्रकाशकी ओर बढ़नेसे रुका नहीं रहेगा, किसी सत्यका पूर्ण रूपसे उपयोग करते हुए भी उसे अति उग्रताके साथ पकड़ नहीं रखेगा, न उसे उसकी वर्तमान रूप-रचनाओंमें क्रूरतापूर्वक जकड़ ही डालेगा। विचारात्मक मनकी यह पूर्ण समता अपरिहार्य है, क्योंकि इस विकासका लक्ष्य एक ऐसे महत्तर प्रकाशको पाना है जो आध्यात्मिक ज्ञानके उच्चतर स्तरका प्रकाश है। यह समता सबसे अधिक सूक्ष्म और कठिन है, मानव-मनने इसकी प्राप्तिकी साधना अत्यंत ही कम की है; जबतक अतिमानसिक ज्योति ऊर्ध्वदर्शी मनपर पूरी तरहसे नहीं पड़ती तबतक इस समताको पूर्ण रूपसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु इसके पूर्व कि वह ज्योति मनके उपादानपर स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सके, बुद्धिमें समताकी स्थापनाके लिये अधिकाधिक संकल्पकी आवश्यकता है। इस समताका अर्थ भी बुद्धिकी जिज्ञासाओं तथा उसके वैश्व उद्देश्योंका परित्याग करना नहीं है, इसका अर्थ न तो उदासीनता या तटस्थ संदेहवृत्ति है और न ही अनिर्वचनीयकी नीरवतामें समस्त विचारको शान्त कर देना। जब हमारा उद्देश्य मनको उच्चतर प्रकाश और ज्ञानका एक समत्वयुक्त वाहन बनानेके लिये उसकी आंशिक क्रियाओंसे उसे मुक्त करना होता है तब मानसिक विचारको शान्त करना साधनाका अंग हो सकता है; पर मनके उपादानका रूपान्तर करना भी आवश्यक है; अन्यथा उच्चतर प्रकाश मनपर पूर्ण प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकता और न ही वह मनुष्यमें दिव्य चेतनाके व्यवस्थित कार्योंको संपन्न करनेके लिये शक्तिशाली स्वरूप धारण कर सकता है। अनिर्वचनीय ब्रह्मकी नीरवता दिव्य सत्ताका एक सत्य है,

पर उस नीरवतासे जो 'शब्द' निःसृत होता है वह भी एक सत्य है, और इस शब्दको ही प्रकृतिके चेतन रूपमें मूर्त आकार प्रदान करना है।

परन्तु, अन्ततोगत्वा, प्रकृतिमें समताकी यह सब स्थापना इस लक्ष्यके लिये तैयारी है कि उच्चतम आध्यात्मिक समता संपूर्ण सत्ताको अपने अधिकार-में कर ले तथा एक ऐसा व्यापक वायुमण्डल बनाये जिसमें भगवान्‌की ज्योति, शक्ति एवं आनन्द मनुष्यके अन्दर अधिकाधिक बढ़ती हुई पूर्णताके साथ प्रकट हो सकें। यह समता सच्चिदानन्दकी सनातन समता है। यह अनन्त सत्ताकी समता है जो स्वयंसिद्ध है, यह सनातन आत्माकी समता है, पर यह मन, हृदय, संकल्पशक्ति, प्राण और भौतिक सत्ताको अपने सांचेमें ढाल देगी। यह अनन्त आध्यात्मिक चेतनाकी समता है जो दिव्य ज्ञानके आनन्दपूर्ण प्रवाह एवं उसकी तृप्त तरंगोंको धारण करेगी तथा उनका आधार बनेगी। यह दिव्य **तपस्**की समता है जो समस्त प्रकृतिमें दिव्य संकल्पकी ज्योतिर्मय क्रियाका आरंभ करेगी। यह दिव्य आनन्दकी समता है जो दिव्य विश्वव्यापी आनन्द एवं विश्वव्यापी प्रेमकी, विश्वव्यापी सौन्दर्यकी असीम रसशक्तिकी लीलाका आधार स्थापित करेगी। अनन्तकी आदर्श समत्वपूर्ण शान्ति एवं स्थिरता हमारी पूर्णताप्राप्त सत्ताका विशाल व्योम होगी, पर प्रकृतिके द्वारा अनन्तकी आदर्श, सम और पूर्ण क्रिया जो विश्वके संबंधोंपर कार्य करेगी हमारी सत्तामें उसकी शक्तिका एक प्रशान्त प्रवाह होगी। पूर्णयोगके शब्दोंमें समताका अर्थ यही है।

बारहवाँ अध्याय

समताका मार्ग

पूर्ण और सर्वांगीण समताके वर्णनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस समताके दो पहलू हैं। अतएव इसे दो क्रमिक क्रियाओंके द्वारा प्राप्त करना होगा। उनमेंसे एक हमें अपरा प्रकृतिकी क्रियासे मुक्त कर देगी तथा दिव्य सत्ताकी सुस्थिर शान्तिमें प्रवेश प्रदान करेगी; दूसरी हमें परा प्रकृतिकी पूर्ण सत्ता और शक्तिमें उन्मुक्त कर देगी और दिव्य एवं अनन्त ज्ञान, कार्य-संकल्प तथा आनन्दकी समत्वपूर्ण स्थिति और विश्वमयतामें प्रवेश प्रदान करेगी। पहलीका वर्णन हम एक निष्क्रिय या अभावात्मक समता अर्थात् सब कुछका ग्रहण करनेवाली समताके रूपमें कर सकते हैं; वह समता जगत्के आघातों और दृग्विषयोंका निर्विकार रूपसे सामना करती है तथा उनके द्वारा हमपर लादे गये बाह्य रूपों और प्रतिक्रियाओंके द्वन्द्वोंका निषेध करती है। दूसरी समता सक्रिय और भावात्मक है। वह जगत्के दृग्वि-षयोंको स्वीकार तो करती है पर एकमेव भागवत सत्ताकी अभिव्यक्तिके रूपमें ही। वह उनके प्रति समत्वपूर्ण प्रतिक्रिया करती है जो हमारे अन्दरकी दिव्य प्रकृतिसे प्रकट होती है तथा उन्हें उसके गुप्त मूल्योंमें रूपांतरित कर देती है। पहली एकमेव ब्रह्मकी शान्तिमें निवास करती है तथा सक्रिय अज्ञानकी प्रकृतिको अपनेसे दूर कर देती है। दूसरी उस शान्तिके साथ-साथ भगवान्के आनन्दमें भी निवास करती है और आत्माके प्रकृतिगत जीवनपर सत्ताके दिव्य ज्ञान, बल और आनन्दकी छाप लगा देती है। सम-ताकी यह द्विविध स्थिति, जो एक ही सामान्य सिद्धान्तके द्वारा एकीभूत होती है, पूर्णयोगमें समताके मार्गका निर्धारण करेगी।

निष्क्रिय या निरी ग्रहणशील समताकी प्राप्तिका प्रयत्न तीन विभिन्न सिद्धान्तों या मनोवृत्तियोंसे आरंभ हो सकता है। उन सबका परिणाम किंवा अंतिम फल एक ही होता है। वे हैं तितिक्षा, उदासीनता और नति। तितिक्षाका सिद्धान्त इसपर निर्भर करता है कि यह जो इन्द्रिय-गोचर प्रकृति हमें हर तरफसे घेरे हुई है उसके सभी स्पर्शों, संघर्षणों और संकेतोंको सहन करनेकी सामर्थ्य हमारी अन्तःस्थ आत्मामें विद्यमान है; हमारी आत्मा उनसे पराभूत नहीं होती, न ही वह उनकी भाविक, सांवे-

दनिक, क्रियाशील और बौद्धिक प्रतिक्रियाओंको सहनेके लिये बाध्य होती है। निम्न प्रकृतिमें अवस्थित बाह्य मनमें यह सामर्थ्य नहीं है। उसकी सामर्थ्य सीमित चेतना-शक्तिकी सामर्थ्य है; सत्ताके इस स्तरपर चेतना और शक्तिका जो महत्तर भँवर इस सामर्थ्यको चारों ओरसे घेरे हुए है उससे जो भी चीजें इसपर टूट पड़ती हैं या इसे घेर लेती हैं उन सबका इसे यथाशक्ति उत्तम रीतिसे सामना करना होता है। विश्वमें जो यह (बाह्य मन) अपनेको धारण कर भी सकता है तथा अपनी व्यक्तिगत सत्ताका दृढ़तापूर्वक समर्थन कर सकता है उसका भी कारण, निःसंदेह, इसके अन्दर रहनेवाली आत्माकी सामर्थ्य है, पर यह जीवनके आक्रमणोंका सामना करनेके लिये उस सामर्थ्यकी संपूर्ण मात्राको या उस शक्तिकी अनन्तताको प्रकाशमें नहीं ला सकता; यदि यह ऐसा कर सकता तो यह एक साथ ही अपने जगत्के समान बलशाली और उसका स्वामी होता। पर वास्तवमें इसे जैसे-तैसे काम चलाना होता है। यह किन्हीं विशेष आघातोंका सामना करता है और उन्हें अपूर्ण या पूर्ण रूपमें, कुछ समयके लिये या सर्वकालके लिये आत्मसात् करने, उनकी बराबरी करने या उन्हें वशमें करनेमें समर्थ होता है, और तब यह उसी अनुपातमें हर्ष, सुख, संतोष, अभिरुचि, प्रेम आदिकी भाविक और सांवेदनिक प्रतिक्रियाएँ करता है, अथवा स्वीकृति, समर्थन, समझ, ज्ञान और विशेषानुरागकी बौद्धिक एवं मानसिक प्रतिक्रियाएँ करता है, और इन प्रतिक्रियाओंको इसकी संकल्पशक्ति राग और कामनाके साथ तथा उन्हें चिरस्थायी बनाने, दुहराने, उत्पन्न और आयत्त करने एवं उसके जीवनकी सुखकर आदत बनानेके लिये यत्नके साथ अधिकृत करती है। अन्य आघातोंका भी यह सामना करता है पर उन्हें अपने मुकाबले अत्यंत शक्तिशाली एवं दुर्धर्ष अनुभव करता है अथवा उन्हें अपनेसे अतीव भिन्न और बेमेल या इतने दुर्बल अनुभव करता है कि वे इसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते; ये चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें वह सह नहीं सकता या अपने समान नहीं बना सकता या पचा नहीं सकता, और यह इनके प्रति दुःख, पीड़ा, कष्ट, असंतोष, अरुचि, अस्वीकृति, परित्याग, समझने या जाननेकी अक्षमता तथा प्रवेशसे इन्कारकी प्रतिक्रियाएँ करनेको बाध्य होता है। यह इनके विरुद्ध अपनी रक्षा करने, इनसे बचने, इनकी पुनः-पुनः आवृत्तिको टालने या कम-से-कम करनेका यत्न करता है; इनके संबंधमें यह भय, क्रोध, जुगुप्सा, त्रास, घृणा, विरक्ति तथा लज्जाकी चेष्टाएँ करता है, इनसे मुक्त होनेके लिये सहर्ष उद्यत रहता है, पर यह इनसे छूट नहीं सकता, क्योंकि यह इनके कारणोंके साथ बँधा हुआ है और यहाँतक कि उन्हें आमंत्रित करता है

और अतएव यह इनके परिणामोंके साथ भी बँधा हुआ है और उन्हें भी आमंत्रित करता है; क्योंकि ये आघात जीवनके अंग हैं, जिन चीजोंको हम चाहते हैं उनके साथ उलझे हुए हैं, और इनके साथ निपटनेमें हमारी असमर्थता हमारी प्रकृतिकी अपूर्णताका एक अंग है। फिर, कुछ अन्य आघातोंको हमारा सामान्य मन दवाने या निःशक्त कर देनेमें सफल हो जाता है और इनके प्रति वह उदासीनता, संवेदनशून्यता या सहिष्णुताकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया करता है जिसका स्वरूप न तो भावात्मक स्वीकृति और सुखोपभोगका होता है और न परित्याग या कष्ट-भोगका। वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं, विचारों और क्रियाओंके प्रति, जो कुछ भी मनके सम्मुख उपस्थित होता है उस सबके प्रति, उसकी प्रतिक्रियाएँ सदा ही उक्त तीन प्रकारकी होती हैं। परन्तु, ये सामान्य होती हुई भी अनिवार्य बिलकुल नहीं हैं; ये सामान्य कोटिके अभ्यासपरवश मनके लिये एक योजनाका गठन करती हैं जो सबके लिये बिलकुल एक-सी नहीं होती अथवा किसी एक व्यक्तिके मनके लिये भी विभिन्न समयों या विभिन्न अवस्थाओंमें एक-सी नहीं होती। प्रकृतिका कोई एक ही आघात किसी एक या दूसरे समयमें उसके अन्दर सुखकर या भावात्मक, विरोधी या अभावात्मक अथवा उदासीन या तटस्थ प्रतिक्रियाएँ पैदा कर सकता है।

जो आत्मा प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है वह इन प्रतिक्रियाओंपर प्रवल और समत्वपूर्ण तितिक्षाकी वाधक और प्रतिरोधी शक्तिका प्रयोग करके अपनी साधना आरंभ कर सकती है। अप्रिय स्पर्शोंसे अपनी रक्षा करने या उन्हें त्यागने तथा उनसे बचनेकी चेष्टा करनेके स्थानपर वह उनका सामना कर सकती है और दुःख झेलना तथा धैर्य, सहिष्णुता, अधिकाधिक समता किंवा कठोर या शान्त स्वीकृतिकी भावनाके साथ आघातोंको सहना सीख सकती है। यह मनोवृत्ति या यह साधना तीन परिणामोंको, वस्तुओंके साथ संवंध स्थापित करनेकी आत्माकी तीन शक्तियोंको, जन्म देती है। सर्वप्रथम, ऐसा अनुभव होता है कि जो कुछ पहले असह्य था वह अव सुसह्य हो जाता है; जो शक्ति आघातका सामना करती है उसका आदर्शमान ऊँचा हो जाता है; तब अप्रिय प्रतिक्रियाओंके सरगममें कष्ट, वेदना, शोक, घृणा या अन्य किसी स्वरको उत्पन्न करनेके लिये आघातको अपनी या अपने सुदीर्घ संस्पर्शकी नित अधिकाधिक शक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। दूसरे, ऐसा अनुभव होता है कि सचेतन प्रकृति अपनेको दो भागोंमें विभक्त कर लेती है। उनमेंसे एक तो है सामान्य मानसिक और भावप्रधान प्रकृति जिसमें अभ्यस्त प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। दूसरा है उच्चतर

संकल्पशक्ति एवं बुद्धि। वह इस निम्नतर प्रकृतिके आवेशका निरीक्षण करती है और उससे चलायमान या प्रभावित नहीं होती, उसे अपनी चीज नहीं मानती। वह उसे न तो स्वीकृति एवं अनुमति प्रदान करती है और न ही उसमें भाग लेती है। तब निम्नतर प्रकृति अपनी प्रतिक्रियाओंकी शक्ति-सामर्थ्यको खोकर उच्चतर बुद्धि और संकल्पकी स्थिरता और शक्तिके सुझावोंके अधीन होने लगती है, और शनैः-शनैः वह स्थिरता एवं शक्ति मानसिक और भाविक, यहाँतक कि संवेदनप्रधान, प्राणिक और भौतिक सत्तापर भी अधिकार कर लेती है। यह अवस्था तीसरी शक्ति एवं परिणामको उत्पन्न करती है, निम्न प्रकृतिके प्रति इस सहिष्णुता तथा उसके ऊपर प्रभुताके द्वारा, उससे इस प्रकारके पार्थक्य तथा उसके परित्यागके द्वारा, सामान्य प्रतिक्रियाओंसे मुक्त होनेकी और यहाँतक कि, यदि हम चाहें तो, आत्म-बलके द्वारा अपने सब प्रकारके अनुभवोंको फिरसे ढालनेकी शक्ति प्रदान करती है। यह विधि अप्रिय ही नहीं बल्कि प्रिय प्रतिक्रियाओंपर भी प्रयुक्त की जाती है; अंतरात्मा अपने-आपको उनके हाथों सौंप देने या उनके द्वारा बहा लिये जानेसे इन्कार करती है; जो संस्पर्श हर्ष और सुख लाते हैं उन्हें वह शान्तिके साथ भोगती है; उनके द्वारा उद्वेलित होनेसे इन्कार करती है और प्रिय वस्तुओंसे मनको जो हर्ष प्राप्त होता है तथा उनके लिये उसमें जो आतुर चाह होती है उनके स्थानपर आत्माकी शान्तिको स्थापित करती है। इस विधिका प्रयोग चिन्तनात्मक मनपर भी किया जा सकता है, अर्थात् इसके द्वारा मन ज्ञानको और उसके सीमित रूपको शान्तिपूर्वक ग्रहण कर सकता है, वह इस एक आकर्षक विचार-प्रेरणाकी मोहकताकी तरंगमें बह जानेसे अथवा उस दूसरी अनभ्यस्त या अरुचिकर विचार-प्रेरणासे घृणावश दूर हटनेसे इन्कार करता है और अनासक्त साक्षि-भावके साथ सत्यकी प्रतीक्षा करता है। वह साक्षिभाव शक्तिशाली, निष्काम और प्रभुत्वपूर्ण संकल्प तथा बुद्धिके आधारपर सत्यको विकसित होने देता है। इस प्रकार अंतरात्मा शनैः-शनैः सब वस्तुओंके प्रति समत्व-पूर्ण तथा अपनी स्वामिनी बन जाती है; वह मनकी सबल प्रतिरोधशक्ति तथा आत्माकी अचलायमान शान्ति और गभीरताके साथ जगत्के स्पर्शोंका सामना करनेमें समर्थ हो जाती है।

दूसरा मार्ग तटस्थ उदासीनताकी वृत्तिका है। इसकी विधि है—पदार्थोंके आकर्षण या विकर्षणको एक ही साथ त्याग देना, उनके प्रति एक प्रकाशमय अविकार्य अवस्थाका, उनका निषेध करनेवाली एक परित्याग-वृत्तिका तथा उनसे संबंध विच्छेद करने एवं उनका प्रयोग न करनेके अभ्यासका

विकास करना। यह वृत्ति जितना ज्ञानका आश्रय लेती है उतना संकल्प-शक्तिका नहीं लेती, यद्यपि संकल्पशक्ति भी सदैव आवश्यक होती है। यह एक ऐसी वृत्ति है जो मनके इन आवेशोंको बाह्य मनके भ्रमसे उत्पन्न वस्तुओंके रूपमें देखती है अथवा यह इन्हें एक ही सम आत्माके शान्त सत्यके अयोग्य हीन गतियोंके रूपमें या फिर तत्वज्ञानीकी शान्त द्रष्ट्री संकल्प-शक्ति और रागशून्य बुद्धिके द्वारा त्याग देने योग्य प्राणिक और भाविक विक्षोभके रूपमें देखती है। यह मनमेंसे कामनाको निकाल फेंकती है, जो अहं-भाव वस्तुओंपर इन द्वन्द्वात्मक मूल्योंको थोपता है उसे त्याग देती है, और कामनाके स्थानपर तटस्थ एवं उदासीन शान्तिको तथा अहंकारके स्थानपर शुद्ध आत्माको प्रतिष्ठित करती है। वह शुद्ध आत्मा जगत्के आघातोंसे अशान्त, उत्तेजित या विचलित नहीं होती। और इस प्रकार केवल भावप्रधान मन ही शान्त नहीं होता बल्कि बौद्धिक सत्ता भी अज्ञान-भूमिकाके विचारोंको त्याग देती है और निम्न ज्ञानके पक्षपातोंसे ऊपर उठकर एक ही सनातन एवं अपरिवर्तनशील सत्यको प्राप्त कर लेती है। यह मार्ग भी तीन परिणामों या शक्तियोंका विकास करता है जिनके द्वारा यह शान्तिकी ओर आरोहण करता है।

सर्वप्रथम, ऐसा अनुभव होता है कि मन जीवनके क्षुद्र सुखों और दुःखोंसे स्वेच्छापूर्वक ही बँधा हुआ है और वास्तवमें, यदि आत्मा बाह्य और क्षणिक पदार्थोंके द्वारा असहायवत् परिचालित होनेके अपने अभ्यासको त्याग देनाभर पसन्द कर ले तो, ये सुख-दुःख मनपर कोई आन्तरिक प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरे, ऐसा अनुभव होता है कि यहाँ भी निम्न या बाह्य मन, जो अभीतक पुराने अभ्यस्त स्पर्शोंके अधीन है, और उच्चतर बुद्धि तथा संकल्पशक्ति जो आत्माकी उदासीन शान्तिमें निवास करनेके लिये पीछेकी ओर अवस्थित हैं—इन दोनोंके बीच विभाजन या मनोवैज्ञानिक पृथक्करण किया जा सकता है। दूसरे शब्दोंमें, एक आन्तरिक तटस्थ शान्ति, जो निम्न करणोंके विक्षोभका निरीक्षण करती है पर उसमें भाग नहीं लेती और न उसे किसी प्रकारकी अनुमति ही देती है, हमारे ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करती जाती है। आरंभमें उच्चतर बुद्धि और संकल्पशक्ति प्रायः आच्छादित और आक्रान्त हो सकती हैं, मन निम्न अंगोंकी उत्तेजनाके द्वारा खींच ले जाया जाता है, पर अन्तमें यह शान्ति अजेय और चिर-स्थायी बन जाती है, यह उग्रसे उग्र स्पर्शोंके द्वारा भी चलायमान नहीं होती, **न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते**। यह शान्तिमय आन्तरिक आत्मा बाह्य मनके विक्षोभको अनासक्त उच्चताकी स्थितिसे देखती है अथवा यह उसे एक ऐसे क्षणिक और अलिप्त अनुग्रहके साथ देखती है जो एक बालकके

क्षुद्र हर्षों और शोकोंके प्रति प्रकट किया जा सकता है, यह उन्हें अपनी सत्ताके अंगभूत या किसी स्थिर वास्तविकतापर आधारित नहीं मानती। और अन्तमें बाह्य मन भी इस स्थिर और उदासीन प्रशान्तिको क्रमशः स्वीकार कर लेता है; वह जिन चीजोंसे आकृष्ट होता था उनसे आकृष्ट होना या जिन दुःख-कष्टोंको मिथ्या महत्व देनेका आदी था उनसे दुःखित होना छोड़ देता है। इस प्रकार एक तीसरी शक्ति प्राप्त होती है जो विशाल स्थिरता और शान्तिकी सर्वव्यापक शक्ति होती है, हमारी आरोपित, अवास्तविक और आत्मपीड़क प्रकृतिके घेरेसे मुक्तिका आनन्द-रूप होती है, सनातन और अनन्त ब्रह्मके संस्पर्शका गंभीर, अविचल और निरतिशय सुख होती है जो अपनी नित्यताके द्वारा अनित्य पदार्थोंके संघर्ष और उपद्रवका स्थान ले लेता है, **ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखं अश्नुते**। अंतरात्मा आत्माके आनन्दमें स्थिर रूपसे स्थित हो जाती है, **आत्मरतिः**, परमात्माके अखण्ड और अनन्त आनन्दमें प्रतिष्ठित हो जाती है और पहलेकी तरह बाह्य स्पर्शों तथा उनके दुःखों और सुखोंका पीछा नहीं करती। वह जगत्को एक ऐसे खेल या अभिनयके दर्शकके रूपमें ही देखती है जिसमें वह भाग लेनेके लिये अब और बाध्य नहीं होती।

तीसरा मार्ग नतिका है। वह नति या तो ईसाई-धर्मवालोंकी नति हो सकती है जो ईश्वरेच्छाके प्रति अधीनतापर प्रतिष्ठित होती है, या वह सब वस्तुओं और घटनाओंको वैश्व संकल्पशक्तिकी कालगत अभिव्यक्ति मानते हुए उनकी निरहंकार स्वीकृति हो सकती है, या फिर भगवान् किंवा परम पुरुषके प्रति व्यक्तिका पूर्ण समर्पण-रूप हो सकती है। जैसे पहला मार्ग संकल्पशक्तिका मार्ग था और दूसरा ज्ञान एवं बोधशील बुद्धिका, वैसे ही यह भावमय प्रकृति और हृदयका मार्ग है और भक्तिके सिद्धान्तके साथ अत्यंत घनिष्ठ रूपसे संबद्ध है। यदि इसे अन्तिम छोरतक ले जाया जाय तो यह भी पूर्ण समताके इसी परिणामतक पहुँचता है। क्योंकि, अहंकी गांठ ढीली हो जाती है और वैयक्तिक मांग दूर होने लगती है, हमें अनुभव होता है कि अब हम प्रिय वस्तुओंसे मिलनेवाले हर्ष या अप्रिय वस्तुओंसे होनेवाले दुःखके साथ बंधे हुए नहीं हैं; हम उन्हें उत्सुकतापूर्ण स्वीकृति या क्षोभमय परित्यागके बिना सहन करते हैं, उन्हें अपनी सत्ताके प्रभुके सुपुर्द कर देते हैं, हमारे लिये उनका जो वैयक्तिक परिणाम होता है उससे उत्तरोत्तर कम-से-कम मतलब रखते हैं और केवल एकमात्र महत्वपूर्ण वस्तुको पकड़े रहते हैं। वह वस्तु है भगवान्को प्राप्त करना, अथवा विराट् और अनन्त सत्ताके साथ संपर्क और एकस्वरता प्राप्त करना, या

भगवान्‌के साथ एकीभूत होना, उनकी प्रणालिका एवं उनका यंत्र, सेवक और प्रेमी वनना, उनमें तथा उनके साथ अपने संवंधमें आनन्द लेना और हर्ष या शोकका और कोई विषय या कारण न रखना। यहाँ भी कुछ समयके लिये अभ्यस्त आवेशोंवाले निम्न मन और प्रेम एवं आत्मदान करनेवाले उच्चतर चैत्य मनके बीच विभाजन हो सकता है, पर अन्ततोगत्वा निम्न मन वशमें हो जाता है, परिवर्तित और रूपान्तरित हो जाता है, भगवान्‌के प्रेम, आह्लाद और आनन्दमें विलीन हो जाता है तथा अन्य कोई स्वार्थ या आकर्पण उसमें नहीं रह जाते। तव भीतर सव कुछ उस एकत्वकी सम शान्ति एवं उसका आनन्द ही होता है, वह एकमेव प्रशान्त आनन्द जो वुद्धिसे परे है, वह शान्ति जो हमारी आध्यात्मिक सत्ताकी गहराइयोंमें निम्नतर वस्तुओंके आमंत्रणसे अछूती रहती है।

ये तीन मार्ग अपने पृथक्-पृथक् विन्दुओंसे आरंभ होकर भी एक ही विन्दुपर आकर मिल जाते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि ये वाह्य वस्तुओंके प्रति, वाह्य स्पर्शान्, मनकी सामान्य प्रतिक्रियाओंका निपेध करते हैं, दूसरा यह है कि ये अंतरात्मा या आत्माको प्रकृतिके वाह्य व्यापारसे पृथक् करते हैं। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यदि हम एक अधिक सक्रिय समता प्राप्त कर सकें तो हमारी पूर्णता अधिक महान् होगी, अधिक सर्वग्राही रूपमें पूर्ण होगी, क्योंकि वह समता हमें जगत्‌से पीछे हटने या अनासक्त और तटस्थ शान्तिके साथ उसका सामना करनेमें ही समर्थ नहीं वनायेगी, वल्कि उसकी ओर साहसपूर्वक लौटकर शान्त और सम आत्माकी शक्तिके द्वारा उसे अधिकृत करनेकी सामर्थ्य भी प्रदान करेगी। ऐसी समता प्राप्त करना संभव है क्योंकि जगत्, प्रकृति और कर्म वास्तवमें कोई सर्वथा पृथक् वस्तु नहीं हैं, वल्कि आत्मा, विराट् पुरुप एवं भगवान्‌की एक अभिव्यक्ति हैं। सामान्य मनकी प्रतिक्रियाएँ उन दिव्य मूल्योंका एक हीन रूप हैं जो इस हीन रूपके अभावमें इस सत्यको हमारे सामने प्रकट कर देते,—ये एक मिथ्या रूप किंवा अज्ञान हैं जो उनकी क्रियाओंको वदल देता है, एक ऐसा अज्ञान है जो अन्ध जड़ निर्ज्ञानके भीतर आत्माके निर्वतित होनेसे उद्भूत होता है। एक वार जव हम आत्मा किंवा भगवान्‌की परिपूर्ण चेतनामें लौटते हैं, तव हम वस्तुओंका सच्चा दिव्य मूल्य प्रदान कर सकते हैं और परम आत्माकी शान्ति, आनन्द, ज्ञान और सर्वदर्शी संकल्पके साथ उन्हें ग्रहण कर सकते तथा उनपर क्रिया कर सकते हैं। जव हम ऐसा करने लग जाते हैं, तव अंतरात्मा जगत्‌में सम आनन्द लेने लगती है, सव शक्तियोंके साथ व्यवहार करनेवाली सम संकल्पशक्ति तथा एक ऐसे सम ज्ञानको प्राप्त

करने लगती है जो इस दिव्य अभिव्यक्तिके सब दृग्विषयोंके पीछे अवस्थित आध्यात्मिक सत्यको अधिकृत कर लेता है। वह जगत्को भगवान्की ही भाँति अनन्त प्रकाश, बल और आनन्दकी पूर्णताके साथ अधिकृत कर लेती है।

अतएव इस समस्त जगत् और जीवनपर निषेधात्मक एवं निष्क्रिय समताके स्थानपर भावात्मक एवं सक्रिय समताके योगके दृष्टिकोणद्वारा भी विचार किया जा सकता है। इसके लिये सबसे पहले आवश्यकता है नये ज्ञानकी जो कि एकताका ज्ञान है,—इसका अभिप्राय है सब वस्तुओंको अपनी ही सत्ताके रूपमें देखना और भगवान्में तथा सब वस्तुओंमें भगवान्को देखना। तब, सब दृश्य पदार्थों, सब घटनाओं, सब दैवयोगों, सब व्यक्तियों और शक्तियोंको आत्माके प्रच्छन्न रूप, एक ही शक्तिके क्रिया-व्यापार, एक ही कार्यरत शक्तिके परिणाम तथा एक ही दिव्य ज्ञानके द्वारा शासित समझते हुए उन्हें समभावसे स्वीकार करनेके लिये एक संकल्पशक्ति उत्पन्न होती है; और महत्तर ज्ञानसे युक्त इस संकल्पशक्तिके आधारपर प्रत्येक वस्तुका अनुद्विग्न आत्मा और मनके द्वारा सामना करनेकी शक्ति विकसित होती है। मुझे अपनी आत्माका विश्वकी आत्माके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा, सब प्राणियोंके साथ एकत्वका साक्षात्कार और अनुभव प्राप्त करना होगा, सब शक्तियों, सामर्थ्यों, और परिणामोंको अपनी आत्माकी और अतएव घनिष्ठ रूपसे मेरी अपनी ही इस शक्तिकी क्रियाके रूपमें देखना होगा; यह स्पष्ट ही है कि उनको मुझे अपनी अहं-सत्ताकी क्रियाके रूपमें नहीं देखना होगा, अहंसत्ताको तो शान्त करना होगा, दूर करना एवं त्याग देना होगा,—अन्यथा यह सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती; परन्तु उन्हें एक ऐसे महत्तर निर्व्यक्तिक या विश्वव्यापी आत्माकी, जिसके साथ मैं अब एकमय हूँ, क्रियाके रूपमें अनुभव करना होगा। कारण, मेरा व्यक्तित्व अब उस विश्वात्माके कार्यका एक केन्द्रमात्र है, पर एक ऐसा केन्द्र है जो अन्य सब व्यक्तित्वोंके साथ तथा उन सब दूसरी वस्तुओंके साथ भी, जो हमारे लिये केवल निर्व्यक्तिक पदार्थ और शक्तियाँ हैं, घनिष्ठ रूपसे संबद्ध और समस्वर है : पर वास्तवमें वे भी एक ही निर्व्यक्तिक 'पुरुष', भगवान्, आत्मा और परमात्माकी शक्तियाँ हैं। मेरा व्यक्तित्व उन्हींका व्यक्तित्व है और अब पहलेकी तरह विश्वमय सत्ताके साथ असंगत या उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है; वह स्वयं विश्वमय होकर वैश्व आनन्दका ज्ञाता बन गया है तथा जिन वस्तुओंको वह जानता और भोगता है और जिनपर क्रिया करता है उन सबके साथ एकमय और उनका प्रेमी बन गया है। क्योंकि, विश्वके समत्वपूर्ण ज्ञान तथा विश्वको

स्वीकार करनेके समत्वयुक्त संकल्पके साथ भगवान्की समस्त वैश्व अभि-व्यक्तिमें सम आनन्द भी प्राप्त होगा।

यहाँ भी हम इस पद्धतिके तीन परिणामों या इसकी तीन शक्तियोंका वर्णन कर सकते हैं। सबसे पहले हम अपनी आत्मामें तथा आध्यात्मिक ज्ञानके अनुकूल क्रिया करनेवाली उच्चतर बुद्धि और संकल्पशक्तिमें विश्वको समतापूर्वक स्वीकार करनेकी इस शक्तिका विकास करते हैं। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि यद्यपि प्रकृतिको समताकी इस सामान्य वृत्तिको ग्रहण करनेके लिये प्रेरित किया जा सकता है तथापि उस उच्चतर बुद्धि एवं संकल्पशक्ति और निम्नतर मानसिक सत्ताके बीच संघर्ष चलता रहता है, क्योंकि निम्नतर मानसिक सत्ता जगत्को देखनेके तथा उसके आघातोंके प्रति प्रतिक्रिया करनेके पुराने अहंकारमय ढंगके साथ चिपकी रहती है। तब हम यह अनुभव करते हैं कि यद्यपि प्रकृतिके ये दो भाग आरंभमें अस्तव्यस्त एवं परस्पर-मिश्रित होते हैं, बारी-बारीसे प्रकट होते, एक-दूसरेपर क्रिया करते तथा प्रभुत्वके लिये चेष्टा करते रहते हैं तथापि इन्हें एक-दूसरेसे पृथक् किया जा सकता है, अर्थात् उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृतिको निम्नतर मानसिक प्रकृतिसे मुक्त किया जा सकता है। परन्तु इस अवस्थामें जब कि मन अभी भी दु:ख, कष्ट, निम्न हर्ष और सुखकी प्रतिक्रियाओंके अधीन होता है, पूर्णयोगके साधकके सामने एक बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होती है जो एक अधिक-तीव्रत: व्यक्तिप्रधान योगमें उतना बड़ा प्रभाव नहीं दिखलाती। कारण, पूर्णयोगमें मन केवल अपने कष्टों और कठिनाइयोंको ही अनुभव नहीं करता बल्कि वह दूसरोंके हर्षों और शोकोंमें भी भाग लेता है, तीव्र सहानुभूतिके साथ उनके प्रति स्पन्दित होता है, उनके आघातोंको सूक्ष्म संवेदनशीलताके साथ अनुभव करता है, उन्हें अपने आघात बना लेता है; इतना ही नहीं, वरन् दूसरोंकी कठिनाइयां भी हमारी कठिनाइयोंमें आ जुड़ती हैं और पूर्णताका विरोध करनेवाली शक्तियाँ पहलेसे अधिक दृढ़ताके साथ अपना कार्य करती हैं, क्योंकि वे इस प्रयत्नको किसी अकेली आत्माका उनके साम्राज्यसे भाग निकलना ही नहीं समझतीं बल्कि अपने सार्वभौम राज्यपर आक्रमण तथा उसे जीतनेका प्रयत्न अनुभव करती हैं। किन्तु अन्तमें, हम यह भी देखते हैं कि इन कठिनाइयोंको पार करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है; उच्चतर बुद्धि और संकल्पशक्ति निम्नतर मनपर अपना प्रभुत्व बलपूर्वक आरोपित कर देती हैं, जिससे कि वह प्रत्यक्षत: ही आध्या-त्मिक प्रकृतिके विशाल प्रतिरूपोंमें परिवर्तित हो जाता है; यहाँतक कि वह सब कष्टों, बाधाओं और कठिनाइयोंको अनुभव करने तथा उनका सामना

और पराभव करनेमें भी आनन्द लेता है जिससे कि अंतमें वे उसके रूपान्तरके द्वारा दूर ही हो जाती हैं। तव हमारी संपूर्ण सत्ता स्वयं परम आत्माकी तथा उसकी अभिव्यक्तिकी चरम शक्ति, विराट् शान्ति और हर्षमयतामें तथा उसके सर्वदर्शी आनन्द और तपस्‌में निवास करती है।

समताकी यह भावात्मक पद्धति किस प्रकार कार्य करती है यह देखनेके लिये ज्ञान, संकल्प और वेदनकी तीन महान् शक्तियोंमें रहनेवाले इसके तत्वको अत्यंत संक्षेपमें देख लेना उचित होगा। समस्त भावावेश, वेदन और ऐन्द्रिय संवेदन अंतरात्माका एक साधन है जिसके द्वारा वह परम आत्माकी प्रकृतिगत अभिव्यक्तियोंके संपर्कमें आती है तथा उन्हें प्रभावशाली मूल्य प्रदान करती है। परन्तु अंतरात्मा जो कुछ अनुभव करती है वह विश्वव्यापी आनन्द ही है। इसके विपरीत, जैसा कि हम देख चुके हैं, निम्नतर मनमें अवस्थित 'पुरुष' उस आनन्दको दुःख, सुख और जड़ उदासीनताके तीन परिवर्तनशील मूल्य प्रदान करता है, जो अपनी कम-अधिक मात्राओंके तारतम्यके द्वारा एक-दूसरेको अपना पुट दे देते हैं, और यह तारतम्य इसपर निर्भर करता है कि व्यक्तिभावापन्न चेतनाने अपनेको पृथक्कारी वैयक्तिक रूप देकर जिस महत्तर सत्ताको अपनेसे वाहर कर रखा है तथा जिसे मानों अपने अनुभवके प्रति 'पर' वना रखा है उस सारी सत्तासे अपने ऊपर आनेवाले सभी आघातोंका सामना करने, उन्हें जानने और पचाने तथा उनकी वरावरी करने एवं उनपर प्रभुत्व पानेके लिये उसमें कितनी शक्ति है। परन्तु, हमारे अन्दर स्थित महत्तर आत्माके कारण, हममें सदा ही एक गुप्त अंतरात्मा भी रहती है जो इन सव चीजोंमें आनन्द लेती है और अपने संपर्कमें आनेवाली सभी चीजोंसे शक्ति आहरण करती तथा उनके द्वारा विकसित होती है, प्रतिकूल अनुभवसे भी उतना ही लाभ उठाती है जितना अनुकूल अनुभवसे। यह अन्तरात्मा वाह्य कामनामय पुरुषको भी अनुभूत हो सकती है, और वस्तुतः इसी कारण हमें जीनेमें आनन्द आता है और हम संघर्ष तथा कष्टमें एवं जीवनके कठोरतर रूपोंमें भी एक प्रकारका सुख अनुभव कर सकते हैं। परन्तु विराट् आनन्द प्राप्त करनेके लिये हमारे सव करणोंको सभी वस्तुओंका कोई आंशिक या विकृत नहीं वल्कि मूल आनन्द ग्रहण करना सीखना होगा। सभी वस्तुओंमें आनन्दका तत्व विद्यमान है, जिसे वुद्धि उनमें अवस्थित आनन्दके आस्वाद या उनके रसके रूपमें ग्रहण कर सकती है तथा जिसे सौन्दर्यवृत्ति इसी रूपमें अनुभव कर सकती है; पर साधारणतः ये इसके स्थानपर उन्हें मनमाने, विषम और विपरीत मूल्य प्रदान करती हैं : इन्हें वस्तुओंको आत्माके प्रकाशमें

देखने और इन सामयिक मूल्योंको वास्तविक, सम, सारभूत एवं आध्यात्मिक रसमें रूपान्तरित करनेके लिये प्रेरित करना होगा। हमारे अन्दर जो प्राण-तत्व है उसका प्रयोजन आनन्द-तत्वके इस ग्रहण, **रस-ग्रहण**, को एक ऐसे प्रबल स्वत्वयुक्त **भोग**का रूप देना है जो संपूर्ण प्राणसत्ताको अपने द्वारा स्पन्दित कर दे और अपने-आपको स्वीकार करने तथा अपनेमें आनन्द लेनेके लिये प्रेरित करे; पर कामनाके वशीभूत होनेके कारण यह साधारणतः अपना कार्य करनेमें सक्षम नहीं होता, बल्कि यह उस रसग्रहणको तीन निम्नतर रूपोंमें परिणत कर देता है,—सुखभोग, दुःखभोग और इन दोनोंका त्याग जिसे संवेदनहीनता या उदासीनता कहते हैं। प्राण-तत्व या प्राणिक सत्ताको कामना तथा उसकी असमतापूर्ण वृत्तियोंसे मुक्त करना होगा तथा वुद्धि और सौन्दर्यशक्ति जिस **रस**को अनुभव करती हैं उसे ग्रहण करके शुद्ध भोगका रूप देना होगा। तब फिर तीसरा पग उठानेके लिये करणोंमें और कोई बाधा नहीं रह जायगी, उस पगके द्वारा सब कुछ आध्यात्मिक आनन्दकी पूर्ण और शुद्ध उन्मादनामें रूपान्तरित हो जाता है।

ज्ञानके संबंधमें भी मनकी वस्तुओंके प्रति तीन प्रतिक्रियाएँ होती हैं, अज्ञान, भ्रम और सत्य ज्ञान। भावात्मक समता आरंभमें उन तीनोंको आत्म-अभिव्यक्तिकी गतियोंके रूपमें स्वीकार करेगी; यह आत्म-अभिव्यक्ति अज्ञानमेंसे सत्य ज्ञानकी ओर विकसित होती है। विकासकी इस प्रक्रियामें यह आंशिक या विकृत ज्ञानमेंसे गुजरती है जो भ्रमका मूल है। भावात्मक समता मनके अज्ञानके साथ चेतनाके तत्वकी एक तमसाच्छन्न, आवृत्त या परिवेष्टित अवस्थाके रूपमें व्यवहार करेगी जो कि उसका मनोवैज्ञानिक रूप है, इस अवस्थामें सर्वज्ञ आत्माका ज्ञान मानों एक अंधकारमय कोपमें छुपा होता है; वह उसपर मनको एकाग्र करेगी और पहलेसे ज्ञात संबद्ध सत्योंकी सहायतासे वुद्धिके द्वारा या अन्तर्ज्ञानकी एकाग्रताके द्वारा अज्ञानके पर्देमेंसे ज्ञानको मुक्त करेगी। वह केवल ज्ञात सत्योंमें ही आसक्त नहीं रहेगी, न ही सब चीजोंको जवर्दस्ती उनके छोटेसे चौखटेके अन्दर कसनेका यत्न करेगी, वल्कि ज्ञात और अज्ञात सभी सत्योंपर एक ऐसे समत्वपूर्ण मनके साथ अपनेको एकाग्र करेगी जो समस्त संभावनाओंके प्रति खुला रहता है। भ्रमके साथ भी वह इसी प्रकार वर्ताव करेगी; वह सत्य और भ्रान्तिके उलझे हुए जालको स्वीकार करेगी, पर किसी भी सम्मतिके प्रति आसक्त नहीं होगी, वरन् सभी सम्मतियोंके पीछे स्थित सत्यके तत्वकी भ्रान्तिके अन्दर छुपे ज्ञानकी खोज करेगी,—क्योंकि समस्त भ्रान्ति सत्यके कुछ गलत-समझे-गये अंशोंका विकृत रूप है और अपनी शक्ति वह उस

सत्यसे प्राप्त करती है न कि उसके मिथ्या बोधसे; निर्णीत सत्योंको वह स्वीकार करेगी पर उनके द्वारा भी अपनेको सीमित नहीं करेगी, वल्कि सदैव नये ज्ञानके लिये तैयार रहेगी तथा एक अधिकाधिक समग्र, अधिकाधिक विस्तृत, समन्वयकारी और ऐक्यसाधक ज्ञानकी खोज करेगी। यह ज्ञान अपने पूर्ण रूपमें तभी प्राप्त हो सकता है यदि मनुष्य आदर्श अतिमानसतक उठ जाय, और अतएव सत्यका समत्वपूर्ण अन्वेषक बुद्धि और उसकी क्रियाओंके प्रति आसक्त नहीं रहेगा, न वह यह ही सोचेगा कि सव कुछ बुद्धिमें ही समाप्त हो जाता है, बल्कि उसे इसको परे जानेके लिये तैयार रहना होगा, आरोहणकी प्रत्येक अवस्थाको तथा अपनी सत्ताकी प्रत्येक शक्तिकी देनोंको स्वीकार करना होगा, पर केवल इसलिये कि उन्हें उच्चतर सत्यमें उठा ले जाया जा सके। उसे प्रत्येक वस्तुको स्वीकार करना होगा परन्तु किसीके साथ भी चिपक नहीं जाना होगा, किसी भी वस्तुसे घृणापूर्वक पीछे नहीं हटना होगा, चाहे वह कितनी ही अपूर्ण क्यों न हो, अथवा रूढ़ विचारोंकी कितनी ही विध्वंसक क्यों न हो, पर साथ ही किसी चीजको अपने ऊपर इस प्रकार अधिकार भी नहीं करने देना होगा कि उससे सत्यरूपी आत्माकी स्वतंत्र क्रियाको क्षति पहुँचे। बुद्धिकी यह समता उच्चतर अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानतक पहुँचनेके लिये एक आवश्यक शर्त है।

हमारे अन्दर अवस्थित संकल्पशक्ति हमारी सत्ताकी एक ऐसी शक्ति है जो उसके सभी अंगोंमें अत्यंत सामान्य रूपसे वलवती है,—हमारे अन्दर ज्ञानका संकल्प, प्राणका संकल्प और भावावेशका संकल्प है, हमारी प्रकृतिके प्रत्येक भागमें ही एक संकल्पशक्ति कार्य कर रही है,—अपनी इस प्रवलताके कारण हमारी संकल्पशक्ति अनेक रूप ग्रहण करती है और पदार्थोंके बाह्य स्पर्शोके उत्तरमें नानाविध प्रतिक्रियाएँ करती है, जैसे असमर्थता, सीमित शक्ति, स्वामित्व, अथवा सत्य संकल्प, असत्य या विकृत संकल्प, उदासीन प्रवृत्तिकी,—नैतिक मनमें पुण्य, पाप और अनैतिक प्रवृत्तिकी,—तथा इस प्रकारकी अन्य प्रतिक्रियाएँ करती है। इन्हें भी भावात्मक समता कुछ ऐसे सामयिक एवं कामचलाऊ मूल्योंके जालके रूपमें स्वीकार करती है जिन्हें लेकर उसे अपना कार्य आरंभ करना होगा, पर जिन्हें विराट् प्रभुत्वमें, सत्य और विराट् ऋतके संकल्पमें तथा कर्मगत दिव्य संकल्पशक्तिके स्वातंत्र्यमें रूपान्तरित कर देना होगा। समत्वपूर्ण संकल्पशक्तिको अपने स्खलनोंपर पश्चात्ताप, शोक या निराशा अनुभव करनेकी कोई जरूरत नहीं; यदि यांत्रिक मनमें ये प्रतिक्रियाएँ घटित हों तो वह केवल यही देखेगी कि ये कहाँतक किसी अपूर्णता एवं सुधारने योग्य वस्तुकी ओर निर्देश करती

हैं, —क्योंकि ये सदा यथार्थ निर्देशक ही नहीं होतीं, —और इस प्रकार वह इनसे परे जाकर शान्त और सम मार्गदर्शन प्राप्त करेगी। वह देखेगी कि स्वयं ये स्खलन भी अनुभवके लिये आवश्यक हैं और अन्ततोगत्वा लक्ष्यकी ओर जानेवाले पगोंका काम करते हैं। हमारे अन्दर तथा संसारमें जो कुछ भी घटित होता है उस सबके पीछे और भीतर वह दिव्य अर्थ तथा दिव्य मार्गदर्शनकी खोज करेगी; वाहरसे जबर्दस्ती लादी हुई सीमाओंसे परे वह विश्व-शक्तिके उस स्वेच्छापूर्ण आत्म-परिसीमनको देखेगी जिसके द्वारा वह शक्ति अपने पगों और क्रमोंका नियमन करती है, —वे पग और क्रम हमारी अज्ञानावस्थापर तो बाहरसे लाये गये प्रतीत होते हैं पर दिव्य ज्ञानमें अपने ऊपर स्वेच्छापूर्वक आरोपित होते हैं, —और इस प्रकार परे जाकर वह भगवान्‌की अपरिमेय शक्तिके साथ एकत्व प्राप्त करेगी। सब शक्तियों और कर्मोंको वह एकमेव सत्तासे उद्‌भूत होती हुई शक्तियोंके रूपमें देखेगी तथा उनकी विकृतियोंको प्रगतिके लिये अपेक्षित शक्तियोंकी ऐसी अपूर्णताओंके रूपमें देखेगी जिनका इस प्रगतिमें उत्पन्न होना अनिवार्य ही है। अतएव वह सभी अपूर्णताओंको उदारतापूर्वक सहन करेगी पर इसके साथ ही एक विराट् पूर्णताकी प्राप्तिके लिये स्थिरतापूर्वक दबाव डालेगी। यह समता प्रकृतिको दिव्य और विराट् संकल्पशक्तिके मार्गदर्शनके प्रति खोल देगी तथा इसे उस अतिमानसिक कार्यके लिये तैयार कर देगी जिसमें हमारे अन्दरकी आत्माकी शक्ति ज्योतिर्मय रूपमें परमोच्च आत्माकी शक्तिसे पूर्ण तथा उसके साथ एकमय होती है।

पूर्णयोग हमारी प्रकृतिकी आवश्यकता तथा अन्तःस्थित आत्मा, **अन्तर्यामी**, के मार्गदर्शनके अनुसार निष्क्रिय तथा सक्रिय दोनों विधियोंका प्रयोग करेगा। यह अपने-आपको निष्क्रिय पद्धतिकी सीमाओंमें बाँध नहीं लेगा, क्योंकि वह केवल किसी वैयक्तिक निवृत्तिप्रधान मोक्षकी ओर या सक्रिय और विराट् आध्यात्मिक सत्ताके निषेधकी ओर ले जायगी जो कि इसके लक्ष्यकी समग्रताके साथ संगत नहीं होगा। यह तितिक्षाकी विधिका प्रयोग करेगा, पर अनासक्त शक्ति और प्रशान्तिपर ही नहीं रुक जायगा, बल्कि उस भावात्मक शक्ति एवं प्रभुत्वकी ओर अग्रसर होगा जिसमें फिर तितिक्षाकी जरूरत ही नहीं रहेगी, क्योंकि तब आत्मा अपने अन्दर विराट् शक्तिको सुस्थिर, प्रबल और साहसिक रूपमें धारण कर लेगी और एकत्व एवं आनन्दमें स्थित होकर वहींसे अपनी सब प्रतिक्रियाओंको सरलता और प्रसन्नताके साथ निर्धारित करनेमें समर्थ बन जायगी। वह तटस्थ उदासीनताकी विधिका भी प्रयोग करेगी, पर सब वस्तुओंके प्रति विरक्त उदासीनताको

ही इस योगकी पराकाष्ठा नहीं मान लेगी, बल्कि जीवनकी एक ऐसी उच्चासीन (उत्+आसीन) तटस्थ स्वीकृतिकी ओर अग्रसर होगी जो समस्त अनुभवको सम आत्माके महत्तर मूल्योंमें रूपान्तरित करनेकी शक्ति रखती है। वह कुछ कालके लिये नति और आत्मोत्सर्गके मार्गका भी प्रयोग करेगी, पर भगवान्‌के प्रति अपनी वैयक्तिक सत्ताके पूर्ण समर्पणके द्वारा उस सर्व-सम्राट् आनन्दको प्राप्त कर लेगी जिसमें नतिकी आवश्यकता ही नहीं है, विराट् सत्ताके साथ एक ऐसा पूर्ण सामंजस्य प्राप्त कर लेगी जो कोरा नतिका भाव नहीं बल्कि सबका आलिंगन करनेवाला एकत्व है, भगवान्‌के प्रति प्राकृत सत्ताके पूर्ण यंत्रभाव और दास्य-भावको प्राप्त कर लेगी जिसके द्वारा जीवात्मा भी भगवान्‌को अधिकृत कर लेती है। वह भावात्मक समताकी पद्धतिका पूर्ण रूपसे प्रयोग करेगी, पर जगत् और जीवनको व्यक्तिगत उद्देश्यसे अपनानेकी ऐसी किसी भी वृत्तिसे परे चली जायगी जिसके परिणामस्वरूप जीवन केवल पूर्ण व्यक्तिगत ज्ञान, शक्ति और आनन्दका ही क्षेत्र बनकर रह जाय। व्यक्तिगत ज्ञान आदि भी उसे अवश्य प्राप्त होंगे, पर इनके साथ ही वह उस एकत्वको भी प्राप्त करेगी जिसके द्वारा वह दूसरोंके अस्तित्वके रूपमें केवल अपने लिये नहीं बल्कि उनके लिये भी जीवन धारण कर सके तथा उसने स्वयं जो पूर्णता प्राप्त की है उसीकी ओर उनके प्रयत्नमें उनकी सहायता करने, उनके लिये एक साधन किंवा एक संबद्ध और सहायक शक्तिका काम करनेके लिये जीवन यापन कर सके। वह जगत्-सत्ताका त्याग न करती हुई भगवान्‌के लिये जीवन धारण करेगी, पर वह न तो भूतलके प्रति आसक्त होगी और न ही स्वर्गलोकों या विश्वातीत मुक्तिके प्रति, बल्कि वह भगवान्‌के साथ उनकी सभी भूमिकाओंमें समान रूपसे एकीभूत होगी और उनमें, उनके आत्मस्वरूप तथा उनकी अभिव्यक्तिमें, समान रूपसे निवास करनेमें समर्थ होगी।

तेरहवाँ अध्याय

समताकी क्रिया

पिछले अध्यायमें हमने समताके जो भेद किये हैं उनसे यह पर्याप्त स्पष्ट हो गया होगा कि समताकी अवस्थाका क्या अभिप्राय है। वह केवल निश्चल शान्ति एवं उदासीनता नहीं है, न वह अनुभवसे विरत होनेका ही नाम है, बल्कि उसका मतलब है मन और प्राणकी वर्तमान प्रतिक्रियाओंसे ऊपर उठ जाना। वह जीवनके प्रति प्रतिक्रिया करनेका अथवा सच पूछो तो उसका आलिंगन करके उसे अंतरात्मा और आत्माका एक पूर्ण सक्रिय रूप बननेके लिये वाध्य करनेका आध्यात्मिक मार्ग है। वह जीवनके ऊपर आत्माके प्रभुत्वका प्रथम रहस्य है। जब हम उसे पूर्ण रूपसे प्राप्त कर लेते हैं तो हम दिव्य आध्यात्मिक प्रकृतिकी ठेठ भूमिमें प्रवेश पाते हैं। शरीरमें स्थित मनोमय पुरुष प्राणको वलात् नियंत्रित करने तथा अपने अधिकारमें लानेका यत्न करता है, किन्तु पग-पगपर उसीके द्वारा नियंत्रित होता है, क्योंकि वह प्राणमय सत्ताकी कामनात्मक प्रतिक्रियाओंके अधीन हो जाता है। सम रहना अर्थात् कामनाके किसी भी दवावके द्वारा अभिभूत न होना वास्तविक प्रभुत्वकी पहली शर्त है, आत्म-शासन इसका आधार है। परन्तु निरी मानसिक समता, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, निष्क्रियताकी प्रवृत्तिके द्वारा जकड़ी रहती है। उसे कामनासे अपने-आपको स्थिर रूपसे सुरक्षित करनेके लिये संकल्प और कर्मके क्षेत्रमें अपने-आपको सीमित करना होता है। केवल आत्मा ही एक ऐसी सत्ता है जो संकल्पकी उदात्त अक्षुब्ध तीव्रताओंको तथा असीम धैर्यको धारण कर सकती है, वही मन्द एवं सुविचारित या तीव्र एवं उग्र कर्ममें समान रूपसे यथोचित व्यवहार करती है, सुरक्षित रूपसे मर्यादित, सीमित या विशाल एवं वृहत् कर्ममें समानतया निरापद रहती है। वह संसारके किसी संकीर्णतम क्षेत्रमें छोटे-से-छोटे कार्यको स्वीकार कर सकती है, पर वह अव्यवस्थाके भँवरपर भी वुद्धिपूर्वक और सर्जन-शक्तिके साथ कार्य कर सकती है; और ये सब चीजें वह इस कारण कर सकती है कि वह दोनों प्रकारके कार्योंको अनासक्तिके साथ किन्तु फिर भी घनिष्ठ भावसे स्वीकार करके उनके अन्दर अनन्त शान्ति, ज्ञान, संकल्प और शक्तिको धारण किये रहती है। यह

अनासक्ति उसमें इस कारण होती है कि वह जिन घटनाओं, रूपों, विचारों और कार्योंको अपने क्षेत्रमें समाविष्ट करती है उन सबसे ऊपर होती है; और, सब कार्योंको घनिष्ठ रूपसे स्वीकार करनेकी वृत्ति उसमें इस कारण होती है कि इस सबके होते हुए भी वह सब वस्तुओंके साथ एकमय होती है। यदि हममें यह मुक्त एकत्व, **एकत्वं अनुपश्यतः**, नहीं है तो हमारे अन्दर आत्माकी पूर्ण समता नहीं आयी है।

साधकका पहला कर्तव्य यह देखना है कि उसमें पूर्ण समता है या नहीं, इस दिशामें वह कहाँतक आगे बढ़ा है अथवा कहाँ त्रुटि रह गयी है, साथ ही उसका कर्तव्य यह भी है कि वह अपनी प्रकृतिपर अपनी संकल्पशक्तिका स्थिरतापूर्वक प्रयोग करे या फिर त्रुटि और उसके कारणोंको दूर करनेके लिये 'पुरुष'की संकल्पशक्तिका आवाहन करे। चार चीजें उसमें अवश्य होनी चाहियें; पहली, **समता** अपने अत्यंत ठोस एवं व्यावहारिक अर्थमें, अर्थात् मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अभिरुचियोंसे मुक्ति, उसके भीतर और चारों ओर परमेश्वरकी जो भी क्रियाएँ हो रही हैं उन सबको सम रूपसे स्वीकार करना; दूसरी चीज है सुस्थिर **शान्ति** और समस्त क्षोभ एवं उद्वेगका अभाव; तीसरी, प्राकृत सत्ताका भावात्मक आन्तर आध्यात्मिक सुख और आध्यात्मिक आराम, **सुखम्**, जिसे कोई भी चीज कम न कर सके; चौथी, जीवन और जगत्का आलिंगन करनेवाली आत्माका शुभ्र आनन्द और हास्य। सम होनेका अर्थ है अनन्त और विश्वमय होना, अपने-आपको सीमित न करना, मन और प्राणके इस या उस रूपके साथ तथा उनकी अपूर्ण अभिरुचियों एवं कामनाओंके साथ अपने-आपको न बाँधना। पर मनुष्य अपनी वर्तमान सामान्य प्रकृतिमें अपनी मानसिक और प्राणिक रचनाओंके अनुसार ही जीवन यापन करता है; अपनी आत्माकी स्वतंत्रतामें नहीं, इसलिये उन रचनाओंके प्रति तथा उनके अन्तर्भूत कामनाओं और अभिरुचियोंके प्रति आसक्ति भी उसकी सामान्य अवस्था है। उन्हें स्वीकार करना आरंभमें अनिवार्य होता है, उनके परे जाना अत्यंत ही कठिन है और जबतक हम मनको अपने कार्यके प्रधान साधनके रूपमें प्रयुक्त करनेके लिये बाध्य होते हैं तबतक शायद उनके परे जाना पूर्णतया संभव भी नहीं होता। अतएव पहला आवश्यक कार्य यह है कि हम कम-से-कम उनके डंकको निकाल डालें और जब वे डटी रहें तब भी उनकी अत्यधिक हठधर्मिता तथा वर्तमान अहन्तासे और हमारी प्रकृतिपर उनकी अधिक उग्र मांगसे उन्हें वंचित कर दें।

यह कार्य हमने संपन्न कर लिया है या नहीं इसकी कसौटी यह है कि क्या हमारे मन और आत्मामें अविचलित शान्ति उपस्थित रहती है। साधक-

को मनके पीछे स्थित होकर वरंच, जितनी जल्दी बन पड़े उतनी जल्दी, मनके ऊपर स्थित होकर साक्षी और संकल्पशील पुरुषके रूपमें प्रकृतिका निरीक्षण करना होगा और अपने मनमें उत्पन्न होनेवाली अशान्ति, चिन्ता, शोक, विद्रोह और विक्षोभके जरासे भी लक्षणों या प्रसंगोंको दूर हटाना होगा। यदि ये चीजें प्रकट हों तो उसे इनके मूल कारणको, इनके द्वारा सूचित त्रुटिको, अहंकारपूर्ण मांगके दोषको, तथा उस प्राणिक कामना, भावावेश या विचारको, जिससे ये उद्‌भूत होती हैं, तुरन्त ढूंढ़ निकालना होगा और अपनी संकल्पशक्ति एवं अध्यात्मभावित बुद्धिके द्वारा तथा अपनी सत्ताके स्वामीके साथ अपनी आत्मिक एकताके द्वारा इस मूल दोष आदिको क्षीण एवं निस्तेज करना होगा। किसी भी कारणसे इन चीजोंके लिये कोई भी बहाना उसे स्वीकार नहीं करना होगा, वह चाहे कितना ही स्वाभाविक तथा देखनेमें न्याययुक्त या सत्याभासी क्यों न हो; इसी प्रकार उसे इनका समर्थन करनेवाले किसी आन्तरिक या वाह्य हेतुको भी अंगीकार नहीं करना होगा। उसकी सत्ताका जो भाग क्षुब्ध होता है और शोर मचाता है वह यदि प्राण हो तो उसे उस क्षुब्ध प्राणसे अपने-आपको पृथक् कर लेना होगा, अपनी उच्चतर प्रकृतिको बुद्धिमें स्थित रखना होगा और बुद्धिके द्वारा अपनी कामनामय आत्माकी मांगको नियंत्रित और निराकृत करना होगा; और कोलाहल एवं उपद्रव करनेवाला भाग यदि भावप्रधान हृदय हो तो उसके साथ भी ऐसा ही बर्ताव करना होगा। इसके विपरीत, यदि दोष स्वयं संकल्पशक्ति और बुद्धिका हो तो इस उपद्रवपर काबू पाना अधिक कठिन होता है, क्योंकि तब उसका मुख्य सहायक एवं यंत्र दिव्य संकल्पशक्तिके विरुद्ध विद्रोह करनेवालोंका संगी बन जाता है और निम्नतर अंगोंके पुराने पाप इस अनुमतिसे लाभ उठाकर फिरसे अपना सिर ऊपर उठा लेते हैं। अतएव हमें एकमात्र प्रधान विचारपर, अर्थात् अपनी सत्ताके स्वामी, अपने और विश्वके अन्दर अवस्थित भगवान्, परम आत्मा एवं विराट् 'पुरुष'के प्रति आत्मसमर्पणपर, सतत और आग्रहपूर्वक वल देना होगा। बुद्धिको सदा इस प्रधान विचारपर एकाग्र रहकर अपने सब हीनतर आग्रहों और अभिरुचियोंको निरुत्साहित करना होगा और संपूर्ण सत्ताको यह सिखाना होगा कि चाहे अहंभाव वुद्धि, व्यक्तिगत संकल्पशक्ति और हृदयके द्वारा अपनी मांग पेश करे या प्राणगत कामनापुरुषके द्वारा, पर उसे किसी भी प्रकारका वास्तविक अधिकार नहीं है और समस्त शोक, विद्रोह, अधीरता और अशान्ति-सत्ताके स्वामीके विरुद्ध एक प्रकारकी जोर-जवर्दस्ती है।

इस पूर्ण आत्मसमर्पणको ही साधकको अपना मुख्य आधार वनाना

चाहिये क्योंकि पूर्ण निश्चलताके तथा कर्ममात्रके प्रति पूर्ण उदासीनताके मार्गके सिवा,—जिसका कि हमें त्याग करना होगा,—आत्मसमर्पण ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा पूर्ण स्थिरता और शांति प्राप्त हो सकती हैं। अशान्ति यदि निरंतर वनी रहे और अपने-आपको पवित्र करने एवं पूर्ण वनानेकी इस क्रियामें यदि लम्वा समय लगे तो उसके कारण भी उसे निरुत्साहित और अधीर नहीं होना चाहिये। अशान्ति इसलिये लौट आती है कि उसे प्रत्युत्तर देनेवाली कोई चीज हमारी प्रकृतिमें अभी भी विद्यमान होती है, और वह वारंवार लौटकर यह प्रकट करनेमें सहायक होती है कि अभी हमारे अन्दर त्रुटि विद्यमान है, साथ ही वह साधकको सावधान करनेमें तथा उस त्रुटिसे मुक्त होनेके लिये संकल्पशक्तिकी एक अधिक आलोकित और संगत क्रियाको साधित करनेमें भी सहायता पहुँचाती है। जव अशान्ति इतनी प्रवल हो कि उसे दूर किया ही न जा सके तो उसके तूफानको गुजर जाने देना चाहिये और आध्यात्मीकृत वुद्धिकी महत्तर जागरूकता तथा दृढ़ताके द्वारा उसके पुनरावर्तनको निरुत्साहित करना चाहिये। इस प्रकार दृढ़ रहनेसे यह अनुभव होगा कि इन चीजोंका वल उत्तरोत्तर कम होता जाता है, ये अधिकाधिक वाह्य वनती जाती हैं और लौटनेपर उत्तरोत्तर कम समयतक ही टिक पाती हैं, जिससे कि अंतमें शान्ति हमारी सत्ताका विधान वन जाती है। यह नियम-पद्धति तवतक चलती रहती है जवतक मनोमय वुद्धि हमारे मुख्य करणका काम करती है; पर जव अतिमानसिक ज्योति मन और हृदयपर अधिकार कर लेती है, तव कोई अशान्ति, शोक, या क्षोभ उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह अपने संग आलोकित शक्तिसे युक्त आध्यात्मिक प्रकृतिको लाती है जिसमें इन चीजोंका कोई स्थान नहीं हो सकता। वहाँ तो एकमात्र वही स्पन्दन और भावावेश होते हैं जो दिव्य एकताकी **आनन्दमय** प्रकृतिसे संवंध रखते हैं।

संपूर्ण सत्तामें जो शान्ति स्थापित हो वह सभी परिस्थितियोंमें एक-सी वनी रहनी चाहिये, अर्थात् स्वास्थ्य और रोगमें, सुख और दुःखमें, यहाँतक कि तीव्र-से-तीव्र शारीरिक वेदनामें, सौभाग्य और दुर्भाग्यमें, वह चाहे हमारा हो या उनका जिनसे हम प्रेम करते हैं, सफलता और विफलतामें, मान और अपमानमें, स्तुति और निन्दामें, हमारे प्रति किये गये न्याय और अन्यायमें, ऐसी प्रत्येक वस्तुमें जो साधारणतः मनको प्रभावित करती है, सत्ताकी शान्ति एक समान वनी रहनी चाहिये। यदि हम सर्वत्र एकताका दर्शन करें, यदि हम यह अनुभव करें कि सव कुछ भगवान्‌की इच्छाशक्तिसे ही घटित होता है, सवमें परमेश्वरको देखें, अर्थात् अपने शत्रुओंमें या यूं

कहें कि जीवनकी क्रीड़ामें जो हमारे विरोधी हैं उनमें तथा अपने मित्रोंमें, हमारा विरोध और प्रतिरोध करनेवाली शक्तियोंमें, तथा हमारा पक्ष लेने और साहाय्य करनेवाली शक्तियोंमें, सभी बलों एवं शक्तियोंमें तथा सभी घटनाओंमें भगवान्का साक्षात्कार करें और इसके साथ ही यदि हम यह भी अनुभव कर सकें कि कोई भी वस्तु हमारी आत्मासे विभक्त या पृथक् नहीं है, समस्त विश्व हमारी विराट् सत्तामें हमारे साथ एकीभूत है,—तो समता एवं शान्तिकी इस वृत्तिको धारण करना हमारे हृदय और मनके लिये कहीं अधिक सुगम हो जायगा। परंतु इस विराट् साक्षात्कारको प्राप्त कर सकने या इसमें दृढ़तया स्थित हो सकनेसे पहले भी हमें अपने अधिकारगत सभी उपायोंसे इस ग्रहणशील और सक्रिय समता एवं शान्तिपर आग्रह करना होगा। इसका थोड़ा-सा भी अंश, **अल्पं अपि अस्य धर्मस्य,** पूर्णताकी ओर एक महान् पग होता है; इसमें आरंभिक दृढ़ता मुक्तिकी सिद्धिकी पहली सीढ़ी होती है; इसकी संपूर्णता सिद्धिके अन्य सभी अंगोंमें द्रुत प्रगतिके लिये पूर्ण आश्वासनका काम करती है। कारण, इसके विना हमें ठोस आधार नहीं प्राप्त हो सकता; और इसका सुनिश्चित अभाव होनेपर हम कामना, अहं, द्वन्द्व और अज्ञानसे युक्त निम्नतर अवस्थामें पुनः-पुनः पतित होते रहेंगे।

यह शान्ति जब एक बार प्राप्त हो जाय तो समझो कि प्राण और मनकी पसन्दगी शान्ति भंग करनेकी सामर्थ्यको खो चुकी है; उसके वादसे वह मनका एक रूढ़ अभ्यासमात्र रह जाती है। प्राणिक स्वीकृति या निषेध अर्थात् उस घटनाकी अपेक्षा इसका अधिक स्वागत करनेके लिये प्राणकी कहीं अधिक तत्परता, मानसिक स्वीकृति या निषेध अर्थात् उस दूसरे कम अनुकूल विचार या सत्यकी अपेक्षा इस अनुकूलताको अधिक पसन्द करना, उस अन्य परिणामकी अपेक्षा कहीं अधिक इस परिणामपर अपने संकल्पको एकाग्र करना,—ये सब एक रूढ़ यांत्रिक क्रियाका रूप धारण कर लेते हैं। हमारी सत्ताका स्वामी **शक्ति**को जिस दिशामें मोड़ना चाहता है या इस समय जिस दिशामें प्रवृत्त कर रहा है उसका संकेत करनेके लिये वह यांत्रिक क्रिया अभी आवश्यक होती है। किन्तु प्राण और मनकी पसन्दगीमें प्रबल अहंकारमय संकल्पशक्ति, असहिष्णु कामना और आग्रहपूर्ण रुचिवाला जो अशान्तिजनक तत्व है वह नष्ट हो जाता है। अशान्ति पैदा करनेवाली ये वाह्य वस्तुएँ क्षीण रूपमें कुछ समयतक टिकी रह सकती हैं, पर जैसे-जैसे समताकी शान्ति बढ़ती जाती है तथा गहरी होकर अधिक मूलभूत और घन रूप ग्रहण करती जाती है, वैसे-वैसे ये लुप्त होती चलती हैं और मानसिक एवं प्राणिक तत्वको रंजित करना

छोड़ती जाती हैं या फिर ये अत्यंत बाह्य भौतिक मनकी सतहपर बाह्य स्पर्शोंके रूपमें ही प्रकट होती हैं, अन्दर नहीं पैठ सकतीं और, अंतमें यह पुनरावर्तन अर्थात् मनके बाह्य द्वारोंपर पुनः-पुनः प्रकट होना भी समाप्त हो जाता है। तब यह अनुभव एक सजीव सत्यके रूपमें प्राप्त हो सकता है कि हमारे अन्दर जो कुछ भी होता है उस सबको सत्ताका स्वामी ही संपन्न और संचालित करता है, **यथा प्रयुक्तोऽस्मि तथा करोमि,** यह अनुभव पहले हमारे अन्दर केवल एक प्रबल धारणा एवं श्रद्धाके रूपमें ही विद्यमान था; हाँ, अपनी वैयक्तिक प्रकृतिकी घटनाओंके पीछे हमें कभी-कभी, गौण रूपसे, दिव्य क्रियाकी झाँकियाँ भी मिल जाती थीं। किन्तु अब ऐसा दिखायी देता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया पुरुषके संकेतोंको, हमारी अन्तःस्थ दिव्य शक्तिके द्वारा दिया गया एक रूप है; निःसन्देह यह रूप अभी भी व्यक्तिभावापन्न होता है, अभी भी निम्नतर मानसिक आकारकी क्षुद्रताको लिये होता है, पर मूलतः अहंकारपूर्ण नहीं होता, यह रूप अपूर्ण अवश्य होता है पर स्पष्टतः विकृत नहीं। इसके बाद हमें इस अवस्थाके भी परे जाना होगा। कारण, पूर्ण कर्म एवं अनुभवका निर्धारण किसी प्रकारकी मानसिक या प्राणिक अभिरुचिको नहीं करना होगा, वह तो सत्योद्भासक और अन्तःप्रेरक आध्यात्मिक संकल्प-शक्तिको करना होगा। यह संकल्प-शक्ति स्वयं भागवत शक्ति ही होती है जो साक्षात् और वास्तविक रूपसे कर्म और अनुभवका संचालन करती है। जब मैं यह कहता हूँ कि वह मुझे जिस प्रकार प्रेरित करता है उसी प्रकार मैं कर्म करता हूँ तब भी मैं अपने कार्यमें एक सीमाकारी वैयक्तिक तत्व और मानसिक प्रतिक्रियाको ले आता हूँ। पर (इससे परेकी अवस्थामें) प्रभु ही मुझे अपना यंत्र बनाकर मेरे द्वारा अपना कार्य करेगा और इसके लिये मेरे अन्दर कोई ऐसी मानसिक या अन्य प्रकारकी अभिरुचि नहीं होनी चाहिये जो उसके कार्यको सीमित करे, उसमें हस्तक्षेप करे तथा क्रियाकी अपूर्णताको जन्म दे। मनको अतिमानसिक सत्यके साक्षात्कारोंके लिये तथा उसके साक्षात्कारमें प्रच्छन्न रूपसे कार्य कर रही संकल्पशक्तिके प्रत्यक्षानुभवके लिये एक प्रशान्त और ज्योतिर्मय वाहन बनना होगा। तब हमारा कर्म इस सर्वोच्च सत्स्वरूप प्रभु एवं सर्वोच्च सत्यका कर्म होगा, वह मनमें पहुँचकर सीमित या मिथ्या रूप नहीं धारण कर लेगा। जो भी सीमा, पसन्दगी या संबंध उस कर्मपर आरोपित किया जायगा उसे भगवान् ही व्यक्तिके अन्दर किसी विशेष समयमें अपने किसी उद्देश्यके लिये अपने ऊपर स्वयं आरोपित करेंगे; वह सीमा आदि अनिवार्य, चरम किंवा अटल नहीं होगी,

मनके किये हुए अज्ञानयुक्त निर्धारणके समान नहीं होगी। वल्कि तब विचार और संकल्प ज्योतिर्मय अनन्तसे उद्‌भूत होनेवाली क्रियाओंका रूप धारण कर लेते हैं, वे एक ऐसी रचना बन जाते हैं जो अन्य रचनाओंको बहिष्कृत नहीं करती बल्कि उन्हें अपने साथ उनके संबंधकी दृष्टिसे उनके ठीक स्थानपर स्थापित कर देती है, यहाँतक कि उन्हें अपने घेरेके अन्तर्गत कर लेती या रूपान्तरित कर देती है और दिव्य ज्ञान तथा कर्मके वृहत्तर रूपों या रचनाओंकी ओर अग्रसर होती है।

समताके फलस्वरूप सर्वप्रथम जो स्थिरता प्राप्त होती है उसका स्वरूप होता है शान्ति अर्थात् समस्त चंचलता, शोक और उद्वेगका अभाव। जैसे-जैसे समता अधिक घनीभूत होती जाती है, वैसे-वैसे वह भावात्मक सुख एवं आध्यात्मिक निर्वृत्तिके पूर्णतर तत्वको ग्रहण करती जाती है। यह निर्वृत्ति एवं सुख आत्माका एक ऐसा हर्ष होता है जो उसे अपने ही अन्दर मिलता है और जो अपनी निरपेक्ष सत्ताके लिये किसी भी वाह्य वस्तुपर आश्रित नहीं होता, **निराश्रय;** गीतामें इसका वर्णन **अन्तःसुखोऽन्तराराम:**—इन शब्दोंमें किया गया है, यह निरतिशय आन्तरिक सुख होता है, **ब्रह्म-संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**। कोई भी चीज इसमें व्याघात नहीं पहुँचा सकती, और आगे चलकर यह आत्माके द्वारा बाह्य वस्तुओंके अवलोकनके क्षेत्रमें भी अपने-आपको विस्तारित करता है, अर्थात् उनपर भी इस शान्त आध्यात्मिक हर्षका नियम लागू करता है। कारण, इसका आधार होता है निश्चल शान्ति, यह सम, प्रशान्त और निरपेक्ष, अहैतुक, हर्ष होता है। और जैसे-जैसे अतिमानसिक ज्योति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे एक महत्तर आनन्द प्राप्त होता जाता है; हमारी आत्मा जो कुछ भी है तथा जो कुछ वह बनती, देखती और अनुभव करती है उस सबमें उसे जो प्रचुर हर्षातिरेक प्राप्त होता है उसके लिये यह महत्तर आनन्द आधारका काम करता है, साथ ही यह आनन्द भगवान्‌के कर्मको ज्ञानपूर्वक करनेवाली और सभी लोकोंमें भगवान्‌का आनन्द ले रही भागवत शक्तिके अट्टहास्यका भी आधार है।

जब समताकी क्रिया पूर्णता प्राप्त कर लेती है तो वह दिव्य आनन्दमय शक्तिके आधारपर पदार्थोंके सभी मूल्योंका रूपान्तर कर देती है। वाह्य कर्म जैसा पहले था वैसा ही चलता रह सकता है अथवा वदल भी सकता है, उसका रूप वही होता है जिसके लिये कि परम आत्मा प्रेरित करता है तथा जो जगत्‌के लिये करने योग्य कर्मको संपन्न करनेके लिये आवश्यक होता है,—किन्तु आंतरिक कर्म सारे-का-सारा और ही ढंगका हो जाता है। ज्ञान, कर्म, उपभोग, सर्जन और रूपायणकी अपनी विभिन्न सामर्थ्योंके

साथ भागवत शक्ति जगत्के विभिन्न लक्ष्योंकी ओर अपने-आपको प्रेरित करेगी, पर उसका मूल भाव और ही प्रकारका होगा; वे ऐसे लक्ष्य, फल तथा कार्यपद्धतियाँ होंगे जिन्हें भगवान् अपने ऊर्ध्वस्थ प्रकाशसे निर्धारित करते हैं, वे कोई ऐसी चीज नहीं होंगे जिसकी मांग अहं अपने पृथक् स्वार्थके लिये करता है। मन, हृदय, प्राण-सत्ता और यहाँतक कि शरीर भी, सत्ताके स्वामीके विधानसे उन्हें जो कुछ भी प्राप्त होगा उसीसे संतुष्ट रहेंगे और उसीमें सूक्ष्मतम किन्तु फिर भी पूर्णतम आध्यात्मीकृत तृप्ति और आनन्द प्राप्त करेंगे; पर ऊर्ध्वस्थित दिव्य ज्ञान एवं संकल्प अपने और भी परेके लक्ष्योंके लिये कार्य करते जायँगे। यहाँ सफलता और असफलता दोनोंके वर्तमान अर्थ लुप्त हो जाते हैं। यहाँ असफलता नामकी कोई चीज हो ही नहीं सकती; क्योंकि जो कुछ भी होता है वह लोकोंके प्रभुका अभिमत होता है, वह अंतिम लक्ष्य नहीं वरन् उसके मार्गका एक सोपान होता है, और यदि वह यंत्रभूत सत्ताके सामने उपस्थित लक्ष्यका विरोध, पराभव, निषेध, यहाँतक कि क्षणभरके लिये पूर्ण निषेध प्रतीत होता हो तो वह केवल ऊपरसे देखनेमें ही ऐसा लगता है और बादमें वह प्रभुके कार्यकी मितव्ययतापूर्ण व्यवस्थामें अपने ठीक स्थानपर स्थित दिखायी देगा, —यहाँ-तक कि एक पूर्णतर अतिमानसिक दिव्य दृष्टि उसके प्रयोजनको तथा अंतिम परिणामके साथ उसके सच्चे संबंधको तुरंत या पहलेसे ही देख सकती है, यद्यपि वह अंतिम परिणामके इतना विपरीत और यहाँतक कि शायद उसका निश्चित प्रतिषेध ही प्रतीत होता है। अथवा—जब प्रकाश न्यून होता है तब—यदि लक्ष्यको या कार्यकी पद्धति तथा परिणामके क्रमोंको समझनेके संबंधमें भूल हुई हो तो असफलता उसे सुधारनेके लिये आती है और इससे निरुत्साहित या संकल्पमें विचलित हुए बिना इसे शान्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है। अन्तमें यह पता लगता है कि असफलता नामकी कोई चीज है ही नहीं और तब अंतरात्मा सभी घटनाओंको भागवत संकल्प-शक्तिके सोपान और रूपायण समझती हुई उनमें एक समान निष्क्रिय या सक्रिय आनन्द लेती है। सौभाग्य और दुर्भाग्य तथा रुचिकर और अरुचि-कर अर्थात् **मंगल-अमंगल** और **प्रिय-अप्रियके** सभी रूपोंके संबंधमें भी ऐसी ही वृत्ति विकसित हो जाती है।

घटनाओंकी तरह व्यक्तियोंके संबंधमें भी समता हमारी दृष्टि और वृत्तिमें पूर्ण परिवर्तन ले आती है। समत्वपूर्ण मन और आत्माका पहला परिणाम यह होता है कि वे एक वृद्धिशील उदारताको तथा सब व्यक्तियों, विचारों, दृष्टिकोणों और कार्योंके प्रति आंतरिक सहिष्णुताको उत्पन्न करते

हैं, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि भगवान् सब प्राणियोंमें विद्यमान हैं और प्रत्येक प्राणी अपने स्वभाव तथा उसकी वर्तमान अभिव्यक्तियोंके अनुसार कार्य करता है। जब भावात्मक सम आनन्द प्राप्त होता है तो वह उदारता एवं सहिष्णुता गहरी होकर सहानुभूतिपूर्ण समझका तथा अन्तमें एक सम सार्वभौम प्रेमका रूप धारण कर लेती है। आध्यात्मिक संकल्प-शक्तिके द्वारा निर्धारित जीवन-आवश्यकताके अनुसार हमारी आन्तरिक मनोवृत्ति बाह्य जगत्‌के साथ जो नानाविध संबंध स्थापित करती है या जो विभिन्न रूप ग्रहण करती है उनमें उपर्युक्त उदारता, सहिष्णुता आदि कोई भी वृत्ति बाधा नहीं पहुँचा सकती, इसी प्रकार उसी संकल्पशक्तिके द्वारा निर्धारित जीवन-आवश्यकता और जीवनोद्देश्यके लिये अमुक एक विचार, दृष्टि और कार्यके विरुद्ध अमुक दूसरेको सुदृढ़ प्रश्रय देनेमें, अथवा जो शक्तियाँ विधिविहित कार्यके मार्गमें रोड़ा अटकानेके लिये प्रेरित होती हैं उनके विरुद्ध प्रबल बाह्य या आंतरिक प्रतिरोध, विरोध या प्रतिक्रिया करनेमें भी उक्त वृत्ति बाधक नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि रुद्र-शक्ति वेगपूर्वक प्रकट होकर मानवीय या अन्य प्रकारकी बाधापर प्रबल रूपसे क्रिया कर सकती है या उसे छिन्न-भिन्न कर सकती है, क्योंकि यह मानव-व्यक्ति तथा जागतिक उद्देश्य दोनोंके लिये आवश्यक होता है। परन्तु इन अधिक ऊपरी रचनाओंके द्वारा समत्वपूर्ण अन्तरतम वृत्तिके सारतत्वमें कोई परिवर्तन या कमी नहीं आती। भले ही ज्ञान, संकल्प, कर्म और प्रेमकी शक्ति अपना कार्य करे और अपने कार्यके लिये अपेक्षित नानाविध रूप भी धारण करे किन्तु मूल भावना एवं मूलभूत आत्मा एक ही रहती हैं। और अंतमें सब कुछ भगवान्‌की सत्तामें तथा ज्योतिर्मय, आध्यात्मिक, एकमेव और विश्वव्यापक शक्तिमें सब व्यक्तियों, शक्तियों और वस्तुओंके साथ ज्योतिर्मय आध्यात्मिक एकत्वका रूप धारण कर लेता है। उस विश्व-व्यापक एकमेव शक्तिमें व्यक्तिका अपना कार्य सबके कार्यका अभेद्य अंग बन जाता है, उससे विभक्त एवं पृथक् नहीं होता, बल्कि प्रत्येक संबन्धको पूर्णतया अपने विराट् एकत्वके जटिल रूपोंसे युक्त सर्वभूतस्थ भगवान्‌के साथ संबन्ध अनुभव करता है। यह एक ऐसी पूर्णता है जिसे भेदकारक मानसिक बुद्धिकी भाषामें कदाचित् ही वर्णित किया जा सकता है क्योंकि यह उसके सभी विरोधोंका उपयोग करती है किन्तु फिर भी उन्हें अतिक्रम कर जाती है; इसी प्रकार हमारे सीमित मनोविज्ञानके शब्दोंमें भी इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो चेतनाके एक अन्य ही प्रदेशसे एवं हमारी सत्ताकी एक अन्य ही भूमिकासे संबंध रखती है।

चौदहवाँ अध्याय

करणोंकी शक्ति

आत्मसिद्धि-योगका दूसरा अंग है हमारी सामान्य प्रकृतिके करणोंकी शक्तिको समुन्नत, विस्तृत और विशुद्ध करना। सिद्धिके इस दूसरे अंगके विकासको सम मन और आत्माकी सुस्थिर अवस्था प्राप्त होनेतक प्रतीक्षा करनेकी जरूरत नहीं, पर अपनी पूर्णता तो यह इस सुस्थिरतामें ही प्राप्त कर सकता है तथा इसीमें यह दिव्य मार्गदर्शनकी सुरक्षामें अपनी क्रिया भी कर सकता है। इस विकासका लक्ष्य प्रकृतिको दिव्य कर्मोंके लिये एक योग्य यंत्र बनाना है। सब कर्म शक्ति ही करती है, और क्योंकि पूर्णयोगका ध्येय कर्मोंका त्याग करना नहीं वरन् दिव्य चेतनाम स्थित होकर वहाँसे परमोच्च मार्गदर्शनके अनसार सब कर्मोंको करना है, मन, प्राण और शरीर-रूपी करणोंकी विशिष्ट शक्तियोंको दोषोंसे मुक्त करके शुद्ध ही नहीं करना होगा बल्कि उन्हें उन्नत करके इस अधिक महान् कर्मके लिये सक्षम भी बनाना होगा। अन्तमें तो उन्हें आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपान्तरकी प्रक्रियामेंसे भी गुजरना होगा।

आत्म-पूर्णताकी साधनाके इस दूसरे भागके चार अंग हैं और उनमेंसे पहला है यथार्थ शक्ति अर्थात् बुद्धि, हृदय, प्राण, मन और शरीरकी शक्तियोंकी यथायथ अवस्था। अभी इन चारमेंसे अंतिमकी आरंभिक पूर्णताका निर्देश करना ही संभव होगा, क्योंकि पूर्ण सिद्धिका विवेचन तो अतिमानसका तथा शेष सत्तापर उसके प्रभावका वर्णन करनेके बाद ही करना होगा। शरीर कार्यके स्थूल भागके लिये एक आवश्यक बाह्य यंत्रमात्र नहीं है, बल्कि इस जीवनके काम-काजके लिये समस्त आंतरिक कार्यका आधार या मूल आश्रय भी है। मन या आत्माकी समस्त क्रिया भौतिक चेतनामें अपना कंपन पैदा करती है, एक प्रकारके गौण देहगत संकेतके रूपमें वहाँ अपने-आपको अंकित करती है और भौतिक यंत्रके द्वारा जड़ जगत्के समक्ष अपने-आपको कम-से-कम कुछ अंशमें प्रकाशित करती है। परन्तु मनुष्यके शरीरकी इस क्षमताकी कुछ स्वभाविक सीमाएँ हैं जिन्हें वह अपनी सत्ताके उच्चतर भागोंकी क्रीड़ापर बलपूर्वक थोपता है। और, दूसरे, शरीरकी एक अपनी ही अवचेतन ढंगकी चेतना है जिसमें वह मानसिक और प्राणिक सत्ताके

पुराने अभ्यासों और पुरानी प्रकृतिको दुराग्रहपूर्ण निष्ठाके साथ संजोये रखता है और जो किसी भी वड़े भारी ऊर्ध्वमुख परिवर्तनका यंत्रवत् विरोध और प्रतिरोध करती है या कम-से-कम उसे संपूर्ण प्रकृतिका आमूल रूपान्तर नहीं बनने देती। यह प्रत्यक्ष ही है कि यदि हम एक ऐसा मुक्त दिव्य या आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक कार्य करना चाहते हैं जो शक्तिके द्वारा परिचालित हो और एक दिव्यतर सामर्थ्यके स्वभावको चरितार्थ करता हो, तो शारीरिक प्रकृतिके इस बाह्य स्वरूपमें एक प्रकारका काफी पूर्ण रूपान्तर साधित करना होगा। पूर्णताके अन्वेषकोंने मनुष्यकी भौतिक सत्ताको सदा ही एक बड़ी भारी बाधा अनुभव किया है और वे उससे घृणा, इन्कार या विद्वेष करते हुए और शरीर एवं स्थूल जीवनको पूर्णरूपेण या यथासंभव दबा देने की इच्छासे उससे मुँह मोड़नेके आदी रहे हैं। परन्तु पूर्णयोगके लिये यह विधि ठीक नहीं हो सकती। शरीर हमें एक ऐसे एकमात्र यंत्रके रूपमें दिया गया है जो हमारे समूचे कार्योंके लिये आवश्यक है; इसका उपयोग करना चाहिये न कि अनादर और उत्पीड़न और न ही दमन या विनाश। यदि वह अपूर्ण, विरोधी और दुराग्रही है तो अन्य अंग अर्थात् प्राण-सत्ता, हृदय, मन और बुद्धि भी तो ऐसे ही हैं। उसे भी उन्हींकी तरह परिवर्तित करके पूर्ण वनाना होगा तथा रूपान्तरकी प्रक्रियामेंसे गुजरना होगा। जैसे हमें अपने लिये एक नया प्राण, नया हृदय और नया मन प्राप्त करना होगा वैसे ही एक विशेष अर्थमें हमें अपने लिये एक नये शरीरका भी निर्माण करना होगा।

शरीरके संवंधमें संकल्प-शक्तिको सवसे पहला कार्य यह करना होगा कि वह उसमें उत्तरोत्तर और वलपूर्वक उसकी समस्त सत्ता, चेतना, शक्ति और बाह्य तथा आन्तर कार्यका एक नया अभ्यास डाले। उसे सिखाना होगा कि वह पहले तो उच्चतर करणोंके हाथोंमें पर अन्तमें आत्मा और उसकी नियामक एवं ज्ञानप्रद शक्तिके हाथोंमें पूर्णतया निष्क्रिय यंत्र वनकर रहे। उसमें अभ्यास डालना होगा कि वह उत्कृष्टतर अंगोंपर अपनी सीमाओंको न थोपे, वल्कि अपनी क्रिया और प्रतिक्रियाको उनकी माँगोंके अनुसार ढाले, या यूँ कहें कि एक उच्चतर स्वरका, उच्चतर कोटिकी प्रतिक्रियाओंका विकास करे। वर्तमान अवस्थामें शरीर और भौतिक चेतनाका स्वर परमेश्वरकी इस मानवीय वीणाके संगीतको निर्धारित करनेकी एक वहुत वड़ी शक्ति रखता है; आत्मासे, चैत्य पुरुषसे, अपने भौतिक जीवनके पीछे अवस्थित महत्तर जीवनसे हमें जो स्वर प्राप्त होते हैं वे हमारे अन्दर निर्बाध रूपसे प्रवेश नहीं पा सकते, अपना उच्च, शक्तिशाली और वास्तविक

गीत विकसित नहीं कर सकते। इस स्थितिको पलटना होगा; शरीर और भौतिक चेतनाको इन उच्चतर स्वरोंको प्रवेश प्रदान करने और इनके अनुसार अपने-आपको ढालनेका अभ्यास विकसित करना होगा और उन्हें नहीं बल्कि प्रकृतिके श्रेष्ठतर भागोंको हमारे जीवन और अस्तित्वका संगीत निश्चित करना होगा।

इस परिवर्तनको साधित करनेके लिये पहला पग है मन और उसके विचार एवं संकल्पके द्वारा शरीर और प्राणका नियंत्रण करना। योग-मात्रका अभिप्राय यह है कि इस नियंत्रणको अत्युच्च शिखरतक पहुँचाया जाय। पर आगे चलकर स्वयं मनको अपना स्थान आत्मा एवं आत्मिक शक्ति तथा अतिमानस एवं अतिमानसिक शक्तिको दे देना होगा। और अंतमें शरीरको एक ऐसी पूर्ण शक्तिका विकास करना होगा कि आत्मा उसके अन्दर जो भी शक्ति लाये उसे वह धारण कर सके तथा उसे बिखेरे और गंवाये बिना या स्वयं टूटे-फूटे बिना उसकी क्रियाको भी धारण कर सके। उसमें ऐसी सामर्थ्य होनी चाहिये कि आध्यात्मिक या उच्चतर मन या प्राणकी चाहे कितनी ही प्रबल शक्ति उसमें क्यों न भर दी जाय उसे वह धारण कर सके तथा उस शक्तिके द्वारा शक्तिशाली रूपसे प्रयोगमें भी लाया जा सके और उस प्रवल अन्तःप्रवाह या दबावसे शरीर-यंत्रका कोई भी भाग क्षुब्ध, अस्तव्यस्त, छिन्न-भिन्न या नष्ट न हो,—जैसे कि जो लोग बिना तैयारीके या अनुपयुक्त साधनोंके द्वारा, अविवेकपूर्वक, योगाभ्यास करनेकी चेष्टा करते हैं अथवा जिस शक्तिको धारण करनेके लिये वे बौद्धिक, प्राणिक एवं नैतिक रूपसे अयोग्य हैं उसका बिना सोचे-विचारे, उतावलेपनसे आवा-हन करते हैं, उनका मस्तिष्क, प्राणिक स्वास्थ्य या नैतिक स्वभाव प्रायः ही क्षत-विक्षत हो जाता है। और इस प्रकार उच्चतर शक्तिसे पूरित होनेपर शरीरमें यह क्षमता भी होनी चाहिये कि वह उस आध्यात्मिक या अन्य प्रकारकी कर्तृ-शक्तिके, जो इस समय हमारे लिये सामान्य नहीं है, संकल्पके अनुसार स्वाभाविक रूपसे, यंत्रवत् और ठीक-ठीक काम कर सके और ऐसा करते हुए उसके उद्देश्य तथा प्रवल प्रेरणाको विकृत एवं क्षीण न करे और न उसे किसी मिथ्या रूपमें ही परिणत कर डाले। भौतिक चेतना और शक्तिमें तथा भौतिक यंत्रमें अनन्त आध्यात्मिक शक्तिको धारण करनेकी यह सामर्थ्य, **धारण-शक्ति**, शरीरकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धि या पूर्णता है।

इन परिवर्तनोंके परिणामस्वरूप शरीर आत्माका एक पूर्ण यंत्र बन जायगा। आध्यात्मिक शक्ति शरीरमें तथा उसके द्वारा, जो कुछ वह

चाहती है तथा जैसा चाहती है वही कुछ और वैसा कर सकेगी। वह मनकी या, अधिक उच्च अवस्थामें, अतिमानसिक असीम क्रियाका संचालन करनेमें समर्थ हो जायगी और इसमें शरीर क्लान्ति, अक्षमता, अयोग्यता या मिथ्याकरणके वश छलपूर्वक उस क्रियाका त्याग नहीं कर देगा। वह शक्ति शरीरके भीतर प्राणशक्तिकी परिपूर्ण धाराको प्रवाहित करने तथा पूर्णताप्राप्त प्राण-सत्ताके विशाल कर्म और उल्लासका सूत्रपात करनेमें भी समर्थ होगी, पर यह सब करनेमें वह विरोध-वैषम्य नहीं उत्पन्न होगा जो अपूर्ण शरीर-यंत्रके साथ प्राणकी सामान्य अंधप्रेरणाओं एवं उसके आवेगोंके संबंधसे पैदा हुआ करता है जब कि वे प्रेरणाएँ और आवेग शरीरका प्रयोग करनेके लिये बाध्य होते हैं। इसके साथ ही आध्यात्मिक शक्ति अध्यात्म-भावित चैत्य सत्ताकी एक ऐसी पूर्ण क्रियाका संचालन करनेमें भी समर्थ होगी जो शरीरकी निम्नतर अंधप्रेरणाओंके कारण मिथ्या और हीन रूप नहीं धारण करेगी, न उनसे किसी प्रकार दूषित ही होगी; इसी प्रकार वह शक्ति भौतिक क्रिया और अभिव्यक्तिको उच्चतर आन्तरात्मिक जीवनके मुक्त स्वरके रूपमें प्रयुक्त कर सकेगी। और स्वयं शरीरमें भी धारक शक्तिकी महत्ता, बहिर्गामी और कार्यसंचालक शक्तिकी प्रचुर सामर्थ्य, ऊर्जा और बल, स्नायविक और भौतिक सत्ताकी लघुता (हलकापन), स्फूर्ति, क्षिप्रता एवं अनुकूलनीयता और संपूर्ण शरीर-यंत्रकी तथा उसे चलानेवाली कमानियोंकी धारक और प्रतिक्रियाशील शक्ति* विद्यमान होंगी। इस समय शरीर अपनी सबलतम और श्रेष्ठतम स्थितिमें भी इन महत्ता और बल आदिको धारण करनेमें समर्थ नहीं है।

यह शक्ति अपने सारतत्वमें कोई बाह्य, भौतिक या स्नायविक सामर्थ्य नहीं होगी, बल्कि अपने स्वरूपमें सर्वप्रथम तो एक असीम प्राण-शक्ति होगी, दूसरे, इस प्राणशक्तिको धारण और प्रयुक्त करनेवाली एक उत्कृष्टतर या परमोच्च संकल्पशक्ति होगी जो शरीरमें कार्य करेगी। शरीर या दृश्य पदार्थमें प्राणिक शक्तिकी क्रीड़ा समस्त कार्यके लिये, यहाँतक कि अत्यंत स्पष्ट रूपसे जड़ दिखायी देनेवाले भौतिक कार्यके लिये भी आवश्यक है। जैसा कि प्राचीन मनीषियोंको ज्ञात था, विश्वव्यापी प्राण ही अपने नाना रूपोंमें विद्युदणु और परमाणु तथा गैससे लेकर धातु, वनस्पति, पशु और देह-प्रधान मनुष्यतक सभी भौतिक पदार्थोंकी पार्थिव शक्तिको धारण या संचालित करता है। जो लोग शरीरकी या शरीरमें एक महत्तर सिद्धि

*महत्व, बल, लघुता और धारण-सामर्थ्य।

पानेका प्रयास करते हैं उन सबकी जान-अनजानमें यही चेष्टा होती है कि इस प्राणिक शक्तिसे शरीरमें अधिक स्वतंत्र और प्रबल रूपसे कार्य कराया जाय। साधारण मनुष्य इसे यांत्रिक रूपमें शारीरिक व्यायामों तथा अन्य भौतिक साधनोंके द्वारा अपने अधिकारमें रखनेका यत्न करता है, हठयोगी अपेक्षाकृत अधिक महान् और नमनीय किन्तु फिर भी यांत्रिक ढंगसे, आसन और प्राणायामके द्वारा, इसपर शासन करनेका प्रयास करता है; परन्तु हमारे उद्देश्यके लिये इसे अधिक सूक्ष्म, सारभूत और सुनम्य साधनोंके द्वारा अधिकारमें लाया जा सकता है; सर्वप्रथम, मनके एक ऐसे संकल्पके द्वारा जो उस विराट् प्राणशक्तिकी ओर, जिससे कि हम शक्ति आहरण करते हैं, अपने-आपको विशालतापूर्वक खोल दे तथा अपने अन्दर बलशाली रूपसे उसका आवाहन करे तथा उसकी बलवत्तर उपस्थिति एवं अधिक प्रबल क्रियाको शरीरके अन्दर स्थिर करे; दूसरे, मनके एक ऐसे संकल्पके द्वारा जो विराट् प्राण नहीं वरंच आत्मा और उसकी शक्तिकी ओर अपने-आपको खोले और ऊपरसे एक उच्चतर प्राणिक शक्तिका, अतिमानसिक प्राण-शक्तिका अपने अन्दर आवाहन करे; तीसरे, अंतिम पगके रूपमें, आत्माके उच्चतम अतिमानसिक संकल्पके द्वारा जो कार्यक्षेत्रमें उतरकर शरीरकी पूर्णताका काम सीधे अपने हाथमें ले ले। सच पूछो तो प्राणिक यंत्र जब निरे भौतिक दिखायी देनेवाले साधनोंका प्रयोग करता है तब भी उसे वास्तवमें एक अन्तःस्थ संकल्प ही सदा परिचालित करता है तथा कार्यक्षम बनाता है; पर आरंभमें वह संकल्प निम्न क्रियापर आश्रित रहता है। जब हम अधिक ऊँचे स्तरपर पहुँचते हैं तो दोनोंका संबंध शनैः-शनैः उलट जाता है; तब वह संकल्प अपनी विशिष्ट शक्तिके साथ कार्य करने या शेष साधनोंको केवल गौण यंत्रके रूपमें ही संचालित करनेमें समर्थ बन जाता है।

बहुतेरे लोग शरीरमें रहनेवाली इस प्राणिक शक्तिको नहीं जानते या फिर जिस अधिक स्थूल-रूपवाली शारीरिक शक्तिको यह अनुप्राणित करती है तथा अपने वाहनके रूपमें प्रयुक्त करती है उससे इसका भेद नहीं कर सकते। पर जब चेतना योग-साधनाके द्वारा अधिक सूक्ष्म हो जाती है तो हम अपने चारों ओर विद्यमान प्राणशक्तिके सागरको जान सकते हैं, मानसिक चेतनाके द्वारा उसे अनुभव कर सकते हैं, मन-रूपी इन्द्रियके द्वारा ठोस रूपमें भी उसे जान सकते हैं, उसकी धाराओं और गतियोंको देख सकते हैं और संकल्पके द्वारा सीधे ही उसका निर्देशन कर सकते हैं तथा उसपर क्रिया करके प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। पर जबतक हम उसके प्रति इस प्रकार सचेतन न हो जायें, तबतक हमें उसकी उपस्थितिमें तथा

इस प्राणशक्तिके ऊपर महत्तर प्रभुत्वका एवं इसके महत्तर प्रयोगका विकास करनेके लिये हमारे संकल्पके अन्दर जो शक्ति है उसमें कामचलाऊ या कम-से-कम परीक्षणात्मक श्रद्धा रखनी होगी। मनकी इस शक्तिमें श्रद्धा रखनेकी जरूरत है कि वह शरीरकी अवस्था और क्रियापर अपने संकल्पका दबाव डाल सकता है, जो लोग रोगका उपचार श्रद्धा, संकल्प या मानसिक क्रियाके द्वारा करते हैं उनमें उक्त प्रकारकी श्रद्धा विद्यमान होती है; परन्तु हमें इस प्रभुत्वको प्राप्त करनेका यत्न केवल इस या किसी अन्य सीमित प्रयोगके लिये ही नहीं करना चाहिये, बल्कि व्यापकतया एक बाह्य एवं क्षुद्रतर करणके ऊपर आभ्यंतर एवं महत्तर करणकी न्याय्य शक्तिके रूपमें इसे पानेका यत्न करना चाहिये। हमारे मनकी पुरानी आदतें, हमारे वर्तमान अपूर्ण आधारमें उसकी अपेक्षाकृत निःसहायताके विषयमें हमारा वर्तमान सामान्य अनुभव तथा शरीर और भौतिक चेतनामें विरोधी विश्वास—ये सब इस श्रद्धाका प्रतिरोध करते हैं। क्योंकि, उनमें भी अपनी एक विशेष प्रकारकी सीमाकारी श्रद्धा है जो मनके विचारका विरोध करती है जब कि वह शरीरपर एक अबतक अनुपलब्ध उच्चतर पूर्णताके नियमको लागू करना चाहता है। पर जैसे-जैसे हम मनके विचारको दृढ़ करते जायेंगे और इस शक्तिको हमारे अनुभवके प्रति अपना प्रमाण देते अनुभव करेंगे, वैसे-वैसे मनकी श्रद्धा अपने-आपको अधिक दृढ़ आधारपर स्थापित करने तथा सबल बननेमें समर्थ होती जायगी, और शरीरकी विरोधी श्रद्धा परिवर्तित हो जायगी, जिस चीजसे वह पहले इन्कार करती थी उसे स्वीकार कर लेगी और अपने अभ्यासोंमें नय नियंत्रणको स्वीकार ही नहीं करेगी बल्कि स्वयं भी इस उच्चतर क्रियाके लिये उच्च शक्तिका आवाहन करेगी। अन्तमें हम इस सत्यको अनुभव कर लेंगे कि यह सत्ता, जो कि हमारा स्वरूप है, वही कुछ है या बन सकती है जो कुछ बननेकी श्रद्धा इसके अन्दर विद्यमान है एवं जो कुछ बननेका यह संकल्प करती है,—क्योंकि श्रद्धा केवल एक ऐसे संकल्पका ही नाम है जो महत्तर सत्यकी प्राप्तिको लक्ष्यमें रखकर उसके लिये प्रयास करता है। यह अनुभव कर लेनेपर हम अपनी संभावनाओंकी सीमाएँ नियत करना बन्द कर देंगे अथवा अपने अंतःस्थ आत्माकी एवं मानव-यंत्रके द्वारा कार्य करनेवाली भागवत शक्तिकी गुप्त सर्वशक्तिमत्तासे इन्कार करना छोड़ देंगे। किन्तु यह स्थिति, कम-से-कम एक व्यावहारिक शक्तिके रूपमें, उच्च सिद्धिकी एक बादकी अवस्थामें ही प्राप्त होती है।

प्राण केवल एक ऐसी शक्ति ही नहीं है जो शारीरिक और प्राणिक

बलकी क्रियाके लिये आवश्यक है, बल्कि वह मानसिक और आध्यात्मिक क्रियाका भी अवलम्बन है। अतएव प्राणिक शक्तिकी पूर्ण और निर्बाध क्रिया निम्नतर किन्तु फिर भी आवश्यक प्रयोजनके लिये ही अपेक्षित नहीं है, बल्कि हमारी जटिल मानव-प्रकृतिके करणोंमें मन, अतिमानस और आत्माकी मुक्त और पूर्ण क्रियाके लिये भी आवश्यक है। प्राणशक्ति और उसकी क्रियाओंपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये प्राणायामके अभ्यासोंके प्रयोगका मुख्य आशय यही है; यह प्रयोग योगकी कुछ-एक प्रणालियोंका अत्यंत महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंग है। पूर्णयोगके साधकको भी प्राण-शक्तिपर ऐसा ही प्रभुत्व प्राप्त करना होगा; पर वह इसे अन्य साधनोंसे प्राप्त कर सकता है और, कम-से-कम, इसकी प्राप्ति और सुरक्षाके लिये उसे किसी शारीरिक या श्वास-प्रश्वाससंबंधी व्यायामपर निर्भर नहीं करना होगा, क्योंकि उससे तुरंत ही एक प्रकारकी सीमितता एवं प्रकृतिके प्रति अधीनता उत्पन्न हो जायगी। प्रकृति-रूपी करणका प्रयोग पुरुषको नमनीय रूपमें करना होगा पर उसे पुरुषपर एक स्थिर नियंत्रणका रूप नहीं धारण कर लेना होगा। तथापि, प्राणशक्तिकी आवश्यकता बनी ही रहती है और आत्मचिन्तन तथा अनुभव करनेपर यह आवश्यकता हमारे सामने स्पष्ट हो जायगी। वैदिक रूपकमें वह (प्राणशक्ति) देहधारी मन और संकल्पका अश्व एवं वाहन है। यदि वह बल और वेगसे तथा अपनी सब शक्तियोंके प्रचुर ऐश्वर्यसे पूर्ण हो तो मन अपने कार्यकी सरणियोंपर पूर्ण और अकुण्ठित गतिके साथ चलता जा सकता है। परन्तु यदि वह पंगु या शीघ्र थक जानेवाली या मन्द या दुर्बल हो तो संकल्पकी कार्यान्विति एवं मनकी क्रिया उस दुर्बलताके बोझके नीचे दब जाती है। जब अतिमानस पहले-पहल कार्यक्षेत्रमें आता है तो उसपर भी यही नियम लागू होता है। निःसन्देह, ऐसी अवस्थाएँ और क्रियाएँ भी हैं जिनमें मन प्राणिक शक्तिको अपने अन्दर समेट लेता है और यह निर्भरता जरा भी अनुभूत नहीं होती; पर तब भी प्राण-शक्ति वहाँ विद्यमान होती है, भले वह शुद्ध मानसिक शक्तिमें तिरोहित ही क्यों न हो। जब अतिमानस पूर्णतया शक्तिशाली हो जाता है तो वह बिलकुल सहज रूपमें ही प्राणिक शक्तिके साथ अपनी इच्छानुसार बर्ताव कर सकता है, और हम देखते हैं कि अंतमें यह प्राण-शक्ति अतिमानसीकृत प्राणके अपने विशिष्ट रूपमें रूपान्तरित हो जाती है जो उस महत्तर चेतनाकी एक चालक शक्तिमात्र है। परन्तु यह रूपान्तर योगसिद्धिकी एक और भी बादकी अवस्थासे संबन्ध रखता है।

और फिर, हमारे अन्दर चैत्य प्राण, प्राणमय मन या कामनामय पुरुष

भी है; यह भी अपनी पूर्णताकी माँग करता है। यहाँ भी सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि मनको प्राणिक-सामर्थ्यसे परिपूर्ण होना चाहिये अर्थात् उसमें अपना समग्र कार्य संपन्न करनेकी, हमारे आन्तरिक चैत्य प्राणको जो प्रेरणाएँ और शक्तियाँ इस जीवनमें चरितार्थ करनेके लिये दी गयी हैं उन सबको अपने अधिकारमें लानेकी, उन्हें धारण करनेकी तथा क्षमता, स्वतंत्रता और पूर्णताके साथ उन्हें कार्यान्वित करनेके लिये एक साधनके रूपमें काम करनेकी शक्ति होनी चाहिये। अपनी पूर्णताके लिये हमें जिन चीजोंकी आवश्यकता है उनमेंसे बहुत-सी,—उदाहरणार्थ, साहस, जीवनमें फलीभूत होनेवाली अमोघ संकल्पशक्ति, जिन्हें हम आज चरित्रका बल और व्यक्तित्वका बल कहते हैं उनके सभी अंग,—अपनी पूर्णतम शक्तिके लिये तथा ऊर्जस्वी कार्यके मूल स्रोतके लिये बहुत बड़े अंशमें चैत्य प्राणकी पूर्णतापर ही निर्भर करती है। परन्तु इस पूर्णताके साथ चैत्य-प्राण-सत्तामें एक सुस्थिर प्रसन्नता, निर्मलता और शुद्धता भी होनी चाहिये। यह क्रियाशक्ति न तो अशान्त, अति व्याकुल एवं तूफानी होनी चाहिये और न ही आवेशपूर्ण या असंस्कृत रूपमें उग्र; प्राणशक्ति तो हमारे अन्दर अवश्य होनी चाहिये, उसे अपने कर्मका आनन्द भी अवश्य प्राप्त होना चाहिये, पर शक्ति होनी चाहिये निर्मल, प्रसन्न और विशुद्ध और आनन्द होना चाहिये सुस्थिर, दृढ़प्रतिष्ठ और विशुद्ध। और इसकी पूर्णताकी तीसरी शर्त यह है कि इसे पूर्ण समतामें सुस्थित होना चाहिये। कामनामय पुरुषको अपनी कामनाओंके कोलाहल, आग्रह या वैषम्यसे मुक्त होना होगा ताकि उसकी कामनाएँ न्याय और संतुलनके साथ तथा ठीक ढंगसे पूरी हो सकें और अन्तमें तो उनको कामनाके स्वरूपसे सर्वथा मुक्त करके दिव्य आनन्दकी प्रेरणाओंमें रूपान्तरित कर देना होगा। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उसे सब प्रकारकी माँगोंको छोड़ना होगा, साथ ही, उसे हृदय, मन या आत्मापर अपना अधिकार स्थापित करनेकी चेष्टा ही नहीं करनी होगी, बल्कि शान्त मन और शुद्ध हृदय के मार्गके द्वारा उसके अन्दर आत्मासे जो कोई प्रेरणा एवं आदेश आवें उन्हें निष्क्रिय और सक्रिय दोनों प्रकारकी दृढ़ समताके साथ स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार हमारी सत्ताका प्रभु उस प्रेरणाका जो भी फल उसे प्रदान करे तथा उससे उसे जो भी कम या अधिक अथवा पूर्ण या शून्य भोग प्राप्त हो वह भी उसे स्वीकार करना होगा। तथापि, प्राप्ति और भोग उसका नियम-धर्म हैं, उसका कार्य, उपयोग एवं स्वधर्म हैं। उसका वध या दमन करना अभिप्रेत नहीं है, न उसे एक ऐसी वस्तु बना देना ही अभीष्ट है जिसकी ग्रहण-शक्ति

कुंद हो तथा जो विपण्ण, दमित, अपंग, जड़ या वन्ध्य हो। उसके अन्दर प्राप्त करनेकी पूर्ण शक्ति, उपभोगकी प्रसन्नतापूर्ण शक्ति तथा शुद्ध और दिव्य संवेग एवं आनन्दकी उल्लासपूर्ण शक्ति अवश्य होनी चाहिये। उसे जो उपभोग प्राप्त होगा वह अपने सारतत्वमें आध्यात्मिक आनन्द होगा, पर वह एक ऐसा आनन्द होगा जो मानसिक, भावमय, क्रियाशील, प्राणिक एवं भौतिक हर्षको अपने अन्दर समाविष्ट करके रूपान्तरित कर देता है; अतएव, उसके अन्दर इन सब चीजोंके लिये सर्वांगीण सामर्थ्य अवश्य होनी चाहिये; और अक्षमता या थकावटके कारण या फिर तीव्र एवं महान् अनुभूतियोंको सहन करनेमें असमर्थ होनेके कारण उसे आत्मा, मन, हृदय, संकल्प-शक्ति और शरीरकी अनुभूतियोंका साथ देनेमें असफल नहीं हो जाना चाहिये। पूर्णता, शुभ्र पवित्रता और प्रसन्नता, समता, प्राप्ति और भोगके लिये सामर्थ्य—ये तत्व चैत्य प्राणकी चतुर्विध पूर्णताके अंग हैं।*

इसके बाद हमें जिस करणको पूर्ण बनानेकी आवश्यकता है वह है चित्त, और इस शब्दके पूर्ण अर्थके अंतर्गत हम भावप्रधान और शुद्ध चैत्य सत्ताको समाविष्ट कर सकते हैं। मनुष्यका यह हृदय एवं चैत्य पुरुष, जो प्राणकी अंधप्रेरणाओंके तन्तुजालसे ओतप्रोत है, भावावेश और चैत्य स्पंदनोंके मिश्रित और अस्थिर रंगोंसे बनी हुई वस्तु है। ये भावावेश और चैत्य स्पंदन अच्छे और बुरे, सुखद और दुःखद, तृप्त और अतृप्त, क्षुब्ध और शान्त तथा तीव्र और मन्द दोनों प्रकारके होते हैं। इन सबने इस प्रकार आलोड़ित और आक्रान्त होनेके कारण हमारा चित्त किसी भी प्रकारकी वास्तविक शान्तिसे परिचित नहीं है, अपनी सब शक्तियोंकी स्थिर पूर्णता प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है। शुद्धि और समताके द्वारा तथा ज्ञानकी ज्योति और संकल्पशक्तिके सामंजस्यके द्वारा उसमें शांत भावोद्रेक एवं पूर्णताकी स्थिति लायी जा सकती है। इस पूर्णताके पहले दो अंग ये हैं—एक ओर तो उच्च और विशाल मधुरता, उन्मुक्तता, भद्रता, शान्ति, निर्मलता और दूसरी ओर प्रबल और उत्कट शक्ति एवं प्रचण्डता। साधारण मानवीय स्वभाव और कर्मकी ही भांति दिव्य स्वभाव और कर्ममें भी सदैव दो छोर होते हैं, माधुर्य और बल, मृदुता और शक्ति, सौम्य और रौद्र, धारण, सहन और समन्वय करनेवाली शक्ति, अपना अधिकार जमाने और विवश कर देनेवाली शक्ति, विष्णु और ईशान, शिव और रुद्र। सर्वांगपूर्ण जागतिक कर्मके लिये दोनों समान रूपसे आवश्यक हैं। हमारे

---

*पूर्णता, प्रसन्नता, समता, भोग-सामर्थ्य।

हृदयमें रुद्र-शक्ति जो-जो विकृत रूप धारण करती है वे ये हैं--तूफानी आवेश, क्रोध और भयंकरता और कठोरता, कठिनता, पाशविकता, क्रूरता, अहंपूर्ण महत्वाकांक्षा, तथा अत्याचार और आधिपत्यसे प्रेम। हमें शान्त, निर्मल और मधुर चैत्य पुरुषको प्रस्फुटित करके इन तथा अन्य मानवीय विकृतियोंसे मुक्त होना होगा।

परन्तु दूसरी ओर, शक्तिको धारण करनेकी अक्षमता भी एक प्रकारकी अपूर्णता है। जब भावप्रधान एवं चैत्य जीवनकी शक्तिको किंवा अपने-आपको दृढ़तापूर्वक स्थापित करनेकी उसकी सामर्थ्यको दबाया और निरुत्साहित किया जाता है अथवा उसका मूलोच्छेद कर दिया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप अन्ततः चित्तमें शिथिलता और दुर्बलता, भोगासक्ति, एक प्रकारकी अदृढ़ता एवं पंगुता या जड़ निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु केवल डटी रहने तथा सब कुछ सहन करनेवाली शक्तिको प्राप्त करना या केवल प्रेम, उदारता, सहिष्णुता, मृदुता, नम्रता एवं तितिक्षासे युक्त हृदयका विकास करना भी समग्र पूर्णता नहीं है। पूर्णताका दूसरा पक्ष है एक ऐसी आत्म-संहत, शान्त और अहंकाररहित रुद्रशक्ति जो चैत्य शक्तिसे संपन्न हो किंवा बलवान् हृदयकी एक ऐसी शक्ति जो बिना हिचकिचाये एक आग्रहपूर्ण एवं बाहरसे कठोर दीखनेवाले कर्मको अथवा आवश्यकता पड़नेपर प्रचण्ड हिंसाकर्मको भी धारण करनेमें समर्थ हो; बल, शक्ति और सामर्थ्यका अपरिमित तेज जो हृदयकी मधुरता और निर्मलताके साथ समस्वरित हो तथा कर्ममें उसके साथ एकमय हो सकता हो, अर्थात् सोमकी सुधामयी चन्द्र-रश्मियोंके मण्डलसे समुद्भूत होनेवाली इन्द्रकी विद्युत् ही दोहरी पूर्णता है। और, इन दो शक्तियों, **सौम्यत्व** और **तेजस्**, को अपने अस्तित्व और कार्यका आधार आभ्यंतरिक **प्रकृति** तथा चैत्य पुरुषकी दृढ़ समतापर रखना होगा। इसके लिये चैत्य पुरुषको समस्त असंस्कृततासे तथा हृदयकी ज्योति अथवा शक्तिकी समस्त अतिशयता या न्यूनतासे मुक्त होना चाहिये।

दूसरा आवश्यक तत्त्व है हृदयकी श्रद्धा, विश्व-कल्याणमें विश्वास और उसके लिये संकल्प, विराट् आनन्दकी ओर खुले होना। शुद्ध चैत्य पुरुषका सारतत्व है आनन्द, उसका उद्भव विश्वमें विद्यमान आनन्दमय पुरुषसे हुआ है; किन्तु भावावेशसे युक्त स्थूल हृदय जगत्‌के परस्पर-विरोधी बाह्य रूपोंसे अभिभूत हो जाता है तथा शोक, भय, विषाद, राग और क्षणिक एवं आंशिक हर्ष-रूपी अनेक प्रतिक्रियाओंको अनुभव करता है। पूर्णता प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है सम हृदयकी, न कि केवल निष्क्रिय समताकी; हमें

एक ऐसी भागवत शक्तिकी अनुभूति होनी चाहिये जो हमारे समस्त अनुभवोंके पीछे हमारे कल्याणसाधनकी ओर अग्रसर हो रही है, हमारे अन्दर एक ऐसी श्रद्धा एवं संकल्प-शक्ति होनी चाहिये जो जगत्के विषोंको अमृतमें परिणत कर सके, विपदाके पीछे छुपे हुए एक अधिक सुखदायी आध्यात्मिक हेतुको, दुःखके पीछे प्रेमके रहस्यको तथा वेदनाके वीजमें छुपे हुए दिव्य शक्ति और आनन्दके पुष्पको देख सके। इस श्रद्धा, **कल्याण-श्रद्धा,** का होना आवश्यक है ताकि हृदय और संपूर्ण व्यक्त चैत्य सत्ता गुप्त दिव्य आनन्दको प्रत्युत्तर दे सके और इस वास्तविक मूल सारतत्वमें अपने-आपको रूपान्तरित कर सके। इस श्रद्धा और संकल्पको असीम, विशालतम और गभीरतम प्रेम-शक्तिसे समन्वित तथा उसकी ओर उन्मुक्त होना चाहिये। कारण, हृदयका मुख्य कार्य किंवा उसका सच्चा व्यापार है प्रेम। वह पूर्ण मिलन और एकत्वकी प्राप्तिके लिये हमारा विधिनियत करण है; क्योंकि जगत्में केवल बुद्धिके द्वारा एकत्वको देखना ही पर्याप्त नहीं है जबतक कि हम हृदयके द्वारा तथा चैत्य पुरुषमें भी उसे अनुभव न करें, और इसका अभिप्राय है—एकमेवमें तथा उसके अन्दर अवस्थित जगत्के सर्वभूतोंमें आनन्द लेना, भगवान् और समस्त वस्तुओं एवं प्राणियोंसे प्रेम। विश्वके कल्याणके विषयमें हृदयकी श्रद्धा एवं संकल्प इस अनुभवपर आधारित होते हैं कि एकमेव भगवान् सब पदार्थोंमें अन्तर्यामी-रूपसे विराजमान हैं तथा जगत्का परिचालन कर रहे हैं। हृदयको समस्त जगत्में एकमेव भगवान् किंवा एकमेव आत्माका जो यह दर्शन एवं चैत्य और भागवत अनुभव होता है उसीपर हमें विश्वप्रेमका आधार रखना होगा। तब चारों तत्त्व एकतामें गठित हो जायँगे और शुभ तथा मंगलके लिये युद्ध करनेकी रुद्र-शक्ति भी विश्व-प्रेमकी शक्तिके आधारपर अपने कार्यमें प्रवृत्त होगी। हृदयकी सर्वोच्च और अत्यन्त विशिष्ट पूर्णता यह **प्रेम-सामर्थ्य** ही है।

करणोंकी पूर्णतामें सबसे अंतमें आती है बुद्धि और चिंतनात्मक मनकी पूर्णता। इसके लिये सर्व-प्रथम आवश्यक वस्तु है बुद्धिकी निर्मलता और पवित्रता। हमारी प्राणमय सत्ता सत्यके स्थानपर मनकी कामनाको थोपना चाहती है तथा क्षुब्ध भाव-प्रधान सत्ता, सत्यको भावावेशोंके रूप-रंगसे रंजित, विकृत और सीमित करके मिथ्या रूप देनेका यत्न करती है; हमें बुद्धिको इन दोनों सत्ताओंकी माँगोंसे मुक्त करना होगा। उसे अपने निज दोषोंसे भी मुक्त होना होगा, वे दोष हैं—विचार-शक्तिकी जड़ता, ज्ञानकी ओर खुलनेमें बाधा डालनेवाली संकीर्णता और अनिच्छा, चिन्तनकी

क्रियामें बौद्धिक यथार्थता और सावधानताका अभाव, पूर्व धारणा और पसंदगी, बुद्धिमें विद्यमान अहमात्मक इच्छा और ज्ञानप्राप्तिके संकल्पका मिथ्या निर्धारण। उसका एकमात्र संकल्प यह होना चाहिये कि वह सत्य, उसके सारतत्व एवं मान-प्रमाणको तथा उसके रूपों और संबंधोंको प्रतिबिम्बित करनेके लिये एक निर्मल दर्पण बने, सामंजस्यका एक स्वच्छ मुकुर, यथोचित मानदण्ड और सूक्ष्म एवं सुन्दर यंत्र अर्थात् सर्वांगपूर्ण बुद्धि बने। यह स्वच्छ और विशुद्ध बुद्धि तब प्रकाशसे युक्त एक प्रशान्त करण एवं सत्यके सूर्यसे निःसृत होनेवाली एक शुद्ध और शक्तिशाली ज्योति-रश्मि बन सकती है। किन्तु इसे भी केवल घनीभूत, शुष्क या श्वेत प्रकाशवाला करण ही नहीं बनना होगा, वरन् सब प्रकारके चित्र-विचित्र बोधको प्राप्त करनेमें समर्थ, नमनीय, समृद्ध, लचकीली भी होना चाहिये, समस्त तेजसे देदीप्यमान तथा सत्यकी अभिव्यक्तिके सब-के-सब रंगोंके द्वारा चित्र-विचित्र और उसके सभी रूपोंके प्रति उद्घाटित होना चाहिये। और इस प्रकार सुसंपन्न होनेपर वह सीमाओंसे मुक्त हो जायगी, ज्ञानकी इस या उस शक्ति या क्रियामें अथवा उसके अमुकामुक रूपमें बन्द नहीं रहेगी, बल्कि पुरुष उससे जिस भी कामकी माँग करे उसके लिये तैयार रहनेवाला एक समर्थ यंत्र बन जायगी। विशुद्धता, निर्मल ज्ञान-ज्योति, समृद्ध और सुनम्य वैचित्र्य, सर्वांगीण सामर्थ्य—**विशुद्धि, प्रकाश, विचित्र-बोध, सर्वज्ञान-सामर्थ्य**—चिंतनात्मक बुद्धिकी चतुर्विध पूर्णताका गठन करते हैं।

हमारे सामान्य करण जब इस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर लेंगे तो वे एक-दूसरेके कार्यमें अनुचित हस्तक्षेप किये विना अपने-अपने ढंगसे काम करेंगे तथा हमारी प्राकृत सत्ताकी समस्वरित समग्रतामें पुरुषके अप्रतिहत संकल्पकी पूर्तिमें सहायक होंगे। इस पूर्णताको अपनी कार्यक्षमतामें, अपनी क्रियान्वितिके शक्ति-सामर्थ्यमें तथा संपूर्ण प्रकृतिके क्षेत्रकी एक विशेष प्रकारकी महानतामें निरन्तर उन्नत होते जाना होगा। तव हमारे करण अपने विज्ञानमय कार्यके करणोंमें रूपान्तरित होनेके लिये तैयार हो जायँगे जिनमें कि वे सारी-की-सारी पूर्णताप्राप्त प्रकृतिके एक अधिक निरपेक्ष, एकीभूत और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक सत्यको प्राप्त कर लेंगे। करणोंकी इस पूर्णताके साधनोंपर हमें आगे एक प्रकरणमें विचार करना होगा; पर अभी इतना कहना यथेष्ट होगा कि इसकी मुख्य-मुख्य अवस्थाएँ हैं—संकल्प, आत्म-निरीक्षण और आत्मज्ञान तथा आत्म-परिवर्तन एवं रूपान्तरका सतत अभ्यास। 'पुरुष'में इस सवके लिये सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि अन्तःस्थ आत्मा सदा ही अपनी प्रकृतिकी क्रियामें परिवर्तन करके उसे

पूर्ण बना सकती है। परन्तु मनोमय पुरुषको इसके लिये मार्ग प्रशस्त करना होगा और इसके साधन ये हैं—स्पष्ट तथा सतर्क अन्तर्निरीक्षण, एक ऐसे अन्वेषणशील एवं सूक्ष्म आत्मज्ञानकी ओर अपने-आपको खोलना जो उसे अपने प्राकृत करणोंका बोध तथा उत्तरोत्तर प्रभुत्व प्रदान करे, आत्मसंशोधन और आत्म-रूपान्तरका सजग और आग्रहपूर्ण संकल्प—क्योंकि प्रकृतिको अन्ततोगत्वा, चाहे किसी भी कठिनाई एवं किसी भी प्रारंभिक या सुदीर्घ प्रतिरोधके साथ क्यों न हो, इसी संकल्पको प्रत्युत्तर देना होगा, —और ऐसा अटूट अभ्यास जो समस्त दोष एवं विकारको निरंतर दूर फेंकता रहे तथा उसका स्थान समुचित अवस्था और यथार्थ एवं उन्नत क्रियाको दे दे। जबतक हमारी मनोमय सत्ताओंकी अपेक्षा महत्तर शक्ति एक अधिक सहज और द्रुत रूपान्तरको साधित करनेके लिये सीधे ही हस्तक्षेप नहीं करती तबतक तपस्या और धैर्यका तथा ज्ञान एवं संकल्पकी सत्यता और ऋजुताका आश्रय लेना आवश्यक है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

आत्मशक्ति और चतुर्विध व्यक्तित्व

सामान्य मन, हृदय, प्राण और शरीरको पूर्ण बनानेसे हमें केवल अपने मनो-भौतिक यंत्रकी, जिसका हमें प्रयोग करना पड़ता है, पूर्णता प्राप्त होती है तथा दिव्य जीवन एवं दिव्य कर्मोंके लिये करणोंकी कुछ-एक समुचित अवस्थाएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। तब जीवन एक अधिक पवित्र, महान् और निर्मल शक्ति एवं ज्ञानके द्वारा विताया जाता है और कर्म भी उसीके द्वारा संपन्न किये जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा होनेके वाद जो शक्ति उन करणोंमें प्रवाहित की जाती है वह कौन-सी है तथा जो एकमेव उसे अपने वैश्व उद्देश्योंके लिये कार्यमें प्रवृत्त करता है वह कौन है। तव जो शक्ति हमारे अन्दर कार्य करेगी उसे व्यक्त दिव्य शक्ति होना चाहिये, परमोच्च या विश्वगत शक्ति होना चाहिये, जो मुक्त जीवके रूपमें प्रकट होती है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता;** वह जीवभूत परा प्रकृति ही कर्त्ताकी भांति समस्त कर्म करेगी तथा इस दिव्य जीवनकी संचालक शक्ति होगी। इस शक्तिके पीछे रहनेवाली एकमेव सत्ता ईश्वर अर्थात् समस्त सत्ताके प्रभु ही होंगे। जब हम पूर्णता प्राप्त कर लेंगे तव हमारी समस्त सत्ता उन प्रभुके साथ एक प्रकारका 'योग' (एकत्व) होगी। इस योगका अभिप्राय यह है कि जो भगवान् हमारे अन्दर विराजमान हैं और साथ ही जिनमें हम अव रहते-सहते, चलते-फिरते तथा अपना अस्तित्व रखते हैं उनकी सत्ताके साथ हमारी सत्ताका एकत्व और एक ऐसा मिलन जिसमें उनके साथ पुरुष और उसकी प्रकृतिके नानाविध संवंध भी वने रह सकते हैं। ईश्वरको अपने अन्दर या अपने पीछे धारण किये हुई इस शक्तिकी ही दिव्य उपस्थिति और कार्यप्रणालीका हमें अपने समस्त अस्तित्व और जीवनमें आवाहन करना होगा। क्योंकि इस दिव्य उपस्थिति और इस महत्तर कार्य-प्रणालीके विना प्रकृतिकी शक्तिकी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

जीवनमें मनुष्यका समस्त कर्म अन्तरात्माकी उपस्थिति और प्रकृतिकी क्रियाओं (दोनों) की अर्थात् पुरुष और प्रकृतिकी ग्रंथि है। पुरुषकी उपस्थिति एवं उसका प्रभाव प्रकृतिमें हमारी सत्ताकी एक विशेष शक्तिके रूपमें अपने-आपको प्रकट करता है। उस शक्तिको हम अपने वर्तमान प्रयोजनके

लिये आत्मशक्ति कह सकते हैं; सदा-सर्वदा यह आत्मशक्ति ही बुद्धि, मन, प्राण और शरीरकी शक्तियोंकी समस्त क्रियाओंको आश्रय देती है और हमारी चेतन सत्ताकी गठन तथा हमारी प्रकृतिके विशिष्ट रूपका निर्धारण करती है। सामान्य मनुष्य, जो विकासकी साधारण कोटितक ही पहुँचा होता है, इसे एक गौण, परिवर्तित, यांत्रिकताग्रस्त एवं तिरोहित रूपमें—स्वभाव और चरित्रके रूपमें—धारण करता है; परन्तु वह रूप इसका एक अत्यंत बाह्य साँचामात्र है जिसमें, ऐसा प्रतीत होता है कि, यांत्रिक प्रकृति पुरुषको अर्थात् चिन्मय सत्ता या आत्माको सीमित और परिच्छिन्न करती है तथा कोई आकार भी प्रदान करती है। विकसित होती हुई प्रकृति बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यात्मक, क्रियाशील, प्राणिक और भौतिक मन और स्वभाव-विशेषके जिन भी रूपोंको ग्रहण करती है उनमें अंतरात्मा प्रवाहित होती है और यह गठित प्रकृति उसपर जिस प्रणालीको थोपती है उसीके अनुसार वह कार्य कर सकती है और इसकी संकीर्ण प्रणालिका या इसके अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत घेरेमें ही गति कर सकती है। तब मनुष्य सात्विक, राज-सिक या तामसिक होता है या फिर इन गुणोंका मिश्रण और उसका स्वभाव आत्माके एक प्रकारके सूक्ष्मतर रंगसे रँगा होता है। आत्माने ही उसकी प्रकृतिके इन रूढ़ गुणोंकी प्रधान एवं सुस्पष्ट क्रियाको वह रंग प्रदान किया होता है। जो मनुष्य प्रबलतर शक्तिसे सम्पन्न होते हैं उनमें आत्माकी शक्ति अपेक्षाकृत अधिक मात्रामें ऊपरी सतहपर आयी होती है और वे एक ऐसे व्यक्तित्वका विकास कर लेते हैं जिसे महान् या शक्तिशाली कहा जाता है, गीताके **'विभूतिमत् सत्वं श्रीमद् ऊर्जितमेववा'** इस वाक्यमें जिस विभूतिका वर्णन किया गया है उसका कुछ अंश उनमें विद्यमान होता है, अर्थात् उनमें सत्ताकी एक ऐसी उच्चतर शक्ति होती है जिसे बहुधा किसी दिव्य अंतः-प्रेरणाका स्पर्श प्राप्त रहता है या जो कभी-कभी उससे पूर्णतया परिप्लुत भी होती है, अथवा उनमें देवत्वकी अभिव्यक्ति साधारण कोटिसे अधिक होती है। निःसंदेह वह देवत्व सभीमें, यहाँतक कि दुर्बल-से-दुर्बल या अत्यंत तमसाच्छन्न प्राणीमें भी, विद्यमान है, पर यहाँ उसकी कोई विशेष शक्ति सामान्य मान-वताके पर्देके पीछेसे प्रकट होने लगती है और साथ ही इन असाधारण व्यक्तियोंमें कोई सुन्दर, आकर्षक, भव्य या शक्तिशाली वस्तु होती है जो उनके व्यक्तित्व, चरित्र, जीवन और कार्य-कलापमें चमक उठती है। ये व्यक्ति भी अपनी प्रकृति-शक्तिके विशिष्ट साँचेमें उसके गुणोंके अनुसार कार्य करते हैं। परन्तु उनमें कोई विशेष वस्तु अवश्य विद्यमान होती है, वह होती तो है सुस्पष्ट पर उसका विश्लेषण आसानीसे नहीं किया जा

सकता। वह वास्तवमें 'पुरुष' एवं आत्माकी एक प्रत्यक्ष शक्ति होती है जो प्रकृतिके साँचे और उसकी दिशाको एक प्रवल उद्देश्यके लिये प्रयोगमें लाती है। उसके द्वारा स्वयं प्रकृति भी अपनी सत्ताके एक उच्चतर स्तरतक उठ जाती है या उस ओर उठने लगती है। उस शक्तिकी क्रियाका वहुत-सा अंश अहंकारमय या यहाँतक कि विकृत भी प्रतीत हो सकता है, किन्तु फिर भी पीछे अवस्थित भगवान्‌का स्पर्श ही, वह चाहे कोई भी दैविक, आसुरिक या यहाँतक कि राक्षसिक रूप क्यों न धारण करे, प्रकृतिका परि-चालन करता है तथा अपने महत्तर उद्देश्यके लिये उसका प्रयोग करता है।

सत्ताकी शक्ति यदि और भी अधिक विकसित हो जाय तो वह इस आध्यात्मिक उपस्थितिके वास्तविक स्वरूपको प्रकाशित कर देगी और तव ऐसा दिखायी देगा कि यह उपस्थिति एक निर्व्यक्तिक, स्वयं-सत् एवं स्वतः-समर्थ सत्ता है, एक विशुद्ध आत्मशक्ति है जो मनःशक्ति, प्राण-शक्ति तथा बुद्धि-शक्तिसे भिन्न है, पर उन्हें प्रेरित करती है और उनकी क्रिया-प्रणाली, उनके गुण तथा प्रकृति-वैशिष्ट्यका कुछ अंशमें अनुसरण करती हुई भी, एक आरंभिक त्रिगुणातीतता, निर्व्यक्तिकता तथा शुद्ध आत्माग्निकी छाप उनपर लगा देती है। इस प्रकार, हमें यह प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि यह उपस्थिति कोई ऐसी सत्ता है जो हमारी सामान्य प्रकृतिके गुणोंसे परे है। जव हमारे अन्दरका आत्मा मुक्त हो जाता है तो इस आत्मशक्तिके पीछे जो कुछ विद्यमान था वह अपनी समस्त ज्योति, सुषमा और महिमाके साथ प्रकट हो उठता है, अर्थात् जो परम आत्मा किंवा भगवान् अपने विराट् अस्तित्व, मन, कर्म और जीवनमें मनुष्यकी प्रकृति और आत्माको अपना आधार एवं जीवंत प्रतिनिधि वनाता है वह आविर्भूत हो जाता है।

भगवान् अर्थात् प्रकृतिमें अभिव्यक्त आत्मा अनन्त गुणोंके महासिन्धुके रूपमें लीला करता दिखायी देता है। परन्तु कार्यवाहिका या यांत्रिक प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे निर्मित है और अनन्त-गुणमय भगवान् अर्थात् उनके अनन्त गुणोंकी आध्यात्मिक क्रीड़ा इस यांत्रिक प्रकृतिमें अपने स्वरूपको इन तीन गुणोंके विशिष्ट रूपमें परिवर्तित कर देती है। मनुष्यकी उपर्युक्त आत्मशक्तिमें यह प्रकृतिगत भगवान् चार प्रकारकी कार्यक्षम शक्ति, **चतुर्व्यूहके** रूपमें अपने-आपको प्रकट करते हैं। वे चार शक्तियाँ ये हैं—ज्ञान-शक्ति, पौरुष-शक्ति (क्षत्र-शक्ति), पारस्परिकता और सक्रिय एवं उत्पादन-व्यवसायगत संवन्ध और आदान-प्रदानकी शक्ति (वैश्य-शक्ति) और कार्य-कलाप, श्रम एवं सेवाकी शक्ति (शूद्र-शक्ति)। भगवान्‌की उपस्थिति समस्त मानवजीवनको इन चार शक्तियोंकी ग्रंथि तथा वाह्याभ्यन्तर क्रियाके

रूपमें ढाल देती है। भारतके प्राचीन मनीषी सक्रिय मानव-व्यक्तित्व और प्रकृतिके इस चतुर्विध विभेदसे अभिज्ञ थे। अतएव उन्होंने इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-रूपी चार वर्णोंकी सृष्टि की थी। इन वर्णोंमेंसे प्रत्येककी अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति, उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा तथा अपना नैतिक आदर्श होता था, समाजमें प्रत्येकका नियत कर्तव्य तथा आत्माकी विकास-श्रृंखलामें अपना विशेष स्थान होता था। जब हम अपनी प्रकृतिके सूक्ष्मतर सत्योंको अत्यधिक वाह्य और यांत्रिक रूप देते हैं तो वे सदा ही एक कठिन और कठोर पद्धतिका रूप धारण कर लेते हैं, इस नियमके अनुसार वर्ण-व्यवस्था भी एक ऐसी कठोर एवं रूढ़ पद्धति बन गयी जो मनुष्यकी विकसित होती हुई सूक्ष्मतर आत्माकी स्वतंत्रता, विविधता और जटिलताके साथ असंगत थी। तथापि इस व्यवस्थाके पीछे एक सत्य अवश्य विद्यमान है जो हमारी प्रकृति-शक्तिकी पूर्णताकी साधनामें वहुत कुछ महत्व रखता है; परन्तु इसपर विचार करते हुए हमें इसके आन्तरिक पक्षोंको ही ग्रहण करना होगा, वे पक्ष हैं—प्रथम तो व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव एवं विशिष्ट आत्म-स्वरूप, उसके वाद वह आत्मशक्ति जो उनके पीछे स्थित है तथा ये सव रूप धारण करती है, और अंतमें उस मुक्त आध्यात्मिक शक्तिकी लीला जिसमें वे समस्त गुणोंसे परे अपनी सर्वोच्च अवस्था और एकताको प्राप्त कर लेते हैं। कारण, यह असंस्कृत वाह्य धारणा कि मनुष्य जन्मसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्रके रूपमें और एकमात्र इसी रूपमें पैदा होता है, हमारी सत्ताका मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि हमारे अन्दर परम आत्माकी तथा उसकी कार्यवाहिका शक्तिकी ये चार सक्रिय शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं और हमारे व्यक्तित्वके अपेक्षाकृत सुगठित भागमें इनमेंसे किसी एक या दूसरेकी प्रधानताके कारण ही हमें हमारी मुख्य प्रवृत्तियाँ, प्रभुत्वपूर्ण गुण और क्षमताएँ, कर्म और जीवनकी प्रभावशाली दिशा प्राप्त होती हैं। परन्तु ये न्यूनाधिक मात्रामें सभी मनुष्योंमें विद्यमान हैं, कहीं प्रकट हैं तो कहीं प्रच्छन्न, यहाँ विकसित हैं तो वहाँ दमित एवं अवसन्न, या वशीभूत। सिद्ध पुरुपमें ये एक ऐसी पूर्णता एवं समस्वरतामें उन्नीत हो जायंगी जो आध्यात्मिक मुक्तिकी अवस्थामें आत्माके अनन्त गुणोंकी मुक्त लीलाके रूपमें फूट पड़ेंगी। वह लीला आन्तर और वाह्य जीवनमें तथा अपनी और जगत्की प्रकृति-शक्तिके साथ पुरुपकी आत्मरतिपूर्ण एवं सर्जनशील रासक्रीड़ामें प्रकट होगी।

इन चार शक्तियोंका अत्यंत वाह्य मनोवैज्ञानिक रूप हैं—कुछ-एक प्रवल प्रवृत्तियों, क्षमताओं एवं विशेपताओंकी ओर तथा सक्रिय शक्तिके

रूप, मन और अन्तर्जीवनके गुण, एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व या विशिष्ट-रूपकी ओर प्रकृतिका झुकाव या उसका तदनुकूल गठन। बहुधा ही प्रकृतिका झुकाव बौद्धिक तत्वकी प्रधानता, ज्ञानकी खोज और प्राप्तिमें सहायक क्षमताओं, बौद्धिक सृजन या रचनाशीलता, विचारोंमें निमग्नता, विचारोंके या जीवनके अध्ययन तथा चिन्तनात्मक बुद्धिके ज्ञानसंग्रह एवं विकासकी ओर होता है। विकासके स्तरके अनुसार प्रथम तो सक्रिय, उन्मुक्त एवं जिज्ञासाशील बुद्धिवाले मनुष्य, उसके बाद बुद्धिप्रधान मनुष्य और अंतमें विचारक, ज्ञानी एवं महान् मनीषीका स्वरूप एवं स्वभाव निर्मित होता है। इस स्वभाव, व्यक्तित्व, और विशिष्ट आत्मस्वरूपके प्रचुर विकासके द्वारा जो आत्मिक शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं वे ये हैं—एक ऐसा ज्योतिर्मय मन जो समस्त विचारों तथा ज्ञानकी ओर और सत्यके अन्तःप्रवाहोंकी ओर उत्तरोत्तर खुलता जाता है; ज्ञानके लिये क्षुधा एवं उत्कट अभिलाषा, अर्थात् अपने अन्दर उसके विकासके लिये, दूसरोंतक उसे पहुँचानेके लिये तथा जगत्में उसके शासनके लिये अर्थात् बुद्धि, सत्य, ऋत और न्यायके शासनके लिये तथा, हमारी महत्तर सत्ताके सामंजस्यके उच्चतर स्तरपर, आत्मा एवं उसके वैश्व एकत्व, ज्योति और प्रेमके शासनके लिये उत्कण्ठा एवं आतुरता; मन और संकल्पमें इस ज्योतिकी शक्ति जो संपूर्ण जीवनको बुद्धि और उसके सत्य एवं ऋत या आत्मा तथा आत्मिक सत्य एवं ऋतके अधीन कर देती है और निम्नतर करणोंको उनके महत्तर विधानके अनुगत बना देती है; स्वभावकी एक ऐसी संतुलित स्थिति जो आरंभसे ही धैर्य, स्थिर निदिध्यासन और शान्ति तथा चिन्तन एवं ध्यानकी ओर मुड़ी होती है और जो संकल्प एवं आवेगोंके क्षोभको वशीभूत और शान्त करती है तथा उच्च चिंतन एवं शुद्ध जीवनकी ओर अग्रसर होती है, आत्म-शासित सात्विक मनकी नींव डालती है और एक अधिकाधिक कोमल, उदात्त, निर्व्यक्तित्व-संपन्न एवं विश्वात्मभावयुक्त व्यक्तित्वमें विकसित होती जाती है। यह ब्राह्मणकी अर्थात् ज्ञानयज्ञके पुरोहितकी आदर्श प्रकृति एवं आत्म-शक्ति है। यदि यह उसके अन्दर अपने सभी पहलुओंके साथ विद्यमान न हो तो इस विशिष्ट प्रकारकी प्रकृतिकी अपूर्णताएँ या विकृतियाँ हमारे देखनेमें आयेंगी। वे अपूर्णताएँ या विकृतियाँ ये हैं—एक कोरी बौद्धिकता या विचारोंके लिये कुतूहलता जिसमें नैतिक या अन्य प्रकारकी उच्चता न हो, किसी प्रकारकी बौद्धिक क्रियापर संकुचित एकाग्रता जिसमें मन, अंतरात्मा एवं आत्माकी एक अधिक महान् अपेक्षित विशालता न हो, अथवा अपनी बौद्धिकतामें ही बन्द बुद्धिविलासी व्यक्तिका अहंकार और एकांगीपन, या

जीवनपर किसी प्रकारके प्रभुत्वसे रहित एक निःशक्त आदर्शवाद, अथवा बौद्धिक, धार्मिक, वैज्ञानिक या दार्शनिक मनकी अपनी खास प्रकारकी अपूर्णताओं एवं संकीर्णताओंमेंसे कोई अन्य। ये ब्राह्मणत्वके मार्गमें पाये जानेवाले गत्यवरोध हैं या फिर अस्थायी एकपक्षीय एकाग्रताएँ हैं, परन्तु मनुष्यमें दिव्य आत्माका पूर्णैश्वर्य एवं सत्य और ज्ञानकी शक्ति ही इस धर्म या स्वभावकी पूर्णता है, पूर्ण ब्राह्मणका संसिद्ध ब्राह्मणत्व है।

दूसरी ओर, मानव-प्रकृतिका झुकाव संकल्पशक्ति तथा उन क्षमताओंकी प्रधानताकी ओर हो सकता है जो बल, ऊर्ज, साहस, नेतृत्व, रक्षण और शासनके कार्यमें, प्रत्येक प्रकारके युद्धमें विजय पाने तथा सर्जनशील और रचनात्मक कार्य करनेमें सहायक होती हैं, इसी प्रकार उसका झुकाव उस संकल्पशक्तिकी ओर हो सकता है जो जीवनके उपकरणोंपर तथा अन्य मनुष्योंके संकल्पोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करती है तथा चारों ओरकी चीजोंको उन आकारोंमें ढलनेके लिये वाध्य करती है जिन्हें हमारे अन्दर स्थित आत्मशक्ति जीवनपर बलपूर्वक आरोपित करना चाहती है, अथवा जो व्यवस्था किसी समय विद्यमान है उसकी रक्षा करने या उसे नष्ट करके जगत्की प्रगतिके मार्गोंको साफ करनेके लिये या जो कुछ आगे होनेवाला है उसे सुनिश्चित रूप देकर प्रकट करनेके लिये जो कार्य करना आवश्यक है उसके अनुसार वह संकल्प-शक्ति अत्यंत प्रवल रूपसे कार्य करती है। मानव-प्रकृतिमें इस प्रकारकी (क्षात्र) शक्तिका बल-सामर्थ्य या रूप-आकार कम या अधिक महान् हो सकता है और इसकी कोटि तथा शक्तिके अनुसार यथाक्रम एक निरा योद्धा या कर्मवीर मानव, अदम्य सक्रिय संकल्प और व्यक्तित्ववाला मनुष्य तथा शासक, विजेता, किसी विशेष कार्यका कर्णधार, नव-स्रष्टा एवं जीवनके सक्रिय निर्माणके किसी भी क्षेत्रमें संस्थापकका कार्य करनेवाला मानव हमारे देखनेमें आते हैं। अन्तरात्मा और मनकी नानाविध अपूर्णताओंसे इस क्षात्र आदर्शके अनेक अपूर्ण एवं विकृत रूप पैदा होते हैं, जैसे, निरी पाशव संकल्पशक्तिवाला मनुष्य, किसी अन्य आदर्श या उच्चतर लक्ष्यके बिना कोरी शक्तिकी पूजा करनेवाला, स्वार्थपरायण, दूसरोंपर अपनी हुकूमत चलानेवाला व्यक्ति, आक्रामक एवं अत्याचारी राजसिक मनुष्य, वहुत ही बड़ा अहंकारी, दैत्य, असुर, राक्षस। पर इस प्रकारकी क्षात्र-प्रकृति अपने उच्चतर स्तरोंपर जिन आत्मिक शक्तियोंकी ओर खुलती है वे हमारी मानव-प्रकृतिकी पूर्णताके लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितनी ब्राह्मणकी आत्मिक शक्तियाँ। उच्च कोटिकी निर्भयता जिसे कोई भी भय-संकट या कठिनाई हतोत्साह नहीं कर सकती और जो मनुष्य या दैवके या प्रतिकूल

देवताओंके चाहे किसी भी आक्रमणका सामना और मुकाबला करने तथा उसे सहनेके लिये अपनी शक्तिको उसके समकक्ष अनुभव करती है, क्रियाशील दु:साहसिकता एवं साहसपूर्ण पराक्रम जो किसी भी दु:साहसिक अभियान या महोद्योगको असामर्थ्यजनक दुर्वलता एवं भयसे मुक्त मानव-आत्माकी शक्तियोंसे परे न समझकर उससे कतराता नहीं, यशसे प्रेम जो मनुष्यकी परम उदात्तताके उच्च शिखरोंको नाप सकता है और किसी भी क्षुद्र, निकृष्ट, नीच या दुर्बल वस्तुके आगे नहीं झुक सकता, बल्कि उच्च साहस, शूरवीरता, सत्य, सरलता, उच्चतर आत्मापर निम्नतर 'स्व' की वलि, मनुष्योंकी सहायता, अन्याय और अत्याचारका अडिग प्रतिरोध, आत्मसंयम और प्रभुत्व, महान् नेतृत्व, जीवनयात्रा और रणक्षेत्रके योद्धा और नायकका कर्म—इन सबके आदर्शको अकलंकित रूपमें सुरक्षित रखता है, अपनी शक्ति एवं सामर्थ्यमें तथा अपने चरित्र और साहसमें उच्च कोटिका आत्मविश्वास जो कर्मवीर मनुष्यके लिये एक अनिवार्य गुण है,—ये ही तत्व क्षत्रियकी प्रकृतिका निर्माण करते हैं। इन्हें इनकी पराकाष्ठातक पहुँचाना तथा एक प्रकारकी दिव्य समृद्धता, पवित्रता और महिमा प्रदान करना ही उन व्यक्तियोंकी पूर्णता है जिनका **स्वभाव** उक्त प्रकारका होता है तथा जो उक्त **धर्मका** अनुसरण करते हैं।

प्रकृतिका तीसरे प्रकारका झुकाव वह है जो हमारे सामने व्यावहारिक व्यवस्थाशील वुद्धिका तथा प्राणकी एक विशिष्ट सहजप्रवृत्तिका उभरा हुआ चित्र प्रस्तुत करता है। वह प्रवृत्ति है वस्तुओंका उत्पादन और आदान-प्रदान करनेकी, उनकी प्राप्ति और उपभोग करने, उनकी नयी युक्ति ढूँढ निकालने, उन्हें व्यवस्थित और संतुलित करने, अपना व्यय और उपार्जन करने एवं देने और लेनेकी तथा जीवनके सक्रिय संबंधोंको उत्तम-से-उत्तम लाभके रूपमें परिणत करनेकी प्रवृत्ति। यह व्यावहारिक वुद्धि ही वह शक्ति है जो अपनी वाह्य क्रियामें निपुण एवं आविष्कारक वुद्धि, वैधानिक, व्यावसायिक, व्यापारिक, औद्योगिक, आर्थिक, व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक, यांत्रिक, प्राविधिक और उपयोगितावादी मनके रूपमें प्रकट होती है। जब किसी मनुष्यमें इस प्रकारकी प्रकृति अपनी पूर्णताके साधारण स्तरपर होती है तो इसके संग उसके स्वभावमें, सामान्यत:, अर्थ-लोलुपताके साथ-साथ उदारता भी पायी जाती है, वह स्वभावसे ही उपार्जन और संचय करने तथा उपभोग, प्रदर्शन और उपयोग करनेमें प्रवृत्त होता है, जगत् या इसकी परिस्थितियोंको अपने कार्यके लिये दक्षतापूर्वक उपयोगमें लानेपर तुला होता है, किन्तु क्रियात्मक परोपकार, दया तथा व्यवस्थित दान-कार्य करनेमें भी

भलीभांति समर्थ होता है, नियमतः ही व्यवस्था और नैतिकतासे संपन्न होता है पर सूक्ष्मतर नैतिक भावनाका कोई उच्च उत्कर्ष उसमें नहीं होता, उसका मन मध्यम स्तरका होता है जो, न तो शिखरोंकी ओर उड़ानके लिये जोर मारता है और न इतना महान् ही होता है कि जीवनके वर्तमान साँचोंको तोड़कर अन्य श्रेष्ठ साँचोंकी सृष्टि कर ले, पर वह क्षमता, अनुकूलनशीलता तथा संयम-मर्यादा-रूपी विशेष लक्षणोंसे युक्त होता है। इस वैश्य-प्रकृतिकी शक्तियाँ, सीमाएँ और विकृतियाँ एक बहुत बड़े परिमाणमें हमें ज्ञात हैं, क्योंकि ठीक इसी भावनाने हमारी आधुनिक व्यापारिक एवं औद्योगिक सभ्यताका निर्माण किया है। परन्तु, यदि हम इसके महत्तर आंतरिक सामर्थ्यों तथा आत्मिक मूल्योंपर दृष्टिपात करें तो हमें पता चलेगा कि इसमें भी ऐसे तत्व हैं जो मानव-पूर्णताकी सर्वांगीणतामें स्थान पाते हैं। जो शक्ति हमारे वर्तमान निम्नतर स्तरोंपर अपने-आपको इस प्रकार वाह्य रूपमें प्रकट करती है वह ऐसी है कि जीवनके महान् उपयोगी कार्योंमें भी अपने-आपको झोंक सकती है और, अपने मुक्ततम तथा विशालतम रूपमें, वह यद्यपि उस एकत्व एवं तादात्म्यमें तो सहायक नहीं होती जो ज्ञानका सर्वोच्च शिखर है, और न उस प्रभुत्व एवं आध्यात्मिक राजत्वमें ही सहायक होती है जो शक्तिकी पराकाष्ठा है, फिर भी एक ऐसी चीजकी प्राप्तिमें अवश्य सहायक होती है जो जीवनकी समग्रताके लिये अन्य चीजोंकी भाँति ही अनिवार्य है, वह चीज है साम्यपूर्ण पारस्परिक आदान-प्रदान और आत्माका आत्माके साथ तथा प्राणका प्राणके साथ लेन-देन। इस वैश्य-प्रकृतिकी शक्तियाँ ये हैं—सर्वप्रथम, कौशल जो नियम-विधानका निर्माण करता तथा पालन करता है, संबंधोंके उपयोगों और सीमा-बंधनोंको जानता है, अपने-आपको सुनिश्चित एवं विकसनशील गतियोंके अनुकूल बनाता है, वस्तुओंका उत्पादन करता है तथा सृजन, कर्म और जीवनके वाह्य शिल्पविधानको पूर्ण बनाता है, धन-प्राप्तिकी सुनिश्चित आशा प्रदान करता है और फिर प्राप्तिसे विकासकी ओर बढ़ता है, व्यवस्थाके संबंधमें सतर्क तथा प्रगति करनेके विषयमें सावधान रहता है और जीवनके समस्त उपकरणों तथा साधनों एवं लक्ष्योंका अधिक-से-अधिक लाभ उठाता है; कौशलके बाद दूसरे नंबरपर उसमें अपनी सम्पदाका व्यय करनेकी शक्ति होती है जो उड़ाऊपन तथा मितव्ययता दोनोंमें कुशल होती है, जो पारस्परिक आदान-प्रदानके महान् नियमको स्वीकार करती है और बदलेमें बहुत बड़ी मात्रामें लुटानेके लिये ही संग्रह करती है तथा इस प्रकार आदान-प्रदानके प्रवाह एवं जीवनकी फलवत्तामें वृद्धि करती है; इसके बाद दानकी तथा प्रचुर सर्जन-

शील उदारताकी शक्ति, परस्पर सहायता करनेकी एवं दूसरोंके लिये उपयोगी बननेकी वृत्ति जो एक उन्मुक्त आत्मामें निष्पक्ष परोपकार, मानवहित तथा क्रियात्मक ढंगके परार्थका मूल स्रोत बनती है; अन्तमें, उपभोगकी शक्ति तथा उत्पादनशील, संग्रहपरायण और क्रियाशील समृद्धि जो जीवनके उर्वर आनन्दका विलासिताके साथ भोग करती है। पारस्परिक विनिमयकी विशालता, जीवनके संबंधोंकी उदार पूर्णता, मुक्तहस्त व्यय और पुनः-उपार्जन तथा जीवन-जीवनके वीच प्रचुर आदान-प्रदान, फलशाली और उत्पादनशील जीवनके लयताल और संतुलनका पूर्ण उपभोग एवं उपयोग—ये सब उन लोगोंकी पूर्णताके तत्त्व हैं जिनमें उक्त प्रकारका स्वभाव होता है तथा जो उक्त धर्मका अनुसरण करते हैं।

मानव-प्रकृतिकी एक अन्य प्रवृत्ति कार्य तथा सेवाकी ओर होती है। प्राचीन वर्ण-व्यवस्थामें यह शूद्रका धर्म या विशिष्ट आत्मिक रूप थी और उस व्यवस्थामें शुद्रको 'द्विज' वर्णोंमेंसे किसीके अन्तर्गत नहीं वल्कि निम्न श्रेणीका माना जाता था। जीवनके मूल्योंके एक अधिक आधुनिक विवेचनमें श्रमकी महत्ता एवं प्रतिष्ठापर बल दिया गया है और श्रमिकके घोर परिश्रमको मानव-मानवके संवंधोंकी दृढ़ आधारशिलाके रूपमें देखा गया है। इन दोनों मनोवृत्तियोंमें कुछ सत्य है। कारण, जड़ जगत्में शूद्रकी जो यह श्रम-शक्ति देखनेमें आती है वह अपनी अनिवार्यताकी दृष्टिसे स्थूल जीवनका आधार है या, सच पूछो तो, वह एक ऐसी वस्तु है जिसके सहारे स्थूल जीवन गति करता है, प्राचीन उपमाकी भाषामें कहें तो सृष्टिकर्ता ब्रह्माका पादयुगल है, और इसके साथ-साथ अपनी उस आदिम अवस्थामें, जो ज्ञान और आदान-प्रदान या शक्ति-सामर्थ्यके द्वारा उन्नीत नहीं होती, वह एक ऐसी वस्तु भी होती है जो अन्धप्रेरणा, कामना और जड़तापर आधार रखती है। शूद्रकी सुविकसित प्रकृतिमें घोर परिश्रम करनेकी सहज-प्रेरणा एवं श्रम और सेवाकी शक्ति होती है; परन्तु सरल या स्वाभाविक कार्यके विरुद्ध श्रमका कार्य प्राकृत मनुष्यपर एक ऊपरसे लादा गया कार्य होता है जिसे वह इसलिये सहन करता है कि उसके विना वह न तो अपने अस्तित्व-को सुरक्षित रख सकता है और न अपनी कामनाओंकी ही पूर्त्ति कर सकता है और, क्योंकि वह कर्मके रूपमें अपनी शक्तिका व्यय करनेके लिये स्वयमेव या दूसरों या परिस्थितियोंके द्वारा वाध्य होता है। जो मनुष्य स्वभावसे ही शूद्र होता है वह श्रमकी महत्ताकी भावनासे या सेवाके उत्साहके वश कार्य करता हो ऐसी वात नहीं,—यद्यपि अपने धर्मके विकासके द्वारा उसके अन्दर यह भावना एवं उत्साह भी आ जाता है,—वह ज्ञानी मनुष्यकी

तरह ज्ञानके आनन्द या प्राप्तिके लिये अथवा क्षत्रियकी तरह अपनी मान-प्रतिष्ठाकी भावनासे भी कार्य नहीं करता, न ही वह जन्मजात शिल्पी या कलाकारकी भाँति अपने कर्मसे प्रेम होने या उसकी शिल्प-प्रणालीकी सुन्दरताके लिये उत्साह होनेके कारण अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान या विशाल उपयोगिताकी व्यवस्थित भावनाके कारण कार्य करता है, वह तो अपने जीवनकी रक्षा तथा अपनी प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये ही कार्य करता है, और जव ये आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तव यदि उसे अपनी इच्छापर छोड़ दिया जाय तो वह अपने स्वभावगत आलस्यका जी भरकर मजा लेता है, ऐसे आलस्यका जो हम सबके अन्दर विद्यमान तमोगुणका एक सर्वसामान्य अंग है पर एक असभ्य आदिम मनुष्यमें, जो कर्म करनेके लिये बाध्य न हो, अत्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रकट हो उठता है। अतएव असंस्कृत शूद्र स्वतंत्र श्रमकी अपेक्षा कहीं अधिक सेवाके लिये जन्मा होता है और उसका स्वभाव जड़ अज्ञानता, अंधप्रेरणाओंमें स्थूल विचारहीन ग्रस्तता, दासता, विवेकरहित आज्ञाकारिता एवं कर्तव्यका यंत्रवत् पालन जिसमें आलस्य, टालमटोल तथा आकस्मिक आवेगात्मक विद्रोहके द्वारा हेरफेर होता रहता है, अन्धप्रेरणामय और अशिक्षित जीवन—इन सबकी ओर झुका होता है। प्राचीन ज्ञानियोंका मत यह था कि सभी मनुष्य अपनी निम्नतर प्रकृतिमें शूद्रोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं और नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कारके द्वारा ही द्विज (संस्कृत) वनते हैं, पर अपनी उच्चतम आन्तरिक सत्तामें सभी ब्राह्मण होते हैं जो पूर्ण आत्म-स्वरूप एवं देवत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो शायद हमारी प्रकृतिके मनोवैज्ञानिक सत्यसे दूर नहीं है।

तथापि जब अन्तरात्मा विकसित होती है तो कार्य और सेवा-रूपी इस स्वभाव और धर्ममें ही हमारी महत्तम पूर्णताके कुछ-एक अत्यन्त आवश्यक एवं सुन्दर तत्त्व देखनेमें आते हैं; इसके साथ ही उच्चतम आध्यात्मिक विकासके रहस्यके अधिकांशकी कुंजी भी इसीमें पायी जाती है। कारण, आत्माकी जो शक्तियाँ हमारे अन्दरकी इस सामर्थ्य (शूद्र-प्रकृति) के पूर्ण विकाससे संवंध रखती हैं वे अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। वे (शक्तियाँ) इस प्रकार हैं—दूसरोंकी सेवा करनेकी शक्ति, अपने जीवनको ईश्वर और मनुष्यके काम और उपयोगकी वस्तु बनाने और हर प्रकारके महान् प्रभाव एवं आवश्यक अनुशासनको स्वीकार करके उनका पालन एवं अनुसरण करनेका संकल्प, एक ऐसा प्रेम जो अपनी सेवाको सर्मपित करता है, पर बदलेमें किसी भी चीजकी माँग नहीं करता, बल्कि जिससे हम प्रेम करते हैं उसकी तुष्टिके लिये अपनेको खपा देता है, इस

प्रेम और सेवाको भौतिक क्षेत्रमें उतार लानेकी शक्ति और अपना शरीर एवं प्राण तथा अपनी अंतरात्मा, अपना मन, संकल्प और शक्ति-सामर्थ्य ईश्वर और मनुष्यकी सेवाके लिये सौंप देनेकी कामना और, परिणामतः, पूर्ण आत्मसमर्पणकी शक्ति जो आध्यात्मिक जीवनके क्षेत्रमें प्रयुक्त की जानेपर मुक्ति और पूर्णताकी महान्-से-महान् तथा अत्यंत रहस्य-प्रकाशक कुंजियोंमें स्थान पाती है। इस शूद्र-धर्मकी पूर्णता एवं इस शूद्र-स्वभावकी महानता इन्हीं तत्त्वोंमें निहित है। यदि मनुष्यके अन्दर प्रकृतिका यह तत्त्व अपनी दिव्य शक्तितक उन्नीत होनेके लिये विद्यमान न होता तो वह पूर्ण और सर्वांगसंपन्न न बन सकता।

व्यक्तित्वके इन चार भेदोंमेंसे कोई भी यदि अन्य गुणोंका कुछ अंश अपने अन्दर नहीं लाता तो वह अपने क्षेत्रमें भी पूर्ण नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, यदि ज्ञानी मनुष्यमें बौद्धिक और नैतिक साहस, संकल्प एवं निर्भयता, तथा नये राज्योंका द्वार खोलने एवं उन्हें जीतनेकी सामर्थ्य न हो तो वह स्वतंत्रता और पूर्णताके साथ सत्यकी सेवा नहीं कर सकता; उक्त गुणोंके अभावमें वह सीमित बुद्धिका दास बन जाता है अथवा एक निरे स्थापित ज्ञानका सेवक या, अधिक-से-अधिक, उसका एक कर्मकाण्डीय पुरोहित बनकर रह जाता है,*—अपने ज्ञानको सर्वोत्तम लाभके लिये प्रयोगमें नहीं ला सकता जबतक कि उसके सत्योंको जीवनके व्यवहारार्थ क्रियान्वित करनेके लिये उसके अन्दर अनुकूलनशील कौशल न हो, अन्यथा वह केवल विचारमें ही निवास करता रहता है,—अपने ज्ञानको पूर्णतया समर्पित नहीं कर सकता जबतक कि मानवजातिके प्रति, मनुष्यमें अवस्थित भगवान् तथा अपनी सत्ताके स्वामीके प्रति सेवाकी भावना उसके अन्दर न हो। इसी प्रकार शक्तिप्रधान मनुष्य (क्षत्रिय)को चाहिये कि वह अपने शक्ति-सामर्थ्यको ज्ञानके द्वारा, बुद्धि या धर्म या आत्माके प्रकाशके द्वारा आलोकित, उन्नत और शासित करे, अन्यथा वह कोरा शक्तिशाली असुर बन जायगा,—उसके अन्दर वह कौशल होना चाहिये जो उसे अपनी शक्तिको प्रयुक्त, परिचालित एवं नियमबद्ध करने एवं सर्जनशील और फलप्रद रूप देनेमें तथा दूसरोंके साथ उसके संबंधोंके लिये उपयुक्त बनानेमें सर्वोत्तम सहायता करे, अन्यथा वह जीवनके क्षेत्रके आरपार सांय-सांय चलनेवाली शक्तिकी एक प्रचण्ड आंधीमात्र बन जाती है, एक ऐसे तूफानका

*संभवतः यही कारण है कि सर्वप्रथम एक क्षत्रियने ही अपने साहस और निर्भयताको तथा विजयकी भावनाको बोधिमूलक ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभवके क्षेत्रोंमें लाकर वेदान्तके महान् सत्योंका आविष्कार किया।

रूप ले लेती है जो प्रबल वेगसे आता है और रचना करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक विनाश करके चला जाता है,—साथ ही क्षत्रियमें आज्ञापालन करनेकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये और उसे अपनी शक्तिका प्रयोग ईश्वर और जगत्की सेवाके लिये करना चाहिये, अन्यथा वह स्वार्थी एवं स्वेच्छाचारी शासक, अत्याचारी तथा मनुष्योंकी आत्माओं और शरीरोंका क्रूर नियंत्रक बन जायगा। उत्पादन-संबंधी मनोवृत्ति और कार्यप्रवृत्ति रखनेवाले मनुष्यमें खुला और जिज्ञासाशील मन, विचार-समूह और ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा वह विस्तारशील विकासके बिना अपने दैनिक कार्य-व्यापारके सीमित घेरेमें ही विचरण करता रहेगा, उसमें साहसके साथ-साथ बड़े कार्यका बीड़ा उठानेकी वृत्ति भी होनी चाहिये, अपने उपार्जन और उत्पादनके कार्यमें सेवाकी भावना लानी चाहिये, ताकि वह केवल उपार्जन ही न करे, बल्कि दान भी कर सके, केवल बटोर करके अपने जीवनके सुखोंका ही उपभोग न करे, अपितु अपने चारों ओरके जीवनकी, जिससे वह लाभ उठाता है, फलशालिता और पूर्ण समृद्धतामें सचेतन रूपसे सहायता पहुँचाये। इसी प्रकार यदि श्रम और सेवा करनेवाला मनुष्य (शूद्र) अपने कार्यमें ज्ञान, सम्मान-भावना, अभीप्सा और दक्षता न लाये तो वह एक असहाय श्रमिक एवं समाजका दास बन जायगा, क्योंकि उक्त गुणोंको अपने अन्दर लाकर ही वह ऊर्ध्वोन्मुख मन और संकल्पशक्ति तथा सद्भावनापूर्ण उपयोगिताके द्वारा उच्चतर वर्णोंके धर्मोंकी ओर उठ सकता है। परन्तु मनुष्यकी महत्तर पूर्णता तभी साधित होती है जब वह अपने-आपको विशाल बनाकर इन चारों शक्तियोंको अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है और अपनी प्रकृतिको चतुर्विध आत्माकी सर्वतोमुखी पूर्णता एवं विराट् शक्ति-सामर्थ्यकी ओर अधिकाधिक खोलता जाता है, यद्यपि इन चारोंमेंसे कोई एक अन्योंका नेतृत्व भी कर सकती है। मनुष्य इन धर्मोंमेंसे किसी एककी एकांगी प्रकृतिके रूपमें गढ़ा हुआ नहीं है, बल्कि आरंभमें उसके अन्दर ये सभी शक्तियाँ अनगढ़ एवं अव्यवस्थित रूपमें कार्य कर रही होती हैं, पर उत्तरोत्तर जन्मोंमें वह किसी एक या दूसरी शक्तिको ही रूप प्रदान करता है, एक ही जीवनमें किसी एकसे दूसरीकी ओर प्रगति करके अपनी आभ्यंतरिक सत्ताके समग्र विकासकी ओर बढ़ता जाता है। स्वयं हमारा जीवन सत्य और ज्ञानकी खोज-रूप है और इसके साथ ही यह हमारी संकल्पशक्तिका हमारे अपने साथ तथा चारों ओरकी शक्तियोंके साथ संघर्ष एवं युद्ध है, सतत उत्पादन एवं अनुकूलन है तथा जीवनकी सामग्रीपर कौशलका प्रयोग है और है एक यज्ञ एवं सेवा।

जब अन्तरात्मा प्रकृतिमें अपनी शक्तिको कार्यान्वित कर रही होती है तो ये चारों धर्म उसके साधारण रूप होते हैं, परन्तु जब हम अपनी अन्तरात्माके अधिक निकट पहुँचते हैं तब हमें एक ऐसी सत्ताकी झाँकी एवं अनुभूति भी प्राप्त होती है जो इन सब रूपोंमें तिरोहित थी तथा जो अपने-आपको इनमेंसे मुक्त करके एवं पीछेकी ओर स्थित होकर इन्हें प्रेरित कर सकती है, मानो वह एक सार्वभौम उपस्थिति या शक्ति हो जो इस सजीव और चिन्तनशील मशीनकी एक विशेष क्रियापर प्रभाव डालनेके लिये व्यक्त की जाती है। यह स्वयं आत्माकी ही शक्ति है जो अपनी प्रकृतिकी शक्तियोंपर अधिष्ठातृत्व करती हुई उन्हें अपने-आपसे परिप्लुत करती है। भेद इतना ही है कि पहले प्रकारकी शक्ति (प्रकृतिगत शक्ति) पर वैयक्तिकताकी छाप है, उसका कार्य और क्षेत्र सीमित एवं निर्धारित हैं, वह करणोंपर निर्भर करती है, पर यहाँ (आत्माकी शक्तिमें) एक ऐसी सद्वस्तु प्रकट हो जाती है जो वैयक्तिक रूपमें भी निर्व्यक्तिक है, करणोंका प्रयोग करती हुई भी स्वतंत्र और स्वतः-पर्याप्त होती है, अपने-आप तथा पदार्थों दोनोंका निर्धारण करती हुई भी स्वयं अनिर्धार्य है; वह एक ऐसी सद्वस्तु है जो जगत्पर कहीं अधिक महान् शक्तिके साथ क्रिया करती है और किसी विशेष शक्तिका प्रयोग मनुष्य एवं परिस्थितिके साथ संबंध स्थापित करने तथा उनपर अपना प्रभाव उत्पन्न करनेके एक साधनके रूपमें ही करती है। आत्मसिद्धि-योग इस आत्मशक्तिको प्रकट कर देता है और इसे इसका विस्तृततम क्षेत्र प्रदान करता है, चारों प्रकारकी शक्तियोंको हाथमें लेकर समग्र और समस्वर आध्यात्मिक क्रियाशक्तिके मुक्त क्षेत्रमें झोंक देता है। आत्माकी दिव्य ज्ञान-शक्ति उस उच्च-से-उच्च शिखरतक पहुँच जाती है जिसके लिये व्यक्तिकी प्रकृति आश्रयदायी आधारका काम कर सकती हो। एक ज्योतिर्मय मुक्त मन विकसित हो जाता है जो प्रत्येक प्रकारकी दृष्टि, श्रुति, स्मृति, विचार, विवेक तथा चिन्तनात्मक समन्वयकी ओर खुला होता है; एक मनोमय आलोकित प्राण प्राप्ति, ग्रहण और धारणके आनन्दके साथ तथा आध्यात्मिक उत्साह, संवेग या हर्षोद्रेकके साथ समस्त ज्ञानको अधिगत करता है; एक ज्योतिर्मय शक्ति, जो आत्मिक बल और प्रकाशसे तथा क्रियासंबंधी पवित्रतासे पूर्ण होती है, अपने साम्राज्यको, 'ब्रह्मतेजस्' एवं 'ब्रह्मवर्चस्'को, प्रकट करती है; एक अगाध निष्ठा एवं अपरिमेय शान्ति समस्त ज्योति, गति और कर्मको मानो किसी युगोंकी चट्टानके, सम, अविचल और अच्युत चट्टानके आधारपर स्थापित करती है।

आत्माकी दिव्य संकल्पशक्ति एवं बल-सामर्थ्य भी इसी प्रकारकी विशालता और उच्चतातक उठ जाती है। मुक्त आत्माकी पूर्ण शान्त-निर्भयता, एक असीम क्रियाशील साहस जिसे कोई भी संकट, संभावनाकी कोई भी सीमा एवं प्रतिरोधी शक्तिकी कोई भी बाधा आत्माके द्वारा आरोपित कर्म या अभीप्साका अनुसरण करनेसे नहीं रोक सकती, आत्मा तथा संकल्पशक्तिकी उच्च महानता जिसे किसी भी प्रकारकी क्षुद्रता या नीचता स्पर्श नहीं कर सकती तथा जो, हर प्रकारकी अस्थायी पराजय या बाधामेंसे, एक विशेष महान् पदक्षेपके साथ आध्यात्मिक विजयकी ओर या ईश्वर-प्रदत्त कर्मकी सफलताकी ओर अग्रसर होती है, एक ऐसी आत्मा जो न तो कभी विषादमें ग्रस्त होती है और न कभी सत्तामें कार्य करने-वाली शक्तिके प्रति श्रद्धा-विश्वाससे विचलित ही होती है,—ये सब इस क्षात्र वृत्तिकी पूर्णताके चिह्न हैं। इस पूर्णतामें एक और विशाल दिव्यता भी आ जुड़ती है, वह है आत्माकी पारस्परिक आदान-प्रदानकी शक्ति, करणीय कर्ममें अपनी सत्ता एवं शक्तिका तथा अपनी समस्त प्रतिभा एवं संपदाका मुक्तहस्त व्यय जो उत्पादन, सृजन, कार्य-साधन, उपार्जन, लाभ और उपयोगी प्रतिफलके लिये जी खोलकर किया जाता है, एक ऐसा कौशल जो नियमका पालन करता है, दूसरोंके साथ अपने संबंधको अनुकूल बना लेता है तथा आदर्शमानको बनाये रखता है, समस्त भूतोंसे अपने अन्दर ग्राह्य वस्तुका महान् आहरण करना और सभीको अपनी सत्ता एवं शक्तिका मुक्त प्रदान करना, एक दिव्य विनिमय, जीवनके पारस्परिक आनन्दका विशाल उपभोग। अन्तमें इस पूर्णतामें एक और दिव्यता भी आ मिलती है, वह है आत्माकी सेवा-शक्ति, एक सार्वजनीन प्रेम जो प्रतिफलकी माँग किये बिना अपनेको लुटा देता है, एक आलिंगन जो मनुष्यमें स्थित भगवान्के शरीरको अपने प्रेम-पाशमें समेट लेता है और उसकी सेवा एवं सहायताके लिये कार्य करता है, एक ऐसा आत्मोत्सर्ग जो परम प्रभुके जुएको सहनेके लिये और अपने जीवनको उसकी निष्काम-सेवा तथा, उसके निर्देशानुसार, उसके सब प्राणियोंकी माँग और आवश्यकताकी निष्काम पूर्तिका साधन बनानेके लिये तैयार रहता है, अपनी सत्ताके प्रभुके प्रति तथा इस जगत्में उसके कर्मके प्रति अपनी संपूर्ण सत्ताका आत्म-समर्पण। ये सब चीजें संयुक्त हो जाती हैं, एक-दूसरीकी सहायता करती हैं तथा एक-दूसरीमें पैठकर एक हो जाती हैं। इनकी पूर्ण एवं चरम परिणति उन सर्वाधिक महान् आत्माओंमें साधित होती है जो पूर्णता प्राप्त करनेमें अत्यंत सक्षम होती हैं; पर इस चतुर्विध आत्मशक्तिकी एक प्रकारकी विशाल अभि-

व्यक्तिको उपलब्ध करनेके लिये पूर्णयोगके सभी साधकोंको यत्न करना चाहिये और वे सभी इसे प्राप्त भी कर सकते हैं।

ये सब तो चिह्नमात्र हैं, पर इनके पीछे वह अन्तरात्मा विद्यमान है जो प्रकृतिकी पूर्णतामें अपने-आपको इस प्रकार प्रकट करती है। यह अन्तरात्मा मुक्त मनुष्यके स्वतंत्र आत्माका ही प्राकट्य है। अनन्त होनेके कारण उस आत्माका अपना कोई विशेष स्वरूप नहीं है, पर वह सब प्रकारके-रूपों एवं व्यक्तित्वोंकी लीलाका धारण-भरण करता है, एक प्रकारके अनन्त, एक किन्तु फिर भी बहुगुणित व्यक्तित्वको आश्रय देता है, **निर्गुणो गुणी,** अपनी अभिव्यक्तिमें अनन्त गुणों एवं व्यक्तित्वोंको धारण करनेमें समर्थ है, **अनन्तगुण** है। जिस शक्तिका वह प्रयोग करता है वह एक परमोच्च एवं विश्वव्यापी, तथा दिव्य एवं असीम शक्ति है जो व्यक्तिके अन्दर अपने-आपको उँडेलती है और दिव्य उद्देश्यके लिये स्वतंत्रतापूर्वक उसके कार्यका निर्धारण करती है।

सोलहवाँ अध्याय

भागवती शक्ति

योगके इस भागमें हमें जिस अगली बातको ध्यानपूर्वक समझनेकी आवश्यकता है वह यह है कि आत्म-सिद्धियोगमें मनुष्यकी प्रगतिके साथ-साथ पुरुष और प्रकृतिका जो संवंध प्रकट होता है वह क्या है। जिस शक्तिको हम प्रकृति कहते हैं वह, हमारी सत्ताके आध्यात्मिक सत्यमें, सत्ता, चेतना और संकल्पकी शक्ति है अतएव आत्मा, अन्तरात्मा या पुरुषके आत्म-प्राकट्य एवं आत्मसर्जनकी शक्ति है। परन्तु हमारे अज्ञानगत साधारण मनको तथा उसके वस्तुओं-विषयक अनुभवको प्रकृतिकी शक्ति इससे भिन्न रूपमें दिखायी देती है। जव हम अपनेसे बाहर इसकी विश्वगत क्रियापर दृष्टिपात करते हैं, तो पहले-पहल हम इसे विश्वमें विद्यमान एक ऐसी यांत्रिक शक्तिके रूपमें देखते हैं जो जड़तत्वपर या स्वरचित जड़ात्मक रूपोंके अन्दर क्रिया करती है। जड़तत्वमें यह प्राणकी शक्तियों और प्रक्रियाओंको और प्राणमय भौतिक तत्वमें मनकी शक्तियों एवं प्रक्रियाओंको विकसित करती है। अपनी सभी क्रियाओंमें यह निश्चित नियमोंके द्वारा कार्य करती है और प्रत्येक प्रकारकी सृष्ट वस्तुमें शक्तिके विभिन्न गुणों तथा प्रक्रियाके विभिन्न नियमोंको प्रकट करती है जो किसी जाति या उपजातिको उसका अपना विशेष स्वरूप प्रदान करते हैं और फिर प्रत्येक व्यष्टि-सत्तामें यह उसकी जातिके नियमको तोड़े विना कुछ-एक छोटी-छोटी, पर अत्यत महत्वपूर्ण विशेषताओं एवं विभिन्नताओंका विकास करती है। प्रकृतिके इस बाह्य यांत्रिक रूपने ही आधुनिक वैज्ञानिक मनका सारे-का-सारा ध्यान आकृष्ट कर रखा है और विश्वप्रकृति-विषयक उसके संपूर्ण दृष्टिकोणका निर्माण भी इसीने किया है, यहाँतक कि भौतिक विज्ञान अभीतक प्राणके सभी दृग्विषयोंकी व्याख्या जड़तत्वके नियमोंद्वारा तथा मनके सभी दृग्विषयोंकी व्याख्या सप्राण भौतिक तत्वके नियमके द्वारा करनेकी आशा रखता है और इसके लिये प्रयास भी करता है, यद्यपि इसमें उसे वहुत ही कम मात्नामें सफलता प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोणमें अन्तरात्मा या आत्माका कोई स्थान नहीं और प्रकृतिको आत्माकी शक्ति नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसके अनुसार हमारी संपूर्ण सत्ता यांत्रिक

एवं भौतिक है तथा एक अल्पजीवी चेतनाके जीवविज्ञाणीय बाह्य व्यापारोंकी सीमामें आबद्ध है और क्योंकि मनुष्य जड़प्राकृतिक शक्तिका रचा हुआ प्राणी है तथा उसीका एक यंत्र है, योगमूलक आध्यात्मिक आत्म-विकास एक भ्रम एवं मायामात्र या फिर मनकी एक असामान्य अवस्था या आत्म-सम्मोहनमात्र हो सकता है। कुछ भी हो, उसका जो यह दावा है कि हमारी सत्ताके सनातन सत्यकी खोज करना और मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक प्रकृतिके सीमित सत्यसे ऊपर उठकर हमारी आध्यात्मिक प्रकृतिके पूर्ण सत्यको प्राप्त करना ही उसका स्वरूप है, वह सत्य नहीं हो सकता।

परन्तु जब हम अपने व्यक्तित्वको एक ओर छोड़कर केवल बाह्य यांत्रिक प्रकृतिपर ही नहीं, बल्कि मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणीके आन्तर आत्मपरक अनुभवपर भी दृष्टिपात करते हैं तो हमारी प्रकृति हमें एक सर्वथा भिन्न रूपमें दिखायी देती है। बौद्धिक रूपसे हम अपनी आभ्यन्तरिक सत्ताके विषयमें भी एक कोरे यांत्रिक दृष्टिकोणको ठीक मान सकते हैं, पर अपने कार्य-व्यवहारमें हम उसके अनुसार नहीं चल सकते, न उसे अपने आत्मानुभवके प्रति सर्वथा वास्तविक ही बना सकते हैं। कारण, हम एक ऐसी 'मैं'से सचेतन हैं जो हमारी प्रकृतिके साथ एकाकार नहीं प्रतीत होती, बल्कि इससे पीछे हटकर स्थित होने तथा इसका अनासक्त निरीक्षण, समालोचन एवं सर्जनशील उपयोग करनेमें समर्थ दिखायी देती है, साथ ही हम एक ऐसी इच्छा-शक्तिसे भी सचेतन हैं जिसे हम स्वभाववश एक स्वतंत्र इच्छा समझते हैं; और चाहे यह एक भ्रम ही हो फिर भी व्यवहारमें हम इस प्रकार कार्य करनेको विवश होते हैं मानो हम ऐसे उत्तरदायी मनोमय प्राणी हों जो अपने कार्योंका स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव कर सकते हैं और अपनी प्रकृतिका उपयोग या दुरुपयोग करनेमें तथा इसे उच्चतर या निम्नतर उद्देश्योंकी ओर मोड़नेमें समर्थ हैं। यहाँतक दीख पड़ता है कि हम अपने चारों ओरकी प्रकृति तथा अपनी वर्तमान प्रकृति दोनोंके साथ संघर्ष कर रहे हैं और एक ऐसे जगत्पर, जो अपने-आपको हमपर थोप करके हमारा स्वामी बन जाता है, प्रभुत्व पानेके लिये और साथ ही आज हम जो कुछ हैं उससे अधिक कुछ बननेके लिये प्रयास कर रहे हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि अपनी सत्तापर हमारा प्रभुत्व यदि है भी सही तो इसके केवल एक छोटेसे भागपर ही है, हमारी शेष सारी सत्ता अवचेतन या प्रच्छन्न है तथा हमारे नियंत्रणके परे है, हमारी इच्छा-शक्ति हमारे कुछ थोड़ेसे चुने हुए कार्योंमें ही अपनी क्रिया करती है, हमारे अधिकतर कार्य तो यांत्रिक प्रणाली और अभ्यासकी एक प्रक्रिया-रूप ही

होते हैं और जरा-सी भी उन्नति या आत्म-सुधार करनेके लिये हमें अपने साथ तथा चारों ओरकी परिस्थितियोंके साथ निरंतर संघर्ष करना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अन्दर एक द्वैतात्मक सत्ता है, पुरुष और प्रकृति; इन दोनोंमें कुछ सामंजस्य दिखायी देता है, पर उतना ही वैषम्य भी देखनेमें आता है, प्रकृति पुरुषपर अपना यांत्रिक नियंत्रण थोपती है, उधर पुरुष प्रकृतिको परिवर्तित और वशीभूत करनेका यत्न करता है। अब प्रश्न यह है कि इस द्वैतका मूल स्वरूप एवं अंतिम परिणाम क्या है।

सांख्य दर्शनका समाधान यह है कि हमारी वर्तमान सत्तापर दो तत्वोंका शासन है। प्रकृति पुरुषके संपर्कके बिना जड़ एवं निष्क्रिय रहती है, उसके साथ संयोग होनेपर ही कार्य करती है और तब भी अपने करणों एवं गुणोंकी बँधी-बँधायी यांत्रिक प्रक्रियाके द्वारा ही कार्य करती है; पुरुष प्रकृतिसे पृथक्ताकी अवस्थामें निष्क्रिय और मुक्त है, किन्तु उसके साथ संपर्क होने तथा उसके कार्योंको अनुमति देनेके कारण इस यांत्रिक प्रक्रियाके अधीन हो जाता है, उसके अहं-बुद्धि-रूपी घेरेमें निवास करता है और अपनी अनुमतिको वापिस लेकर तथा अपने निजी मूल तत्वकी ओर लौटकर ही स्वतंत्र हो सकता है। एक और समाधान, जो हमारे अनुभवके एक विशेष अंगसे मेल खाता है, यह है कि हमारे अन्दर दो प्रकारकी सत्ताएँ हैं, एक तो है पाशव एवं स्थूल-भौतिक, या अधिक व्यापक शब्दोंमें कहें तो, निम्नतर एवं प्रकृतिबद्ध, दूसरी है अन्तरात्मा या आध्यात्मिक सत्ता जो मनके कारण जड़-भौतिक सत्ता या जगत्-प्रकृतिके जालमें फँसी हुई है, और उसे मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है यदि वह उस जालसे छूट जाय, अर्थात् यदि अन्तरात्मा अपने निज स्तरोंमें किंवा 'पुरुष' या आत्मा अपनी शुद्ध सत्तामें लौट जाय। अतएव, अंतरात्माकी पूर्णता प्रकृतिके परे ही प्राप्त होगी, प्रकृतिमें कदापि नहीं।

परन्तु अपनी वर्तमान मानसिक चेतनासे अधिक उच्च चेतनामें पहुँचनेपर हम देखते हैं कि यह द्वैत केवल एक बाह्य प्रतीयमान तथ्य है। सत्ता-विषयक उच्चतम एवं वास्तविक सत्य तो एकमेव आत्मा, परम पुरुष किंवा पुरुषोत्तम ही है, और जिसे हम विश्वके रूपमें अनुभव करते हैं उस सबमें इस परम आत्माकी सत्ताकी शक्ति ही अपने-आपको व्यक्त करती है। यह विश्व-प्रकृति कोई निर्जीव, जड़ या अचेतन यंत्र नहीं है, बल्कि अपनी सब क्रियाओंमें विश्वात्माके द्वारा अनुप्राणित होती है। इसकी प्रक्रियाकी यांत्रिकता एक बाह्य प्रतीतिमात्र है, वास्तविक सत्य तो एक परम आत्मा ही है जो विश्वप्रकृतिके अन्दर विद्यमान सभी वस्तुओंमें

सत्ताकी अपनी शक्तिके द्वारा अपनी ही सत्ताकी सृष्टि या अभिव्यक्ति कर रहा है। हमारे अन्दर विद्यमान पुरुष और प्रकृति भी एकमेव सत्ताका द्विविध रूपमात्र हैं। विश्व-शक्ति हमारे अन्दर कार्य करती है, पर अंतरात्मा अहं-बुद्धिके द्वारा अपनी सत्ताको सीमित कर लेती है, प्रकृतिकी क्रियाओंके आंशिक एवं विभक्त अनुभवमें निवास करती है, अपनी आत्म-अभिव्यक्तिके लिये उसकी शक्तिकी केवल एक थोड़ी-सी मात्रा एवं एक निश्चित क्रियाका ही उपयोग करती है। इस शक्तिका प्रयोग करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक वह इसके द्वारा शासित एवं प्रयुक्त होती दिखायी देती है, क्योंकि वह अहं-बुद्धिके साथ, जो प्रकृतिके करणोंका ही एक अंग है, अपनेको तदाकार कर लेती है और अहम्मय अनुभवमें निवास करती है। वास्तवमें अहं, प्रकृति-रूपी यंत्रका ही एक अंग है और अतएव उसीके द्वारा चालित होता है और अहंकी इच्छा स्वतंत्र इच्छा नहीं है और न यह ऐसी हो ही सकती है। मुक्ति, प्रभुता और पूर्णता प्राप्त करनेके लिये हमें पीछेकी ओर हटकर अपने अन्तःस्थित वास्तविक पुरुष एवं अन्तरात्माको प्राप्त करना होगा और उसके द्वारा अपनी निजकी तथा विश्वकी प्रकृतिके साथ अपने सच्चे संबंधोंको भी आयत्त एवं स्थापित करना होगा।

हमारी क्रियाशील सत्ताकी दृष्टिसे इस तथ्यका रूप यह हुआ कि हमें अपने अहम्मय, वैयक्तिक, पृथक् एवं व्यष्टिगत संकल्प एवं शक्तिके स्थानपर विराट् और दिव्य संकल्प एवं शक्तिको प्रतिष्ठित करना होगा। यह दिव्य संकल्प-शक्ति विराट् विश्व-कर्मके साथ सामंजस्यको दृष्टिमें रखते हुए हमारे कर्मका निर्धारण करती है और पुरुषोत्तमके मूल एवं अपरोक्ष संकल्प और सर्वपरिचालक शक्तिके रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है। हम अपने अन्दरके सीमित, अज्ञ और अपूर्ण व्यक्तिगत संकल्प एवं शक्तिकी निम्न क्रियाके स्थानपर भागवत शक्तिकी क्रियाको प्रतिष्ठित करते हैं। वैश्व शक्तिकी ओर अपने-आपको खोलना हमारे लिये सदा ही संभव है, क्योंकि वह हमारे चारों ओर विद्यमान है और हमारे अन्दर सदैव प्रवाहित हो रही है, वही हमारे समस्त आंतर एवं वाह्य कर्मको धारण करती है तथा उसके लिये हमें आवश्यक सामर्थ्य देती है और सच पूछो तो किसी पृथक्तः वैयक्तिक अर्थमें हमारे पास अपनी निजी शक्ति कोई नहीं है, वल्कि हमारी शक्ति एकमेव शक्तिका एक व्यक्तिगत रूपमात्र है। दूसरी ओर, यह वैश्व शक्ति हमारे अन्दर विद्यमान है, घनीभूत रूपमें उपस्थित है, क्योंकि उसकी संपूर्ण शक्ति विश्वकी भाँति प्रत्येक व्यक्तिमें भी विद्यमान

है, और ऐसे साधन एवं प्रक्रियाएँ भी हैं जिनके द्वारा हम उसकी महत्तर एवं अनन्तत:-कार्यक्षम शक्तिको जागरित कर सकते तथा उसकी विशालतर क्रियाओंकी ओर उसे उन्मुक्त कर सकते हैं।

वैश्व शक्तिकी सत्ता और उपस्थितिको हम उसके बल-सामर्थ्यके नाना रूपोंमें जान सकते हैं। इस समय हम शक्तिके केवल उसी रूपसे सचेतन हैं जो हमारे अनेक-विध कार्योंको धारण करनेवाले हमारे स्थूल मन, स्नायविक सत्ता और भौतिक शरीरमें गठित हुआ है। पर यदि हम योगके द्वारा अपनी सत्ताके गुप्त, गहन एवं अन्त:प्रच्छन्न भागोंको यत्किंचित् मुक्त कर शक्तिके इस प्राथमिक रूपसे एक बार परे पहुँच सकें, तो हम एक महत्तर प्राणिक शक्तिको जान जायँगे जो शरीरको धारण करती है तथा उसमें ओतप्रोत है और जो शरीर तथा प्राणकी समस्त क्रियाओंके लिये आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है, क्योंकि शारीरिक बल-सामर्थ्य इस शक्तिका ही एक परिवर्तित रूप है। साथ ही, यह प्राणशक्ति नीचेसे हमारी समस्त मानसिक क्रियाओंको भी आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करके धारण करती है। यह शक्ति हम अपने अन्दर भी अनुभव करते हैं, पर इसे हम अपने चारों ओर और ऊपर भी इस रूपमें अनुभव कर सकते हैं कि यह हमारे अन्दर स्थित इसी शक्तिके साथ एकीभूत है, और इस प्रकार अनुभव करके हम अपने सामान्य करणोंकी क्षमता बढ़ानेके लिये अपने अन्दर एवं निम्न स्तरोंमें इसका आहरण कर सकते हैं या फिर अपने अन्दर प्रवाहित होनेके लिये इसका आवाहन करके इसे प्राप्त कर सकते हैं। यह शक्तिका एक असीम सागर है और इसका जितना भी अंश हम अपनी सत्ताके अन्दर धारण कर सकते हैं उतनेका उतना यह हमारे अन्दर उँडेल देगी। इस प्राणिक शक्तिको हम प्राण, शरीर या मनके किन्हीं भी कार्योंके लिये उससे कहीं महान् और प्रभावशाली क्षमताके साथ प्रयोगमें ला सकते हैं जो शारीरिक सूत्रके द्वारा बद्ध एवं सीमित हमारे वर्तमान क्रियाकलापों हमें हस्तगत है। इस प्राणशक्तिका उपयोग हमें उस हदतक इस सीमाबन्धनसे मुक्त कर देता है जिस हदतक हम इसे देहबद्ध शक्तिके स्थानपर प्रयोगमें लानेमें समर्थ होते हैं। प्राणका संचालन करनेके लिये इसका इस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है कि वह शरीरकी किसी अवस्था या क्रियाकी अधिक शक्तिशाली रूपसे व्यवस्था कर सके या उसमें सुधार कर सके, रोगको हटा सके या थकानसे मुक्त कर सके, साथ ही अपरिमित मात्रामें मानसिक श्रम करने एवं संकल्प या ज्ञानकी लीलाको उन्मुक्त करनेके लिये भी इस प्राणशक्तिका उपयोग किया जा सकता है। प्राणायामके

अभ्यास प्राणिक शक्तिको मुक्त तथा नियंत्रित करनेके लिये सुपरिचित यांत्रिक साधन हैं। वे आन्तरात्मिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको भी, जो साधारणत: अपनी क्रियाका सुअवसर प्राप्त करनेके लिये प्राण शक्तिपर निर्भर करती हैं, समुन्नत तथा मुक्त कर देते हैं। परन्तु यह कार्य मानसिक संकल्प एवं अभ्यासके द्वारा या फिर भागवत शक्तिके उच्चतर आध्यात्मिक प्रभावकी ओर अपने-आपको अधिकाधिक खोल करके भी साधित किया जा सकता है। इस प्राणशक्तिको केवल अपने प्रति ही नहीं, बल्कि दूसरे लोगोंके प्रति भी किंवा पदार्थों या घटनाओंके प्रति भी, अपनी संकल्पशक्तिद्वारा निर्दिष्ट किन्हीं भी उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये, प्रभावकारी रूपसे प्रेरित किया जा सकता है। इसका प्रभाव अपरिमित है, अपने-आपमें तो वह असीम ही है, किन्तु उसपर आध्यात्मिक या किसी अन्य प्रकारका जो संकल्प प्रयुक्त किया जाता है उसकी शक्ति, पवित्रता और सार्वभौमतामें विद्यमान त्रुटिके द्वारा ही वह सीमित होता है; पर कितना ही महान् एवं शक्तिशाली होनेपर भी वह शक्तिकी एक निम्नतर रूप-रचना है, मन और शरीरके बीचकी एक कड़ी है, एक करणात्मक शक्ति है। उसमें एक चेतना, किंवा आत्माकी एक उपस्थिति होती है जिसके प्रति हम सचेतन होते हैं, पर वह कर्म-संबंधी प्रेरणाके भीतर आवृत्त होती है, उसमें ग्रस्त तथा पूर्णत: निमग्न रहती है। विराट् प्राण-शक्तिकी इस क्रियाके ऊपर हम अपने कार्योंका समस्त भार नहीं छोड़ सकते; या तो हमें इसकी सहायताओंका उपयोग अपनी आलोकित व्यक्तिगत इच्छा-शक्तिके द्वारा करना होगा या फिर मार्गदर्शनके लिये इससे ऊँची किसी सत्ताका आवाहन करना होगा; क्योंकि अकेली अपने-आप यह एक महत्तर बल-सामर्थ्यके साथ तो कार्य अवश्य करेगी, किन्तु फिर भी करेगी हमारी अपूर्ण प्रकृतिके अनुसार और मुख्यतया हमारी अन्तःस्थ प्राणशक्तिकी प्रेरणा और आदेश-निर्देशके द्वारा, उच्चतम अध्यात्म-सत्ताके विधानके अनुसार नहीं।

जिस साधारण शक्तिके द्वारा हम प्राण-शक्तिका नियमन करते हैं वह देहाधिष्ठित मनकी शक्ति है। परन्तु जब हम स्थूल मनसे सर्वथा ऊपर पहुँच जाते हैं, तो हम प्राणशक्तिके ऊपर एक शुद्ध मानसिक शक्तिके प्रति भी सचेतन हो सकते हैं जो कि भागवत शक्तिका एक अपेक्षाकृत उच्च रूपायण है। वहां हम उस विराट् मानसिक चेतनाका अनुभव प्राप्त कर लेते हैं जो हमारे अन्दर, चारों ओर और ऊपर अर्थात् हमारी साधारण मानसिक अवस्थाके स्तरके ऊपर, अवस्थित इस मानसिक शक्तिके साथ घनिष्ठतया संबद्ध है और जो हमारे संकल्प एवं ज्ञानको तथा हमारे आवेगों

और भावावेशोंमें अवस्थित चैत्य तत्त्वको उनका समस्त सार और उनके सभी रूप प्रदान करती है। इस मानसिक शक्तिका प्रभाव प्राणशक्तिपर डाला जा सकता है और यह हमारे विचारोंका, हमारे ज्ञान तथा अधिक प्रकाशयुक्त संकल्पका प्रभाव, रंग, रूप, स्वभाव और लक्ष्य इसपर बलात् आरोपित कर सकती है और इस प्रकार हमारे जीवन तथा प्राणमय पुरुषको हमारी सत्ताकी उच्चतर शक्तियों तथा हमारे आदर्शों एवं आध्यात्मिक अभीप्साओंके साथ अधिक सफलतापूर्वक समस्वरित कर सकती है। हमारी साधारण अवस्थामें ये दोनों अर्थात् मानसिक और प्राणिक सत्ता तथा शक्तियाँ एक-दूसरीके साथ अत्यधिक मिली हुई हैं तथा एक-दूसरीके अन्दर ओतप्रोत होकर एक हो जाती हैं, और हम इनमें स्पष्टतया भेद नहीं कर पाते, न एकका दूसरीपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करके निम्नतर तत्वको अधिक उच्च एवं बोधपूर्ण तत्त्वके द्वारा सफलतापूर्वक नियंत्रित ही कर सकते हैं। पर जब हम स्थूल मनके ऊपरकी भूमिकामें स्थित हो जाते हैं, तब हम शक्तिके दो रूपों एवं अपनी सत्ताके दो स्तरोंको स्पष्टतया पृथक् कर सकते हैं और उनकी क्रियाओंको भी एक-दूसरीसे पृथग् करके एक स्पष्टतर एवं अधिक प्रभावशाली आत्मज्ञान तथा एक आलोकित एवं शुद्धतर संकल्पशक्तिके साथ कार्य कर सकते हैं। तथापि जबतक हम मनको अपनी प्रधान मार्गदर्शक एवं नियंत्रक शक्ति बनाकर उसके द्वारा कार्य करते हैं तबतक निम्न शक्तियों-पर हमारा नियंत्रण पूर्ण, सहज-स्वाभाविक और प्रभुत्वशाली नहीं होता। (स्थूल मनके ऊपर उठकर) हम देखते हैं कि मानसिक शक्ति स्वयं एक गौण शक्ति है, चिन्मय आत्माकी एक अपेक्षाकृत निम्न एवं परिसीमक शक्ति है जो पृथक्कृत और संयुक्त प्रेक्षणोंके द्वारा तथा उन त्रुटियुक्त और अपूर्ण अर्द्ध-प्रकाशोंके द्वारा ही कार्य करती है जिन्हें हम पूर्ण और पर्याप्त प्रकाश समझते हैं, साथ ही उसके कार्यमें विचार एवं ज्ञान और कार्यक्षम संकल्पशक्तिके बीच विरोध भी पाया जाता है। तब हमें शीघ्र ही परम आत्मा और उसकी पराशक्तिकी एक कहीं उच्चतर भूमिका (शक्ति) का ज्ञान हो जाता है। वह भूमिका (या शक्ति) प्रच्छन्न है या ऊपर अव-स्थित है, मनके लिये अतिचेतन है या आंशिक रूपसे उसके द्वारा कार्य करती है; ये सब (मन, प्राण आदि) उसकी निम्नतर एवं गौण शक्तियाँ हैं।

हमारी सत्ताके शेष स्तरोंकी भाँति मानसिक स्तरपर भी पुरुष और प्रकृति एक-दूसरेके साथ प्रगाढ़ रूपसे संयुक्त हैं तथा परस्पर अत्यधिक उलझे हुए हैं और हम अपनी अन्तरात्मा और प्रकृतिमें स्पष्ट रूपमें भेद नहीं कर सकते। परन्तु मनके अधिक शुद्ध तत्वमें हम इस द्विविध स्वरको अधिक

सुगमतासे पहचान सकते हैं। हम देख ही चुके हैं कि मनोमय पुरुष अपने सहजात मनस्तत्वमें अपने-आपको अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंसे स्वभावतः ही पृथक् कर सकता है और ऐसा कर लेनेपर हमारी सत्ता चेतना और शक्ति-रूपी दो भागोंमें विभाजित हो जाती है। उनमेंसे चेतना तो निरीक्षण करती और अपनी संकल्पशक्तिको सुरक्षित रख सकती है तथा शक्ति चेतनाके एक ऐसे सारतत्त्वसे पूर्ण होती है जो ज्ञान, संकल्प और वेदनके रूप ग्रहण करता है। प्रकृतिकी क्रियाओंसे इस प्रकारका पार्थक्य अपनी पराकाष्ठाको पहुँचनेपर अन्तरात्माको एक विशेष स्वतंत्रता प्रदान करता है जिससे वह अपनी मानसिक प्रकृतिके द्वारा विवश किये जानेकी अवस्थासे मुक्त हो जाती है। कारण, साधारणतः हम अपनी तथा विश्वकी क्रियाशील शक्तिकी धाराके द्वारा प्रेरित होते हैं तथा उसीमें बहा ले जाये जाते हैं। कुछ अंशमें तो हम उसकी लहरोंमें डूबते-उतराते रहते हैं और कुछ अंशमें अपने अस्तित्वको धारण करनेमें समर्थ होते हैं तथा एकाग्र विचारके द्वारा एवं मानसिक-संकल्प-रूपी मांसपेशीके प्रयत्नके द्वारा अपना मार्गदर्शन या कम-से-कम संचालन करते प्रतीत होते हैं। परन्तु अब हमारी सत्तामें एक ऐसा भाग प्रकट हो जाता है जो आत्माके शुद्ध सारतत्वके निकटतम होता है तथा उक्त शक्ति-प्रवाहसे मुक्त होता है। वह अपनी तात्कालिक गति और पथधाराका शान्तिपूर्वक निरीक्षण कर सकता है और कुछ हदतक उसका निर्णय भी कर सकता है तथा और भी बड़ी हदतक अपनी अंतिम दिशा भी निर्धारित कर सकता है। अन्ततोगत्वा पुरुष प्रकृतिपर उससे आधा तटस्थ होकर, उसके पीछे या ऊपर स्थित होकर शासक पुरुष या उपस्थिति-**अध्यक्ष** के रूपमें, आत्माके अन्दर स्वभावतः विद्यमान अनुमति एवं नियमनकी शक्तिके द्वारा क्रिया कर सकता है।

इस सापेक्ष स्वतंत्रताका हम क्या प्रयोग करेंगे यह बात हमारी अभीप्सापर तथा अपने उच्चतम आत्मा, ईश्वर एवं प्रकृतिके साथ हम जो संबंध स्थापित करना चाहते हैं उसके विषयमें हमारे विचारपर निर्भर करती है। स्वयं मनोमय स्तरपर भी पुरुष इसका प्रयोग अनवरत आत्म-निरीक्षण, आत्म-विकास तथा आत्म-संशोधनके लिये कर सकता है, प्रकृतिके नये रूपायणोंको अनुमति देने या त्यागनेके लिये अथवा उन्हें परिवर्तित या प्रकाशित करनेके लिये और शान्त एवं निष्काम कर्मकी, अपनी शक्तिके एक उच्च एवं विशुद्ध सात्त्विक छन्द और संतुलनकी तथा सत्त्वगुणके चरम उत्कर्ष एवं सिद्धिको प्राप्त किये हुए व्यक्तित्वकी स्थापना करनेके लिये भी वह इसे प्रयोगमें ला सकता है। इसका अर्थ इतना ही हो सकता है कि हमारी

वर्तमान बुद्धि और नैतिक एवं चैत्य सत्ता उच्च कोटिकी मानसभावापन्न पूर्णता प्राप्त कर सकती है या फिर हमारे अंदर अवस्थित महत्तर आत्माको जानता हुआ, पुरुष अपनी आत्म-सचेतन सत्ताको तथा अपनी प्रकृतिके कार्यको निर्व्यक्तिक, विश्वमय और आध्यात्मिक बना सकता है और अपनी सत्ताकी अध्यात्मभावित मानसिक शक्तिकी विशाल शान्ति या विराट् पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वह यह भी कर सकता है कि प्रकृतिसे पूर्णतया पीछे हटकर अपने अन्दर स्थित हो जाय और अनुमति देनेसे इन्कार करके मनकी सारी-की-सारी सामान्य क्रियाको स्वयमेव समाप्त होने तथा दौड़-धूप करके रुक जाने दे और मनको अपनी अभ्यस्त क्रियाका बचा हुआ वेग खत्म करके शान्त पड़ जाने दे। अथवा मनोमय शक्तिकी क्रियासे इन्कार करके तथा उसे शान्त रहनेकी अनवरत आज्ञा देकर भी वह उसपर इस शान्ति या निश्चल-नीरवताको वलपूर्वक थोप सकता है। अन्तरात्मा इस शम एवं मानसिक निश्चल-नीरवताको सुदृढ़ करके आत्माकी किसी अनिर्वचनीय परम शान्तिमें एवं प्रकृतिकी क्रियाओंके विशाल विलोपकी अवस्थामें पहुँच सकती है। परन्तु मनकी इस निश्चल-नीरवताको तथा निम्न प्रकृतिके अभ्यासोंका निरोध करनेकी सामर्थ्यको प्रकृतिके एक उच्चतर रूपायणकी, अपने अस्तित्व-की अवस्था और शक्तिके एक उच्चतर स्तरकी, उपलब्धिका प्रथम सोपान भी बनाया जा सकता है और इस प्रकार आरोहण एवं रूपान्तरके द्वारा आत्माकी अतिमानसिक शक्ति प्राप्त की जा सकती है। यह कार्य सामान्य मनकी शान्तिकी चरम अवस्थाका आश्रय लिये बिना समस्त मानसिक शक्तियों और क्रियाओंका उनकी महत्तर स्वानुरूप अतिमानसिक शक्तियों और क्रियाओं-में सुस्थिर और क्रमिक रूपान्तर करके भी किया जा सकता है, यद्यपि इसमें अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई होती है। कारण, मनकी प्रत्येक वस्तु अति-मानसकी किसी वस्तुसे ही उत्पन्न होती है तथा मनके अन्दर उसका एक सीमित, निम्नतर, अन्धान्वेषी, आंशिक या विकृत रूप होती है। परन्तु इन क्रियाओंमेंसे कोई भी हमारे अंतःस्थ मनोमय पुरुषकी अकेली व्यक्तिगत शक्तिके द्वारा, बिना और किसीकी सहायताके, सफलता-पूर्वक संपन्न नहीं की जा सकती, बल्कि उसे पूरा करनेके लिये भागवत सत्ता, ईश्वर एवं पुरुषोत्तम-के साहाय्य, हस्तक्षेप और मार्गदर्शनकी आवश्यकता पड़ती ही है। क्योंकि अतिमानस भगवान्‌का मन है और अतिमानसिक स्तरपर ही व्यक्ति पर-मोच्च एवं विश्वगत पुरुषके साथ तथा परमोच्च एवं विश्वगत पराप्रकृतिके साथ अपना समुचित, समग्र, प्रकाशमय और सर्वांगपूर्ण संबन्ध प्राप्त करता है।

जैसे-जैसे मनकी पवित्रता तथा शान्त रहनेकी शक्ति बढ़ती जाती हैं या

जैसे-जैसे वह अपनी सीमित क्रियामें मग्न रहनेकी अवस्थासे मुक्त होता जाता है वैसे-वैसे उस परम आत्मा अर्थात् परात्पर और विराट् अध्यात्मसत्ताकी चिन्मय उपस्थितिका अनुभव होता जाता है और वह उसे प्रतिबिंवित करने एवं अपने भीतर लानेमें या उसके अन्दर प्रवेश करनेमें समर्थ होता जाता है, साथ ही वह आत्माकी उन भूमिकाओं और शक्तियोंसे भी सचेतन होता जाता है जो उसके उच्चतम स्तरोंसे भी ऊँची हैं। उसे सच्चिन्मय अनन्तका, असीम चेतनाकी समस्त शक्ति और बल-सामर्थ्यके अनन्त सागरका एवं सत्ताके स्वयं-प्रेरित आनन्दके अनन्त सागरका साक्षात्कार हो जाता है। वह इन चीजोंमेंसे किसी एक या दूसरीसे ही सचेतन हो सकता है, क्योंकि जो चीजें उच्चतर अनुभवमें एकमेवकी अविभाज्य शक्तियाँ हैं उन्हें मन पृथक् करके ऐकांतिक रूपसे विभिन्न मूल तत्त्वोंकी भांति अनुभव कर सकता है, अथवा वह उन्हें एक ऐसे त्रिकके रूपमें या एक-दूसरेके अन्दर तीनोंके एक ऐसे विलयके रूपमें अनुभव कर सकता है जो उनके एकत्वको प्रकाशित या प्राप्त करता है। उसे इस एकमेव अनन्तका साक्षात्कार पुरुषके रूपमें या प्रकृतिके रूपमें प्राप्त हो सकता है। पुरुष-पक्षमें यह अपने-आपको परम आत्मा या अध्यात्मसत्ताके, परम सत् या एकमेवाद्वितीय सत्स्वरूप पुरुष किंवा पुरुषोत्तम भगवान्‌के रूपमें प्रकट करता है, और व्यक्तिका जीवात्मा उसकी कालातीत सत्तामें या उसकी विश्वमयतामें उसके साथ पूर्ण एकता प्राप्त कर सकता है, अथवा सामीप्य या अन्तर्वासका या पृथक्ताकी किसी खाईसे रहित भेदका रसास्वादन कर सकता है; साथ ही सक्रिय अनुभवशील प्रकृतिमें सत्तासंबंधी एकत्व तथा संबंधगत आनन्ददायक भेद—दोनोंका एक साथ और अविच्छेद्य रूपसे उपभोग भी कर सकता है। प्रकृति-पक्षमें आत्माकी शक्ति और आनन्द इस अनन्तको विश्वके सब भूतों, व्यक्तित्वों, विचारों, रूपों और शक्तियोंमें प्रकट करनेके लिये सामनेकी ओर आ जाते हैं और तब हमें उस भगवती महाशक्ति, आद्या शक्ति किंवा परा प्रकृतिका साक्षात्कार होता है जो अपने अन्दर अनन्त सत्ताको धारण किये है तथा जगत्‌के आश्चर्योंकी सृष्टि कर रही है। मन शक्तिके इस असीम महासागरसे सचेतन हो जाता है अथवा वह जान जाता है कि उसके बहुत ऊपर शक्तिकी उपस्थिति विद्यमान है और हम जो कुछ भी हैं उस सबका तथा हम जो भी विचार, संकल्प, कर्म, वेदन एवं अनुभव करते हैं उन सबका गठन करनेके लिये वह हमारे अन्दर अपना कुछ अंश उंडेल रही है, अथवा वह जान लेता है कि वह शक्ति हमारे चारों ओर विद्यमान है और हमारा व्यक्तित्व आत्माकी शक्तिके महासागरकी एक तरंग है, या फिर वह अनुभव

कर लेता है कि हमारे अन्दर उसकी उपस्थिति विद्यमान है और उसकी एक क्रिया भी हो रही है जो हमारी प्रकृतिगत सत्ताके वर्तमान रूपपर आधारित है, पर जो इस ऊर्ध्वस्थित उद्गमसे उद्भूत होती है और हमें उच्चतर आध्यात्मिक भूमिकाकी ओर ऊपर उठा ले जा रही है। मन भी उसकी अनन्तताकी ओर उठ सकता तथा उसे स्पर्श कर सकता है अथवा समाधिकी भग्नावस्थामें अपने आपको उसके अन्दर निमज्जित कर सकता है या फिर उसकी विश्वमयतामें अपने-आपको खो दे सकता है, और तब हमारी व्यष्टिसत्ता लुप्त हो जाती है, हमारा कर्म करनेका केन्द्र तव पहलेकी तरह हमारे अन्दर नहीं रहता, बल्कि वह या तो हमारी देहगत सत्ताके बाहर कहीं होता है या फिर कहीं भी नहीं होता; हमारी मानसिक चेष्टाएँ तबसे हमारी अपनी नहीं रहतीं, बल्कि वे मन, प्राण और शरीरके इस ढाँचेके अन्दर विराट् सत्तासे आती हैं, अपने-आपको चरितार्थ करके हमारे ऊपर अपनी कोई भी छाप छोड़े बिना चली जाती हैं, और हमारे तन-मन-प्राणका यह ढाँचा भी उसकी विश्वमय बृहत्-सत्तामें एक तुच्छ घटनामात्र रह जाता है। परन्तु पूर्णयोगमें हम जो सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वह केवल यही नहीं है कि हम परा प्रकृतिके साथ उसकी उच्चतम आध्यात्मिक शक्तिमें तथा उसकी वैश्व क्रियामें एक हो जायँ, बल्कि अपनी व्यक्तिगत सत्ता और प्रकृतिमें इस शक्तिकी पूर्णताको उपलब्ध और अधिकृत करना भी उसके अन्तर्गत है। कारण, परम आत्मा पुरुष-रूपमें या प्रकृति-रूपमें, अर्थात् चिन्मय सत्ता या उसकी शक्तिके रूपमें एक ही है, और जैसे जीव पुरुष एवं आत्मारूपी सार-तत्वमें परम पुरुषके साथ एक है, वैसे ही प्रकृति-पक्षमें, पुरुष एवं आत्माकी शक्तिके रूपमें, वह महाशक्तिके साथ एक है, **परा प्रकृतिर्जीवभूता।** यह दोहरा एकत्व प्राप्त करना ही सर्वांगीण आत्मसिद्धिकी शर्त है। जीव तब परम पुरुष और प्रकृतिके एकत्वकी लीलाके लिये एक मिलनस्थल होता है।

यह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये हमें भगवती शक्तिसे सचेतन होना होगा, उसे अपनी ओर खींच लाना तथा अपने अन्दर उसका आवाहन करना होगा ताकि वह हमारे सारे आ[illegible]को अपनी सत्तासे परिपूरित कर दे तथा हमारे सारे कार्योंका भार अपने हाथमें ले ले। तब कोई ऐसा पृथक् निजी संकल्प या व्यक्तिगत शक्ति नहीं रहेगी जो हमारे कार्योंका संचालन करनेका यत्न करती हो, न हमारे अन्दर कोई ऐसी भावना रहेगी कि तुच्छ व्यक्तिगत सत्ता ही कार्य करती है, और न ही तब तीन गुणोंवाली निम्नतर शक्ति अर्थात् मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक प्रकृति हमारे कार्योंका संचालन करेगी।

भागवत शक्ति हमें अपने दिव्य प्रवाहसे भर देगी और हमारी सब आंतरिक क्रियाओं, हमारे बाह्य जीवन तथा योगके ऊपर अध्यक्षके रूपमें विराजमान रहेगी और उनकी बागडोर हाथमें ले लेगी। वह मानसिक शक्तिको, अपनी ही एक निम्नतर रचनाको, हाथमें लेकर उसे उसकी बुद्धि, संकल्प-शक्ति और चैत्य क्रियाकी उच्चतम, शुद्धतम एवं पूर्णतम शक्तियोंतक ऊपर उठा ले जायगी। वह मन, प्राण और देहकी उन यांत्रिक शक्तियोंको, जो आज हमपर शासन करती हैं, अपनी जीवंत और सचेतन शक्ति एवं उपस्थितिकी आनन्दपूर्ण अभिव्यक्तियोंमें रूपान्तरित कर देगी। मन जिन भी नानाविध आध्यात्मिक अनुभवोंको प्राप्त कर सकता है उन सबको वह हमारे अन्दर प्रकट करके एक-दूसरेके साथ सम्बद्ध कर देगी। इस प्रक्रियाके सर्वोच्च फलके रूपमें वह मानसिक स्तरोंमें अतिमानसिक ज्योति उतार लायेगी, मनके उपादानको अतिमानसके उपादानमें बदल डालेगी, समस्त निम्नतर शक्तियोंको अपनी अतिमानसिक प्रकृतिकी शक्तियोंमें रूपान्तरित कर देगी, और हमें ऊँचे उठाकर हमारी विज्ञानमय सत्तामें ले जायगी। वहाँ यह महाशक्ति अपने-आपको पुरुषोत्तमकी शक्तिके रूपमें हमारे सामने प्रकट करेगी और वस्तुतः ईश्वर ही अपनी अतिमानसिक और आध्यात्मिक शक्ति-के रूपमें अपने-आपको प्रकट करेंगे और हमारी सत्ता तथा हमारे कर्म, जीवन एवं योगके स्वामी बन जायेंगे।

सत्रहवाँ अध्याय

भागवत शक्तिकी क्रिया

भागवत शक्तिका यह स्वरूप ही है कि वह भगवान्की एक ऐसी कालातीत शक्ति है जो कालके भीतर अपने-आपको एक वैश्व शक्तिके रूपमें प्रकट करती है। यह वैश्व शक्ति विश्वका सृजन, गठन तथा धारण करती है तथा उसकी समस्त गतियों और क्रियाओंका परिचालन करती है। यह पहले-पहल हमें सत्ताके निम्नतर स्तरोंपर एक मानसिक, प्राणिक और भौतिक विश्व-शक्तिके रूपमें दिखायी देती है और हमारी समस्त मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक क्रियाएँ इसी प्रकृतिगत विश्व-शक्तिके व्यापार दीख पड़ती हैं। हमारी साधनाके लिये यह आवश्यक है कि हम इस सत्यको पूर्णतया हृदयंगम करें ताकि हम सीमाकारी अहं-दृष्टिके दवावसे मुक्त हो सकें और इन निम्नतर स्तरोंपर भी, जहाँ साधारणतः अहं पूरी शक्तिके साथ शासन करता है, अपने-आपको विश्वमय वना सकें। यह देखना कि कार्यके आरंभकर्त्ता हम नहीं हैं वल्कि वस्तुतः यह शक्ति ही हमारे तथा अन्य सवके अन्दर कार्य करती है, कर्त्ता मैं तथा दूसरे नहीं वल्कि एका प्रकृति ही है,—जो कि कर्मयोगका नियम है,—यहाँ भी यथार्थ नियम है। अहं-वुद्धि सीमा, पार्थक्य और तीव्र विभेद उत्पन्न करने तथा व्यक्तिगत रूपका अधिकतम लाभ उठानेके काममें आती है और यहाँ उसका अस्तित्व इसलिये है कि वह निम्नतर जीवनके विकासके लिये अनिवार्य है। परन्तु जव हम इसके ऊपर उच्चतर दिव्य जीवनकी ओर उठना चाहेंगे तव हमें अहंकी शक्तिकी गांठको ढीला करना और अन्तमें उससे छुटकारा पाना होगा—जैसे निम्नतर जीवनके लिये अहंका विकास अनिवार्य है वैसे ही उच्चतर जीवनके लिये अहंके उन्मूलनकी यह विपरीत गति अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। यदि हम अपने कार्योंको यूँ देखें कि ये हमारे अपने नहीं हैं वल्कि चेतन सत्ताके निम्नतर स्तरोंपर अपरा प्रकृतिके रूपमें कार्य करती हुई भागवत शक्तिके हैं तो इससे उक्त परिवर्तनमें वड़ी भारी सहायता प्राप्त होती है। यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारी मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक चेतनाका दूसरे मनुष्योंकी ऐसी ही चेतनासे पार्थक्य क्षीण होकर कम हो जाता है; निःसंदेह उसकी क्रियाओंकी अपूर्णताएँ अभी वनी रहती हैं, पर

वे विस्तारित होकर वैश्व क्रियाकी व्यापक भावना एवं दृष्टिमें उन्नीत हो जाती हैं; विश्वप्रकृतिके विशेषक और व्यक्तित्वजनक प्रभेद अपने विशिष्ट प्रयोजनोंके लिये बने रहते हैं, पर वे अब पहलेकी तरह बंधनकारक नहीं रहते। व्यक्ति समस्त भेदोंके होते हुए भी अपने मन, प्राण और देहसत्ताको दूसरोंके मन-प्राण-शरीरके साथ तथा प्रकृतिगत आत्माकी समग्र शक्तिके साथ एकीभूत अनुभव करता है।

परन्तु यह एक बीचकी भूमिका है, समग्र पूर्णता नहीं। चाहे हमारी सत्ता अपेक्षाकृत विशाल और मुक्त हो गयी है पर वह अभी भी निम्नतर प्रकृतिके अधीन है। सात्विक, राजसिक और तामसिक अहं कम हो गया है पर नष्ट नहीं हुआ है; अथवा यदि वह लुप्त होता प्रतीत होता है, तो वह हमारे क्रियाशील अंगोंमें गुणोंकी सार्वभौम क्रियामें केवल दबभर गया है, उनके अन्दर अवगुंठित रूपमें स्थित है और प्रच्छन्न या अवचेतन ढंगसे अभी भी कार्य कर रहा है तथा किसी भी समय बलपूर्वक सामने आ सकता है। अतएव साधकको सर्वप्रथम इन सब क्रियाओंके पीछे अवस्थित एकमेव सर्वगत पुरुष या आत्माका विचार बनाये रखना होगा तथा उसका साक्षात्कार प्राप्त करना होगा। उसे प्रकृतिके पीछे एकमेव, परमोच्च और विश्वव्यापी पुरुषके प्रति सचेतन होना होगा। उसे केवल यही नहीं देखना और अनुभव करना होगा कि सब कुछ एका शक्ति या प्रकृतिका आत्मरूपायन है, बल्कि उसकी सब क्रियाएँ भी सर्वगत भगवान्‌की, सबमें अवस्थित एकमेव देवाधिदेवकी क्रियाएँ हैं, चाहे वे अहंभाव और गुणोंमेंसे गुजरकर प्रकट होनेके कारण कितनी ही आवृत, परिवर्तित और मानों विकृत क्यों न हो गयी हों––क्योंकि निम्नतर रूपोंमें परिवर्तित होनेसे ही विकृति उत्पन्न होती है। यह अनुभव अहंके प्रकट या प्रच्छन्न आग्रहको और भी कम कर देगा और यदि इसे पूर्णरूपेण उपलब्ध किया जाय तो उसके परिणामस्वरूप अहंके लिये अपनी सत्ताको इतने बलपूर्वक स्थापित करना कि आगेकी उन्नतिमें विघ्न-बाधा उपस्थित हो जाय, कठिन या असंभव हो जायगा। अहं-बुद्धि जहाँतक अपना हस्तक्षेप करेगी भी वहाँतक वह एक विजातीय आक्रमणकारी तत्वका रूप धारण कर लेगी और चेतना तथा उसकी क्रियाके बाहरी आँचलोंके साथ लटक रहे पुराने अज्ञानकी कुहेलिकाका सिरामात्र रह जायगी। और, दूसरे, वैश्व शक्तिको उसकी उच्चतर क्रिया तथा अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक कार्यावलिके शक्तिशाली पवित्र रूपमें उपलब्ध करना होगा, उसका साक्षात्कार एवं अनुभव करके उसे अपने अन्दर धारण करना होगा। शक्तिका यह महत्तर साक्षात्कार हमें ऐसी सामर्थ्य

ज्ञानका प्रयोग न किया जाय। वह कड़ी है अतिमानसिक या विज्ञानमय शक्ति जिसमें परमोच्च सत्ता, चेतना और आनन्दकी अनन्त, अपरिमेय शक्ति एक व्यवस्थाकारी, दिव्य संकल्प और प्रज्ञाके रूपमें या सत्ताकी एक ज्योति एवं शक्तिके रूपमें अपने-आपको गठित करती है। यह संकल्प एवं प्रज्ञा या ज्योति एवं शक्ति हमारे समस्त चिन्तन, संकल्प, वेदन और कर्मको रूप देती है तथा चिन्तन आदिसे संबंध रखनेवाली वैयक्तिक चेष्टाओं-का स्थान ले लेती है।

यह अतिमानसिक शक्ति स्वयं मनके अन्दर अपने-आपको आध्यात्मीकृत अन्तर्ज्ञानात्मक ज्योति और शक्तिके रूपमें गठित कर सकती है, और इसकी यह क्रिया एक महान् आध्यात्मिक क्रिया होनेपर भी मनके द्वारा सीमित होती है। अथवा यह मनको पूर्णतया रूपांतरित करके समस्त सत्ताको अतिमानसिक स्तरतक ऊँचे उठा सकती है। जो भी हो, योगके इस भागके लिये पहली आवश्यक शर्त है—कर्तृत्वके अहंकारका त्याग करना, अहं-बुद्धिका तथा इस भावनाका त्याग करना कि कर्म करने, कर्मका आरंभ तथा उसके फलका नियमन करनेकी शक्ति मेरे अपने ही अन्दर विद्यमान है, और अपनी अहं-बुद्धिको इस बोध और साक्षात्कारमें निमज्जित कर देना कि एक विराट् शक्ति है जो हमारे तथा दूसरोंके कार्योंका एवं जगत्के सब व्यक्तियों और शक्तियोंके कार्योंका आरंभ करती है, उन्हें रूप देती तथा अपने उद्देश्योंके लिये प्रयुक्त करती है। यह साक्षात्कार हमारी सत्ताके सभी अंगोंमें पूर्ण और समग्र तभी बन सकता है यदि हम विराट् शक्तिका यह बोध और साक्षात्कार उसके सभी आकारोंमें, अपनी और विश्वकी सत्ताके सभी स्तरोंपर भगवान्की अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय शक्तिके रूपमें प्राप्त कर सकें। परन्तु इन सबको, सभी स्तरोंकी सभी शक्तियोंको अनन्त सत्ता, चेतना और आनन्दसे युक्त एक ही आध्यात्मिक शक्तिकी आत्म-अभिव्यक्तियोंके रूपमें देखना और जानना होगा। यह कोई अपरिवर्तनीय नियम नहीं है कि इस शक्तिको पहले-पहल अपना प्रकाश निम्नतर स्तरोंपर शक्तिके निम्न रूपोंमें करना चाहिये और अपनी उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृतिको बादमें ही प्रकट करना चाहिये। पर यदि यह पहले-पहल इस प्रकार ही अर्थात् अपने मानसिक, प्राणिक या भौतिक विश्व-रूपमें ही प्रकट हो तो हमें सावधान रहना होगा कि हम उसीमें संतुष्ट न हो रहें। इसके स्थानपर यह एकदम अपनी उच्चतर वास्तविक सत्ताके रूपमें, आध्यात्मिक वैभवकी शक्तिके रूपमें भी प्रकट हो सकती है। तब कठिनाई यह होगी कि इस शक्तिको सहन और धारण कैसे किया जाय

जबतक कि यह हमारी सत्ताके निम्नतर स्तरोंको अपने शक्तिशाली हाथोंमें लेकर उनकी सामर्थ्योंका रूपान्तर नहीं कर देती। कठिनाई उसी अनुपातमें कम होगी जिसमें कि हम विशाल शान्ति और समता प्राप्त करनेकी और या तो एक ही सर्वगत, शान्त एवं अक्षर आत्माका साक्षात्कार तथा अनुभव करने एवं उसमें निवास करने या फिर योगके दिव्य स्वामीके प्रति अपने-आपको सच्चे और पूर्ण रूपसे समर्पित करनेकी सामर्थ्य पा चुके होंगे।

यहाँ भगवान्‌की उन तीन शक्तियोंको सदा ध्यानमें रखना आवश्यक है जो सभी प्राणियोंमें विद्यमान हैं और जिन्हें विचारमें लाना ही पड़ता है। अपनी साधारण चेतनामें हम इन तीनको अपनी सत्ता अर्थात् अहं-रूप जीव, ईश्वर—उस ईश्वरके विषयमें हमारी धारणा कोई भी क्यों न हो—और प्रकृतिके रूपमें देखते हैं। आध्यात्मिक अनुभवमें हम ईश्वरको परम पुरुष या आत्माके रूपमें अथवा एक ऐसे अनन्त सत्‌के रूपमें देखते हैं जिससे हम उत्पन्न होते हैं तथा जिसमें हम रहते-सहते और चलते-फिरते हैं। प्रकृतिको हम उसकी शक्तिके रूपमें या शक्तिस्वरूप ईश्वर एवं शक्तिगत परम आत्माके रूपमें देखते हैं जो हमारे तथा जगत्‌के अन्दर कार्य कर रहा है। तब जीव स्वयं यही पुरुष, आत्मा किंवा भगवान् होता है, **सोऽहम्**, क्योंकि वह अपनी सत्ता और चेतनाके सारतत्वमें उसके साथ-साथ एक होता है, किन्तु एक व्यक्तिके रूपमें वह भगवान्‌का एक अंश, परम आत्माकी एक अंशात्मामात्र होता है, और अपनी प्रकृतिगत सत्तामें वह शक्तिका एक रूप, गतिमय और कार्यरत ईश्वरकी एक शक्ति होता है, **परा प्रकृति र्जीवभूता।** पहले-पहल, जब हम ईश्वर या शक्तिके प्रति सचेतन होते हैं तब, उनके साथ स्थापित होनेवाले हमारे संबंधमें जो कठिनाइयाँ आती हैं वे उस अहं-चेतनासे उत्पन्न होती हैं जिसे हम आध्यात्मिक संबंधके अन्दर ले आते हैं। हमारे अन्दरका अहं भगवान्‌के प्रति आध्यात्मिक मांगसे भिन्न अन्य माँगें करता है, और ये माँगें एक अर्थमें ठीक होती हैं, पर जबतक तथा जिस हदतक वे अहंकारमय रूप धारण करती हैं तबतक तथा उस हदतक वे अत्यअधिक स्थूलता और बड़े भारी विकारोंकी ओर खुली रहती हैं, असत्य, अवांछनीय प्रतिक्रिया और उसके परिणामभूत अशुभके तत्त्वके भारसे दबी रहती हैं, और ईश्वर या शक्तिके साथ हमारा संबंध सर्वथा उपयुक्त, सुखद और पूर्ण तभी बन सकता है जब ये मांगें आध्यात्मिक मांगका अंग बन जायँ तथा अपना अहंकारमय रूप त्याग दें। वास्तवमें हमारी सत्ताकी भगवान्‌के प्रति मांग पूर्ण रूपसे कृतार्थ तभी होती है जब वह मांगका रूप बिलकुल त्याग देती है और इसके स्थानपर व्यक्तिके द्वारा होनेवाली भगवान्‌की

पूर्ण चरितार्थताका रूप धारण कर लेती है, जब हम केवल इसीसे तृप्त होते हैं, जब हम सत्तागत एकत्वके आनन्दसे संतुष्ट रहते हैं, अपने-आपको अपनी सत्ताके परम आत्मा और प्रभुके ऊपर छोड़ देनेमें संतोष मानते हैं ताकि उसकी पूर्ण प्रज्ञा और ज्ञानकी जो इच्छा हो उसे वह हमारी अधिकाधिक पूर्णताप्राप्त प्रकृतिके द्वारा क्रियान्वित करे। भगवान्‌के प्रति जीवके आत्म-समर्पणका यही आशय है। एकत्वका आनन्द प्राप्त करनेकी, भागवत चेतना, प्रज्ञा, ज्ञान, ज्योति, शक्ति तथा पूर्णतामें भाग लेनेकी, अपने अन्दर दिव्य चरितार्थतासे मिलनेवाली तृप्ति प्राप्त करनेकी इच्छाको आत्मसमर्पण वहिष्कृत नहीं करता, परन्तु वह इच्छा एवं अभीप्सा हमारी होती है क्योंकि वह हमारे अन्दर उसकी इच्छा होती है। आरंभमें, जब हममें अपने व्यक्तित्वपर आग्रह करनेकी भावना अभीतक विद्यमान होती है तो हमारी इच्छा उसकी इच्छाको केवल प्रतिविम्बित करती है पर इन दोनोंमें भेद करना उत्तरोत्तर अशक्य होता जाता है और हमारी इच्छा-शक्ति कम वैयक्तिक वनती जाती है और अंतमें इसकी पृथक्ताकी समस्त छाया लुप्त हो जाती है, क्योंकि तब हमारे अन्दरकी इच्छाशक्ति दिव्य तपस्‌के साथ, अर्थात् दिव्य शक्तिकी क्रियाके साथ एकमय हो चुकती है।

ठीक इसी प्रकार जब हम पहले-पहल अपने ऊपर या चारों ओर या भीतर अनन्त शक्तिके प्रति सचेतन होते हैं, हमारे अन्दरकी अहं-वुद्धिकी प्रवृत्ति उसपर अपना अधिकार स्थापित करने तथा इस बढ़ी हुई शक्तिको अपने अहंकारपूर्ण उद्देश्यके लिये प्रयुक्त करनेकी ओर होती है। यह एक अत्यंत भयावह वस्तु है, क्योंकि यह अपने साथ एक महान्, कभी-कभी तो एक दानवीय शक्तिकी अनुभूति लाती है एवं उसकी किसी वृद्धिगत वास्तविक सत्ताका अनुभव भी कराती है, और राजसिक अहं, उस नयी अपरिमित शक्तिके इस अनुभवके आनन्दमें मग्न होकर, उसके शुद्ध और रूपान्तरित होनेकी प्रतीक्षा करनेके स्थानपर अपने-आपको एक दारुण एवं अपवित्र कर्ममें झोंक सकता है और यहाँतक कि हमें कुछ समयके लिये या आंशिक रूपसे ऐसे स्वार्थपरायण एवं अहंकारी असुरमें परिणत कर सकता है जो भगवत्प्रदत्त शक्तिको भगवानके उद्देश्यके लिये नहीं वल्कि अपने स्वार्थपूर्ण प्रयोजनके लिये प्रयुक्त करता है : पर यदि इस पथपर आग्रहपूर्वक अड़े रहा जाय तो इसमें अन्ततः आध्यात्मिक विनष्टि एवं भौतिक सर्वनाश निहित है। इससे वचनेके एक उपायके रूपमें अपने-आपको भगवान्‌का एक यंत्र समझना भी पूर्णतया प्रभावकारी नहीं होता; क्योंकि जब एक प्रवल अहंभाव इस विषयमें हस्तक्षेप करता है तो वह आध्यात्मिक संवंधको

मिथ्या रूप दे देता है और अपने-आपको भगवान्‌का यंत्र बनानेकी आड़ लेकर वस्तुतः इसके स्थानपर भगवान्‌को अपना यंत्र बनानेपर तुला होता है। एकमात्र उपाय यह है कि हर प्रकारकी अहंकारमय मांगको शान्त किया जाय, वैयक्तिक प्रयत्न एवं पृथक् व्यक्तिगत आयासको जिससे कि सात्विक अहंकार भी बच नहीं सकता, निरन्तर दृढ़तापूर्वक कम किया जाय। इसी प्रकार हमारे लिये अधिक अच्छा यह होगा कि शक्तिपर अधिकार स्थापित करके उसे अहंके उद्देश्यके लिये प्रयोगमें लानेके स्थानपर हम उसे अपने ऊपर अधिकार स्थापित करने तथा भागवत उद्देश्यके लिये हमारा प्रयोग करने दें। ऐसा समर्पण तुरंत ही पूर्ण रूपसे नहीं किया जा सकता—जिस शक्तिसे हम सचेतन हुए हों वह यदि विश्वशक्तिका निम्नतर रूपमात्र हो तो ऐसा समर्पण सुरक्षित रूपसे भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब, जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी अन्य नियंत्रणका होना भी आवश्यक है, वह चाहे मनोमय पुरुषका हो या ऊपरकी किसी शक्तिका,—किन्तु फिर भी यह एक ऐसा लक्ष्य है जो हमें अपने सामने रखना होगा और जिसे पूर्ण रूपसे क्रियान्वित तभी किया जा सकता है जब हम भागवत शक्तिकी उच्चतम आध्यात्मिक उपस्थिति एवं रूपके प्रति दृढ़-स्थिर रूपसे सचेतन हो जायँ। व्यक्तिगत सत्ताके संपूर्ण कार्यकलापका दिव्य शक्तिके प्रति यह समर्पण भी वस्तुतः भगवान्‌के प्रति सच्चे आत्मसमर्पणका एक रूप है।

हम देख ही चुके हैं कि मनोमय पुरुषके लिये अपने-आपको पवित्र करनेका अत्यंत कार्यक्षम उपाय यह है कि वह पीछेकी ओर हटकर निष्क्रिय साक्षीके रूपमें स्थित हो जाय और अपने स्वरूपका तथा निम्नतर सामान्य सत्तामें प्रकृतिकी क्रियाओंका निरीक्षण करके ज्ञान प्राप्त करे; परन्तु पूर्णता लाभ करनेके लिये इसके साथ विशुद्ध प्रकृतिको उच्चतर आध्यात्मिक सत्तामें उठा ले जानेका संकल्प भी जोड़ देना होगा। जब ऐसा हो जाता है तब पुरुष केवल साक्षी न रहकर अपनी प्रकृतिका स्वामी, ईश्वर, भी बन जाता है। संभवतः आरंभमें यह बात स्पष्ट नहीं लगेगी कि सक्रिय आत्म-प्रभुत्वके इस आदर्शको आत्मसमर्पणके तथा स्वेच्छापूर्वक भागवत शक्तिका यंत्र बननेके आपात-विरोधी आदर्शके साथ कैसे समन्वित किया जा सकता है। पर सच पूछो तो आध्यात्मिक भूमिकामें कोई भी कठिनाई नहीं होती, जीव जिस अनुपातमें अपने ही परम आत्मा भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करता है उसी अनुपातमें वह अपनी प्रकृतिका स्वामी बन सकता है, इसके बिना वह वास्तवमें स्वामी बन ही नहीं सकता। और उस एकत्वमें तथा विश्वके साथ अपनी एकतामें वह विराट् आत्माके भीतर उस संकल्प-शक्तिके साथ

द्वारा होती है। इस साक्षात्कारका एक और रूप भी है जिसमें जीव शक्तिमें लय प्राप्त कर उसके साथ एक हो जाता है और तब केवल ईश्वरके साथ शक्तिकी, महादेव और काली, कृष्ण और राधा किंवा देव और देवीकी लीला ही शेष रह जाती है। जीव अपने-आपको प्रकृतिकी एक अभिव्यक्ति, भगवान्‌की निज सत्ताकी एक शक्तिके रूपमें जो अनुभव करता है, **परा प्रकृति र्जीवभूता,** उसका जो तीव्र-से-तीव्र रूप हो सकता है, वह यही है।

तीसरी अवस्था हमारे समस्त अस्तित्व और कर्ममें भगवान् किंवा ईश्वरकी अधिकाधिक अभिव्यक्तिसे प्राप्त होती है। यह तब आती है जब हमें निरंतर और अविच्छिन्न रूपमें उनका साक्षात्कार होता है। वे हमारे अन्दर हमारी सत्ताके स्वामीके रूपमें और हमारे ऊपर उसकी समस्त क्रियाओंके नियामकके रूपमें अनुभूत होते हैं और ये क्रियाएँ हमारे लिये जीवकी सत्तामें उनकी अभिव्यक्तिके सिवा और कुछ नहीं रह जातीं। हमारी समस्त चेतना उन्हींकी चेतना हो जाती है, हमारा समस्त ज्ञान उन्हींका ज्ञान, हमारा समस्त विचार उन्हींका विचार, हमारा समस्त संकल्प उन्हींका संकल्प, हमारा समस्त वेदन उन्हींका आनन्द और उनके सत्तागत आनन्दका रूप तथा हमारा समस्त कर्म उन्हींका कर्म बन जाता है। शक्ति और ईश्वरके बीचका भेद लुप्त होने लगता है; हमारे अन्दर भगवान्‌की एक सचेतन क्रियामात्र शेष रह जाती है; उस क्रियाके पीछे और चारों ओर भगवान्‌की महान् आत्म-सत्ता होती है जो उसे धारण कर रही होती है। समस्त सृष्टि एवं प्रकृति केवल भगवान्‌की एक सचेतन क्रियाके रूपमें ही दिखायी देती है। पर यहाँ वह पूर्णतः सचेतन बन चुकी है, अहंकी माया दूर हो गयी है, और जीव यहाँ उनकी सत्ताके एक सनातन अंशके रूपमें ही विद्यमान है जिसे एक दिव्य वैयक्तिक रूपायण और जीवनका आधार बननेके लिये प्रकट किया गया है; यह रूपायण और जीवन अब भगवान्‌की पूर्ण उपस्थिति और शक्तिमें चरितार्थ हो गये हैं; परम आत्माका पूर्ण आनन्द हमारी सत्तामें प्रकट हो चुका है। सक्रिय एकताके पूर्णत्व और आनन्दका सर्वोच्च साक्षात्कार यही है; क्योंकि इसके परे तो अवतारकी अर्थात् लीलामें कार्य करनेके लिये मानवीय नाम-रूप धारण करनेवाले साक्षात् ईश्वरकी चेतना ही हो सकती है।

अठारहवाँ अध्याय

श्रद्धा और शक्ति

अबतक हम अपनी करणात्मक प्रकृतिकी पूर्णताके जिन तीन अंगोंके सामान्य लक्षणोंका विवेचन करते आ रहे हैं वे ये हैं—बुद्धि, हृदय, प्राणिक चेतना एवं देहकी पूर्णता, मूलभूत आत्मिक शक्तियोंकी पूर्णता और भगवती शक्तिके प्रति अपने करणों एवं अपने कार्यके समर्पणकी पूर्णता। ये तीनों अंग अपनी प्रगतिके प्रत्येक पगपर एक चौथी शक्तिपर निर्भर करते हैं जो प्रच्छन्न और प्रकट रूपसे समस्त प्रयास और कार्यकी धुरी है; वह शक्ति है श्रद्धा। पूर्ण श्रद्धाका अर्थ है हमारी समग्र सत्ताका उस सत्यको स्वीकार करना जिसका उसे साक्षात्कार हुआ है या जो उसकी स्वीकृतिके लिये उसके सम्मुख प्रस्तुत किया गया है, और ऐसी श्रद्धाकी केन्द्रीय क्रिया है—अस्तित्व रखने, प्राप्त करने और बन जानेके अपने संकल्पमें, आत्मा और पदार्थों-विषयक अपने विचारमें, तथा अपने ज्ञानमें अन्तरात्माकी श्रद्धा। बुद्धिका विश्वास, हृदयकी सहमति, प्राप्त तथा चरितार्थ करनेके लिये प्राणिक मनकी कामना इस केन्द्रीय श्रद्धाके बाह्य रूप हैं। यह आत्म-श्रद्धा, अपने किसी-न-किसी रूपमें, हमारी सत्ताकी क्रियाके लिये अनिवार्य है और इसके बिना मनुष्य अपने जीवनमें एक कदम भी नहीं चल सकता, अबतक अप्राप्त पूर्णताकी ओर कोई कदम आगे बढ़ाना तो दूर रहा। यह इतनी केन्द्रीय और आवश्यक वस्तु है कि इसके विषयमें गीताका यह कहना उचित ही है कि किसी मनुष्यकी जो भी **श्रद्धा** होती है, वही वह होता है, **यो यच्छ्रद्धः स एव सः**, और, इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि जिस वस्तुको अपने अन्दर संभवके रूपमें देखने और उसके लिये प्रयत्न करनेकी श्रद्धा उसमें होती है उस वस्तुका वह सर्जन कर सकता है तथा वही बन भी सकता है। एक प्रकारकी श्रद्धा वह है जिसकी माँग पूर्णयोग एक अनिवार्य वस्तुके रूपमें करता है। उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—भगवान् और (भगवती) शक्तिमें श्रद्धा, अपने तथा जगत्के अन्दर विद्यमान भगवान्की उपस्थिति और शक्तिमें श्रद्धा, यह श्रद्धा कि इस जगत्में जो कुछ भी है वह सब एकमेव भगवती शक्तिकी क्रिया है, कि योगके सभी पग, उसके प्रयास और दुःख-कष्ट और विफलताएँ

तथा उसकी सफलताएँ, तुष्टियाँ और विजयें भागवती शक्तिकी क्रियाओंके लिये उपयोगी और आवश्यक हैं और यह कि अपने अन्दर अवस्थित भगवान् एवं उनकी शक्तिपर दृढ़ एवं प्रबल निर्भरता तथा उनके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पणके द्वारा ही हम एकता, स्वतंत्रता, विजय और पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।

श्रद्धाका शत्रु है संदेह, परन्तु संदेहकी वृत्ति भी उपयोगी और आवश्यक है, क्योंकि मनुष्यको अपने अज्ञानमें तथा ज्ञानकी ओर अपने बढ़ते प्रयासमें संदेहसे *आक्रान्त होनेकी आवश्यकता होती है, अन्यथा* वह एक *अज्ञानयुक्त* विश्वास एवं सीमित ज्ञानपर ही आग्रहपूर्वक अड़ा रहेगा और अपनी भूलोंसे नहीं बच सकेगा। जब हम योगके पथपर पग रखते हैं तब भी संदेहकी यह उपयोगिता एवं आवश्यकता बिलकुल मिट नहीं जाती। पूर्णयोगका लक्ष्य केवल किसी आधारभूत तत्त्वका ज्ञान नहीं, बल्कि एक ऐसा ज्ञान एवं विज्ञान है जो समस्त जीवन और जगत्कर्मपर अपनेको प्रयुक्त करेगा तथा उसे अपने अन्दर समाविष्ट करेगा, और ज्ञानकी इस खोजमें हम मार्गमें मन की *असंस्कृत क्रियाओंके साथ प्रवेश करते हैं तथा ये कई मीलोंतक*, जबतक कि ये एक महत्तर ज्योतिके द्वारा शुद्ध और रूपान्तरित नहीं हो जातीं, हमारे साथ-साथ चलती हैं : हम अपने साथ अनेक बौद्धिक विश्वासों और विचारोंको लिये फिरते हैं जिनमेंसे सब-के-सब ही ठीक और पूर्ण नहीं होते और बादमें और भी बहुत-से नये विचार एवं सुझाव हमारे सामने आते हैं जो अपने प्रति हमारी आस्थाकी माँग करते हैं। परन्तु उनकी संभवनीय भ्रांति, सीमा या अपूर्णताका विचार किये बिना, जिस आकारमें वे आते हैं उसीमें उन्हें लपककर पकड़ लेना और उनके साथ सदा चिपके रहना विनाशकारी होगा। निःसंदेह, योगमें एक ऐसी अवस्था आती है जब किसी भी प्रकारके बौद्धिक विचार या मतको, उसका बौद्धिक रूप कोई भी क्यों न हो, निश्चित और अंतिम माननेसे इन्कार कर देना आव-श्यक हो जाता है तथा जबतक उसे अतिमानसिक ज्ञानसे आलोकित आध्या-त्मिक अनुभवमें उसका यथार्थ स्थान एवं प्रकाशमय सत्यात्मक रूप नहीं दे दिया जाता तबतक उसे विचाराधीन रूपमें स्थगित रखना पड़ता है। प्राणमय मनकी कामनाओं या आवेगोंके साथ तो और भी अधिक ऐसा व्यवहार करना होगा। उन्हें, पूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त करनेसे पहले, अस्थायी रूपसे आवश्यक कर्मके तात्कालिक चिह्नोंके रूपमें प्रायः ही कुछ समयके लिये स्वीकार करना पड़ता है, पर उन्हें अंतरात्माकी पूर्ण स्वीकृति देकर उनके साथ सदा चिपके नहीं रहना चाहिये, क्योंकि अन्तमें इन सब काम-

नाओं और आवेगात्मक प्रेरणाओंका त्याग करना होगा अथवा इन्हें उस दिव्य संकल्पकी, जो प्राणकी चेष्टाओंको अपने हाथमें ले लेता है, प्रेरणाओंमें रूपान्तरित करके इनके स्थानपर उन्हींको प्रतिष्ठित करना होगा। हृदयकी श्रद्धाकी, भावमय अन्त:करणके विश्वासों तथा स्वीकृतियोंकी भी मार्गमें आवश्यकता होती है, पर वे सदा अचूक मार्गदर्शक नहीं हो सकते जबतक कि उन्हें भी ऊपर उठाकर तथा शुद्ध करके रूपान्तरित नहीं कर दिया जाता और अन्तमें उनका स्थान उस दिव्य आनन्दकी, जो दिव्य संकल्प और ज्ञानके साथ एकीभूत है, प्रकाशपूर्ण अनुमतियोंको नहीं दे दिया जाता। निम्न प्रकृतिकी किसी भी चीजमें—तर्क-बुद्धिसे लेकर प्राणिक संकल्पपर्यन्त——योगका साधक पूर्ण और स्थायी श्रद्धा नहीं रख सकता, वह तो अंतत: केवल आध्यात्मिक सत्य, शक्ति और आनन्दमें ही श्रद्धा रख सकता है जो आध्यात्मिक बुद्धिमें उसके कर्मके एकमात्र मार्गदर्शक, ज्योति:स्तम्भ और नियामक बन जाते हैं।

तथापि श्रद्धा आदिसे अंततक तथा प्रत्येक पगपर आवश्यक है क्योंकि यह अन्तरात्माकी एक ऐसी अनुमति है जो अपेक्षित है और इस अनुमतिके बिना किसी भी प्रकारकी प्रगति नहीं हो सकती। सर्वप्रथम, योगके मूल सत्य और तत्त्वोंमें हमारी श्रद्धा दृढ़ होनी चाहिये, और चाहे हमारी बुद्धिके अन्दर यह श्रद्धा आच्छन्न हो जाय, हृदयके अन्दर यह निराशासे ग्रस्त हो उठे, कामनामय प्राणिक मनके अन्दर सतत निषेध और विफलताके कारण पूर्णतया क्लान्त और समाप्त हो जाय तो भी हमारी अन्तरतम आत्माके अन्दर कोई ऐसी चीज अवश्य होनी चाहिये जो इसके साथ चिपकी रहे और इसकी ओर बार-बार लौट आये, अन्यथा हम मार्गपर पतित हो सकते हैं अथवा दुर्बलतावश एवं अल्पकालिक पराजय, निराशा, कठिनाई और संकटको सहनेमें असमर्थ होनेके कारण मार्गको त्याग भी सकते हैं। जीवनकी भाँति योगमें भी वही मनुष्य जो प्रत्येक पराजय एवं मोहभंगके सामने तथा समस्त प्रतिरोधपूर्ण, विरोधी और निषेधकारी घटनाओं एवं शक्तियोंके समक्ष बिना थके-हारे अन्ततक डटा रहता है वही अन्तमें विजयी होता है और देखता है कि उसकी श्रद्धा सच्ची सिद्ध हुई है क्योंकि मनुष्यमें रहनेवाली आत्मा और दिव्य **शक्ति**के लिये कुछ भी असंभव नहीं है। संदेहवादीकी शंका जो हमारी आध्यात्मिक संभावनाओंकी ओर पीठ फेरती है या संकीर्ण, क्षुद्रालोचक एवं सर्जनशून्य बुद्धि, **असूया**, का सततछिद्रान्वेषण जो हमारे प्रयत्नका पीछा करके उसमें पंगुकारक अनिश्चितता ले आता है—इन दोनोंकी अपेक्षा एक अंध एवं अज्ञानयुक्त श्रद्धा भी अधिक अच्छी संपदा है। किन्तु पूर्ण-

योगके साधकको इन दोनों अपूर्णताओंपर विजय पानी होगी। जिस वस्तुको उसने अपनी अनुमति प्रदान की है और जिसे पानेके लिये उसने अपने मन, हृदय और संकल्पशक्तिको लगा दिया है वह अर्थात् संपूर्ण मानव-सत्ताकी दिव्य पूर्णता सामान्य बुद्धिके लिये स्पष्टतः ही एक असंभव वस्तु है, क्योंकि वह जीवनके यथार्थ तथ्योंके विरुद्ध है और क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव चिरकाल-तक उसका विरोध करता रहेगा, जैसा कि समस्त सुदूर और दुःसाध्य लक्ष्योंका हुआ ही करता है। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक अनुभव रखने-वाले बहुतसे लोग भी उससे इन्कार करते हैं। उनका विश्वास है कि हमारी वर्तमान प्रकृति ही इस शरीरमें मनुष्यकी एकमात्र संभव प्रकृति है और इस पार्थिव जीवनका या यहाँतक कि समस्त व्यक्तिगत सत्ताका परित्याग करके ही हम स्वर्गिक पूर्णता या निर्वाण-रूपी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। दिव्य पूर्णताके ऐसे लक्ष्यके अनुसरणमें उस अज्ञ पर दृढ़ाग्रही आलोचक बुद्धिके आक्षेपों या छिद्रान्वेषणों, असूया, के लिये चिरकालतक प्रचुर अवकाश रहेगा जो अपनी नींव, आपात सत्य रूपमें, तात्कालिक प्रतीतियोंपर तथा सुनिश्चित तथ्यों और अनुभवोंकी राशिपर स्थापित करती है, उनसे परे जानेसे इन्कार करती है तथा आगेकी ओर इंगित करनेवाले सभी संकेतों और प्रकाशोंकी सत्यतापर संदेह करती है। और यदि वह इन संकीर्ण सुझावोंके आगे झुक गया तो वह या तो अपने लक्ष्यपर पहुँचेगा ही नहीं या उसकी यात्रामें गंभीर बाधा उपस्थित होगी और उसके पूरे होनेमें बहुत देर लग जायगी। दूसरी ओर, श्रद्धामें रहनेवाली अज्ञानता और अन्धता विशाल सफलतामें बाधक होती हैं, अत्यधिक निराशा तथा मोहभंगको निमं-त्रित करती हैं, झूठी-मूठी अंतिम अवस्थाओंके साथ दृढ़तापूर्वक चिपक जाती हैं तथा सत्य और पूर्णताकी महत्तर रचनाओंकी ओर नहीं बढ़ने देतीं। भागवत शक्ति अपनी क्रियाएँ करती हुई अज्ञान और अन्धताके सभी रूपोंपर तथा हमारे उन सब भागोंपर भी निर्दयतापूर्वक प्रहार करेगी जो उसमें गलत और अन्धश्रद्धालु ढंगसे विश्वास रखते हैं। हमें श्रद्धाके रूपोंके प्रति अति दुराग्रही आसक्तिका त्याग करनेको उद्यत रहना होगा और केवल रक्षाकारी सत्यको ही दृढ़तापूर्वक पकड़ना होगा। एक महान् और विशाल आध्यात्मिक एवं बुद्धियुक्त श्रद्धा ही, जो उच्च संभावनाओंको अनुमति देने-वाली विशालतर तर्कशक्तिकी बुद्धिसे बुद्धियुक्त हो, पूर्णयोगके लिये अपेक्षित श्रद्धाका स्वरूप है।

यह श्रद्धा—अंग्रेजी शब्द 'फेथ' इसके भावको प्रकट करनेमें असमर्थ है—वस्तुतः परम आत्मासे प्राप्त प्रभावका नाम है और इसका प्रकाश

हमारी उस अतिमानसिक सत्तासे आनेवाला संदेश है जो निम्न प्रकृतिको अपने क्षुद्र वर्तमानमेंसे निकलकर महान् आत्म-अभिव्यक्ति एवं आत्म-अतिक्रमणकी ओर उठनेके लिये पुकार रही है। और, हमारी सत्ताका जो भाग इस प्रभावको ग्रहण करता तथा पुकारका प्रत्युत्तर देता है वह उतना बुद्धि, हृदय या प्राणिक मन नहीं है जितना कि हमारी अन्तरात्मा—ऐसी अन्तरात्मा जो अपनी भवितव्यता और दैवी कार्यके सत्यको अधिक अच्छी तरह जानती है। जो परिस्थितियाँ हमें इस योग-पथपर प्रथम पग रखनेके लिये प्रोत्साहित करती हैं वे उस वस्तुकी यथार्थ सूचक नहीं होतीं जो हमारे अन्दर कार्य कर रही होती हैं। बाहरी परिस्थितियोंमें तो बुद्धि, हृदय, या प्राणिक मनकी कामनाएँ अथवा यहाँतक कि अधिक आकस्मिक दुर्घटनाएँ एवं बाह्य प्रेरणाएँ एक प्रमुख स्थान ले सकती हैं; पर यदि यही सब कुछ हों, तो पुकारके प्रति हमारी निष्ठाका तथा योगमें हमारी स्थायी लगन एवं अध्यवसायका कोई निश्चित भरोसा नहीं हो सकता। बुद्धि उस विचारको, जिसने उसे आकृष्ट किया था, त्याग सकती है, हृदय श्रान्त हो सकता है या हमारा साथ छोड़ सकता है, प्राणमय मनकी कामना अन्य लक्ष्योंकी ओर मुड़ सकती है। परन्तु बाह्य परिस्थितियाँ आत्माके वास्तविक व्यापारोंके लिये एक आवरणमात्र होती हैं, और जिसे स्पर्श प्राप्त हुआ है एवं पुकार आयी है वह यदि आत्मा या अंतरात्मा हो, तो श्रद्धा दृढ़ रहेगी और उसकी पराजय या उच्छेदके लिये जो भी प्रयत्न किये जायँगे उन सबका प्रतिरोध करेगी। यह नहीं कि बुद्धिके संदेह आक्रमण नहीं कर सकते, हृदय डगमगा नहीं सकता, प्राणिक मनकी हताश कामना चूर होकर पथके किनारे भूमिसात् नहीं हो सकती। ऐसा होना कभी-कभी, शायद प्रायः ही अनिवार्य-सा है, विशेषकर हम लोगोंके साथ, जो बौद्धिकता और संदेहवादके युगकी संतान हैं, ऐसा होना अनिवार्य ही है। यह युग आध्यात्मिक सत्यके एक ऐसे जड़वादीय निषेधका युग है जिसने महत्तर सत्तत्वके सूर्यके मुखपरसे अपने रंग-विरंगे मेघोंका पर्दा अभी नहीं उठाया है और जो अभीतक भी आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान एवं अन्तरतम अनुभवकी ज्योतिके विरुद्ध है। बहुत संभवतः, उन कष्टप्रद अन्धकारमय कालोंमेंसे बहुतसे हमारे जीवनमें आयेंगे जिनके विषयमें वैदिक ऋषि भी कितनी ही बार इन शब्दोंमें शिकायत करते थे कि ये "प्रकाशसे बारंबार सुदीर्घ निर्वासन"के काल हैं, और इन कालोंमें अंधकार इतना घना हो सकता है, अन्तरात्मापर छानेवाली रात्रि इतनी काली हो सकती है मानों श्रद्धा हमें बिलकुल ही छोड़कर चली गयी हो। किन्तु इस सबके भीतर

हमारी अंतःस्थ आत्मा अपना अदृष्ट नियंत्रण बराबर रखती रहेगी और अन्तरात्मा अपने विश्वासपर नयी शक्तिके साथ लौट आयेगी, उस विश्वासपर जिसे केवल ग्रहण लगा था, पर जो बुझा नहीं था, क्योंकि जब एक बार अन्तरात्मा अपने आन्तरिक श्रद्धा-विश्वासको जान चुकती है तथा अपना दृढ़ निश्चय* कर लेती है तब वह विश्वास बुझ ही नहीं सकता। भगवान् सब अवस्थाओंके बीच हमारा हाथ पकड़े रखते हैं और यदि ऐसा दिखायी दे कि वे हमें गिरने दे रहे हैं तो यह हमें अधिक ऊँचे उठानेके लिये ही होता है। अन्तरात्माका अपने श्रद्धा-विश्वासकी ओर यह रक्षाकारी प्रत्यावर्तन हमें इतनी अधिक बार अनुभव होगा कि सन्देहमूलक अविश्वासोंका उत्पन्न होना अन्तमें असंभव हो जायगा और, जब एक बार समताकी आधारशिला दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायगी और, इससे भी बढ़कर, जब विज्ञान-चेतनाका सूर्य उदित हो जायगा तब स्वयं संदेह भी नष्ट हो जायगा क्योंकि उसका कारण और प्रयोजन समाप्त हो चुके होंगे।

अपि च, योगके केवल मूल सिद्धान्तमें, उसके विचारों और साधन-मार्गमें ही श्रद्धा अपेक्षित नहीं है, बल्कि हमारे अन्दर लक्ष्यको साधित करनेकी जो शक्ति है, मार्गपर हमने जो कदम उठाये हैं, हमें जो आध्यात्मिक अनुभव तथा अन्तर्ज्ञान प्राप्त होते हैं, हमारे अन्दर इच्छाशक्ति और मानसिक प्रेरणाकी जो मार्गदर्शक गतियाँ, हृदयकी तीव्र द्रवित भावनाएँ तथा प्राणकी अभीप्साएँ एवं चरितार्थताएँ होती हैं जो हमारी प्रकृतिके विशाल बननेमें सहायक साधन-सामग्री, परिस्थितियाँ और अवस्थाएँ हैं तथा आत्माके विकासके प्रेरक या सोपान हैं—उन सबमें दैनन्दिन कामचलाऊ श्रद्धा रखना भी आवश्यक है। इसके साथ ही यह सदा स्मरण रखना होगा कि हम अपूर्णता एवं अज्ञानसे ज्योति और पूर्णताकी ओर बढ़ रहे हैं, और हमारी श्रद्धाको हमारे प्रयत्नके बाह्य रूपोंमें तथा हमारी उपलब्धिकी क्रमिक अवस्थाओंके प्रति आसक्तिसे मुक्त होना चाहिये। इतना ही नहीं कि हममें ऐसा बहुत कुछ है जिसे बाहर फेंकने तथा त्यागनेके लिये हमारे अन्दर प्रबल रूपसे उभाड़ा जायगा, अर्थात् अज्ञान और निम्न प्रकृतिकी शक्तियों तथा उनका स्थान लेनेवाली उच्चतर शक्तियोंमें एक संग्राम होगा, बल्कि हमारे अन्दर ऐसे अनुभव भी हैं, चिन्तन और वेदनकी ऐसी अवस्थाएँ तथा उपलब्धिके ऐसे रूप भी हैं जो सहायक होते हैं और जिन्हें मार्गमें स्वीकार करना ही होता है। वे हमें कुछ समयके लिये अंतिम आध्यात्मिक सत्य

---

*संकल्प, व्यवसाय।

प्रतीत हो सकते हैं, पर बादमें संक्रमणके पग ही सिद्ध होते हैं, उन्हें अतिक्रम करना होता है और जो व्यावहारिक श्रद्धा उन्हें आश्रय देती थी उसे उनसे हटा लेना पड़ता है, ताकि उसके द्वारा उन अन्य महत्तर वस्तुओं या अधिक पूर्ण एवं व्यापक साक्षात्कारों एवं अनुभवोंका समर्थन किया जा सके, जो उनका स्थान ले लेते हैं या जिनके अन्दर, एक पूर्णताकारी रूपान्तरमें, उन्हें उन्नीत कर दिया जाता है। पूर्णयोगके साधकके लिये मार्गके पड़ावों या अधवीचके विश्रामगृहोंके प्रति आसक्तिका कोई स्थान नहीं हो सकता; वह तबतक संतुष्ट नहीं हो सकता जबतक वह अपनी पूर्णताके सभी महान् और स्थायी आधार स्थापित नहीं कर लेता तथा उसकी विशाल और मुक्त अनन्तताओंको भेदकर उनमें प्रविष्ट नहीं हो जाता, और वहाँ भी उसे अनन्तके और अधिक अनुभवोंसे अपने-आपको निरन्तर पूरित करते रहना होता है। उसका विकास एक स्तरसे दूसरे स्तरकी ओर आरोहण-रूप होता है और प्रत्येक नया शिखर, अभी जो और बहुत-सा विकास करना है, **भूरि कर्त्वम्**, उसके अन्य दृश्य क्षेत्रोंको सामने लाता है तथा उसके प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन कराता है, जिससे कि अंतमें भागवती शक्ति उसके समस्त प्रयासको अपने हाथमें ले लेती है और उसे तो केवल अपनी सहमति देनी होती है तथा शक्तिके ज्योतिर्मय कार्योंमें सहमतिपूर्ण एकत्वके द्वारा सहर्ष भाग लेना होता है। श्रद्धा-विश्वासके बिना ये परिवर्तन, संघर्ष, प्रयास तथा रूपान्तर उसे निरुत्साहित और निराश कर सकते हैं,—क्योंकि बुद्धि, प्राण और भावावेश सदा बाह्य वस्तुओंका ही अत्यधिक आश्रय पकड़ते हैं, अपरिपक्व निश्चयोंके साथ दृढ़तापूर्वक चिपक जाते हैं और जब उन्हें अपने पहले सहारेको छोड़नेके लिये बाध्य किया जाता है तो वे दुःखित हो सकते हैं तथा इसके लिये इच्छुक नहीं होते। इन परिवर्तनों, संघर्षों और रूपान्तरोंमें जो वस्तु उसे निरन्तर सहारा देगी वह है कार्यरत भागवत शक्तिमें दृढ़ श्रद्धा और योगेश्वर भगवान्के मार्गदर्शनपर भरोसा। उस योगेश्वरकी प्रज्ञा उतावली नहीं मचाती, और मनकी समस्त कठिनाइयोंमें उसके पग सुनिश्चित, न्यायसंगत और युक्तियुक्त होते हैं, क्योंकि वे हमारी प्रकृतिकी आवश्यकताओंके साथ पूर्ण-बोधयुक्त व्यवहारपर आधारित होते हैं।

योगकी प्रगतिका अर्थ है—मानसिक अज्ञानसे यात्रा आरंभ करके अपूर्ण रचनाओंमेंसे होते हुए ज्ञानकी पूर्ण आधारशिला और अधिकाधिक वृद्धिकी ओर अग्रसर होना और अपने उन भागोंमें, जो अधिक संतोषजनक रूपसे भावात्मक होते हैं, इसका अर्थ है ज्योतिसे महत्तर ज्योतिकी ओर बढ़ना और यह प्रगति तबतक नहीं रुक सकती जबतक हम अतिमानसिक

ज्ञानकी महत्तम ज्योति नहीं प्राप्त कर लेते। अवश्य ही, विकसित होते हुए मनकी गतियाँ, कम या अधिक मात्रामें, भूलोंसे निश्चित होंगी और हमें अपनी श्रद्धाको मनकी भूलोंके ज्ञानके कारण विचलित नहीं होने देना चाहिये, और क्योंकि बुद्धिके जिन विश्वासोंने हमारी सहायता की थी वे अत्यधिक उतावलीसे भरे हुए और अतीव भावात्मक थे अतः उनके कारण यह कल्पना भी नहीं कर लेनी चाहिये कि आत्मामें रहनेवाली मूलभूत श्रद्धा भी असत्य थी। मानवी बुद्धिको भूलका बहुत ही भय लगता है। इसका कारण ठीक यही है कि वह निश्चितताकी अपरिपक्व भावनाके प्रति तथा ज्ञानका जितना अंश वह ग्रहण करती प्रतीत होती है उसमें निश्चयात्मक चरमताके लिये अत्यंत उतावली उत्सुकताके प्रति अतीव आसक्त होती है। जैसे-जैसे हमारा आत्मानुभव बढ़ेगा, हमें पता लगता जायगा कि हमारी भूलें भी आवश्यक गतियाँ थीं; वे अपने साथ अपना सत्यमय अंश या संकेत लायी थीं और उसे हमारे लिये छोड़ गयी थीं और उन्होंने ज्ञानकी खोजमें सहायता पहुँचायी थी या एक आवश्यक प्रयासका पोषण किया था और यह भी कि जिन निश्चयोंको हमें अब त्यागना पड़ेगा वे भी हमारे ज्ञानकी प्रगतिमें कुछ समयके लिये सत्य थे। बुद्धि आध्यात्मिक सत्यकी खोज और उपलब्धिमें पर्याप्त मार्गदर्शक नहीं हो सकती, पर फिर भी हमारी प्रकृतिकी समग्र गतिमें उसका उपयोग करना ही होगा। और, इसलिये जहाँ हमें पंगुकारक संशय या निरे बौद्धिक संदेहवादको त्यागना होगा, वहाँ जिज्ञासाशील बुद्धिको यह सिखाना होगा कि वह एक ऐसे विशेष प्रकारके, व्यापक तर्क-वितर्क अर्थात् बौद्धिक शुद्धताको स्थान दे जो अर्द्ध-सत्योंसे, भ्रांतिके मिश्रणों या निकटतम सत्योंसे संतुष्ट न हो और, सबसे अधिक भावात्मक एवं सहायक बात यह है कि, वह पहलेसे अधिकृत और स्वीकृत सत्योंसे उन महत्तर, संशोधक, पूरक या परतर सत्योंकी ओर अग्रसर होनेके लिये सदा पूर्ण रूपसे उद्यत रहे जिनका दर्शन करनेमें वह पहले असमर्थ थी या संभवतः उसके लिये इच्छुक ही नहीं थी। बुद्धिकी काम-चलाऊ श्रद्धा अनिवार्य रूपसे आवश्यक है, ऐसी अन्धविश्वासमय, दुराग्रहपूर्ण या संकीर्णताजनक श्रद्धा नहीं जो प्रत्येक अस्थायी आलम्बन या सूत्रके प्रति आसक्त हो, बल्कि शक्तिके क्रमिक संकेतों और सोपानोंको व्यापक स्वीकृति देनेवाली श्रद्धा, ऐसी श्रद्धा जिसकी दृष्टि वास्तविक सत्योंपर जमी हो, जो लघुतर सत्योंसे पूर्णतर सत्योंकी ओर आगे बढ़े और समस्त मचानको भूमिसात् करके केवल विशाल और विकसनशील रचनाको सुरक्षित रखनेके लिये तैयार हो।

हृदय और प्राणकी अटूट श्रद्धा या स्वीकृति भी परमावश्यक है। परन्तु जब हम निम्न प्रकृतिमें होते हैं तो हृदयकी स्वीकृति मानसिक आवेशसे रँगी होती है और प्राणिक चेष्टाओंके पीछे विक्षोभकारी या आयास-जनक कामनाएँ उनके पुछल्लेकी तरह लगी रहती हैं, और प्राणिक कामना एवं मानसिक आवेश सत्यको आलोड़ित करने तथा कम या अधिक स्थूल या सूक्ष्म रूपमें परिवर्तित या विकृत करनेकी प्रवृत्ति रखते हैं, और हृदय एवं प्राणके द्वारा उसके साक्षात्कारमें वे सदा ही कुछ संकीर्णता या अपूर्णता ले आते हैं। हृदय भी जब अपनी आसक्तियों और विश्वासोंमें छेड़-छाड़ किये जानेपर अशांत हो जाता है, पराजयों और विफलताओंके कारण तथा अपनी भ्रांतिके संबंधमें निश्चय हो जाने के कारण व्याकुल हो उठता है अथवा अपनी सुनिश्चित स्थितियोंसे आगेकी ओर बढ़नेके लिये पुकार आनेपर उसे जो संघर्ष करने पड़ते हैं उनमें ग्रस्त हो जाता है, तब उसके अन्दर बारंबार खींचतान, क्लान्ति, दु:ख-शोक, विद्रोह, तथा अनिच्छाके भाव उठते हैं जो प्रगतिमें बाधा डालते हैं। उसे एक अधिक विशाल एवं सुनिश्चित श्रद्धाका अभ्यास करना होगा जो भागवत शक्तिकी प्रणालियों एवं सोपानोंके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ करनेके स्थानपर उन्हें शान्त या भाव-स्निग्ध आध्यात्मिक स्वीकृति प्रदान करे। उस स्वीकृतिका स्वरूप यह होता है कि एक अधिकाधिक गभीर आनन्द सब आवश्यक क्रियाओंको सहमति प्रदान करता है और हृदय अपने पुराने लंगरोंको त्यागकर एक महत्तर पूर्णताके आनन्दकी ओर सदा आगे बढ़नेके लिये तैयार रहता है। प्राणिक मनको प्राणके उन क्रमिक उद्देश्यों, आवेगों और कार्योंको अपनी स्वीकृति देनी होगी जिन्हें मार्गदर्शक शक्ति हमारी प्रकृतिके विकासके साधनों या क्षेत्रों के रूपमें उसके ऊपर थोपती है, साथ ही उसे आन्तरिक योगकी क्रमिक अवस्थाओंको भी अपनी अनुमति प्रदान करनी होगी, पर उसे किसी भी अवस्थाके प्रति आसक्त नहीं होना होगा, न कहीं रुकना ही होगा, बल्कि पुराने आवश्यक उद्देश्य एवं कार्यका त्याग करके नयी उच्चतर गतियों और क्रियाओंको उतनी ही पूर्ण अनुमतिके साथ स्वीकार करनेके लिये सदा उद्यत रहना होगा और उसे कामनाके स्थानपर समस्त अनुभव और कर्ममें विशाल और प्रोज्ज्वल आनन्दको प्रतिष्ठित करना सीखना होगा। बुद्धिकी श्रद्धाके समान हृदय, और प्राणिक मनकी श्रद्धाको भी एक सतत सुधार, विस्तार और रूपांतरके योग्य होना चाहिये।

यह श्रद्धा मूलतः अन्तरात्माकी निगूढ़ श्रद्धा है, और इसे उत्तरोत्तर उपरितलपर लाकर वहाँ आध्यात्मिक अनुभवकी अधिकाधिक विश्वस्तता

और निश्चितताके द्वारा तृप्त, धारित और वर्द्धित किया जाता है। यहाँ भी हमारी श्रद्धा निर्लिप्त होनी चाहिये, एक ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये जो सत्यके द्वारपर प्रतीक्षा करे और आध्यात्मिक अनुभवों-संबंधी अपनी समझको बदलने और विशाल बनानेके लिये, उनके विषयमें अपने भ्रांत या अर्द्ध-सत्य विचारोंको संशोधित करने, अधिक प्रकाशप्रद बोधोंको ग्रहण करने एवं अपूर्ण अन्तर्ज्ञानोंके स्थानपर अधिक पूर्ण अन्तर्ज्ञानोंको प्रतिष्ठित करनेके लिये तैयार रहे, साथ ही जो अनुभव अपने समयमें अन्तिम तथा संतोषकारक प्रतीत होते थे उनका समन्वय नये अनुभव तथा महत्तर विशालताओं एवं परात्परताओंके साथ करके उन अधिक तृप्तिकारी समन्वित अनुभवोंमें उन्हें निमज्जित करनेके लिये भी उद्यत रहे। और विशेषकर मानसिक तथा अन्य मध्यवर्ती प्रदेशोंमें असत्प्रेरक एवं प्रायः ही मोहक भ्रांतिकी संभावनाके लिये बहुत अधिक अवकाश रहता है, और यहाँ भी कुछ मात्रामें भावात्मक संदेहवाद उपयोगी होता है और, चाहे जो हो, अत्यधिक सावधानता एवं सूक्ष्म-बौद्धिक यथार्थताकी जरूरत तो होती है, पर हां, साधारण मनका वह संदेहवाद उचित नहीं जिसका अर्थ केवल अक्षमताजनक निषेध ही होता है। पूर्णयोगमें चैत्य अनुभवको, विशेषतः उस प्रकारके अनुभवको, जो प्रायः गुह्यवाद नामक विद्यासे तथा 'चामत्कारिक'के आस्वादोंसे संबद्ध होता है, आध्यात्मिक सत्यके पूर्णतया अधीन रखना चाहिये तथा उसे समझनेके लिये, उसके बारेमें प्रकाश और अनुमति पानेके लिये हमें सत्यके द्वारपर प्रतीक्षा करनी चाहिये। परन्तु शुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी कुछ ऐसे अनुभव हैं जो आंशिक हैं। वे कितने ही आकर्षक होनेपर भी अपनी पूर्ण प्रामाणिकता और महत्ता तभी प्राप्त करते हैं अथवा उनका ठीक प्रयोग भी तभी होता है जब हम एक पूर्णतर अनुभवकी ओर बढ़नेमें समर्थ होते हैं। और कुछ अन्य ऐसे अनुभव भी हैं जो अपने-आपमें सर्वथा सत्य, पूर्ण और निरपेक्ष हैं, पर यदि हम अपने-आपको उनतक सीमित रखें तो वे आध्यात्मिक सत्यके दूसरे पहलुओंको प्रकट नहीं होने देंगे और योगकी समग्रताके कुछ अंगोंको क्षति पहुँचायेंगे। इस प्रकार अवैयक्तिक शान्तिकी गहरी और तन्मयकारक निश्चलता, जो मनको शान्त करनेसे प्राप्त होती है, अपने-आपमें एक पूर्ण और निरपेक्ष वस्तु है, पर यदि हम उसीपर रुक जायँ तो वह अपने सहचारी निरपेक्ष तत्त्वको अर्थात् दिव्य कर्मके आनन्दको बहिष्कृत कर देगी जो उतना ही महान्, आवश्यक और सत्य है, कम नहीं। यहाँ भी हमारी श्रद्धा एक ऐसी स्वीकृति होनी चाहिये जो समस्त आध्यात्मिक अनुभवको ग्रहण करे, पर सदा ही अधिकाधिक ज्योति और सत्यके लिये

विशाल भावसे उन्मुक्त और उद्यत रहे, संकीर्णताजनक आसक्तिसे रहित हो तथा बाह्य रूपोंके प्रति ऐसा लगाव न रखे जो आध्यात्मिक सत्ता, चेतना, ज्ञान, शक्ति एवं कर्मकी समग्रताकी ओर तथा एक एवं बहुविध आनन्दकी संपूर्णताकी ओर भागवत शक्तिकी प्रगतिमें हस्तक्षेप करे।

एक सामान्य सिद्धान्त तथा उसका सतत एवं विशिष्ट प्रयोग—इन दोनों रूपोंमें जिस श्रद्धाकी माँग हमसे की जाती है उसका अर्थ है ईश्वर और शक्तिके सान्निध्य एवं मार्गदर्शनके प्रति हमारी सारी सत्ता और उसके सभी अंगोंकी एक विशाल एवं सदा-वृद्धिशील तथा सतत शुद्धतर, पूर्णतर एवं प्रबलतर अनुमति। जबतक हम शक्तिकी उपस्थितिसे सचेतन और ओतप्रोत नहीं हो जाते तबतक उसमें श्रद्धाके पूर्व या कम-से-कम उसके साथ-साथ हमारे अन्दर अपनी आध्यात्मिक संकल्पशक्ति और ऊर्जामें तथा एकता, स्वतंत्रता एवं पूर्णताकी ओर सफलतापूर्वक बढ़नेकी अपनी शक्तिमें सुदृढ़ और सतेज श्रद्धा अवश्य होनी चाहिये। मनुष्यको अपनी सत्ता और अपने विचारोंमें तथा अपनी शक्तियोंमें श्रद्धा इसलिये दी गयी है कि वह महत्तर आदर्शोंके लिये कार्य करके उनका सृजन करे तथा उनकी ओर ऊपर उठे और अन्तमें अपनी शक्ति परम आत्माकी वेदीपर एक योग्य आहुतिके रूपमें प्रस्तुत करे। उपनिषद्में कहा गया है कि यह आत्मा दुर्बलके द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।** पंगु बनानेवाले समस्त आत्म-अविश्वासको, कार्यसिद्धिके बारेमें अपनी शक्तिके समस्त संदेहको निरुत्साहित करना होगा, क्योंकि उसका अर्थ है अक्षमताको गलत स्वीकृति देना, अपने अन्दर दुर्बलताकी कल्पना करना और आत्माकी सर्वशक्तिमत्तासे इन्कार करना। वर्तमान अक्षमता हमपर कितना ही भारी दबाव क्यों न डालती प्रतीत हो, फिर भी वह श्रद्धाकी एक परीक्षा तथा एक अस्थायी कठिनाईमात्र है, और असमर्थताकी भावनाके आगे घुटने टेकना पूर्णयोगके साधकके लिये एक मूर्खतापूर्ण बात है, क्योंकि उसका लक्ष्य एक ऐसी पूर्णताको विकसित करना है जो पहलेसे ही विद्यमान है, सत्ताके अन्दर प्रसुप्त रूपमें उपस्थित है, क्योंकि मनुष्य दिव्य जीवनका बीज अपने अन्दर, अपनी आत्मामें धारण किये हुए है, सफलताकी सम्भावना भी उसके पुरुषार्थमें अनुस्यूत एवं अन्तर्निहित है और विजय सुनिश्चित है, क्योंकि उसके प्रयत्नके पीछे एक सर्वसमर्थ शक्तिकी पुकार एवं मार्गदर्शन विद्यमान है। पर इसके साथ ही इस आत्मश्रद्धाको राजसिक अहंकार और आध्यात्मिक गर्वके समस्त स्पर्शसे मुक्त एवं शुद्ध करना होगा। साधकको अपने मनमें यावत्संभव यह विचार रखना होगा कि उसकी सामर्थ्य अहंकारमय

अर्थमें उसकी अपनी नहीं है, बल्कि वह विराट् भागवत शक्तिकी है और उसके द्वारा इसके प्रयोगमें जो भी अहंकारमय भाव होता है वह अवश्य ही संकीर्णताका कारण होता है और अंतमें बाधक बनता है। विराट् भागवत शक्तिकी जो सामर्थ्य हमारी अभीप्साके पीछे विद्यमान है उसकी कोई सीमा नहीं, और जब उसका ठीक प्रकारसे आवाहन किया जाता है तो वह अभी या बादमें हमारे अन्दर अपनेको प्रवाहित करने तथा हर प्रकारकी अक्षमता और बाधाको दूर करनेसे चूक नहीं सकती; क्योंकि हमारे संघर्षके काल और अन्तराल यद्यपि सर्वप्रथम, एक साधनके रूपमें तथा अंशतः, हमारी श्रद्धा और पुरुषार्थकी शक्तिपर निर्भर करते हैं तथापि अन्ततः वे उस निगूढ़ परम आत्माके हाथोंमें ही हैं जो सब वस्तुओंका ज्ञानपूर्वक निर्धारण करता है और जो अकेला ही हमारे योगका स्वामी, ईश्वर, है।

भागवत शक्तिमें श्रद्धा हमारी सामर्थ्यके पीछे सदा ही रहनी चाहिये और जब शक्ति प्रकट हो जाय तो श्रद्धा असंदिग्ध और पूर्ण होनी या बन जानी चाहिये। ऐसी कोई चीज नहीं जो उसके लिये असंभव हो क्योंकि वह एक चिन्मय शक्ति तथा विराट् भगवती है जो सनातन कालसे सबका सृजन करनेवाली जननी है तथा परमात्माकी सर्वशक्तिमत्तासे सुसंपन्न है। संपूर्ण ज्ञान, समस्त शक्तियाँ, समस्त सफलता और विजय, समस्त कौशल और कर्म-कलाप उसीके हाथोंमें हैं और वे परम आत्माके ऐश्वर्यों तथा समस्त पूर्णताओं एवं सिद्धियोंसे परिपूर्ण हैं। वह महेश्वरी अर्थात् परम ज्ञानकी देवी है, और सब प्रकारके सत्योंके लिये तथा सत्यके सभी विशाल रूपोंके लिये अपनी अन्तर्दृष्टि हमें प्राप्त कराती है, हमारे अन्दर अपनी आध्यात्मिक-संकल्प संबन्धी यथार्थता, अपनी अतिमानसिक विशालताकी शान्ति और संवेग-शीलता तथा अपना ज्योतिर्मय आनन्द लाती है : वह महाकाली अर्थात् परम शक्तिकी देवी है, और समस्त शक्तियाँ, आत्म-बल, तपस्की उग्रतम कठोरता, संग्रामका वेग, विजय और अट्टहास्य उसीके अन्दर विद्यमान हैं, अट्टहास्य ऐसा कि जो पराजय और मृत्युको तथा अज्ञानकी शक्तियोंको तृणवत् समझता है : वह महालक्ष्मी है, परम प्रेम और आनन्दकी देवी है, और उसकी देनें हैं—आत्माकी सुषमा, आनन्दकी मोहकता और सुन्दरता, अभय-दान और प्रत्येक प्रकारका दैवी एवं मानवीय वरदान : वह महासरस्वती है, दिव्य कौशलकी तथा परम आत्माके सब कार्योंकी अधिष्ठात्री देवी है, और जिस योगको कर्म-कौशल, **योगः कर्मसु कौशलम्**, कहा जाता है वह महा-सरस्वतीका ही है, इसी प्रकार दिव्य ज्ञानके नाना उपयोग, आत्माका अपने

आपको जीवनके क्षेत्रमें प्रयुक्त करना और उसकी समस्वरताओंका आनन्द महासरस्वतीके ही गुण और कार्य हैं। अपनी सभी शक्तियों और अपने सभी रूपोंमें वह सनातन ईश्वरीके प्रभुत्वोंकी परमोच्च भावनाको अपने संग रखती है; साथ ही, किसी यंत्रसे जिन कार्योंकी माँग की जा सकती है उन सब प्रकारके कार्योंके लिये तीव्र और दिव्य सामर्थ्य, सर्वभूतोंकी सभी शक्तियोंके साथ एकता, सहानुभूति एवं सुखदु:खसहभागिता, मुक्त तदात्मता, और अतएव विश्वमें कार्य कर रहे समस्त दिव्य संकल्पके साथ स्वयंस्फूर्त एवं फलप्रद सामंजस्य—इन सब गुणोंको भी वह अपने संग रखती है। उसके सान्निध्य और उसकी शक्तियोंका घनिष्ट अनुभव, और हमारे भीतर और चारों ओर उसकी जो क्रियाएँ हो रही हैं उनके प्रति हमारी संपूर्ण सत्ताकी संतुष्ट स्वीकृति—यह भागवत शक्तिमें श्रद्धाकी चरम पूर्णता है।

और उसके पीछे ईश्वर और उसमें विश्वास पूर्णयोगकी श्रद्धाका सबसे प्रधान अंग है। हमें अपने अन्दर यह श्रद्धा धारण और पूर्णतया विकसित करनी चाहिये कि यहाँका सभी कुछ परम आत्मज्ञान और प्रज्ञाकी उन क्रियाओं-का परिणाम है जो विश्वकी विराट् परिस्थितियोंमें घटित होती हैं, हमारे अन्दर या चारों ओर जो कुछ भी होता है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं जो व्यर्थ हो या जिसका अपना नियत स्थान एवं समुचित अर्थ न हो, जब ईश्वर हमारे परमोच्च 'पुरुष' एवं आत्माके रूपमें हमारे कार्यको अपने हाथमें ले लेते हैं तब सभी कुछ संभव हो जाता है और जो कुछ वे पहले कर चुके हैं तथा जो कुछ वे भविष्यमें करेंगे वह सब उनके निर्भ्रान्त एवं पूर्वदर्शी मार्गनिर्देशका अंग था और होगा, साथ ही वह हमारे योगकी सफलता, हमारी पूर्णता एवं हमारे जीवन-कार्यके लिये भी अभिप्रेत था और होगा। जैसे-जैसे उच्चतर ज्ञानका द्वार खुलेगा यह श्रद्धा अधिकाधिक सार्थक सिद्ध होती जायगी, जो बड़े एवं छोटे मर्म हमारे संकुचित मनकी दृष्टिसे परे थे उन्हें हम अब देखने लगेंगे और तब श्रद्धा ज्ञानमें परिणत हो जायगी। तब हम संदेहकी जरा-सी भी संभावनाके बिना यह देखेंगे कि सभी कुछ एक ही संकल्पशक्तिकी क्रियाके अन्तर्गत घटित होता है और वह संकल्प-शक्ति प्रज्ञा भी है क्योंकि वह जीवनमें सदा ही आत्मा और प्रकृतिकी सच्ची क्रियाओंको विकसित करती है। जब हम ईश्वरकी उपस्थितिको अनुभव करेंगे और अपनी संपूर्ण सत्ता एवं चेतनाको एवं अपने समस्त चिंतन, संकल्प और कर्मको उन्हींके हाथमें अनुभव करेंगे तथा सभी वस्तुओंमें एवं अपनी आत्मा और प्रकृतिके प्रत्येक करणके द्वारा परमात्माकी प्रत्यक्ष, अन्तर्यामी और प्रभुत्वशालिनी संकल्पशक्तिको अनुमति प्रदान करेंगे तब वह हमारी सत्ताकी

स्वीकृति अर्थात् श्रद्धाकी पराकाष्ठा होगी। और श्रद्धाकी वह सर्वोच्च पूर्णता दिव्य शक्तिके लिये एक अवसर एवं पूर्ण आधारका भी काम करेगी : पूर्णता प्राप्त कर लेनेपर वह ज्योतिर्मय अतिमानसिक शक्तिके विकास, आविर्भाव और कार्य-कलापका आधार बनेगी।

उन्नीसवाँ अध्याय

अतिमानसका स्वरूप

योगका लक्ष्य यह है कि मानव-सत्ताको साधारण मनकी चेतनासे आत्माकी चेतनामें उठा ले जाया जाय। साधारण मनकी चेतना प्राणिक और भौतिक प्रकृतिके नियंत्रणके अधीन है, जन्म, मृत्यु और कालके द्वारा तथा मुक्त मन-प्राण-शरीरकी आवश्यकताओं एवं कामनाओंके द्वारा पूर्णतया आवद्ध है। उधर, आत्माकी चेतना अपनी सत्तामें मुक्त है और मन-प्राण-शरीर-रूपी अवस्थाओंको आत्माके ऐसे स्वीकृत या स्वयंनिर्वाचित निर्धारणोंके रूपमें प्रयुक्त करती है जो उसे (आत्माको) एक मूर्त रूप प्रदान करते हैं। इनका प्रयोग वह मुक्त आत्मज्ञान, सत्ताके मुक्त संकल्प एवं सामर्थ्य तथा मुक्त आनन्दके साथ करती है। साधारण मर्त्य मन जिसमें हम निवास करते हैं और हमारी दिव्य एवं अमर सत्ताकी अध्यात्म-चेतना जो योगके उच्चतम परिणामके रूपमें प्राप्त होती है—इन दोनोंमें मूल भेद यही है। यह एक प्रकारका आमूल रूपान्तर है, यह उस परिवर्तन जितना ही महान् है किंवा उससे भी अधिक महान् है जिसे, हमारी समझमें, विकासात्मक प्रकृति प्राण-प्रधान पशुसे पूर्णतः मानसीकृत मानव-चेतनाकी ओर अपने संक्रमणमें साधित कर चुकी है। पशुमें सचेतन प्राणमय मन है, पर उसमें किसी उच्चतर वस्तुके जो भी आरंभिक संकेत हैं वे वुद्धिकी प्राथमिक झाँकी या स्थूल इंगितमात्र हैं। पर मनुष्यमें वुद्धि मानसिक वोधशक्ति, संकल्प, भावावेग, सौन्दर्यवृत्ति और तर्कवुद्धिका उज्ज्वल रूप वन जाती है। मनकी चोटियोंतक ऊँचे उठकर और उसकी गहराइयोंके द्वारा गभीर वनकर मनुष्य अपने अन्दर स्थित किसी महान् एवं दिव्य सत्ताको जान जाता है जिसकी ओर कि यह सव कुछ गति कर रहा है। वह सत्ता एक ऐसी वस्तु है जो कि वह बन सकता है, पर अभीतक वना नहीं है; वह अपने मनकी शक्तियोंको, अपनी ज्ञानशक्तिको तथा संकल्प, भावावेग एवं सौन्दर्यवोधकी शक्तिको इसी वस्तुकी ओर लगा देता है, ताकि वह इसे ढूंढ़ सके, इसका जितना कुछ स्वरूप हो सकता है उस सारेको हृदयंगम करके पूर्ण रूपसे जान सके, स्वयं यही वन सके और इसके महत्तर चैतन्य, आनन्द एवं अस्तित्वमें तथा इसकी सर्वोच्च अभिव्यक्तिकी शक्तिमें पूर्ण रूपसे अपना

अस्तित्व धारण कर सके। परन्तु अपने सामान्य मनमें वह इस उच्चतर अवस्थाका जितना कुछ अंश प्राप्त करता है वह उसके अन्दर स्थित आत्म-तत्वकी श्री-शोभा, ज्योति, महिमा और भगवत्ताका एक संकेत, प्राथमिक झाँकी एवं स्थूल इंगितमात्र है। इसके पूर्व कि वह इस महत्तर वस्तुको, जो कि वह बन सकता है, अपने समक्ष एक सर्वथा वास्तविक, नित्य-अटल एवं सदा-उपस्थित वस्तुके रूपमें अनुभव कर सके और जो वस्तु आज उसके लिये अधिक-से-अधिक एक प्रोज्ज्वल अभीप्सामात्र है उसमें पूर्ण रूपसे निवास कर सके, उससे यह माँग की जाती है कि वह अपनी सत्ताके सभी अंगोंको आध्यात्मिक चेतनाके साँचों और यंत्रोंमें पूर्णतया रूपांतरित कर दे। उसे पूर्णयोगद्वारा एक महत्तर भागवत चेतनाको अभिवर्द्धित करने तथा उसमें पूर्णतया विकसित होनेका यत्न करना चाहिये।

इस रूपान्तरके लिये जिस आत्मसिद्धियोगकी आवश्यकता है उसका स्वरूप, जहाँतक हम उसपर विचार करते आ रहे हैं, यह है—मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृतिकी प्रारंभिक शुद्धि, निम्नतर प्रकृतिकी ग्रंथियोंसे मुक्ति, फलतः, सदा ही कामनामय पुरुषकी अज्ञानमय एवं विक्षुब्ध क्रियाके अधीन रहनेवाली अहंकारमय अवस्थाके स्थानपर एक विशाल और ज्योतिर्मय स्थितिशील समताकी स्थापना करना जो बुद्धि, भावप्रधान मन, प्राणिक मन और भौतिक प्रकृतिको शान्त कर देती है और हमारे अन्दर आत्माकी शान्ति एवं स्वतंत्रता लाती है, और अन्तमें, निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाके स्थानपर, ईश्वरके नियंत्रणके अधीन रहनेवाली परमोच्च और विराट् भागवत शक्तिकी क्रियाको सक्रिय रूपसे स्थापित करना,—यह एक ऐसी क्रिया है जिसका व्यापार पूर्णरूपेण संपन्न होनेसे पहले प्रकृतिके करणोंकी पूर्णता प्राप्त कर लेना आवश्यक है। और यद्यपि ये सब चीजें मिलकर अभी योगका सर्वस्व नहीं हैं तथापि ये वर्तमान सामान्य चेतनासे कहीं अधिक महान् एक चेतनाका निर्माण करती ही हैं जिसका आधार आध्यात्मिक है और जो एक महत्तर ज्योति, शक्ति एवं आनन्दसे परिचालित होती है, और इतना कुछ संपन्न हो जानेके बाद यह अधिक सहज हो सकता है कि साधक इसीसे संतुष्ट रहे और यह सोचे कि दिव्य रूपान्तरके लिये जो कुछ भी आवश्यक था वह सभी पूरा हो चुका है।

परन्तु प्रकाशकी वृद्धिके साथ-साथ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है; वह यह कि भागवत शक्ति मनुष्यमें किस माध्यमके द्वारा कार्य करेगी? क्या उसका कार्य सदा मनके द्वारा तथा मानसिक स्तरपर ही होगा अथवा वह किसी ऐसी महत्तर अतिमानसिक रचनाके द्वारा होगा जो दिव्य क्रियाके

करनेके लिये अधिक उपयुक्त माध्यम है और जो मानसिक व्यापारोंको अपने हाथमें लेकर उनके स्थानपर स्वयं प्रतिष्ठित हो जायगी ? यदि सदा मनको ही यंत्र बने रहना है तो, यद्यपि हम अपने समस्त आन्तर और वाह्य मानवीय कर्मका सूत्रपात और संचालन करनेवाली एक दिव्यतर शक्तिको जान जायेंगे तथापि इस शक्तिको अपने ज्ञान, संकल्प, आनन्द तथा अन्य सभी वस्तुओंको मानसिक आकारके रूपमें गढ़ना होगा, और इसका अर्थ यह हुआ कि उसे उन ज्ञान आदिको एक निम्न प्रकारकी क्रियामें परिवर्तित करना होगा जो भागवत चेतना और उसकी शक्तिकी अपनी स्वाभाविक परमोच्च क्रियाओंसे भिन्न होगी। मन अपनी सीमाओंमें आध्यात्मिक, शुद्ध एवं मुक्त होकर तथा पूर्णता प्राप्त करके अतिमानसिक वस्तुओंके सच्चे मानसिक रूपांतरके यथासंभव अधिक-से-अधिक निकट पहुँच सकता है, किन्तु हमें पता चल जायगा कि अन्ततोगत्वा यह एक आपेक्षिक सचाई है और है एक अपूर्ण पूर्णता। मन अपने स्वभावके ही कारण सर्वथा यथार्थ सचाईके साथ रूपांतर नहीं कर सकता, न वह दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्दकी एकीकृत पूर्णताके साथ कार्य ही कर सकता है, क्योंकि वह सान्तके विभागोंके साथ विभाजनके आधारपर व्यवहार करनेका यंत्र है, अतएव, वह निम्नतर प्रकृतिकी क्रियाके लिये, जिसमें हम निवास करते हैं, एक गौण यंत्र एवं एक प्रकारका प्रतिनिधि है। मन अपने अन्दर अनन्तको प्रतिविम्वित कर सकता है, वह अपने-आपको उसके अन्दर विलीन कर सकता है, वह एक विशाल निष्क्रियताके द्वारा उसमें निवास कर सकता है, वह उसके निर्देशोंको ग्रहण करके उन्हें अपने ढंगसे क्रियान्वित कर सकता है,—एक ऐसे ढंगसे जो सदैव खण्डात्मक एवं गौण होनेके साथ-साथ न्यूनाधिक विकृतिके अधीन होता है,—पर यह सब करता हुआ भी वह स्वयं अपने ही ज्ञानके द्वारा कार्य करते हुए अनन्त आत्माका सीधा और पूर्ण यंत्र नहीं वन सकता। अनन्त चेतनाकी क्रियाको संघटित करनेवाली और आत्माके सत्य तथा उसकी अभिव्यक्तिके नियमके अनुसार समस्त वस्तुओंका निर्धारण करनेवाली भागवत संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञा मानसिक नहीं, वरन् अतिमानसिक वस्तु है और अपनी उस रचनामें भी, जो मनके निकटतम है, वह अपनी ज्योति और शक्तिमें मानसिक चेतनासे उतनी ऊपर है जितनी कि मनुष्यकी मानसिक चेतना निम्नतर प्राणियोंके प्राणिक मनसे ऊपर है। प्रश्न यह है कि सिद्ध मनुष्य कहाँतक अपने-आपको मनसे ऊपर उठा सकता है, अतिमानसके साथ किसी प्रकारका एकीकारक मिलन प्राप्त कर सकता है और अपने अन्दर अतिमानसका एक

स्तर, एक प्रकारका विकसित विज्ञान निर्मित कर सकता है जिसके रूप और शक्ति-सामर्थ्यकी सहायतासे भागवत शक्ति, मानसिक रूपांतरके द्वारा नहीं, वरन् अपनी अतिमानसिक प्रकृतिमें अन्तर्जात रूपसे, सीधे ही कार्य कर सके।

यह विषय, हमारे चिन्तन और अनुभवकी साधारण पद्धतियोंसे इतनी दूरका है कि इसके संबंधमें पहले यह बता देना यहाँ आवश्यक है कि वैश्व विज्ञान या दिव्य अतिमानस क्या है, विश्वके वास्तविक कार्य-व्यापारमें वह किस रूपमें प्रकट होता है और मनुष्यके वर्तमान मनोविज्ञानके साथ उसके क्या संबंध हैं? तब यह स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि अतिमानस हमारी बुद्धिके निकट अतिबौद्धिक है और उसकी क्रियाएँ हमारे बोधके प्रति गुह्य हैं, तो भी वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अबौद्धिक रूपसे रहस्यमय हो, वरंच उसका अस्तित्व एवं प्रादुर्भाव जगत्‌की प्रकृतिका एक अनिवार्य एवं तर्कसिद्ध सत्य है, हाँ, इसमें यह शर्त तो सदा ही है कि हम यह स्वीकार करें कि केवल जड़तत्व या मन ही नहीं, वरन् आत्मा भी एक मूलभूत सद्वस्तु है और वह एक विश्वव्यापक उपस्थितिके रूपमें सर्वत्र विद्यमान है। सभी वस्तुएँ अनन्त आत्माकी ही एक अभिव्यक्ति हैं जिसे वह अपनी ही सत्ता एवं चेतनामेंसे और उस चेतनाकी अपने-आपको उपलब्ध, निर्धारित एवं चरितार्थ करनेवाली शक्तिके द्वारा संपन्न करती है। हम कह सकते हैं कि अनन्त इस सृष्टिमें अपनी सत्ताकी अभिव्यक्तिके नियमको अपने आत्म-ज्ञानकी शक्तिके द्वारा व्यवस्थित करता है, यहाँ सृष्टिसे अभिप्राय इस इन्द्रियगोचर जड़ जगत्‌से ही नहीं, वरन् उस सब कुछसे है जो इसके पीछे, सत्ताके किन्हीं भी स्तरोंपर विद्यमान है। सभी वस्तुओंकी व्यवस्था वही करता है, यह व्यवस्था वह किसी अदम्य निश्चेतन प्रेरणाके वश होकर नहीं, अपने मनकी कल्पना या मौजके अनुसार नहीं, बल्कि अपनी असीम आध्यात्मिक स्वतंत्रतामें अपनी सत्ताके, अपनी अनन्त संभाव्य शक्तियोंके तथा उन संभाव्य शक्तियोंमेंसे आत्म-सर्जन करनेकी अपनी इच्छाके आत्म-सत्यके अनुसार करता है, और इस आत्म-सत्यका विधान ही वह अटल नियम है जो प्रत्येक उत्पन्न वस्तुको उसकी अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करने और विकसित होनेको बाध्य करता है। जो अनन्त अपनी अभिव्यक्तिको इस प्रकार संघटित एवं व्यवस्थित करता है उसे प्रज्ञा (Intelligence) एवं शब्दब्रह्म (Logos)का नाम दिया जा सकता है, यद्यपि यह एक अनुपयुक्त नाम ही होगा। यह प्रज्ञा किंवा शब्दब्रह्म उस मानसिक प्रज्ञासे, जो हमारे लिये चेतनाकी ऊँची-से-ऊँची उपलब्ध भूमिका

एवं अभिव्यक्ति है, स्पष्टतः ही एक अनन्तगुना महान् वस्तु है, ज्ञानमें एक अधिक व्यापक, आत्म-शक्तिमें एक अधिक अदमनीय, अपनी आत्म-सत्ताके आनन्द तथा अपनी सक्रिय सत्ता और कार्यकलापके आनन्द दोनोंमें एक अधिक विशाल प्रज्ञा है। इसी प्रज्ञाको जो अपने-आपमें अनन्त है, पर अपने आत्म-सर्जन तथा कार्यकलापमें स्वतंत्रतापूर्वक व्यवस्था करनेवाली तथा ऐसी सुघटित है कि अपने-आप आत्म-निर्धारण भी करती है, हम अपने वर्तमान प्रयोजनके लिये दिव्य अतिमानस या विज्ञानका नाम दे सकते हैं।

इस अतिमानसका मूल स्वभाव यह है कि इसका समस्त ज्ञान मूलतः तादात्म्य एवं एकत्वके द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है, और जब यह अपनेमें अनगिनत प्रत्यक्ष विभाग और प्रभेद-कारक परिवर्तन करता है तब भी, इसके व्यापारोंमें क्रिया करनेवाला समस्त ज्ञान, इन विभागोंमें भी, तादात्म्य और एकत्वद्वारा प्राप्त इस पूर्ण ज्ञानपर आधारित होता है और उसीके द्वारा धारित, प्रकाशित एवं परिचालित भी होता है। परम आत्मा सब जगह एक ही है और वह सभी वस्तुओंको अपनी सत्ताके रूपमें और अपने ही अन्दर विद्यमान जानता है, उन्हें सदा इसी रूपमें देखता है और अतएव उन्हें घनिष्ठ एवं पूर्ण रूपसे जानता है, अर्थात् उनका वास्तविक और प्रतीयमान रूप, उनका सत्य और नियम तथा उनकी प्रकृति और क्रियावलिका पूर्ण भाव, अर्थ और आकार जानता है। जब वह किसी पदार्थको ज्ञानके विषयके रूपमें देखता है तव भी वह उसे अपनी सत्ताके रूपमें तथा अपने अन्दर देखता है, न कि किसी ऐसी वस्तुके रूपमें जो उससे इतर या विभक्त हो और, अतएव, जिसकी प्रकृति, रचना एवं क्रियावलिके विषयमें वह पहले अनभिज्ञ हो और उनके विषयमें उसे जाननेकी जरूरत हो, जिस प्रकार मन पहले अपने विषयसे अनभिज्ञ होता है और उसके संबंधमें उसे जानना होता है, क्योंकि मन अपने विषयसे विभक्त है और उसे किसी ऐसी वस्तुके रूपमें देखता, अनुभव करता, और मिलता है जो उससे भिन्न तथा उसकी अपनी सत्तासे बाहर हो। अपनी आभ्यंतरिक सत्ता और उसकी गतियोंके विषयमें हमें जो मानसिक बोध है वह यद्यपि इस तदात्मता और आत्म-ज्ञानकी ओर संकेत कर सकता है तथापि वह यही चीज नहीं है, क्योंकि जिन चीजोंको वह देखता है वह हमारी सत्ताकी मानसिक आकृतियाँ हैं न कि हमारी अन्तरतम या संपूर्ण सत्ता, और जो कुछ हमें दिखायी देता है वह हमारी सत्ताकी एक आंशिक, गौण एवं ऊपरी क्रियामात्र है जव कि हमारी सत्ताके विस्तृततम भाग, जो अत्यंत गुप्त रूपसे सब

चीजोंका निर्धारण करते हैं, हमारे मनके लिये गुह्य ही हैं। मनोमय सत्ताके विपरीत, अतिमानसिक आत्माको अपना, अपने संपूर्ण विश्वका तथा उन सब चीजोंका, जो इस विश्वमें उसकी रचनाएँ एवं आत्म-आकृतियाँ हैं, वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि उसे उन सबका अन्तरतम एवं समग्र ज्ञान है।

परमोच्च **अतिमानस**के स्वभावकी दूसरी विशेषता यह है कि उसका ज्ञान समग्र होनेके कारण एक वास्तविक ज्ञान है। सर्वप्रथम, उसमें एक परात्पर दृष्टि है और वह इस विश्वको विश्वकी परिभाषामें ही नहीं देखता, बल्कि जिस सर्वोच्च एवं सनातन सद्वस्तुसे यह उद्‌भूत होता है तथा जिसकी यह एक अभिव्यक्ति है उसके साथ इसके यथार्थ संबंधकी दृष्टिसे भी देखता है। वह वैश्व अभिव्यक्तिका सत्य, मूल-भाव, और संपूर्ण अर्थ जानता है, क्योंकि यह अभिव्यक्ति जिस सत्ताको अंशतः व्यक्त करती है उसके संपूर्ण सार एवं समस्त अनन्त सत्तत्वको तथा उसकी समस्त परिणामभूत और शाश्वत संभाव्य शक्तिको वह जानता है। वह सापेक्षको ठीक-ठीक जानता है, क्योंकि वह उस निरपेक्ष और उसके सब सत्योंको जानता है जिसकी ओर सापेक्ष सत्य निर्देश करते हैं और जिसके वे खण्डात्मक या परिवर्तित या संवृत रूप हैं। दूसरे, वह विश्वमय है और जो कुछ भी वैयक्तिक है उस सबको वह विश्वमय या विराट्‌की परिभाषामें तथा व्यक्ति-संबंधी अपनी परिभाषामें देखता है और इन सब वैयक्तिक रूपोंको विश्वके साथ इनके यथार्थ और पूर्ण संबंधकी स्थितिमें धारण किये रहता है। तीसरे, व्यष्टिरूप पदार्थोंके संबंधमें पृथक्-पृथक् रूपसे, उसकी दृष्टि समग्र है, क्योंकि वह प्रत्येक पदार्थके उस अंतरतम सारतत्वको जानता है जिसके कि और सभी अंश परिणाम होते हैं, उसकी उस समग्रताको जानता है जो उसका पूर्ण स्वरूप है और उसके भागों तथा उनके संबंधों एवं परस्पर निर्भरताओंको भी जानता है,—साथ ही वह अन्य पदार्थोंके साथ उसके संबंधों और उनपर उसकी निर्भरताओंको और विश्वके सकल गूढ़ार्थों और प्रकट उद्देश्योंके साथ उसके संबंधको भी जानता है।

इसके विपरीत, मन इन सब दिशाओंमें सीमित और अशक्त है। मन जब बुद्धिकी एक सतत उड़ानके द्वारा 'निरपेक्ष'की कल्पना कर भी लेता है तब भी वह उसके साथ तादात्म्य नहीं प्राप्त कर सकता, बल्कि वह एक प्रकारकी मूर्च्छा या निर्वाणकी स्थितिमें उसके अन्दर लीन भर हो सकता है : वह कुछ-एक निरपेक्ष तत्त्वोंका एक प्रकारका बोध या इंगितभर प्राप्त कर सकता है और फिर उन्हें वह मानसिक विचारके द्वारा एक सापेक्ष रूपमें प्रस्तुत कर देता है। वह विराट् सत्ताको हृदयंगम नहीं कर

सकता, बल्कि व्यष्टिके विस्तार या आपात-पृथक् वस्तुओंके संयोगके द्वारा उसके विषयमें केवल किसी कल्पनापर पहुँच जाता है और अतएव उसे या तो एक अनिर्दिष्ट अनन्त या अनिर्धारित सत्ता या एक अर्द्ध-निर्धारित विशालताके रूपमें या फिर केवल एक बाह्य योजना या निर्मित आकृतिके रूपमें देखता है। विराट्की अविभाज्य सत्ता एवं क्रिया, जो उसका वास्तविक सत्य-स्वरूप है, मनकी समझके बाहर रह जाता है, क्योंकि मन उसपर विश्लेषणात्मक ढंगसे अर्थात् अपने विभाजनोंको इकाइयाँ समझकर तथा संश्लेषणात्मक ढंगसे, अर्थात् इन इकाइयोंके अनेकविध संयोग बनाकर, विचार करता हुआ उसका ज्ञान प्राप्त करता है, परन्तु सारभूत एकत्वको नहीं पकड़ पाता और न पूर्ण रूपसे उसकी परिभाषामें सोच ही सकता है, यद्यपि वह उसकी कल्पनातक पहुँच सकता है तथा उसके कुछ-एक गौण परिणाम भी प्राप्त कर सकता है। अपि च, वह व्यक्ति एवं प्रत्यक्षतः-पृथक् वस्तुको भी सच्चे और पूर्ण रूपमें नहीं जान सकता, क्योंकि यहाँ भी वह उसी ढंगसे आगे बढ़ता है अर्थात् वह उसके भागों, घटकों तथा गुणोंका विश्लेषण करके उन्हें संयुक्त करता है। इस प्रक्रियाके द्वारा वह उसकी एक योजना खड़ी करता है जो उसकी एक बाह्य आकृतिमात्र होती है। वह अपने विषयके तात्विक एवं अन्तरतम सत्यका संकेत प्राप्त कर सकता है, पर उस तात्विक ज्ञानमें शाश्वत और ज्योतिर्मय रूपसे निवास नहीं कर सकता, और न शेष सब चीजोंपर भीतरसे बाहरकी ओर इस प्रकार कार्य ही कर सकता है कि बाह्य परिस्थितियाँ अपने अंतरंग सत्य और अर्थमें किसी ऐसे आध्यात्मिक सत्यका, जो विषयका सत्य स्वरूप होता है, अनिवार्य परिणाम, आत्म-प्राकट्य, रूप और कार्य प्रतीत हों। यह सब कार्य मन संपन्न नहीं कर सकता, हाँ, इसके लिये वह केवल यत्न कर सकता है तथा इसे एक आभास दे सकता है; पर अतिमानसिक ज्ञानके लिये यह एक सहज और स्वाभाविक कार्य है।

इस भेदसे अतिमानसकी एक तीसरी विशेषता प्रकट होती है जो इन दो प्रकारके ज्ञानोंका व्यावहारिक भेद हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। वह यह है कि अतिमानस प्रत्यक्ष रूपसे ऋत-चित् है, अन्तर्दृष्टि, सहज-ज्ञान और स्वतःस्फूर्त ज्ञानकी दिव्य शक्ति है, एक विज्ञानमय विचार है जो सभी सत्योंको प्रत्यक्ष रूपमें प्राप्त करता है और ज्ञानमें अज्ञानसे पहुँचनेके लिये अवलोकन-निरीक्षण आदि खोजों तथा तर्क-शृंखला आदि साधनों-पर निर्भर नहीं करता। अतिमानस अपना समस्त ज्ञान अपने ही अन्दर समाये हुए है, अपनी ज्योतिर्मय दिव्य प्रकृति रूपमें संपूर्ण सत्यको सनातन

कालसे धारण किये है और अपने निम्न, सीमित या व्यष्टिभावापन्न रूपोंमें भी उसे प्रसुप्त सत्यको अपने अन्दरसे केवल वाहर लाना होता है, —यह वही अनुभव है जिसे प्राचीन मनीषी अपने इस कथनमें व्यक्त करनेका यत्न करते थे कि समस्त ज्ञान-प्राप्ति अपने वास्तविक उद्गम और स्वरूपमें अन्दर विद्यमान ज्ञानकी स्मृतिमात्र है। अतिमानस सनातन रूपसे और सभी स्तरोंपर सत्यसे सचेतन और मनोमय तथा अन्नमय सत्तामें भी गुप्त रूपसे विद्यमान है, मानसिक अज्ञानकी धूमिल-से-धूमिल वस्तुओंको भी सव ओरसे देखता और जानता है और उसकी प्रक्रियाओंको समझता है तथा उसकी प्रक्रियाओंके पीछे स्थित रहता हुआ उनका नियमन करता है, क्योंकि मनकी प्रत्येक वस्तु अतिमानससे ही निकली है—और उसे अवश्य ही उसीसे निकली होना चाहिये क्योंकि प्रत्येक वस्तु आत्मतत्वसे निकली है। जो कुछ भी मानसिक है वह सव अतिमानसिक सत्यका केवल एक आंशिक, परिवर्तित, संवृत या अर्द्ध-संवृत रूप है, उसके महत्तर ज्ञानका एक विकृत या गौण एवं अपूर्ण रूप है। मन अज्ञानसे अपनी यात्रा शुरू करता है और ज्ञानकी ओर अग्रसर होता है। यथार्थ तथ्य यह है कि इस जड़ जगत्में वह एक आरंभिक विराट् निश्चेतनामेंसे प्रकट होता है जो वस्तुत: सर्वसचेतन आत्माके अपनी एकाग्र एवं आत्म-विस्मृत कर्मशक्तिमें निवर्तनका परिणाम है; और अतएव वह विकास-प्रक्रियाका एक अंग प्रतीत होता है, सर्वप्रथम वह प्रत्यक्ष संवेदनके लिये यत्नशील एक प्राणानुभूतिके रूपमें प्रकट होता है, उसके वाद संवेदन प्राप्त करनेमें समर्थ प्राणिक मनका उदय होता है और फिर ये उसमेंसे भावप्रधान एवं कामनामय मन, सचेतन संकल्पशक्ति तथा वर्द्धनशील बुद्धि—ये सव विकसित एवं व्यक्त होते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अवस्था निगूढ़ अतिमानस एवं आत्माकी दवी हुई महत्तर शक्तिका आविर्भाव करनेवाली होती है।

मनुष्यका मन, जो अपने स्वरूप, अपने आधार और अपनी परिस्थितियोंके विषयमें चिन्तन एवं सुसंवद्ध अन्वेषण करने तथा उन्हें समझनेमें समर्थ है, सत्यतक पहुँचता तो है पर मूल अज्ञानको पृष्ठभूमिमें रखते हुए ही। यह सत्य अनिश्चितता और भ्रान्तिकी सतत आच्छादक कुहेलिकासे आकुलित होता है। मनके निश्चय सापेक्ष होते हैं और अधिकांशमें वे संदिग्ध निश्चय होते हैं या फिर वे एक तात्त्विक नहीं वरन् असमग्र एवं अपूर्ण अनुभवके सुनिश्चित खण्डात्मक निश्चयमात्र होते हैं। वह खोज-पर-खोज करता है, एक-के-वाद एक विचारपर पहुँचता है, एक अनुभवमें दूसरा अनुभव जोड़ता है और परीक्षणपर परीक्षण करता है, —पर इस सव प्रक्रियामें वह खोता, त्यागता और भुलाता रहता है और जैसे-जैसे वह आगे वढ़ता है

उसे बहुत कुछ पुनः-पुनः प्राप्त करना होता है, —और वह युक्ति-तर्कके तथा अन्य प्रकारके क्रमोंकी, मूलतत्वों और उनकी परस्पर निर्भरताओंकी तथा व्यापक सिद्धान्तों और उनके प्रयोगकी शृंखला स्थापित करके अपने जाने हुए सभी तथ्योंमें संबंध स्थापित करनेका यत्न करता है और अपनी उपाय-योजनाओंसे एक ऐसी इमारत खड़ी कर लेता है जिसमें वह मानसिक ढंगसे निवास और गति कर सके तथा कर्म, उपभोग और श्रम कर सके। यह मानसिक ज्ञान अपने विस्तारमें सदा ही सीमित होता है : इतना ही नहीं, बल्कि इसके साथ ही मन अन्य स्वेच्छाकृत बाधाएँ भी खड़ी कर लेता है, अपना मत बनानेकी मानसिक युक्तिके द्वारा सत्यके कुछ अंगों और पक्षोंको तो स्वीकार करता है और शेष सबको बहिष्कृत कर देता है, क्योंकि यदि उसने सभी विचारोंको उन्मुक्त प्रवेश और क्रीड़ाकी अनुमति दी, यदि वह सत्यकी असीमताओंको सहन करनेको सहमत हुआ, तो वह अपने-आपको समन्वयरहित विविधता तथा अनिर्धारित बृहत्तामें खो बैठेगा और कार्य करने तथा व्यावहारिक परिणामों एवं फलप्रद रचनाकी ओर बढ़नेमें असमर्थ ही रहेगा। मानसिक ज्ञान जब अधिक-से-अधिक विशाल और पूर्ण होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है, अर्थात् वह वास्तविक वस्तुका नहीं बल्कि उसके आकारोंका ज्ञान होता है, प्रतिरूपोंकी एक पद्धति या संकेतोंकी एक योजनामात्र होता है, —निःसंदेह, यहाँ हम उन कतिपय विशेष गतियोंको छोड़ देते हैं जिनमें वह अपनेसे परे जाता है अर्थात् मानसिक विचारको पार कर आध्यात्मिक तादात्म्यकी ओर अग्रसर होता है, पर इस क्षेत्रमें उसे कुछ-एक विच्छिन्न और तीव्र आध्यात्मिक अनुभूतियोंसे परे जाना अथवा ज्ञानके इन विरल तादात्म्योंके यथार्थ क्रियात्मक परिणाम निकालना या इन परिणामोंको क्रियान्वित या व्यवस्थित करना अत्यंत ही कठिन लगता है। इस गहनतम ज्ञानकी पूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति और चरितार्थताके लिये बुद्धिसे अधिक महान् किसी शक्तिकी आवश्यकता है।

यह कार्य अनन्तके साथ घनिष्ठतया संबद्ध अतिमानस ही कर सकता है। अतिमानस सत्यके मूलभाव एवं सार, मुख एवं शरीर और परिणाम एवं कार्यको, तथा उसके मूल सिद्धान्तों और उनपर आश्रित उपसिद्धान्तोंको एक ही अविभाज्य समष्टिके रूपमें प्रत्यक्षतया देखता है और इसलिये परिस्थितिजन्य परिणामोंको तात्विक ज्ञानकी शक्तिके द्वारा गठित कर सकता है, आत्माकी अभिन्नताओंकी ज्योतिमें उसकी विविधताओंको उत्पन्न कर सकता है, उसके एकत्वके सत्यमें उसके प्रतीयमान विभेदोंको प्रकट कर सकता है। अतिमानस अपने निज सत्यका ज्ञाता और स्रष्टा है, मनुष्यका

मन मिश्रित सत्य और भ्रान्तिके अर्द्ध-प्रकाश और अर्द्ध-अंधकारमें ही ज्ञान प्राप्त करता और सृजन करता है और एक ऐसी वस्तुका भी सृजन करता है जो उसे अपनेसे परेके किसी महत्तर तत्त्वसे प्राप्त होती है, पर जिसे वह परिवर्तित और अनूदित करके हीन बना देता है। मनुष्य मानसिक चेतना-में निवास करता है जो दो प्रकारकी चेतनाओंके बीचमें स्थित है। इसके एक ओर तो है विशाल अवचेतन जो मनुष्यकी दृष्टिके लिये एक अंध-कारमय निश्चेतना है और दूसरी ओर है बृहत्तर अतिचेतन जिसे वह स्वभाववश एक अन्य पर ज्योतिर्मय निश्चेतना समझनेकी प्रवृत्ति रखता है, क्योंकि उसका चेतना-संबंधी विचार उसके अपने मानसिक संवेदन और बुद्धिरूपी बीचके स्तरतक ही सीमित है। इस ज्योतिर्मय अतिचेतनामें ही अतिमानस और आत्मतत्त्वके स्तर विद्यमान हैं।

और फिर, अतिमानस ज्ञाता होनेके साथ-साथ कार्य और सृजन भी करता है। अतएव वह केवल प्रत्यक्ष सत्य-चेतना ही नहीं है बल्कि आलो-कित, प्रत्यक्ष एवं स्वतः-स्फूर्त सत्य-संकल्प भी है। आत्मज्ञानसंपन्न आत्माके संकल्पमें उसके ज्ञान और संकल्पके बीच कोई विरोध, विभाजन या भेद नहीं है और न हो ही सकता है। आध्यात्मिक संकल्पशक्ति परम आत्माकी चिन्मय सत्ताका तपस् या ज्ञानदीप्त बल है जो परम आत्मामें जो कुछ भी है उस सबको निर्भ्रान्त रूपसे क्रियान्वित करता है। यह निर्भ्रान्त क्रिया सभी पदार्थोंमें, जो अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करते हैं, देखनेमें आती है। सभी बल-सामर्थ्यमें जो अपने अन्दर विद्यमान शक्तिके अनुसार परिणाम और घटनाकी सृष्टि करता है, तथा प्रत्येक कार्यमें जो अपने स्वरूप और उद्देश्यके अन्दर निहित फल और घटनाको जन्म देता है यह क्रिया पायी जाती है। इसीको हम इसके विभिन्न पक्षोंमें प्रकृतिका नियम, कर्म, नियति और दैव इन नानाविध नामोंसे पुकारते हैं। मनको ये वस्तुएँ अपने बाहर या ऊपर अवस्थित किसी शक्तिकी क्रियाएँ प्रतीत होती हैं जिनमें स्वयं वह भी गुँथा एवं फँसा हुआ है और जिनमें वह एक प्रकारके सहायक व्यक्तिगत प्रयत्नके द्वारा ही हस्तक्षेप करता है। उसका प्रयत्न कुछ अंशमें तो लक्ष्यको प्राप्त करता एवं सफल होता है, और कुछ अंशमें असफल होता एवं लड़खड़ा जाता है। अपनी सफलतामें भी वह अपने उद्देश्यसे भिन्न या कम-से-कम महत्तर एवं सुदूरगामी लक्ष्योंके लिये अधिकांशमें दबा दिया जाता है। मनुष्यकी संकल्पशक्ति अज्ञानकी अवस्थामें आंशिक ज्योतिके द्वारा या, अधिकतर, ज्योतिकी ऐसी चंचल शिखाओंके द्वारा ही कार्य करती है जो जितना राह दिखाती ह उतना भटकाती भी

हैं। उसका मन अज्ञानका एक करण है जो ज्ञानके मानदण्ड स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहा है, उसकी संकल्पशक्ति भी अज्ञानका एक करण है जो सत्यके मानदण्ड स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहा है, और इसके परिणामस्वरूप, उसका संपूर्ण मन बहुत कुछ एक ऐसा घर है जो परस्पर-विरोधी सत्ताओंमें बँटा हुआ एवं आत्म-विरोधसे पूर्ण है। इसमें एक विचार दूसरेसे संघर्ष करता रहता है, संकल्प प्रायः ही सत्यके आदर्शका या वौद्धिक ज्ञानका विरोध करता है। स्वयं संकल्प भी भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है, बुद्धिका संकल्प, भावप्रधान चित्तकी इच्छाएँ, आवेशमय एवं प्राणिक सत्ताकी कामनाएँ, स्नायविक और अवचेतन प्रकृतिकी उत्तेजनाएँ और अंधी या आधी अंधी अदम्य प्रेरणाएँ, और ये सब वस्तुएँ किसी सामंजस्यकी रचना बिलकुल नहीं करतीं, बल्कि ये अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें भी विरोधोंके बीच एक अनिश्चित संगतिका निर्माण करती हैं। मन और प्राणके संकल्पका अर्थ होता है इधर-उधर ठोकरें खाते हुए यथार्थ शक्ति एवं यथार्थ तपस्की खोज करना जब कि शक्ति एवं तपस्के सच्चे और समग्र प्रकाश एवं मार्गदर्शनकी पूर्ण उपलब्धि आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्ताके साथ एकत्वके द्वारा ही हो सकती है।

इसके विपरीत, अतिमानसिक प्रकृति सत्यमय, सुसमंजस और एकात्मक है, उसमें संकल्प और ज्ञान आत्माकी ज्योति और आत्माकी शक्तिमात्र हैं, शक्ति ज्योतिको चरितार्थ करती है, ज्योति शक्तिको आलोकित करती है। विज्ञानमय भूमिकाकी उच्चात्युच्च अवस्थामें वे परस्पर घनिष्ठ रूपसे घुली-मिली हैं और उन्हें एक-दूसरीकी बाट नहीं जोहनी पड़ती बल्कि वे एक ही क्रियाके रूपमें प्रकट होती हैं, संकल्प अपनेको आप ही आलोकित करता है, ज्ञान अपनेको आप ही चरितार्थ करता है, दोनों एक साथ सत्ताकी एक ही तीव्र धाराके रूपमें प्रकट होते हैं। मन केवल वर्तमानको ही जानता है और इसकी विच्छिन्न गतिमें निवास करता है यद्यपि वह अतीतको स्मरण और सुरक्षित रखने और भविष्यका पहलेसे ही निर्धारण करनेका तथा उसे उसी रूपमें चरितार्थ होनेके लिये वाध्य करनेका यत्न करता है। अतिमानसको **त्रिकालदृष्टि** प्राप्त है; वह तीनों कालोंको एक अविभाज्य गतिके रूपमें देखता है और यह भी देखता है कि इनमेंसे प्रत्येकके अन्दर दूसरे दो विद्यमान हैं। वह समस्त प्रवृत्तियों, सामर्थ्यों और शक्तियोंको एकताकी विभिन्न लीलाके रूपमें जानता है और एकमेव आत्माकी एक ही अभिन्न गतिमें उनके पारस्परिक सवंधको भी जानता है। अतएव अतिमानसिक संकल्प और कार्य परम आत्माके अपने-आपको चरितार्थ करनेवाले सहजस्फूर्त सत्यके

संकल्प और कार्य होते हैं। वे अपरोक्ष और समग्र ज्ञानकी एक यथार्थ क्रिया होते हैं जो अपने सर्वोच्च रूपमें निर्भ्रान्त भी होती है।

परमोच्च और विश्वगत **अतिमानस** महेश्वर और स्रष्टा-स्वरूप परमोच्च एवं विश्वगत आत्माकी सक्रिय ज्योति और तपः-शक्ति, **तपस्**, है जिसे हम योगमें दिव्य **प्रज्ञा एवं शक्तिके** रूपमें किंवा ईश्वरके सनातन ज्ञान एवं संकल्पके रूपमें अनुभव करते हैं। 'सत्' के उच्चतम स्तरोंपर, जहाँ सभी कुछ ज्ञात है और सभी कुछ एक ही सत्ताकी अंशभूत सत्ताओं, एक ही चेतनाकी चेतनाओं, एक ही आनन्दकी आनन्दात्मक आत्म-रचनाओं तथा एक ही सत्यके अंशभूत अनेक सत्यों और सामर्थ्योंके रूपमें व्यक्त होता है, उसके आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक ज्ञानका अविकल एवं समग्र आविर्भाव देखनेमें आता है। उन स्तरोंसे संबंध रखनेवाले हमारी अपनी सत्ताके स्तरोंमें जीव आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक प्रकृतिमें भाग लेता है और उसकी ज्योति, शक्ति और आनन्दमें निवास करता है। अपने क्रमिक अवरोहणमें जब हम अपने इहलौकिक स्वरूपके अधिक निकट पहुँचते हैं तो इस आत्म-ज्ञानका सान्निध्य एवं कार्य संकुचित हो जाता है, किन्तु अतिमानसिक प्रकृतिकी पूर्णताको तथा उसकी ज्ञान, संकल्प और कर्मकी पद्धतिको न भी सही पर उसके सार और स्वभावको सदा सुरक्षित रखता है, क्योंकि वह अभी भी आत्माके सारतत्व और स्वरूपमें निवास करता है। जब हम जड़तत्वकी ओर आत्माके अवरोहणके सोपानोंका अनुसरण करते हैं तो हम मनको उससे उत्पन्न एक ऐसी सत्ताके रूपमें देखते हैं जो आत्माकी पूर्णतासे तथा उसकी ज्योति और सत्ताकी पूर्णतासे दूर चली जाती है और जो विभाजन एवं विच्युतिमें निवास करती है, सूर्यके ज्योतिर्मण्डलमें निवास नहीं करती, वरन् पहले तो उसकी निकटतर और फिर सुदूरतर रश्मियोंमें निवास करती है। किन्तु एक परमोच्च अन्तर्ज्ञानात्मक मन भी है जो अतिमानसिक सत्यको अधिक निकटतासे ग्रहण करता है, पर यह भी एक ऐसी रचना है जो प्रत्यक्ष और महत्तर वास्तविक ज्ञानको छुपा देती है। इसी प्रकार एक बौद्धिक मन भी है जो एक प्रकाशमय अर्द्ध-अपारदर्शक आवरण है। यह आवरण उस सत्यको, जो अतिमानसको ज्ञात है, अपने प्रकाशमय पर विकृति पैदा करनेवाले तथा मूल स्वरूपको दबाकर उसमें फेरफार कर देनेवाले वातावरणमें अवरुद्ध तथा प्रतिबिम्बित करता है। इससे भी निचले स्तरका एक मन है जो इन्द्रियोंकी आधारशिलापर निर्मित हुआ है। उसके तथा ज्ञान-सूर्यके बीच एक घना बादल है, भावावेगों तथा संवेदनोंका कुहासा एवं वाष्प है जिसमें कहीं-कहीं बिजलियाँ एवं ज्योतियाँ कौंध जाती हैं। इसी

प्रकार एक प्राणमय मन भी है जिसका द्वार बौद्धिक सत्यकी ज्योतिके लिये भी बन्द है, और उससे भी नीचे अवमानसिक जीवन और जड़तत्वमें परम आत्मा अपने-आपको मानों एक निद्रा और निशामें पूर्ण रूपसे तिरोहित कर देता है, एक ऐसी निद्रामें जो एक धुंधले पर तीव्र स्नायविक स्वप्नमें डूबी होती है, एक ऐसी निशामें जो एक यांत्रिक स्वप्नचारिणी शक्तिकी निशा होती है। निम्नतर सृष्टिके ऊपर जिस उच्च स्तरमें हम अपनेको आज पाते हैं वह इस निम्नतम अवस्थामेंसे आत्माके पुनर्विकासका एक स्तर है। यह स्तर हमारे अन्दरके इन सब निम्नतर स्तरोंको ऊपर उठाकर हमारे आरोहण-क्रममें अबतक सुविकसित मानसिक बुद्धिके प्रकाशतक ही पहुँचा है। आत्म-ज्ञानकी पूर्ण शक्तियाँ और आत्माकी प्रदीप्त संकल्पशक्ति अभी भी हमसे परे, मन और बुद्धिके ऊपर, अतिमानसिक प्रकृतिमें अवस्थित हैं।

यदि आत्मा सभी जगह, यहाँतक कि जड़तत्त्वमें भी, विद्यमान है—वस्तुतः स्वयं जड़तत्त्व आत्माका एक तमसाच्छन्न रूपमात्र है—और यदि अतिमानस परमात्माके सर्वव्यापक आत्मज्ञानकी विश्वगत शक्ति है जो सत्ताकी समस्त अभिव्यक्तिकी व्यवस्था करती है, तो जड़तत्त्वमें तथा सभी जगह एक अतिमानसिक क्रिया अवश्य विद्यमान होनी चाहिये और वह एक अन्य प्रकारकी निम्नतर एवं धूमिलतर क्रियासें कितनी ही आच्छन्न क्यों न हो, फिर भी जब हम सूक्ष्मतासे देखेंगे तो हमें पता चलेगा कि वास्तवमें अतिमानस ही जड़तत्त्व, प्राण, मन और बुद्धिको व्यवस्थित करता है। और जिस ज्ञानकी ओर हम अब अग्रसर हो रहे हैं वह वस्तुतः यही है। प्राण, जड़तत्व और मनमें जो चेतना दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित है उसकी एक सर्वथा प्रत्यक्ष अन्तरंग क्रिया भी है। उसकी वह, स्पष्टतः ही, निम्नतर माध्यमकी प्रकृति और आवश्यकताके अधीन रहनेवाली एक अतिमानसिक क्रिया है। उसे हम आज उसके प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन तथा स्वयं-सक्रिय ज्ञानके अत्यन्त सुस्पष्ट लक्षणोंके कारण अन्तर्ज्ञानका नाम देते हैं। वास्तवमें उसका अन्तर्दर्शन ज्ञानके विषयके साथ किसी गुप्त तादात्म्यसे उत्पन्न होता है। तथापि, जिसे हम अन्तर्ज्ञान कहते हैं वह अतिमानसकी उपस्थितिका एक आंशिक संकेतमात्र है, और यदि हम इस उपस्थिति एवं शक्तिको इसके विशालतम रूपमें लें तो हम देखेंगे कि यह एक गुप्त अतिमानसिक शक्ति है। इस (गुप्त शक्ति) में एक आत्म-सचेतन ज्ञान निहित है जो जड़प्राकृतिक शक्तिके संपूर्ण व्यापारको अनुप्राणित करता है। यह गुप्त अतिमानसिक शक्ति ही उस नियमको, जिसे हम प्रकृतिका नियम कहते हैं, निर्धारित करती है, प्रत्येक पदार्थकी क्रियाको उसके अपने स्वधर्मके अनुसार धारण किये रहती

है और समष्टि-सत्ताको सुसमन्वित तथा विकसित करती है। इसके विना समष्टि-सत्ता एक ऐसी आकस्मिक रचना होती जो किसी भी क्षण अस्त-व्यस्तताके गर्तमें गिरकर विध्वस्त हो सकती। प्रकृतिका प्रत्येक नियम एक ऐसा नियम है जिसकी कार्यपद्धतिकी अनिवार्यताएँ सुस्पष्ट और सुनिश्चित हैं, पर यदि हम उसकी इस अनिवार्यताके कारणपर तथा उसके नियम, छन्द-प्रमाण, संयोग, अनुकूलन एवं परिणामके सातत्यके कारणपर विचार करने लगें तो पता चलता है कि उसकी (प्रकृतिके नियमकी) व्याख्या नहीं की जा सकती, बल्कि तब हमें पग-पगपर एक रहस्य और चमत्कारका सामना करना पड़ता है, और इसका कारण या तो यह है कि वह अपनी नियमितताओंमें भी तर्कविरुद्ध एवं आकस्मिक है या यह है कि वह अति-बौद्धिक है तथा उसका सत्य हमारी बुद्धिके मूल तत्वसे अधिक महान् किसी तत्वके साथ संबन्ध रखता है। वह तत्व अतिमानस है; अर्थात् प्रकृतिका गुप्त रहस्य है आत्माके स्वयंभू सत्यकी असीम शक्यताओंमेंसे किसी वस्तुका संघटन। इस सत्यका स्वरूप पूर्ण रूपसे तो उस आदि ज्ञानको ही प्रत्यक्ष होता है जो मूलभूत तादात्म्यसे अर्थात् आत्माके नित्य आत्म-अनुभवसे उत्पन्न होता तथा उसीके द्वारा कार्य करता है। प्राणका समस्त कार्य तथा मन और बुद्धिका समस्त कार्य भी इसी प्रकारका है,—यह बुद्धि ही हमारी सत्ताका वह भाग है जो और सब भागोंसे पहले इस सत्यको अनुभव करता है कि एक महत्तर बुद्धि एवं सत्ता-संबंधी विधान सर्वत्र क्रिया कर रहा है और जो अपनी विचार-रूपी रचनाओंके द्वारा उसे प्रकट करनेका भी यत्न करता है, यद्यपि इस बातको वह सदा नहीं अनुभव करता कि जो सत्ता कार्य कर रही है वह मानसिक प्रज्ञा तथा बौद्धिक शब्दब्रह्मसे भिन्न कोई और ही सत्ता है। वास्तवमें इन सब प्रक्रियाओंका गुप्त परिचालन एक आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्ताके द्वारा ही होता है, पर इनकी प्रत्यक्ष पद्धति मानसिक, प्राणिक और भौतिक दिखायी देती है।

बहिर्मुख जड़ देह, प्राण और मनका अतिमानसकी इस गुह्य क्रियापर स्वत्व नहीं है, यद्यपि वे उस अटल नियमके द्वारा अधिकृत हैं तथा बलात् परिचालित भी होते हैं जिसे यह क्रिया उनके व्यापारोंपर थोपती है। स्थूल-भौतिक ऊर्जामें तथा परमाणुमें एक शक्ति कार्य कर रही है जिसे हम कभी-कभी 'बुद्धि' एवं 'संकल्पशक्ति'के नामसे पुकारनेको प्रेरित होते हैं (यद्यपि ये नाम हमारे कानोंको खटकते हैं एवं अशुद्ध जान पड़ते हैं क्योंकि वह शक्ति तथा हमारी अपनी बुद्धि एवं संकल्पशक्ति असलमें एक ही चीज नहीं हैं),—यूँ कहें कि स्वयंभू सत्ताकी एक प्रच्छन्न अन्तर्ज्ञानशक्ति उनमें कार्य

कर रही है,—परन्तु परमाणु और ऊर्जा उससे सचेतन नहीं हैं, वे तो जड़तत्व तथा पार्थिव शक्तिका एक ऐसा तमसाच्छन्न रूपमात्र हैं जो उसके आत्म-प्राकट्यके प्रथम प्रयाससे उत्पन्न हुआ है। प्राणमय भूमिकाके समस्त व्यापारमें ऐसी अन्तर्ज्ञान-शक्तिकी उपस्थिति हमें अधिक प्रत्यक्ष रूपमें दृष्टि-गोचर होने लगती है, क्योंकि प्राणकी भूमिका हमारे अपने (मानवीय) स्तरके अधिक निकट है। और जब प्राण प्रत्यक्ष इन्द्रियबोध और मनका विकास कर लेता है, जैसा कि वह पशु-सृष्टिमें करता है, तब हम अधिक विश्वासके साथ यह कह सकते हैं कि उसमें एक प्राणिक अन्तर्ज्ञान विद्यमान है जो उसकी क्रियाओंके पीछे उपस्थित रहता है। वही पशुके मनमें अन्ध प्रेरणाके एक सुस्पष्ट रूपमें प्रकट हो उठता है,—अन्धप्रेरणासे हमारा मतलब एक स्वयंप्रेरित ज्ञानशक्तिसे है जो पशुमें बद्धमूल रूपसे निहित है, वह अचूक, अपरोक्ष, स्वयंभू तथा स्वतः-चालित होती है तथा इस तथ्यको सूचित करती है कि उसकी सत्ताके किसी भागमें प्रयोजन, संबंध, पदार्थ या विषयका ठीक-ठीक ज्ञान विद्यमान है। वह प्राणशक्ति तथा मनमें कार्य करती है, तथापि स्थूल प्राण और मनका उसपर अधिकार नहीं है। वे उसके कार्यका ब्योरा नहीं दे सकते, न अपनी इच्छा और संकल्प-शक्तिके अनुसार प्रेरणाकी शक्तिका नियंत्रण या विस्तार ही कर सकते हैं। यहाँ हमें दो चीजें दिखायी देती हैं, पहली यह कि प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान केवल एक सीमित आवश्यकता और प्रयोजनके लिये ही कार्य करता है और दूसरी यह कि प्रकृतिके शेष सब व्यापारोंमें दो क्रियाएँ देखनेमें आती हैं, एक तो स्थूल चेतनाकी अनिश्चित एवं अज्ञानमय क्रिया और दूसरी अन्तःप्रच्छन्न क्रिया जो एक गुप्त अवचेतन मार्ग-निर्देशकी सूचक होती है। स्थूल चेतना अन्धान्वेषण एवं शोधकी वृत्तिसे पूर्ण है। ज्यों-ज्यों प्राणका स्तर ऊँचा उठता है तथा उसकी सचेतन शक्तियोंका क्षेत्र विस्तृत होता है त्यों-त्यों स्थूल चेतनाकी यह वृत्ति घटनेके बजाय बढ़ती ही है; परन्तु प्राणमय मनके अन्धान्वेषणके होते हुए भी अन्त-स्थित गुप्त आत्मा हमें इस बातका निश्चित आश्वासन देती है कि प्रकृतिका कार्य चलता रहेगा तथा प्राणीकी आवश्यकता, भवितव्यता और उद्देश्य-सिद्धिके लिये जो परिणाम अपेक्षित है वह भी अवश्य उत्पन्न होगा। चेतनाके एक-से-एक ऊँचे स्तरपर, मानवकी तर्कशक्ति एवं बुद्धितक, बराबर यही क्रम चलता रहता है।

मनुष्यकी सत्ता भी शारीरिक, प्राणिक, भाविक, आंतरात्मिक और क्रियाशक्तिमय सहजप्रेरणाओं और अन्तर्ज्ञानोंसे पूर्ण है, परन्तु वह पशुके समान उनपर निर्भर नहीं करता,—यद्यपि पशुओं तथा उनसे निम्नतर

प्राणियोंकी सृष्टिकी अपेक्षा मनुष्यमें सहजप्रेरणाओं और अन्तर्ज्ञानोंका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत तथा कार्य कहीं अधिक महान् हो सकता है, क्योंकि उसकी जो विकासात्मक प्रगति वर्तमानमें साधित हो चुकी है वह उनकी अपेक्षा कहीं महान् है तथा उसकी सत्ताके भावी विकासकी जो शक्यता उसके अन्दर गुप्त रूपमें विद्यमान है वह और भी अधिक महान् है। उसने इन शक्तियोंको दबा डाला है, इन्हें क्षयग्रस्त करके इनकी पूर्ण और प्रत्यक्ष क्रियाको खण्डित कर डाला है,—इन्हें विनष्ट नहीं कर दिया गया है वल्कि पीछेकी ओर, तलशायी चेतनामें, रोक रखा या ढकेल दिया गया है,—और इसके परिणामस्वरूप उसकी सत्ताका यह निम्नतर भाग अपने बारेमें बहुत ही कम निश्चयवान् है, अपनी प्रकृतिकी दिशाओंके संबंधमें बहुत ही कम विश्वासपूर्ण है, अपने विस्तृततर क्षेत्रमें वह उससे कहीं अधिक अन्धान्वेषी, भ्रान्तिपूर्ण और स्खलनशील है जितना कि पशुका निम्नतर भाग उसकी क्षुद्रतर सीमाओंमें होता है। ऐसा इस कारण होता है कि मनुष्यका वास्तविक धर्म किंवा सत्तासंबन्धी विधान यह है कि वह एक महत्तर आत्म-सचेतन सत्ताकी खोज करे और तदनुरूप आत्म-अभिव्यक्तिके लिये भी यत्न करे। वह अभिव्यक्ति न तो पहलेकी तरह अन्धकारमय होनी चाहिये और न ही समझ-में-न-आनेवाली आवश्यकताके द्वारा नियंत्रित। बल्कि वह प्रकाशसे युक्त होनी चाहिये तथा जो वस्तु अपने-आपको अभिव्यक्त कर रही है उससे सचेतन और उसे पूर्णतर एवं समग्रतर अभिव्यक्ति देनेमें समर्थ होनी चाहिये। और अन्तमें मनुष्यकी सर्वोच्च पूर्णता यह होनी चाहिये कि वह अपने महत्तम एवं वास्तविक आत्माके साथ अपने-आपको एक कर दे और उसके स्वयंस्फूर्त पूर्ण संकल्प और ज्ञानके द्वारा कार्य करे, वरन् यूं कहना चाहिये कि उसे उनके द्वारा कार्य करने दे (जब कि उसकी अपनी प्राकृत सत्ता आत्माकी अभिव्यक्तिका एक करणात्मक रूप बनी रहे)। इस अवस्थामें पहुँचनेके लिये उसका प्रमुख करण है तर्कशक्ति तथा तार्किक बुद्धिका संकल्प और जहाँतक इस करणका विकास हुआ होता है वहाँतक वह अपने ज्ञान और मार्गदर्शनके लिये इसपर निर्भर करने तथा शेष सारी सत्ताकी बागडोर उसके हाथमें सौंपनेको प्रेरित होता है। और यदि तर्क-बुद्धि सर्वोच्च तत्त्व होती तथा अन्तरात्मा एवं अध्यात्मसत्ताका सबसे महान् और सुपर्याप्त साधन भी होती तो इसके द्वारा वह अपनी प्रकृतिकी सभी क्रियाओंको पूर्णतया जान सकता तथा पूर्णतया उनका मार्गदर्शन भी कर सकता। पर ऐसा वह पूर्ण रूपसे नहीं कर सकता क्योंकि उसकी आत्मा उसकी बुद्धिसे विशाल है और यदि मनुष्य तर्कमूलक संकल्प और बुद्धिके द्वारा अपने-आपको

सीमित कर ले तो वह अपने आत्म-विकास, आत्म-अभिव्यक्ति, ज्ञान, कर्म और आनन्दपर विस्तार और गुण इन दोनोंकी दृष्टिसे एक मनमानी सीमा लाद देता है। उसकी सत्ताके अन्य भाग भी आत्माकी विशालता और सर्वांगीणतामें एक पूर्ण अभिव्यक्तिकी माँग करते हैं और यदि तार्किक बुद्धिका अनमनीय यंत्र उनकी अभिव्यक्तिके गुणको परिवर्तित कर दे तथा उसकी क्रियाको तराशकर एवं काट-छाँटकर मनचाहा यांत्रिक आकार दे दे तो वे अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। तर्कबुद्धि-रूपी देवता, बौद्धिक शब्दब्रह्म महत्तर विज्ञानमय शब्दब्रह्मका एक आंशिक प्रतिनिधि एवं स्थानापन्न देवतामात्र है; और उसका कार्य प्राणीके जीवनपर प्रारंभिक आंशिक ज्ञान और व्यवस्थाका प्रभुत्व स्थापित करना है, परन्तु वास्तविक, अंतिम और सर्वांगपूर्ण व्यवस्था तो आध्यात्मिक विज्ञान-तत्त्वका आविर्भाव होनेपर ही स्थापित हो सकती है।

निम्नतर प्रकृतिमें विज्ञान या अतिमानस अन्तर्ज्ञानके रूपमें अत्यन्त प्रबलतया विद्यमान है और अतएव अन्तर्ज्ञानात्मक मनके विकासके द्वारा ही हम स्वयंसत्, सहज-स्फूर्त और प्रत्यक्ष अतिमानसिक ज्ञानकी ओर पहला पग उठा सकते हैं। मनुष्यकी समस्त भौतिक प्राणिक, भाविक, आन्तरात्मिक और क्रियाशील प्रकृति इन करणोंकी प्रच्छन्न अन्तर्ज्ञानात्मक आत्म-सत्तामेंसे उठनेवाले संकेतोंको उपरितलपर ग्रहण करनेसे बनी है और उन्हें वह प्रकृतिके स्थूल स्वरूप और शक्ति-सामर्थ्यकी क्रियामें चरितार्थ करनेके लिये सामान्यतः अन्धवत् और प्रायः ही चक्करदार ढंगसे यत्न करती है। प्रकृतिका यह स्थूल रूप एवं शक्ति-सामर्थ्य आन्तरिक शक्ति और ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे आलोकित नहीं है। उत्तरोत्तर विकसनशील अन्तर्ज्ञानात्मक मनको ही यह सर्वोत्तम सुयोग प्राप्त है कि उपर्युक्त करण जिस वस्तुको खोज रहे हैं उसे वह उपलब्ध कर सकता है तथा उन्हें उनकी आत्म-अभिव्यक्तिकी अभीष्ट पूर्णतातक भी पहुँचा सकता है। तर्कशक्ति भी किहीं संकेतोंका उपरितलीय नियामक बुद्धिके द्वारा किया गया एक विशेष प्रकारका प्रयोगमात्र है। ये संकेत वस्तुतः अन्तर्ज्ञानात्मक आत्माकी एक गुप्त शक्तिसे आते हैं जो कभी-कभी अंशतः प्रत्यक्ष और सक्रिय भी होती है। उसकी समस्त क्रियाके आच्छन्न या अर्द्ध-आच्छन्न मूल विन्दुपर कोई ऐसा तत्त्व पाया जाता है जो वुद्धिका रचा नहीं होता, वल्कि जो उसे सीधे अन्तर्ज्ञानके द्वारा या परोक्ष रूपमें मनके किसी अन्य भागके द्वारा प्रदान किया जाता है ताकि वह उसे बौद्धिक आकार और प्रक्रियाके रूपमें ढाल सके। हमारी बुद्धिकी निर्णयात्मक विवेकशक्ति एवं तर्कबुद्धिकी

यांत्रिक प्रक्रिया, अपनी अधिक संक्षिप्त क्रियाओंमें हो या अधिक विकसित क्रियाओंमें, हमारे संकल्प और चिन्तनके सच्चे उद्गम और स्वाभाविक तत्त्वको जहाँ विकसित करती है वहाँ छुपाती भी है। महान्-से-महान् मनीषी वे हैं जिनमें यह छुपानेवाला पदार्थ झीना पड़ जाता है और जिनके मनमें अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तनका भाग सबसे बड़ा होता है, जो अपने साथ सदा तो नहीं पर प्रायः ही बौद्धिक क्रियाकी महान् सहचारिणी अभिव्यक्तिको भी अवश्य लाता है। परन्तु मनुष्यके वर्तमान मनमें अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धि कभी भी सर्वथा शुद्ध और पूर्ण नहीं होती, क्योंकि वह मनके माध्यममें कार्य करती है और मन तुरंत ही उसे अपने अधिकारमें लाकर उसपर निश्चित मनोमय तत्त्वकी तह चढ़ा देता है। वह अभीतक इतनी प्रकट एवं विकसित नहीं हुई है और न इतनी पूर्णताको ही पहुँची है कि जो-जो क्रियाएँ आज अन्य मानसिक करणोंके द्वारा की जाती हैं उन सबके लिये वह पर्याप्त हो, न वह अभीतक इतनी सधायी ही गयी है कि उन्हें अपने हाथमें लेकर *अपनी पूर्णतम एवं प्रत्यक्षतम तथा अत्यंत सुनिश्चित एवं सक्षम क्रियाओंमें* रूपान्तरित कर सके अथवा उनके स्थानपर अपनी ऐसी क्रियाओंको प्रतिष्ठित कर सके। निःसन्देह, यह कार्य केवल तभी संपन्न हो सकता है यदि हम अन्तर्ज्ञानात्मक मनको उच्चतर अवस्थामें पहुँचनेके लिये एक साधन बनाकर उसके द्वारा स्वयं निगूढ़ अतिमानसको भी, जिसका वह एक मनोमय रूप है, अभिव्यक्त कर दें तथा अपनी सामनेकी चेतनामें अतिमानसका एक बाह्य रूप एवं करण भी गठित कर लें। उस बाह्य रूप एवं करणके द्वारा अन्तरात्मा एवं आत्मा अपनी निज विशालता और ज्योतिके रूपमें अपनेको प्रकट कर सकेगी।

यह स्मरण रखना होगा कि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वरके परमोच्च अतिमानस तथा जीवको प्राप्त हो सकनेवाले अतिमानसमें सदा ही भेद होता है। मनुष्य अज्ञानकी अवस्थामेंसे आरोहण कर रहा है और जब वह ऊपर अतिमानसिक प्रकृतिमें पहुँचेगा तो वह वहाँ उसके आरोहणके क्रमोंको देखेगा और उच्चतर शिखरोंतक आरोहण करनेसे पहले उसे निम्नतर स्तरों और सीमित सोपानोंको निर्मित कर लेना होगा। वहाँ वह परम आत्मतत्त्वके साथ एकत्वके द्वारा अनन्त आत्माकी पूर्ण सारभूत ज्योति, शक्ति और आनन्दका रसास्वादन करेगा, परन्तु सक्रिय अभिव्यक्तिमें इस आत्माको उस आत्म-अभिव्यक्तिके स्वरूपके अनुसार आत्म-निर्धारण करना होगा तथा अपने-आपको व्यष्टि-रूप प्रदान करना होगा जिसे विश्वातीत और विश्वगत परमात्मा जीवमें साधित करना चाहते हैं। ईश्वरोपलब्धि

एवं ईश्वराभिव्यक्ति ही हमारे योगका, विशेषकर इसके सक्रिय पक्षका, लक्ष्य है, और इसका अभिप्राय है हमारे अन्दर ईश्वरकी दिव्य आत्म-अभिव्यक्ति, पर वह (अभिव्यक्ति) होती है मानवताकी अवस्थाओंके अधीन तथा दिव्यीकृत मानव-प्रकृतिके द्वारा।

बीसवाँ अध्याय

अन्तर्ज्ञानात्मक मन

अतिमानसकी मूल प्रकृति अनन्त सत्ताका, पदार्थोंमें विद्यमान विराट् आत्मा और पुरुषका, आत्म-चैतन्य और सर्वचैतन्य है। इसीके द्वारा वह अनन्त आत्मा विश्वके तथा उसकी सभी वस्तुओंके विकास और नियमित व्यापारके लिये अपनी प्रज्ञा तथा अमोघ सर्वशक्तिमत्ताको प्रत्यक्ष आत्म-ज्ञानके आधारपर तथा उसके स्वरूपके अनुसार संघटित करता है। हम कह सकते हैं कि अतिमानस सृष्टिके स्वामी परमात्माका, **आत्मा, ज्ञाता, ईश्वर** का, 'विज्ञान'-स्वरूप करण है। जैसे वह अपने-आपको जानता है वैसे ही वह सब पदार्थोंको भी जानता है--क्योंकि सब उसीके भूतभाव-मात्र हैं। उन सबको वह सीधे, समग्र रूपमें और अन्दरसे बाहरकी ओर जानता है, उनकी हरएक बारीकीको और उनकी व्यवस्थाको सहज-स्वाभाविक रूपसे जाननेके साथ-साथ वह प्रत्येक पदार्थकी सत्ता और प्रकृतिके सत्यको तथा अन्य सब पदार्थोंके साथ उस पदार्थके संबंधको भी जानता है। और इसी प्रकार वह अपनी शक्तिके समस्त कार्यको अर्थात् उसके पूर्व-निमित्तको किंवा उसकी अभिव्यक्तिके कारण और प्रसंग तथा उसके फल या परिणामको भी जानता है, सब वस्तुओंकी असीम और ससीम दोनों प्रकारकी संभाव्य शक्तिको तथा उस शक्तिमेंसे उनकी प्रत्यक्ष वास्तविक क्षमताके चुनावको और उनके अतीत, वर्तमान एवं भविष्यकी श्रृंखलाको भी जानता है। जगत्‌में विद्यमान किसी दिव्य पुरुषका संघटनशील अति-मानस उसके अपने कार्य और स्वभावके तथा इसके घेरेमें आनेवाले सभी विषयोंके प्रयोजनके लिये तथा उनके क्षेत्रके अन्तर्गत इस उपयुक्त सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञताका एक प्रतिनिधि होगा। किसी व्यक्तिमें आविर्भूत अतिमानस भी एक इसी प्रकारका प्रतिनिधि होगा, उसका परिमाण और क्षेत्र चाहे जो भी हों। परन्तु एक देवता या दिव्य पुरुषमें यह एक ऐसी शक्तिका साक्षात् एवं अव्यवहित प्रतिनिधि होगा जो अपने-आपमें असीम है और केवल कार्यमें ही सीमित होती है, पर अपनी क्रियामें और किसी प्रकारसे परिवर्तित नहीं होती, सत्ताके लिये स्वाभाविक तथा सदैव पूर्ण और मुक्त होती है। उधर मनुष्यमें अतिमानसका कोई भी आविर्भाव एक क्रमिक

तथा आरंभमें एक अपूर्ण रचना जैसा ही होगा और उसके प्रथानुगत मनके लिये तो वह एक असाधारण और अलौकिक संकल्प एवं ज्ञानका व्यापार होगा ।

पहली बात तो यह है कि वह उसके लिये एक ऐसी सहजात शक्तिके समान नहीं होगा जिसका उपभोग बिना किसी बाधाके सदा किया जाता है, बल्कि वह एक ऐसी गुप्त संभाव्य शक्ति के समान होगा जिसकी उसे खोज करनी है तथा जिसके लिये उसके वर्तमान भौतिक या मानसिक संस्थानमें कोई करण नहीं है : उसके लिये उसे या तो एक नये करणका विकास करना होगा या फिर वर्तमान करणोंको अपनाकर या रूपान्तरित करके उन्हें इस कार्यके लिये उपयोगी बनाना होगा। उसका कार्य केवल यही नहीं है कि वह अपनी निगूढ़ सत्ताकी अन्तःप्रच्छन्न गुहामें छुपे हुए अतिमानसके सूर्यको अनावृत कर दे, न यही है कि आध्यात्मिक गगनमें इसके मुखमण्डलपर उसके मानसिक अज्ञानका जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे हटा दे ताकि यह तुरन्त ही अपने पूर्ण वैभवके साथ चमक उठे, बल्कि उसका कार्य कहीं अधिक जटिल और दुष्कर है, क्योंकि वह एक विकसनशील प्राणी है और विश्वप्रकृतिने उसे अपने विकासके द्वारा, जिसका वह एक भाग है, एक निम्न कोटिके ज्ञानसे ही सज्जित किया है, और ज्ञानकी यह निम्न या मानसिक शक्ति अपनी दृढ़ाग्रही अभ्यस्त-क्रियाके द्वारा अपनी प्रकृतिसे अधिक महान् किसी नयी रचनामें बाधा डालती है। सीमित ऐन्द्रिय मनको आलोकित करनेवाली सीमित मनोमय बुद्धि, तथा तर्कके प्रयोगके द्वारा उसका प्रचुर विस्तार करनेकी क्षमता जिसे सदा सम्यक्तया उपयोगमें नहीं लाया जाता —ये दो ही वे शक्तियाँ हैं जिनके कारण आज अन्य सब पार्थिव प्राणियोंसे उसका भेद किया जाता है। यह इन्द्रियाश्रित मन, यह बुद्धि, यह तर्कशक्ति कितने ही अपूर्ण क्यों न हों फिर भी यही वे करण हैं जिनमें उसने विश्वास करना सीखा है और इनकी सहायतासे उसने कुछ ऐसी आधारशिलाएँ रखी हैं जिन्हें हिलानेके लिये वह उद्यत नहीं है, तथा ऐसी सीमा-रेखाएँ खींची हैं जिनके बाहर पैर रखनेमें उसे निरी अव्यवस्था, अनिश्चितता एवं संकटपूर्ण साहस-यात्रा ही दिखायी देती हैं। अपि च, उच्चतर तत्त्वमें संक्रमण करनेका अभिप्राय उसके संपूर्ण मन, तर्क-शक्ति और बुद्धिका दुष्कर रूपान्तर ही नहीं है बल्कि एक अर्थमें यह उनकी सब पद्धतियोंका आमूल परिवर्तन भी है। अन्तरात्मा परिवर्तनकी एक द्विधा-संकुल निर्णायक रेखाके ऊपर आरोहण करनेपर देखती है कि उसकी पुरानी सभी क्रियाएँ एक निम्नतर एवं अज्ञानयुक्त व्यापारके समान थीं

और तब उसे एक अन्य प्रकारकी क्रिया करनी होती है जो एक भिन्न आरंभ-बिन्दुसे शुरू होती है तथा जिसमें सत्ताकी शक्तिका प्रचालन बिलकुल और ही प्रकारका होता है। यदि पशुके मनको तर्कशील बुद्धिके संकटपूर्ण साहसके लिये ऐन्द्रिय आवेग, ऐन्द्रिय समझ तथा सहजप्रेरणाके सुरक्षित आधारको चेतनतापूर्वक छोड़नेको कहा जाय तो वह संभवतः भयभीत होकर तथा अनिच्छावश इस प्रकारके प्रयत्नसे पीठ फेर लेगा। मानसिक चेतनाके रूपान्तरके कार्यमें मानव-मनको इससे कहीं महान् परिवर्तन साधित करनेके लिये आह्वान किया जायगा और यद्यपि वह अपनी शक्यताके क्षेत्रमें आत्म-सचेतन तथा साहसपूर्ण है तथापि वह सहज ही इसे अपने क्षेत्रसे परेका मानकर ऐसे साहस-कार्यका परित्याग कर सकता है। सच पूछो तो यह परिवर्तन तभी साधित हो सकता है यदि पहले हमारी चेतनाके वर्तमान स्तरपर आध्यात्मिक विकास संपन्न हो जाय और विकासका यह कार्य सुरक्षित रूपसे तभी हाथमें लिया जा सकता है जब मन अन्तः-स्थित महत्तर आत्मासे सचेतन हो जाय, अनन्तके प्रति प्रेमसे उन्मत्त हो उठे और भगवान् तथा उनकी शक्तिके सान्निध्य एवं मार्गदर्शनके संबन्धमें निःशंक हो जाय।

आरंभमें इस रूपान्तरकी समस्याका समाधान इस प्रकार होता है कि हम एक शक्तिकी सहायतासे, जो मानव-मनमें पहलेसे ही कार्यरत है, एक मध्यवर्ती अवस्थामेंसे गुजरते हैं। इस शक्तिको हम एक ऐसे तत्वके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं जो अपनी प्रकृतिमें या कम-से-कम अपने उद्गममें अतिमानसिक है, यह अन्तर्ज्ञानकी क्षमता है, एक ऐसी शक्ति है जिसकी उपस्थिति और क्रियाओंको हम अनुभव कर सकते हैं। जब यह कार्य करती है तो हम इसकी उच्च कोटिकी कार्यदक्षता, ज्योति, साक्षात् अन्तः-प्रेरणा एवं सामर्थ्यसे प्रभावित होते हैं, पर हम इसे उस प्रकार हृद्गत या विश्लेषित नहीं कर सकते जिस प्रकार हम अपनी बुद्धिकी क्रियाओंको हृद्गत या विश्लेषित करते हैं। तर्कबुद्धि अपने स्वरूपको तो समझती है, पर जो तत्व उससे परे है उसे वह नहीं समझती,—उसका तो वह केवल एक सामान्य आकार या प्रतिरूप ही बना सकती है; केवल अतिमानस ही अपनी क्रियाओंकी प्रणालीको जान सकता है। अन्तर्ज्ञानकी शक्ति अभी हमारे अन्दर अधिकांशतः गुप्त ढंगसे ही कार्य करती है। वह तर्क-शक्ति तथा सामान्य बुद्धिकी क्रियामें प्रच्छन्न एवं आवेष्टित या उसके द्वारा अधिकतर आवृत रहकर ही क्रिया करती है। जहांतक वह एक स्पष्ट पृथक् क्रियाके रूपमें बाहर प्रकट होती भी है वहांतक भी वह कभी-कभी, आंशिक एवं खण्डात्मक रूपमें तथा रुक-रुककर ही प्रकट होती है। वह

एक आकस्मिक प्रकाश फेंकती है, एक ज्योतिर्मय सुझाव देती है अथवा एक एकाकी उज्ज्वल संकेत-सूत्र फेंक देती है या फिर कुछ-एक पृथक्-पृथक् या संबद्ध अन्तर्ज्ञानों, भास्वर विवेकों, अन्तःप्रेरणाओं या साक्षात्कारोंको विखेर देती है, और इस वातको तर्कशक्ति, संकल्प-बल, मानसिक बोधशक्ति या बुद्धिपर छोड़ देती है कि हमारी सत्ताकी गहराइयों या शिखरोंसे सहायताका यह जो बीज उन्हें प्राप्त हुआ है उसके साथ उनमेंसे प्रत्येक जो कुछ कर सके या करना चाहे वह करे। मानसिक शक्तियाँ तुरंत ही इन वस्तुओंपर अपना अधिकार जमानेमें तथा हमारे मन या प्राणके कार्योंके लिये इनका संचालन एवं उपयोग करने, इन्हें निम्न ज्ञानके रूपोंके अनुकूल बनाने, मानसिक सामग्री और सुझावके भीतर लपेट देने या इनके अन्दर उनका संचार करनेमें लग जाती हैं। इस प्रक्रियामें वे प्रायः ही इनके सत्यमें हेरफेर कर देती हैं और इनमें उक्त वस्तुओंकी मिलावट करके तथा इन्हें निम्नतर करणकी आवश्यकताओंके प्रति इस प्रकार अधीन करके वे इनकी आलोकदायिनी गुप्त शक्तिको सदा ही सीमित कर देती हैं। प्रायः सदा ही वे इन्हें एक ओर तो जरूरतसे बहुत ही कम महत्व देती हैं, पर साथ ही दूसरी ओर इनका महत्व अत्यधिक बढ़ा भी देती हैं, महत्व कम तो इस प्रकार करती हैं कि इन्हें स्थिर होनेके लिये तथा आलोकदानके हित अपनी पूरी शक्तिका विस्तार करनेके लिये समय ही नहीं देतीं, महत्वको बढ़ाती इस प्रकार हैं कि वे इनपर, वल्कि असलमें मन इन्हें जिस रूपमें परिणत कर देता है उसपर, अत्यधिक आग्रह करती हैं, यहाँतक कि अन्तर्ज्ञान-शक्तिका अधिक संगत प्रयोग करनेसे जिस विशालतर सत्यकी प्राप्ति हो सकती थी उसे बहिष्कृत ही कर देती हैं। इस प्रकार साधारण मानसिक क्रियाओंमें हस्तक्षेप करती हुई अन्तर्ज्ञानशक्ति विद्युतकी प्रभाओंके रूपमें कार्य करती है जो सत्यके एक प्रदेशको आलोकित कर देती हैं, पर यह सूर्यकी वह स्थिर ज्योति नहीं है जो हमारे विचार, संकल्प, भाव और कर्मके संपूर्ण विस्तृत-क्षेत्र और राज्यको सुरक्षित रूपसे प्रकाशमान कर देती है।

इससे यह तुरंत ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि इस ओर प्रगति करनेके लिये दो आवश्यक दिशाएँ हैं जिनका हमें अनुसरण करना चाहिये। पहली यह है कि हम अन्तर्ज्ञानकी क्रियाका विस्तार करते जायँ तथा उसे अधिक स्थिर, दृढ़, नियमित एवं सर्वग्राही बनाते चले जायँ जिससे अन्तमें वह हमारी सत्ताके लिये इतनी अंतरंग और सामान्य हो जाय कि जो-जो कार्य आज साधारण मनके द्वारा किये जाते हैं उन सभीको वह अपने हाथमें

ले सके तथा संपूर्ण आधारमें उसका स्थान ग्रहण कर सके। यह कार्य पूर्ण रूपसे तबतक नहीं किया जा सकता जबतक साधारण मन स्वतंत्र कार्य और हस्तक्षेप करनेकी अपनी शक्तिको या अन्तर्ज्ञानकी ज्योतिपर अधिकार जमाकर उसे अपने कार्योंके लिये प्रयुक्त करनेके अपने स्वभावको बलपूर्वक समर्थित करता रहता है। उच्चतर मन तबतक पूर्ण या सुरक्षित नहीं बन सकता जबतक निम्न बुद्धि उसे विकृत करनेमें अथवा यहाँतक कि उसके अन्दर अपना किसी प्रकारका मिश्रण करनेमें भी समर्थ रहती है। और, उस दशामें हमें या तो बुद्धिको तथा बौद्धिक संकल्प एवं अन्य निम्न क्रियाओंको सर्वथा शान्त करके केवल अन्तर्ज्ञानकी क्रियाको ही अवकाश देना होगा या फिर निम्न क्रियाको अपने अधिकारमें लाकर अन्तर्ज्ञानके सतत दबावसे रूपान्तरित करना होगा। अथवा, इन दोनों विधियोंको बारी-बारीसे एवं मिलाकर प्रयुक्त करना होगा यदि यही उपाय सबसे अधिक स्वाभाविक हो या यदि यह किंचित् भी संभव हो। योगकी क्रियात्मक प्रक्रिया एवं अनुभव यह दिखलाता है कि अनेक विधियाँ या क्रियाएँ संभव हैं जिनमेंसे कोई भी अकेली व्यवहारमें पूरा परिणाम उत्पन्न नहीं करती, भले प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत क्यों न हो कि तर्कतः प्रत्येक विधि या क्रिया परिणाम उत्पन्न करनेके लिये पर्याप्त होनी चाहिये या हो सकती है। और जब हम किसी विशेष विधिपर एकमात्र यथार्थ विधिके रूपमें आग्रह न करना सीख जाते हैं तथा संपूर्ण क्रियाको एक महत्तर पथ-प्रदर्शनपर छोड़ देते हैं तो हम देखते हैं कि योगका दिव्य स्वामी हमारी सत्ता और प्रकृतिकी आवश्यकता और दिशाके अनुसार विभिन्न समयोंपर किसी एक या दूसरी विधिका किंवा एक साथ सभीका उपयोग करनेका कार्य अपनी शक्तिको सौंप देता है।

पहले-पहल ऐसा प्रतीत होगा कि मनको सर्वथा नीरव कर देना, बुद्धि, मानसिक और वैयक्तिक संकल्प, कामनामय मन तथा भावप्रधान एवं संवेदनात्मक मनको नीरव कर देना और उस पूर्ण नीरवतामें परम पुरुष, परम आत्मा एवं भगवान्‌को स्वयं प्रकट होने देना तथा अतिमानसिक ज्योति, शक्ति एवं आनन्दके द्वारा अपनी सत्ताको आलोकित करनेका कार्य उनपर छोड़ देना ही सीधा और ठीक मार्ग है, और निःसंदेह यह एक महती और शक्तिशालिनी साधना है। स्थिर और शान्त मन ही क्षुब्ध और सक्रिय मनकी अपेक्षा कहीं अधिक आसानीसे और अधिक महान् पवित्रताके साथ अनन्तकी ओर खुलता है, परम आत्मतत्वको प्रति-बिम्बित करता है, परम आत्मासे ओतप्रोत हो जाता है और एक समर्पित

एवं परिपूत मन्दिरकी भाँति हमारी समस्त सत्ता और प्रकृतिके प्रभुके प्रादुर्भावकी प्रतीक्षा करता है। यह ठीक भी है कि इस नीरवताकी स्वतंत्रता अन्तर्ज्ञानात्मक सत्ताकी वृहत्तर लीलाको संभव बना देती है तथा अन्दरसे उद्भूत या ऊपरसे अवतरित होनेवाले महान् अन्तर्ज्ञानों, अन्तः-प्रेरणाओं और साक्षात्कारोंको मानसिक अन्धान्वेषण एवं आक्रमणकी किसी बड़ी बाधा और गड़बड़ीके बिना प्रवेश करने देती है। अतः यह एक बड़ी भारी प्राप्ति होगी कि हम मनकी एक पूर्ण शान्ति एवं नीरवताको, जो मानसिक चिंतन या हलचल और क्षोभकी किसी भी आवश्यकतासे मुक्त हो, अपनी इच्छाके अनुसार आयत्त करनेमें सदा समर्थ होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकें तथा उस नीरवताकी नींवपर स्थित होकर, अपने अन्दर विचार, संकल्प और वेदनको तभी घटित होने दें जब भागवत शक्ति ऐसा चाहे और जब भागवत उद्देश्यके लिये ऐसा होना आवश्यक हो। तब विचार, संकल्प और वेदनके ढंग तथा स्वरूपको परिवर्तित करना अधिक सुगम हो जाता है। तथापि यह कहना ठीक नहीं कि इस विधिसे अति-मानसिक ज्योति तुरंत ही निम्न मन तथा चिंतनशील बुद्धिका स्थान ले लेगी। नीरवताके बाद जब आन्तरिक क्रिया शुरू होगी, तब वह चाहे प्रधानतया अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तना और क्रिया ही क्यों न हो, फिर भी पुरानी शक्तियाँ हस्तक्षेप करेंगी, यदि वे अन्दरसे हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगी तो बाहरसे सैकड़ों सुझावोंके द्वारा करेंगी, साथ ही एक निम्नतर मानसिकता उसके अन्दर आकर मिल जायगी, महत्तर क्रियाके बारेमें संदेह उत्पन्न करेगी अथवा उसमें बाधा डालेगी या उसपर अधिकार जमानेकी चेष्टा करेगी तथा ऐसा करते हुए उसे क्षुद्रतर या अन्धकारमय या विकृत करने या उसका मूल्य अधिक-से-अधिक गिरानेका यत्न करेगी। अतएव, निम्न मनके उच्छेद या रूपान्तरकी प्रक्रियाकी आवश्यकता सदा ही अटल रूपमें बनी रहती है,—या शायद उच्छेद और रूपान्तर दोनों ही एक साथ आवश्यक होते हैं, जो चीजें निम्न सत्ताके सहजात अंग हैं उन सबका उच्छेद, उसके विरूपताजनक गुण-धर्मोंका, मूल्यको कम करने तथा तत्वको विकृत करनेकी उसकी वृत्तियोंका तथा ऐसी अन्य सभी वस्तुओंका उच्छेद जिन्हें महत्तर सत्य आश्रय नहीं दे सकता, और उन तात्त्विक वस्तुओंका रूपान्तर जिन्हें हमारा मन अतिमानस और आत्मतत्त्वसे ग्रहण करता है, पर जिन्हें वह मानसिक अज्ञानके ढंगसे अज्ञानमय रूपोंमें प्रस्तुत करता है।

दूसरी क्रिया या विधि वह है जो भक्तिमार्गके अपने विशेष साधन-सूत्रके साथ योगाभ्यासका आरंभ करनेवाले लोगोंके सामने स्वभावतः ही

उपस्थित होती है। उनके लिये यह स्वाभाविक ही है कि वे बुद्धि और उसकी क्रियाको त्यागकर अन्तर्वाणीपर कान दें, प्रेरणा या आदेशकी प्रतीक्षा करें, अपने अन्तरस्थ ईश्वरके, प्राणिमात्रके हृदयमें अवस्थित भागवत आत्मा एवं पुरुषके, **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे**, विचार, संकल्प और शक्तिका ही अनुसरण करें, यह एक ऐसी क्रिया या विधि है जो अवश्य ही सारी-की-सारी प्रकृतिको अधिकाधिक अन्तर्ज्ञानमय करती चली जायगी, क्योंकि हृदयमें रहनेवाले निगूढ़ पुरुषसे जो विचार, संकल्प, प्रेरणाएँ और भाव आते हैं उनका स्वरूप प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञानका ही होता है। यह विधि हमारी प्रकृतिके एक विशेष सत्यके साथ मेल खाती है। हमारे अन्दरका निगूढ़ आत्मा अन्तर्ज्ञानमय आत्मा है और यह अन्तर्ज्ञानमय आत्मा हमारी सत्ताके प्रत्येक केन्द्रमें, अर्थात् भौतिक, स्नायविक, भाविक, संकल्पात्मक, प्रत्यात्मक या बोधात्मक केन्द्रोंमें तथा इनसे ऊपरके उन केन्द्रोंमें भी स्थित है जो अधिक प्रत्यक्ष रूपसे आध्यात्मिक हैं और हमारी सत्ताके प्रत्येक भागमें यह हमारे कार्योंका आरंभ करानेवाली एक गुप्त अन्तर्ज्ञानात्मक प्रेरणाका संचार करती है जिसे हमारा बाह्य मन अपूर्ण रूपसे ग्रहण तथा प्रकट करता है और जो हमारी प्रकृतिके इन भागोंकी बाह्य क्रियामें अज्ञानकी चेष्टाओंके रूपमें परिणत हो जाती है। चिन्तनात्मक कामनामय मनका भावप्रधान केन्द्र अर्थात् हृदय साधारण मनुष्यमें सबसे प्रबल केन्द्र होता है, चेतनाके समक्ष पदार्थोंके जो रूप प्रस्तुत होते हैं उन्हें वही जुटाता है या कम-से-कम स्थूल रूप प्रदान करता है तथा वही देह-संस्थानका मुख्य केन्द्र है। वहींसे सब भूतोंके हृदयमें स्थित ईश्वर उन्हें मानसिक अज्ञानकी मायाके द्वारा इस प्रकार घुमाते हैं मानों वे प्रकृतिके यंत्रपर आरूढ़ हों। सुतरां, अपने कर्मका समस्त आरंभ इस निगूढ़, अन्तर्ज्ञानमय पुरुष एवं आत्माको, अपने अन्तःस्थ सदा-उपस्थित परमेश्वरको, सौंपकर और उसके प्रभावोंको अपनी व्यक्तिगत एवं मानसिक प्रकृतिकी प्रेरणाओंके स्थानपर प्रतिष्ठित करके निम्न बाह्य चिंतन और कर्मसे एक अन्य प्रकारके, आभ्यंतरिक एवं अन्तर्ज्ञानात्मक तथा अत्यंत अध्यात्मभावित चिंतन और कर्मपर पहुँचना संभव है। तथापि इस क्रिया या विधिका परिणाम सर्वांगपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि हृदय हमारी सत्ताका सर्वोच्च केन्द्र नहीं है, वह न तो अतिमानसिक केन्द्र है और न सीधे तौरपर अति-मानसिक उद्गमोंसे परिचालित ही होता है। इस केन्द्रके द्वारा परिचालित अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तन एवं कर्म अत्यंत प्रकाशपूर्ण और गभीर हो सकता है, पर वह अपनी तीव्रतामें सीमित, यहाँतक कि संकुचित भी हो सकता है, निम्न-आवेगमय क्रियासे मिश्रित हो सकता है, और अपनी सर्वोत्तम

अवस्थामें भी वह अपनी क्रियाकी या कम-से-कम अपने बहुत-से सहचारी तत्त्वोंकी अद्‌भुतता या असामान्यताके कारण उत्तेजित एवं विक्षुब्ध हो सकता है, असंतुलित या अतिरंजित हो सकता है। यह चीज सत्ताकी समस्वरित पूर्णताके लिये हानिकारक है। पूर्णता-प्राप्तिके हमारे प्रयत्नका लक्ष्य यह होना चाहिये कि आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक क्रिया आगेके लिये एक चमत्कार न रहे, भले वह चमत्कार बारंबार या निरंतर ही क्यों न घटित होता हो, न वह हमारी प्राकृतिक शक्तिसे महत्तर किसी शक्तिका ज्योतिर्मय हस्तक्षेपमात्र बना रहे, बल्कि वह हमारी सत्ताकी एक सामान्य क्रिया तथा उसकी समस्त पद्धतिका वास्तविक स्वरूप एवं नियम ही बन जाय।

हमारी देहबद्ध सत्ताका और देहमें होनेवाले उसके कार्यका सर्वोच्च सुव्यवस्थित केन्द्र है—परमोच्च मनोमय केन्द्र जिसका चित्रण योगियोंने सहस्रदल कमलके यौगिक प्रतीकके द्वारा किया है, और उसके शिखर तथा सर्वोच्च चूड़ापर ही अतिमानसिक स्तरोंके साथ सीधा संबंध स्थापित होता है। तब एक भिन्न प्रकारकी एवं अधिक सीधी पद्धतिका अवलंबन करना संभव हो जाता है, वह पद्धति यह है कि अपने समस्त चिंतन और कर्मका निर्णय हृत्पद्ममें प्रच्छन्न प्रभुपर नहीं, बल्कि मनके ऊपर स्थित भगवान्‌के आवृत सत्यपर छोड़ा जाय और सब कुछ ऊपरसे एक प्रकारके अवतरणके द्वारा प्राप्त किया जाय, इस अवतरणके प्रति हम तब आध्यात्मिक ही नहीं, भौतिक रूपसे भी सचेतन हो जाते हैं। इस क्रियाकी सिद्धि या संपूर्ण पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जब हम चिंतन और सचेतन कर्मके केन्द्रको भौतिक मस्तिष्कसे ऊपर ले जानेमें तथा उन्हें सूक्ष्म शरीरके अन्दर घटित होते हुए अनुभव करनेमें समर्थ हो जायँ। यदि हम अपनेको पहलेकी तरह मस्तिष्कसे नहीं, बल्कि सिरके ऊपर और बाहरके किसी केन्द्रसे सूक्ष्म शरीरमें चिंतन करते हुए अनुभव कर सकें, तो वह भौतिक मनकी सीमाओंसे मुक्तिका अचूक स्थूल चिह्न है, और यद्यपि यह अवस्था एकदम ही पूर्ण नहीं हो जायगी, न यह अकेली अपने-आपमें अतिमानसिक क्रियाको जन्म ही दे देगी, क्योंकि सूक्ष्म शरीर मनका बना हुआ है अतिमानसका नहीं, तथापि यह सूक्ष्म और विशुद्ध मनकी अवस्था है और अतिमानसिक केन्द्रोंके साथ आदान-प्रदानको अधिक सुगम बना देती है। निम्नतर क्रियाएँ फिर भी प्रकट होंगी, पर तब एक द्रुत और सूक्ष्म विवेकपूर्ण निर्णयपर पहुँचना अधिक सुगम प्रतीत होता है। वह निर्णय हमें तुरंत ही दोनों क्रियाओंमें भेद बतला देता है, अन्तर्ज्ञानात्मक विचारको निम्नतर बौद्धिक मिश्रणसे

अलग करके दिखला देता है, उसे उसके मानसिक आवरणोंसे निर्मुक्त कर देता है, मनकी उन निरी वेगमय गतियोंको अस्वीकार कर देता है जो अन्तर्ज्ञानके वास्तविक सारसे रहित होती हुई भी उसके बाह्य रूपका अनुकरण करती हैं। तब सच्ची अतिमानसिक सत्ताके उच्चतर स्तरोंको शीघ्र ही अनुभव करना और अभीष्ट रूपान्तरकी सिद्धिके लिये उनकी शक्तिका यहाँ आवाहन करना अधिक सुगम हो जायगा। साथ ही यह भी अधिक सहज हो जायगा कि हम समस्त निम्नतर कार्योंको उच्चतर शक्ति एवं ज्योतिके हाथोंमें सौंप दें ताकि वह उनका परित्याग एवं बहिष्कार या शोधन एवं रूपान्तर कर सके तथा हमारे अन्दर जिस परम सत्यका संघटन करना है उसके लिये उनमेंसे समुचित सामग्रीका चुनाव कर सके। एक उच्चतर भूमिकाका तथा उसके अधिकाधिक उच्च स्तरोंका इस प्रकार उद्घाटित होना और इसके परिणामस्वरूप हमारी संपूर्ण चेतना और उसके कार्यका उनके साँचेमें ढलकर पुनः गठित होना तथा उनकी शक्ति एवं ज्योतिर्मय सामर्थ्यके सारतत्वमें रूपान्तरित होना ही, व्यवहारमें, भागवत शक्तिके द्वारा प्रयुक्त होनेवाली प्राकृतिक पद्धतिका अधिक बड़ा भाग प्रतीत होता है।

चौथी विधि वह है जो विकसित बुद्धिके समक्ष स्वभावतः ही प्रस्तुत होती है और चिंतनशील मनुष्यके अनुकूल है। वह यह है कि हम अपनी बुद्धिका बहिष्कार करनेके स्थानपर उसका विकास करें, पर यह विकास हमें इस संकल्पके साथ करना चाहिये कि हमें उसकी सीमाओंको न पाल-पोसकर उसकी शक्ति, ज्योति एवं प्रखरताको तथा उसकी क्रियाके स्तर और शक्ति-सामर्थ्यको उन्नत करते जाना है जिससे कि अन्तमें वह अपनेसे परेके तत्वके किनारेपर पहुँच जाय और उसकी उच्चतर सचेतन क्रियामें हज ही उन्नीत और रूपान्तरित हो सके। साधनाकी यह क्रिया (विधिस) भी हमारी प्रकृतिके सत्यपर आधारित है और आत्मसिद्धिके सर्वांगीण योगकी क्रिया-प्रक्रियामें स्थान पाती है। जैसा हम पहले कह आये हैं, इस क्रिया-प्रक्रियाका एक अंग यह भी है कि हम अपने प्राकृत करणों और शक्तियोंकी क्रियाको उन्नत और महान् बनाते जायँ। इस प्रकार अंतमें जब वे शुद्धता और सारभूत अविकलता प्राप्त कर लेते हैं तो हमारे अन्दर कार्य करनेवाली शक्तिकी वर्तमान सामान्य क्रियाकी प्रारंभिक पूर्णता साधित हो जाती है। तर्कशक्ति एवं बुद्धिमूलक संकल्प अर्थात् बुद्धि इन शक्तियों और करणोंमें सबसे महान् है, विकसित मनुष्यमें वह शेष सब करणोंकी स्वाभाविक नेत्री है, अन्योंके विकासमें सहायता करनेमें सर्वाधिक समर्थ है। हमारी प्रकृतिकी

साधारण क्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ सब-की-सब, हमारी अभिलषित महत्तर पूर्णताके लिये उपयोगी हैं, उनके अस्तित्वका प्रयोजन ही यह है कि उन्हें महत्तर एवं पूर्णतर क्रियाके उपादानमें परिणत किया जाय, और उनका विकास जितना अधिक महान् होगा, अतिमानसिक क्रियाकी तैयारी उतनी ही अधिक समृद्ध होगी।

योगमें भागवत शक्तिको बौद्धिक सत्ताको भी हाथमें लेना होगा और उसे उसकी पूर्णतम एवं उन्नततम शक्तियोंतक ऊँचे उठा ले जाना होगा। उसके बाद बुद्धिका रूपान्तर हो सकता है, क्योंकि बुद्धिका समस्त कार्य-व्यापार गुप्तरूपेण अतिमानससे ही उद्भूत होता है, प्रत्येक विचार और संकल्पमें उसका कुछ सत्य समाविष्ट होता है, भले वह बुद्धिकी निम्न क्रियाके द्वारा कितना ही सीमित और परिवर्तित क्यों न हो गया हो। सीमा-मर्यादाको दूर करके तथा विरूप या विकृत करनेवाले तत्त्वका उच्छेद करके रूपान्तर साधित किया जा सकता है। पर यह कार्य केवल बौद्धिक क्रियाको उच्च और महत् बनाकर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह तो मनोमय बुद्धिके मूल सहजात दोषोंके द्वारा सदा ही सीमित रहेगी। अतएव, अतिमानसिक शक्तिका हस्तक्षेप आवश्यक है जो उसकी विचार, संकल्प और वेदन-संबंधी अपूर्णताओंको आलोकित करके दूर कर सके। यह हस्तक्षेप भी तबतक पूर्णतया प्रभावकारी नहीं हो सकता, जबतक कि अतिमानसिक स्तर अभिव्यक्त नहीं हो जाता और, पहलेकी तरह आवरण या पर्देके पीछेसे नहीं, भले वह पर्दा कितना ही पतला क्यों न हो गया हो, —बल्कि एक सुस्पष्ट और ज्योतिर्मय क्रियाके द्वारा, अधिक सतत भावके साथ, मनके ऊपरसे कार्य नहीं करने लगता। इस प्रकार अन्ततोगत्वा सत्यके सूर्यका परिपूर्ण मण्डल दिखायी देने लगता है जिसकी प्रभाको कोई भी मेघ कम नहीं कर सकता। यह भी आवश्यक नहीं है कि हस्तक्षेपके लिये अतिमानसिक शक्तिका आवाहन करने या उसके द्वारा अतिमानसिक स्तरोंको उन्मुक्त करनेसे पहले बुद्धिको पृथक् रूपसे पूर्णतया विकसित कर लिया जाय। हस्तक्षेप पहले भी आरंभ हो सकता है और बौद्धिक क्रियाको तुरंत ही विकसित कर सकता है तथा जैसे-जैसे वह विकसित हो वैसे-वैसे उसे उच्चतर अन्तर्ज्ञानात्मक रूप और सारतत्त्वमें रूपान्तरित कर सकता है।

भागवत शक्तिकी विशालतम स्वाभाविक क्रिया इन सब विधियोंको मिलाकर प्रयुक्त करती है। वह कभी तो साधनाकी पहली ही अवस्थामें और कभी किसी बादकी या शायद सबसे अंतिम अवस्थामें आध्यात्मिक

निश्चल-नीरवता-रूपी मुक्तिको जन्म देती है। वह स्वयं मनमें भी गुप्त अन्तर्ज्ञानात्मक सत्ताको खोल देती है और हमारे अन्दर ऐसा अभ्यास डालती है कि हम अपने समस्त विचार, भाव, संकल्प और कर्मकी प्रेरणा उन भगवान्‌से, ज्योतिर्मय एवं शक्तिस्वरूप भगवान्‌से ही प्राप्त किया करें जो आज मनकी निभृत गुहाओंके अन्तस्तलमें छुपे हुए हैं। जब हम तैयार हो जाते हैं तो वह उसकी क्रियाओंके केन्द्रको मनोमय भूमिकाके शिखरतक उठा ले जाती है तथा अतिमानसिक स्तरोंको खोल देती है और दो क्रियाओंके द्वारा अपने कार्यपथपर आगे बढ़ती है। उनमेंसे एक क्रिया वह है जो ऊपरसे निम्न स्तरोंपर कार्य करती है तथा निम्न प्रकृतिको पूरित एवं रूपांतरित करती है। दूसरी क्रिया वह है जो नीचेसे ऊपरकी ओर गति करती है तथा नीचेकी सभी शक्तियोंको उस भूमिकातक उठा ले जाती है जो उनसे ऊपर है। ये क्रियाएँ तबतक चलती रहती हैं जबतक निम्न भूमिकाका अतिक्रमण पूरा नहीं हो जाता तथा संपूर्ण आधारका रूपांतर समग्र रूपसे संपन्न नहीं हो जाता। वह बुद्धि, संकल्प-वृत्ति तथा अन्य प्राकृत शक्तियोंको हाथमें लेकर उनका विकास करती है, पर उनकी क्रियाको रूपान्तरित करने और विशाल बनानेके लिये वह पहले तो अन्तर्ज्ञानात्मक मनको पुनः-पुनः प्रकट करती है और पीछे सच्ची अतिमानसिक शक्तिको भी कार्यक्षेत्रमें ले आती है। ये सब कार्य वह किसी ऐसे नियत और यांत्रिकतया अपरिवर्तनीय क्रमसे नहीं करती, जिसकी माँग कट्टर तर्कबुद्धि कर सकती है, बल्कि यह सब वह अपने कार्यकी आवश्यकताओं तथा प्रकृतिकी माँगके अनुसार स्वतंत्र और नमनीय ढंगसे करती है।

इस क्रियाका पहला परिणाम वास्तविक अतिमानसकी सृष्टि नहीं बल्कि एक ऐसे बोधिमय मनका संघटन होगा जो प्रमुख रूपसे या यहाँतक कि पूर्ण रूपसे अन्तर्ज्ञानात्मक होगा तथा जो विकास-प्राप्त मनुष्यके साधारण मन एवं तर्कशील विवेकबुद्धिका स्थान लेनेके लिये पर्याप्त रूपसे विकसित हो चुका होगा। सबसे मुख्य परिवर्तन यह होगा कि चिन्तनकी क्रिया रूपान्तरित हो जायगी। वह उच्च स्तरपर उन्नीत होकर घनीभूत ज्योति, घनीभूत शक्तिके तत्वसे तथा ज्योति एवं शक्तिके घनीभूत आनन्दके तत्त्वसे एवं प्रत्यक्ष यथातथतासे परिपूरित हो जायगी। यह ज्योति, शक्ति, आनन्द और यथातथता ही सच्चे अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तनके लक्षण हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन केवल प्राथमिक सुझाव या द्रुत निर्णय ही नहीं प्रदान करेगा बल्कि जो संबंध-योजक और विकास-साधक क्रियाएँ आज बौद्धिक तर्कशक्तिके द्वारा संचालित होती हैं उन्हें वह इसी ज्योति और शक्तिसे तथा सुनिश्चितताके

इसी आनन्द और सत्यके इसी प्रत्यक्ष स्वयंस्फूर्त दर्शनके द्वारा संचालित भी करेगा। संकल्पशक्ति भी इसी अन्तर्ज्ञानात्मक रूपमें रूपान्तरित हो जायगी, 'कर्तव्यं कर्म' की ओर ज्योति और शक्तिके साथ सीधे ही अग्रसर होगी और संभावनाओं तथा यथार्थताओंपर द्रुत दृष्टि डालकर वह अपने कार्य एवं उद्देश्यके लिये आवश्यक संयोगोंका तुरंत निर्णय कर डालेगी। वेदन भी अन्तर्ज्ञानात्मक होंगे, वे समुचित संवन्धोंको एकदम अधिकृत कर लेंगे, नयी ज्योति, शक्ति और प्रसन्नतापूर्ण निश्चितताके साथ कार्य करेंगे, जवतक कामनाएँ और भावावेश टिके रहेंगे तबतक वे केवल यथोचित और सहज-स्फूर्त कामनाओं और भावावेगोंको ही सुरक्षित रखेंगे, और जब वे हमारी सत्तामेंसे निकल जायँगे तब वे उनके स्थानपर ज्योतिर्मय एवं स्वयंस्फूर्त प्रेम तथा एक ऐसे आनन्दको प्रतिष्ठित करेंगे जो अपने विषयोंके यथार्थ रसको जानता है तथा तुरंत अधिकृत कर लेता है। इनकी अन्य सब क्रियाएँ भी इसी प्रकार आलोकित हो जायंगी और यहाँतक कि प्राण तथा इन्द्रियोंकी क्रियाएं एवं शरीरकी चेतना भी प्रकाशसे दीप्त हो उठेगी। और प्रायः ही आन्तरिक मन और उसकी इन्द्रियोंकी उन सूक्ष्म (चैत्य) क्षमताओं, शक्तियों और अनुभूतियोंका भी कुछ विकास होगा जो बाह्य स्थूल इन्द्रिय और तर्कबुद्धिपर निर्भर नहीं करतीं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन केवल एक अधिक शक्तिशाली और अधिक प्रकाशमय तत्त्व ही नहीं होगा, वल्कि योगके इस विकासके पूर्व एक मनुष्यका साधारण मन जो क्रिया कर सकता है उसका अन्तर्ज्ञानात्मक मन सामान्यतया उससे कहीं अधिक विशाल क्रिया कर सकेगा।

इस अन्तर्ज्ञानात्मक मनको यदि अपने स्वभावमें पूर्ण वनाया जा सके और यदि यह किसी निम्नतर तत्वसे मिश्रित न हो और फिर भी अपनी सीमाओं-से तथा अपनेसे परेके तत्त्वकी महत्तासे अनभिज्ञ हो तो यह पशुके सहज-प्रेरणात्मक मन या मनुष्यके तर्कशील मनकी भाँति एक अन्य सुनिश्चित स्तर एवं विश्रामस्थल वन सकता है। परन्तु अन्तर्ज्ञानात्मक मनको तवतक स्थायी रूपसे पूर्ण एवं स्वयं-समर्थ नहीं वनाया जा सकता जवतक कि उसके ऊपर अवस्थित अतिमानसकी शक्तिका द्वार नहीं खुल जाता। यह शक्ति प्रकट होते ही उसकी सीमाएँ स्पष्ट दर्शा देती है और उसे वौद्धिक मन तथा सच्ची अतिमानसिक प्रकृतिके बीचकी एक गौण क्रिया वना देती है। अन्तर्ज्ञानात्मक मन भी आखिर मन ही है, विज्ञान नहीं। निःसंदेह, वह अतिमानससे आनेवाला एक प्रकाश है, पर वह प्रकाश जिस मनोमय भूमिका-में कार्य करता है उसके तत्त्वके द्वारा विकृत तथा क्षीण हो जाता है, और

सदा ही मनके तत्त्वसे हमारा मतलब होता है—अज्ञानका आधार। अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी भूमिका भी सत्यकी विशाल सूर्य-ज्योति नहीं वल्कि उसकी दीप्तियोंकी सतत क्रीड़ा होती है। वे दीप्तियाँ अज्ञानकी या अर्द्धज्ञान तथा अप्रत्यक्ष ज्ञानकी एक आधारभूत अवस्थाको आलोकित किये रखती हैं। जबतक अन्तर्ज्ञानात्मक मन अपूर्ण होता है, तबतक अज्ञानयुक्त मन अपने मिश्रणके द्वारा उसपर आक्रमण करता रहता है और उसके सत्यपर भ्रान्तिका जाल बुन देता है। जब वह इस अन्तर्मिश्रणसे अधिक मुक्त, एक विशालतर स्वाभाविक क्रियाको प्राप्त कर लेता है तब भी, जबतक उसका कार्यक्षेत्र अर्थात् मनका तत्व पुराने बौद्धिक या निम्नतर मानसिक अभ्यासको दुहरानेमें समर्थ रहता है तबतक उसमें भ्रान्तिकी उत्पत्ति एवं वृद्धि हो सकती है और वह अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न तथा अनेक प्रकारके पतनोंमें ग्रस्त हो सकता है। अपि च, व्यष्टि-मन अकेला तथा अपने लिये नहीं वल्कि समष्टि-मनमें निवास करता है और जो कुछ भी वह त्याग चुका है वह उसके चारों ओरके सामष्टिक मनोमय वातावरणमें जाकर मिल जाता है और पुराने सुझावों तथा पुराने मानसिक ढंगके अनेक संकेतोंके साथ लौटकर उसपर आक्रमण करनेकी प्रवृत्ति रखता है। अतएव अन्तर्ज्ञानात्मक मनको, वह विकसित हो रहा हो या हो चुका हो, आक्रमणके और विजातीय वस्तुकी वृद्धिके विरुद्ध सतत सावधान रहना होगा, मिश्रणोंको त्यागने और वहिष्कृत करनेके लिये जागरूक रहना होगा, मनके संपूर्ण तत्त्वको अधिकाधिक अन्तर्ज्ञानमय करनेमें संलग्न रहना होगा, और इसका परिणाम केवल यही हो सकता है कि वह स्वयं आलोकित एवं रूपान्तरित होकर अतिमानसिक सत्ताकी पूर्ण ज्योतिमें उन्नीत हो जायगा।

अपि च, मनका यह नया स्तर प्रत्येक मनुष्यमें उसकी सत्ताकी वर्तमान शक्तिका एक विकसित रूप है और इसके प्रगतिशील रूप कितने ही नये और अद्भुत क्यों न हों, फिर भी इसका सुव्यवस्थित व्यावहारिक रूप शक्तिके एक विशेष क्षेत्रतक ही सीमित है। निःसंदेह यह अपने-आपको हाथमें लिये हुए कार्यतक तथा अपनी चरितार्थ शक्तिके वर्तमान क्षेत्रतक सीमित रख सकता है, पर अनन्तकी ओर खुले हुए मनका स्वभाव अपने-आपको विकसित, परिवर्तित और विस्तृत करनेका होता है, तथापि अपनी उक्त सीमासे परे जानेका साहस करनेपर यह वहाँ अज्ञानमें बौद्धिक खोज करनेकी पुरानी आदतके पुनः अधीन हो जाता है, भले वह आदत नये अन्तर्ज्ञानात्मक अभ्यासके कारण कितनी ही सुधर क्यों न गयी हो। जबतक पूर्णतर, अतिमानसिक ज्योतिर्मय शक्तिकी अभिव्यक्त क्रिया इसे निरन्तर अतिक्रम

करके इसका मार्गदर्शन नहीं करती तबतक यह पुरानी आदतके अधीन होता ही रहेगा। निःसंदेह इसका स्वरूप यह है कि यह वर्तमान मन और अतिमानसके बीचकी एक शृंखला एवं संक्रमणात्मक अवस्था है और जबतक संक्रमण पूरा नहीं हो जाता तबतक कभी-कभी तो निम्न भूमिकाओंकी ओर आकर्षणकी और कभी-कभी ऊर्ध्वभूमिकाओंकी ओर आरोहणकी वृत्ति देखनेमें आती है, एक दोलायमान अवस्था अर्थात् नीचेसे आक्रमण और आकर्षण तथा ऊपरसे आक्रमण और आकर्षणकी अवस्था बनी रहती है; और बहुत हुआ तो दो ध्रुवोंके बीचकी एक अनिश्चित एवं सीमित अवस्था स्थापित हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्यकी उच्चतर बुद्धि उसके निम्नस्थ, पाशव, रूढ़िप्रधान मानव-मन तथा ऊर्ध्वस्थ विकसनशील आध्यात्मिक मनके बीच अवस्थित है, उसी प्रकार आध्यात्मिक मनकी यह पहली भूमिका बौद्धिक-भावापन्न मानव-मन तथा महत्तर अतिमानसिक ज्ञानके बीच अवस्थित है।

मनका स्वरूप यह है कि वह अधूरे प्रकाशों तथा अन्धकारके बीच, सुशक्यताओं और संभावनाओंके बीच, पूरी तरहसे समझमें न आये हुए पहलुओंके बीच, अनिश्चितताओं और अर्द्ध-निश्चितताओंके बीच निवास करता है : वह एक प्रकारका अज्ञान है जो ज्ञानको पकड़में लानेकी चेष्टा कर रहा है, अपने-आपको विशाल बनानेका यत्न कर रहा है और सच्चे विज्ञानके प्रच्छन्न रूपको उघाड़नेके लिये दबाव डाल रहा है। अतिमानस आध्यात्मिक निश्चितताओंकी ज्योतिमें निवास करता है : वह मनुष्यके लिये एक ऐसा ज्ञान है जो अपनी सहजात ज्योतिके वास्तविक रूपको प्रकट कर देता है। अन्तर्ज्ञानात्मक मन पहले-पहल एक ऐसे तत्त्वके रूपमें प्रकट होता है जो मनके अर्द्ध-प्रकाशों, उसकी शक्यताओं और संभावनाओं, उसके नाना पहलुओं, उसकी अनिश्चित निश्चितताओं तथा स्थापनाओंको अपनी विद्युत्प्रभाओंसे आलोकित करता है और इन वस्तुओंके द्वारा गोपित या अर्द्ध-गोपित एवं अर्द्ध-व्यक्त सत्यको प्रकाशित करता है। अपनी उच्चतर क्रियामें वह अतिमानसिक सत्यकी प्रथम रश्मि लाता है। उसके लिये उसके साधन ये हैं—निकटतर प्रत्यक्षताके साथ साक्षात्कार, आत्माके ज्ञानका ज्योतिर्मय संकेत या स्मृति, सत्ताके गुप्त विराट् अन्तर्दर्शन एवं ज्ञानके द्वारोंमेंसे अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना या अन्दर देखना। वह उस महत्तर ज्योति एवं शक्तिका प्रारंभिक और अपूर्ण सुगठित रूप है, अपूर्ण इसलिये कि वह उसकी चेतनाके सहजात तत्त्वपर आधारित नहीं है बल्कि मनकी भूमिकामें गठित किया गया है, वह उसके साथ सतत संपर्क रखता है, पर उसकी सर्वथा प्रत्यक्ष

एवं शाश्वत उपस्थितिको मूर्त रूपमें प्रकट नहीं करता। पूर्ण सिद्धि तो इससे परे अतिमानसिक स्तरोंमें निहित है और उसका आधार मनके तथा हमारी संपूर्ण प्रकृतिके अधिक निश्चयात्मक एवं पूर्ण रूपान्तरपर प्रतिष्ठित है।

इक्कीसवाँ अध्याय

अतिमानसके क्रमिक सोपान

अन्तर्ज्ञानात्मक मन सत्यका एक ऐसा अव्यवहित रूपान्तर है जो उसे ज्योतिर्मय अतिमानसिक तत्त्वके द्वारा अर्द्ध-रूपान्तरित मानसिक परिभाषाओंके रूपमें परिणत कर देता है, वह मनके ऊपर अतिचेतन आत्मामें कार्य करनेवाले किसी अनन्त आत्मज्ञानका एक परिवर्तित रूप है। जव हम उस आत्मासे सचेतन होते हैं तो हमें पता चलता है कि वह एक ऐसी महत्तर सत्ता है जो एक ही साथ हमारे ऊपर, अन्दर और चारों ओर विद्यमान है तथा हमारी वर्तमान सत्ता, हमारा मानसिक, प्राणिक और भौतिक व्यक्तित्व एवं प्रकृति जिसका एक अपूर्ण अंश या एक आंशिक एवं गौण रचना या फिर एक निम्न एवं अपर्याप्त प्रतीक है, और जैसे-जैसे अन्तर्ज्ञानात्मक मन हमारे अन्दर विकसित होता है, जैसे-जैसे हमारी संपूर्ण सत्ता एक अन्तर्ज्ञानात्मक तत्त्वके साँचेमें अधिकाधिक ढलती जाती है, वैसे-वैसे हम अपने करणोंका इस महत्तर आत्मा एवं अध्यात्म-सत्ताकी प्रकृतिमें एक प्रकारका अर्द्ध-रूपान्तर अनुभव करते हैं। हमारे समस्त विचार, संकल्प, आवेग, भाव, यहाँतक कि अन्तमें हमारे अधिक वाह्य प्राणिक एवं शारीरिक संवेदन भी आत्मासे आनेवाले अधिकाधिक प्रत्यक्ष स्पन्दन वनते जाते हैं और उनकी प्रकृति भी अन्य प्रकारकी, अधिकाधिक शुद्ध, अक्षुब्ध, शक्तिशाली एवं ज्योतिर्मय होती जाती है। यह रूपान्तरका केवल एक पहलू है : दूसरा पहलू यह है कि जो कोई भी चीज अभीतक निम्नतर सत्तासे संवंध रखती है, जो भी चीज हमें अभीतक वाहरसे आती हुई लगती है या हमारे पुराने निम्नतर व्यक्तित्वकी क्रियाका वचा हुआ अंश प्रतीत होती है, वह रूपान्तरका दवाव अनुभव करती है और उसकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अपने-आपको नये तत्व और नयी प्रकृतिके अनुसार संशोधित एवं रूपान्तरित करनेकी ओर होती है। उच्चतर सत्ता नीचे उतर आती है और एक वहुत वड़े अंशमें निम्नतर सत्ताका स्थान ले लेती है, पर साथ ही निम्नतर सत्ता भी परिवर्तित होती है, वह अपने-आपको उच्चतर सत्ताकी क्रियाके उपादानमें रूपान्तरित करती है तथा उसके सारतत्त्वका अंग वन जाती है।

मनके ऊपर विद्यमान महत्तर आत्मा सर्वप्रथम एक उपस्थिति, ज्योति

एवं शक्तिके रूपमें, एक उद्‌गम एवं अनन्त तत्त्वमें प्रतीत होती है, परन्तु उसका जितना भी अंश हम जान सकते हैं वह सब पहले-पहल सत्ता, चेतना, चित्-शक्ति और आनन्दका एक अनन्त अखण्ड स्वरूप ही होता है। शेष सब कुछ भी इसीसे आता है, पर वह हमारी मनोमय भूमिकाके ऊपर, अन्तर्ज्ञानात्मक मन तथा उसके स्तरको छोड़कर, और कहीं भी विचार, संकल्प या अनुभूतिका कोई निश्चित आकार नहीं ग्रहण करता। या फिर हम यह अनुभव करते हैं तथा नाना रूपोंमें हमें यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि एक महान् एवं अनन्त पुरुष है जो उस सत्ता एवं उपस्थितिका एक नित्यतः-जीवन्त सत्य है, एक महान् एवं अनन्त ज्ञान है जो उस ज्योति एवं चेतनाकी एक गर्भित शक्यता है, एक महान् एवं अनन्त संकल्प-शक्ति है जो उस चिच्छक्तिकी एक गर्भित शक्यता है, एक महान् एवं अनन्त प्रेम है जो उस आनन्दकी एक गर्भित शक्यता है। परन्तु ये सब शक्यताएँ, अपनी मूल उपस्थितिके प्रबल सत्य और प्रभावसे पृथक्, हमें किसी निश्चित रूपमें वहींतक ज्ञात होती हैं जहाँतक वे हमारी अन्तर्ज्ञानात्मक मनोमय सत्ताके प्रति उसके स्तरपर तथा उसकी सीमाओंके भीतर किसी अनूदित रूपमें प्रकट होती हैं। तथापि जैसे-जैसे हम प्रगति करते हैं या जैसे-जैसे हम उस आत्मा या पुरुषके साथ एक अधिक ज्योतिर्मय एवं क्रियाशील एकत्वमें विकसित होते हैं वैसे-वैसे ज्ञान, संकल्प और आध्यात्मिक वेदनकी एक महत्तर क्रिया मनके ऊपर प्रकट होती है और अपने-आपको व्यवस्थित रूप देती प्रतीत होती है और इसे हम सच्चे अतिमानसके रूपमें तथा अनन्त ज्ञान, संकल्प और आनन्दकी वास्तविक एवं स्वाभाविक क्रीड़ाके रूपमें पहचानते हैं। तब अन्तर्ज्ञानात्मक मन एक ऐसी गौण एवं निम्न क्रिया-शक्तिका रूप धारण कर लेता है जो इस उच्चतर शक्तिकी सेवा करती है, इसके सब आलोकों और आदेशोंको स्वीकार करती और प्रत्युत्तर देती है, उन्हें निम्न करणोंतक पहुँचाती है, और जब वे उसतक नहीं पहुँचते या उनकी प्रत्यक्ष उपस्थिति उसे अनुभूत नहीं होती, तब वह बहुधा ही इस उच्चतर शक्तिकी स्थान-पूर्ति करने, इसकी क्रियाका अनुकरण करने तथा यथासंभव सुचारु रूपसे अतिमानसिक प्रकृतिके कार्योंको संपन्न करनेका यत्न करती है। वास्तवमें अतिमानसकी तुलनामें अन्तर्ज्ञानात्मक मनका वही स्थान है जो योगकी एक अधिक प्रारंभिक अवस्थामें इसकी तुलनामें साधारण बुद्धिका था तथा उसके साथ इसका संबंध भी वैसा ही है जैसा पहले इसके साथ साधारण बुद्धिका था।

हमारी सत्ताके दो स्तरोंपर होनेवाली यह दुहरी क्रिया प्रारंभमें

अन्तर्ज्ञानात्मक मनको एक गौण क्रियाके रूपमें सुदृढ़ बनाती है और अज्ञानके अवशेषों या आक्रमणों या प्ररोहोंको अधिक पूर्ण रूपसे बहिष्कृत या रूपान्तरित करनेमें उसे सहायता पहुँचाती है। और उत्तरोत्तर वह स्वयं अन्तर्ज्ञानात्मक मनको—उसकी ज्ञानज्योतिको—भी प्रखर करती है और अन्तमें उसे स्वयं अतिमानसकी प्रतिमामें रूपान्तरित कर देती है, पर आरंभमें साधारणतया विज्ञानकी एक अधिक सीमित क्रियामें ही रूपान्तरित करती है। इस क्रियामें विज्ञान उस शक्तिका रूप धारण करता है जिसे हम ज्योतिर्मय अतिमानसिक या दिव्य बुद्धि कह सकते हैं। स्वयं अतिमानस भी आरंभमें इस दिव्य बुद्धिके रूपमें ही अपनी क्रियाको व्यक्त कर सकता है और फिर, जब वह मनको अपनी प्रतिमामें रूपान्तरित कर लेता है, वह अवतरित होकर सामान्य बुद्धि और तर्कशक्तिका स्थान ले लेता है। इस बीच कहीं अधिक महान् प्रकारकी एक उच्चतर अतिमानसिक शक्ति अपने-आपको मनके ऊपर व्यक्त करती रही है जो हमारी सत्तामें दिव्य कर्मकी सर्वोच्च बागडोर अपने हाथमें लेती है। दिव्य बुद्धिका स्वरूप अधिक सीमित होता है, कारण, यद्यपि उसपर मनकी मुहर नहीं होती और यद्यपि वह साक्षात् सत्य और ज्ञानकी एक क्रिया होती है, तथापि वह एक प्रति-निधिभूत शक्ति है, उसके उद्देश्योंकी शृंखला चाहे अधिक ज्योतिर्मय है फिर भी वे कुछ अंशमें साधारण मानवीय संकल्पशक्ति और तर्कबुद्धिके उद्देश्योंके सदृश हैं। अतः इससे और भी अधिक महान् अतिमानसिक भूमिकामें पहुँचनेपर ही मनुष्यमें ईश्वरकी प्रत्यक्ष, पूर्ण-प्रकाशित और साक्षात् क्रिया प्रकट होती है। अन्तर्ज्ञानात्मक मन, दिव्य बुद्धि और महत्तर अतिमानसमें ये भेद और फिर स्वयं इन स्तरोंमें भी अवान्तर भेद करने आवश्यक हैं, क्योंकि अन्तमें ये बड़े काममें आते हैं। आरंभमें मन अपनेसे परेके स्तरसे आनेवाली सभी चीजोंको बिना किसी भेदके पर्याप्त आध्यात्मिक प्रकाशके रूपमें ग्रहण करता है और आरंभिक अवस्थाओं तथा प्रथम आलोकोंको भी अंतिम वस्तुके रूपमें स्वीकार कर लेता है, पर पीछे उसे पता चलता है कि यहीं रुक जाना एक आंशिक उपलब्धिमें विश्राम करनेके समान होगा और यह भी कि साधकको उच्च और विशाल बनते जाना होगा जबतक कि, कम-से-कम, एक विशाल और उच्च दिव्य मूर्तिका ढाँचा कुछ हदतक पूर्णता न प्राप्त कर ले।

मनसे परेके स्तरोंके भेदोंका क्या अभिप्राय है यह समझना भी बुद्धिके लिये कठिन है : ऐसी मानसिक परिभाषाएँ हैं ही नहीं जिनमें इन्हें प्रकट किया जा सके अथवा यदि हैं भी तो वे उपयुक्त नहीं हैं और कुछ

साक्षात्कार या कुछ निकटतम अनुभवोंके बाद ही इन्हें समझा जा सकता है। इस समय तो कुछ संकेतभर देना ही उपयोगी हो सकता है। और सबसे पहले चिंतनात्मक मनसे कुछ सूत्र लेना पर्याप्त होगा; क्योंकि अति-मानसिक कार्यकी कुछ-एक निकटतम कुंजियाँ वहाँ ही मिल सकती हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मनका चिन्तन संपूर्णतया चार शक्तियोंके द्वारा उद्‌भूत होता है जो सत्यका रूप गढ़ती हैं, वे शक्तियाँ ये हैं---सत्यके विचारका संकेत देनेवाला अन्तर्ज्ञान, विवेक करनेवाला अन्तर्ज्ञान, उसकी वाणीको तथा उसके महत्तर सारके कुछ अंशको लानेवाली अंत:प्रेरणा और उसके वास्तविक तत्त्वकी साक्षात् मुखच्छवि तथा संपूर्ण देहको हमारी दृष्टिके प्रति मूर्तिमन्त करनेवाला दिव्य साक्षात्कार। ये शक्तियाँ सामान्य मनोमय बुद्धिकी उन विशेष क्रियाओंसे भिन्न हैं जो देखनेमें इन जैसी ही लगती हैं और जिन्हें हम अपनी आरंभिक अनुभवहीन अवस्थामें सहज ही अन्तर्ज्ञान समझनेकी भूल कर बैठते हैं। संकेतकारी अन्तर्ज्ञान आशु बुद्धिकी बौद्धिक अन्तर्दृष्टिसे अभिन्न नहीं है, न ही अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक और तर्कबुद्धिका द्रुत निर्णय एक ही चीज हैं; अन्तर्ज्ञानात्मक अनुप्रेरणा कल्पनाशील बुद्धिकी अन्त:प्रेरित क्रियासे अभिन्न नहीं है और न शुद्ध-मानसिक सूक्ष्म बोध एवं अनुभवकी प्रखर ज्योति तथा अन्तर्ज्ञानात्मक साक्षात्कार एक ही चीज हैं।

शायद यह कहना ठीक होगा कि मनोमय बुद्धिकी ये क्रियाएँ उच्चतर गतियों या क्रियाओंके मानसिक रूप हैं, उन्हीं क्रियाओंको करनेके लिये किये गये साधारण मनके प्रयत्न हैं अथवा उच्चतर प्रकृतिकी क्रियाओंके ऐसे उत्तम-से-उत्तम अनुकरण हैं जिन्हें बुद्धि हमारे सामने प्रस्तुत कर सकती है। सच्चे अन्तर्ज्ञान अपने ज्योतिर्मय सारतत्वमें तथा अपनी क्रिया और ज्ञानप्रणालीमें इन प्रभावशाली पर अपर्याप्त अनुकरणोंसे भिन्न प्रकारके होते हैं। बुद्धिकी तीव्र क्रियाएँ सत्यके मानसिक आकारों और प्रतिरूपोंके प्रति आधारभूत मानसिक अज्ञानके जागरणोंपर निर्भर करती हैं। वे आकार एवं प्रतिरूप अपने क्षेत्रमें तथा अपने प्रयोजनके लिये सर्वथा सत्य हो सकते हैं, पर वे आवश्यक रूपसे तथा अपने मूल स्वभावसे ही विश्वसनीय हों ऐसी बात नहीं। बुद्धिकी तीव्र क्रियाएँ अपने प्राकट्यके लिये मानसिक और ऐन्द्रिय बोधोंके द्वारा प्राप्त संकेतोंपर या अतीत मानसिक ज्ञानकी संचित सामग्रीपर निर्भर करती हैं। वे सत्यकी खोज एक ऐसी बाह्य वस्तुके रूपमें करती हैं, जिसे प्राप्त करना, देखना तथा अर्जित पदार्थके रूपमें संचित करना होता है और जब वह प्राप्त हो जाता है तो वे उसके तलों, निर्देशों या पहलुओंकी छानबीन करती हैं। इस छानबीनसे सत्यके

विषयमें एक सर्वथा पूर्ण एवं पर्याप्त विचार कभी नहीं प्राप्त हो सकता। एक विशेष समयमें वे कितनी ही निश्चयात्मक क्यों न प्रतीत हों, किसी भी क्षण उन्हें अतिक्रम करना और त्यागना पड़ सकता है और वे नूतन ज्ञानके साथ असंगत प्रतीत हो सकती हैं।

इसके विपरीत, बोधिमूलक ज्ञान (अन्तर्ज्ञान) अपने कार्यक्षेत्र या प्रयोगमें कितना ही मर्यादित क्यों न हो, फिर भी अपने उस क्षेत्रके भीतर वह एक प्रत्यक्ष, स्थायी और, विशेषकर, स्वयंसत् निश्चितताके कारण असन्दिग्ध होता है। वह मन और इन्द्रियद्वारा प्रदत्त तथ्य-सामग्रीको एक आरंभविन्दुके रूपमें या वस्तुतः एक ऐसी वस्तुके रूपमें ग्रहण कर सकता है जिसके वास्तविक अर्थको आलोकित और अनावृत करना है अथवा भूतकालके विचार और ज्ञानकी परंपराको प्रदीप्त करके उनसे नये अर्थ और परिणाम निकाल सकता है, पर वह अपने सिवाय और किसीपर भी निर्भर नहीं करता और, पूर्वसंकेत या तथ्यसामग्रीसे स्वतंत्र रहते हुए, अपने ही दीप्ति-क्षेत्रमेंसे उछलकर प्रकट हो सकता है, और इस प्रकारकी क्रिया उत्तरोत्तर अधिक सामान्य होती जाती है तथा ज्ञानकी नयी गहराइयों और नयी श्रेणियोंको प्रकट करनेके लिये दूसरे प्रकारकी ज्ञानक्रियाके साथ अपनेको संयुक्त कर देती है। दोनों अवस्थाओंमें उसके अन्दर स्वयंभू सत्यका कुछ अंश एवं उद्‌गमकी निरपेक्षताका बोध सदा ही विद्यमान होता है जो यह सूचित करता है कि उसका उद्भव आत्माके तादात्म्यमूलक ज्ञानसे हुआ है। वह एक ऐसे ज्ञानका आविर्भाव होता है जो गुप्त रहता हुआ भी हमारी सत्तामें पहलेसे ही विद्यमान होता है : वह कोई बाहरसे प्राप्त ज्ञान नहीं, बल्कि एक ऐसा ज्ञान होता है जो वहाँ सदा ही विद्यमान तथा प्रकट हो सकनेके योग्य था। वह सत्यको अन्दरसे देखता है और उस अन्तर्दृष्टिके द्वारा उसके बाह्य पक्षोंको आलोकित करता है और, यदि हम अपनी बोधिमय सत्तामें जाग्रत् रहें तो, जिस भी नये सत्यको अभी प्रकट होना होता है उसके साथ वह अपनेको तुरंत समस्वर भी कर लेता है। उच्चतर एवं वास्तविक अतिमानसिक स्तरोंमें ये लक्षण अधिक स्पष्ट और तीव्र हो जाते हैं : संभव है कि अन्तर्ज्ञानात्मक मनमें इनका शुद्ध और पूर्ण स्वरूप सदा पहचानमें न आ सके, क्योंकि वहाँ इनमें मनका उपादान और उसके विजातीय तत्व मिश्रित हो जाते हैं, किन्तु दिव्य मनीषा और महत्तर अति-मानसिक क्रियामें ये मुक्त और निरपेक्ष रूप धारण कर लेते हैं।

मनके स्तरपर कार्य करता हुआ संकेतकारी अन्तर्ज्ञान सत्यके प्रत्यक्ष और प्रकाशप्रद आन्तरिक विचारका संकेत दे देता है। यह विचार सत्यका

वास्तविक प्रतिरूप एवं संकेत होता है, अभी यह उसका पूर्णतः उपस्थित एवं समग्र प्रत्यक्ष रूप नहीं होता, वरंच उसका स्वरूप किसी सत्यकी उज्ज्वल स्मृतिका-सा होता है, यह आत्माके ज्ञानके किसी रहस्यका एक स्मरणमात्र होता है। यह एक प्रतिनिधि होता है, पर होता है जीवन्त प्रतिनिधि, न कि विचारात्मक प्रतीक, एक प्रतिविम्व होता है, पर ऐसा प्रतिविम्व जो सत्यके वास्तविक सारके किसी अंशसे प्रदीप्त होता है। अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक दूसरे नंबरकी क्रिया है जो सत्यके इस विचारको अन्य विचारोंके साथ इसके संवंधकी दृष्टिसे यथास्थान स्थापित कर देती है। और जवतक मनमें हस्तक्षेप करने तथा विजातीय तत्वोंको वढ़ानेकी आदत वनी रहती है तवतक वह मानसिक दर्शनको उच्चतर दर्शनसे पृथक् करनेके लिये तथा निम्नतर मानसिक उपादानको, जो अपने मिश्रणसे शुद्ध सत्य-तत्त्वको अस्तव्यस्त कर देता है, विवेकपूर्वक अलग करनेके लिये भी कार्य करता है और अज्ञान तथा ज्ञान, अनृत एवं भ्रान्तिकी संयुक्त गुत्थीको सुलझानेका प्रयास करता है। जैसे अन्तर्ज्ञानका स्वरूप स्मृतिका, स्वयंभू सत्यके ज्योतिर्मय स्मरणका होता है, वैसे ही अन्तःप्रेरणाका स्वरूप सत्य-श्रवणका होता है : वह सत्यकी साक्षात् वाणीका प्रत्यक्ष ग्रहणरूप होती है, वह सत्यको पूर्णतया मूर्त करनेवाले शव्दको तत्क्षण ही ले आती है और उसके विचारकी ज्योतिसे अधिक कुछको धारण किये होती है; उसकी आन्तरिक परमार्थ-सत्ताकी कोई धारा एवं उसके सारतत्वकी एक विशद् उपलव्धिकारी क्रिया पकड़में आ जाती है। सत्यदर्शनका स्वरूप प्रत्यक्ष-दृष्टिका होता है, और वह वस्तुके निज स्वरूपको, जिसका कि विचार एक प्रतीक होता है, हमारी वर्तमान अन्तर्दृष्टिके सामने प्रत्यक्ष करा देता है। वह सत्यकी मूल आत्मा, देह और वास्तविक सत्ताको प्रकट कर देता है और उसे हमारी चेतना एवं अनुभूतिका अंग वना देता है।

यदि यह मान लिया जाय कि अतिमानसिक प्रकृतिके विकासकी वास्तविक प्रक्रिया एक नियमित क्रमपरंपराका अनुसरण करती है तो यह देखा जा सकता है कि उस प्रक्रियामें दो निम्नतर शक्तियाँ पहले प्रकट होती हैं, यद्यपि वे दो उच्चतर शक्तियोंकी समस्त क्रियासे अनिवार्यरूपेण शून्य ही नहीं होतीं, और जैसे ही वे वृद्धिगत होकर एक सामान्य क्रियाका रूप धारण कर लेती हैं, वे एक प्रकारके निम्न वोधिमय विज्ञान (अन्तर्ज्ञान)का गठन करती हैं। दोनों शक्तियोंका परस्पर-संयोग इसकी पूर्णताके लिये आवश्यक है। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक अपने ही सहारे कार्य करे तो वह एक प्रकारकी आलोचक ज्योतिका सृजन करता है जो वुद्धिके विचारों और

बोधोंपर क्रिया करती है और उनपर उनका अपना ही प्रकाश इस प्रकार फेंकती है कि मन उनकी भ्रान्तिसे उनके सत्यको पृथक् कर सकता है। अन्तमें वह बौद्धिक निर्णय-शक्तिके स्थानपर प्रकाशमय अन्तर्ज्ञानात्मक निर्णय-शक्तिका, एक प्रकारके आलोचक विज्ञानका सृजन करता है: पर संभव है कि उसमें अभिनव प्रकाशप्रद ज्ञानकी कमी हो अथवा वह सत्यका केवल उतना-सा विस्तार साधित करे जितना भ्रान्तिके पृथक् करनेके स्वाभाविक परिणामके रूपमें साधित होता है। दूसरी ओर, यदि संकेतकारी अन्तर्ज्ञान इस विवेकके विना अकेले, अपने ही सहारे कार्य करे तो निःसंदेह नये सत्य और नयी ज्योतियाँ निरंतर ही प्राप्त होती हैं, पर मनके विजातीय तत्त्व उन्हें सहज ही घेरकर अस्तव्यस्त कर देते हैं और उनकी शृंखला तथा उनका संवन्ध या एक-दूसरेमेंसे उनका सुसंमजस विकास आच्छन्न हो जाते हैं एवं पारस्परिक हस्तक्षेपके कारण छिन्न-भिन्न भी हो जाते हैं। इस प्रकार सक्रिय बोधिमूलक अनुभवकी एक सतत कार्यरत शक्ति उत्पन्न हो जाती है, पर बोधिमय विज्ञानका कोई पूर्ण एवं शृंखलावद्ध मन अभी गठित नहीं हुआ होता। ये दोनों निम्नतर शक्तियाँ (अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक और संकेतकारी अन्तर्ज्ञान) मिलकर एक-दूसरेकी असहाय क्रियाकी त्रुटियोंको पूरा कर देती हैं और अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव एवं विवेकसे युक्त एक मनका गठन करती हैं जो स्खलनशील मनोमय बुद्धिका कार्य तथा उससे भी अधिक कुछ कर सकता है और उसे एक अधिक प्रत्यक्ष एवं अस्खलनशील विचारणाकी महत्तर ज्योति, निश्चितता और शक्तिके साथ संपन्न कर सकता है।

इसी प्रकार दो उच्चतर शक्तियाँ उच्चतर बोधिमूलक विज्ञानका निर्माण करती हैं। मनमें पृथक् शक्तियोंके रूपमें कार्य करती हुई वे भी सहचारिणी क्रियाओंके विना अपने-आपमें पर्याप्त नहीं होतीं। निःसन्देह प्रत्यक्ष दृष्टि वस्तुके निज स्वरूपकी वास्तविकता एवं विभेदक लक्षणोंको हमारे सामने प्रकट कर सकती है और चेतन पुरुषके अनुभवमें एक महान् शक्तिकी कुछ वृद्धि भी कर सकती है, पर यह संभव है कि इस प्रत्यक्ष दृष्टिमें सत्यके शब्द-शरीरका, उसे प्रकट करनेवाले विचारका तथा उसके संवन्धों और परिणामोंकी अविच्छिन्न शृंखलाकी प्राप्तिका अभाव हो और यह अन्तरात्मा-के अन्दर ही एक प्राप्ति (निधि) के रूपमें रहे तथा करणोंतक न पहुँचे एवं उनके द्वारा उपलब्ध वस्तुका रूप न ले। हो सकता है कि वहाँ सत्यकी उपस्थिति तो हो पर उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति न हो। अंतःप्रेरणासे हमें सत्यकी वाणी प्राप्त हो सकती है तथा उसकी क्रियाशक्ति एवं गतिका स्पन्दन भी, पर यह एक पूर्ण वस्तु नहीं होती और न इसका प्रभाव ही अचूक

होता है जबतक कि उन सब चीजोंका पूर्ण साक्षात्कार न हो जाय जिन्हें यह अपने अन्दर धारण किये रहती है तथा प्रकाशपूर्ण ढंगसे संकेतित करती है और जबतक इसके संबन्धोंमें शृंखला स्थापित न हो जाय। अन्तःप्रेरित अन्तर्ज्ञानात्मक मन विद्युत्प्रभाओंसे युक्त मन है। ये विद्युत्प्रभाएँ अनेक अंधकारमय वस्तुओंको आलोकित कर देती हैं, पर इनकी ज्योतिको निष्कम्प प्रभावोंकी एक ऐसी धाराके रूपमें प्रवाहित करना तथा एक ऐसे स्थिर स्रोत-का रूप देना आवश्यक है जो व्यवस्थित एवं विशद् ज्ञानके लिये एक अवि-च्छिन्न शक्तिका काम करे। इन दो अनन्य शक्तियों-समेत अकेला उच्चतर विज्ञान एक ऐसा अध्यात्म-ज्योतिर्मय मन होगा जो अधिकतर अपने पृथक् क्षेत्रमें ही निवास करेगा, वह शायद अदृश्य रूपमें बाह्य जगत्पर भी अपना प्रभाव उत्पन्न करेगा, पर अपनी अधिक सामान्य क्रियाओंके साथ अधिक निकट एवं साधारण आदान-प्रदान करनेके लिये उसे जिस संबन्ध-सूत्रकी आवश्यकता है वह उसके पास नहीं होगा। यह सम्बन्ध-सूत्र निम्न-विचार-णात्मक क्रियाके द्वारा स्थापित होगा। इन चारों शक्तियोंकी संयुक्त या फिर एकीभूत एवं एकीकृत क्रिया ही पूर्ण, सुसन्नद्ध एवं सुसज्जित बोधिमूलक विज्ञानका गठन करती है।

चेतनाका नियमित विकास, चारों शक्तियोंको कुछ मात्रामें एक साथ अभिव्यक्त करता हुआ भी, पहले पर्याप्त व्यापक प्रमाणमें एक संकेतदायी एवं आलोचक अन्तर्ज्ञानात्मक मनके निम्न स्तरका ही निर्माण करेगा और फिर उसके ऊपर अन्तःप्रेरित तथा प्रत्यक्षदर्शक अन्तर्ज्ञानात्मक मनका विकास करेगा। उसके बाद वह दोनों निम्नतर शक्तियोंको अन्तःप्रेरणाकी शक्तिकी भूमिका और क्षेत्रमें उठा ले जायगा और उन सबसे ऐसी एक ही सामं-जस्ययुक्त शक्तिके रूपमें कार्य करायेगा जो एक ही साथ तीनोंका संयुक्त कार्य करेगी अथवा एक उच्चतर एवं प्रखर शक्तिकी भूमिकामें एक ही अविभेद्य ज्योतिके रूपमें तीनोंका एकीभूत कार्य संपन्न करेगी। अन्तमें वह इस प्रकार-की एक और क्रिया करेगा जिसके द्वारा वह इन दोनों शक्तियोंको बोधिमय विज्ञानकी सत्य-प्रकाशक शक्तिमें उन्नीत करके उसके साथ एक कर देगा। सच पूछो तो मानव-मनमें विकासकी स्पष्ट प्रक्रिया संभवतः सदा ही न्यूना-धिक विक्षुब्ध एवं अस्तव्यस्त रहेगी तथा उसका क्रम अनियमित हो जायगा, उसे पुनः-पुनः पतनका शिकार होना पड़ेगा, प्रगतिके पग अपूर्ण ही रहेंगे और व्यक्तिको पुनः-पुनः उन क्रियाओंकी ओर लौटना होगा जो मानसिक अर्द्ध-ज्ञानकी वर्तमान क्रियाओंके सतत मिश्रण एवं हस्तक्षेप तथा मानसिक अज्ञानके तत्त्वकी बाधाके कारण संपन्न नहीं हो पायीं या अपूर्ण रूपसे ही

अन्तर्ज्ञानात्मक मनके विकाससे यह आदान-प्रदान अवचेतन तथा प्रच्छन्न न रहकर प्रत्यक्ष हो जाता है; पर अभी हम मनमें ही स्थित होते हैं और मन अभी भी ऊपरकी ओर दृष्टि डालकर अतिमानसिक संदेश प्राप्त करता है तथा उसे अन्य करणोंतक पहुँचाता है। ऐसा करनेमें वह नीचे अपने पास आनेवाले विचार और संकल्पके लिये पहलेकी तरह पूर्ण रूपसे अपना ही आकार नहीं बनाता, किन्तु फिर भी वह उन्हें परिवर्तित, मर्यादित और सीमित कर देता है और उनपर कुछ-कुछ अपनी पद्धति थोप देता है। वह अब भी विचार और संकल्पका ग्रहणकर्ता तथा वाहक होता है,—यद्यपि वह अब उनका निर्माता नहीं होता, हाँ, सूक्ष्म प्रभावके द्वारा उनके निर्माणमें भाग अवश्य लेता है, क्योंकि वह उन्हें एक मानसिक तत्व या एक मानसिक संनिवेश और ढाँचा एवं वातावरण प्रदान करता है या कम-से-कम उन्हें इन चीजोंसे घेर देता है। परन्तु जब अतिमानसिक बुद्धि विकसित होती है तो पुरुष मनकी ऊँचाईसे ऊपर उठ जाता है और तब वह मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके संपूर्ण कार्यपर एक बिलकुल ही अन्य प्रकाश एवं वायु-मंडलसे दृष्टिपात करता है, उसे एक सर्वथा भिन्न अन्तर्दृष्टिसे देखता और जानता है और क्योंकि अब वह पहलेकी तरह मनमें नहीं फँसा होता, अतः वह उसे मुक्त और यथार्थ ज्ञानके साथ देखता और जानता है। अभी मनुष्य पशुके स्तरके अन्दर निवर्तित होनेकी अवस्थासे कुछ अंशमें ही मुक्त हुआ है,—क्योंकि उसका मन प्राण, इन्द्रिय और शरीरसे कुछ अंशमें ही ऊपर उठा है और शेषांशमें तो वह उनके अन्दर डूबा हुआ तथा उनके द्वारा नियंत्रित ही है,—और वह मानसिक रूपों और सीमाओंसे जरा भी मुक्त नहीं है। पर अतिमानसिक शिखरपर आरूढ़ होनेके बाद वह नीचेके नियं-त्रणसे मुक्त हो जाता है और अपनी संपूर्ण प्रकृतिका शासक बन जाता है,—पहले-पहल वह केवल तात्त्विक और प्रारंभिक रूपमें तथा अपनी उच्चतम चेतनामें ही ऐसा बनता है, क्योंकि शेष चेतनाका रूपान्तर करना अभी बाकी होता है,—परन्तु जब या जितना वह रूपान्तर संपन्न हो जाता है, तब और उतना वह एक मुक्त जीव तथा अपने मन, इन्द्रिय, प्राण और शरीरका स्वामी बन जाता है।

इस परिवर्तनका दूसरा लक्षण यह है कि विचार और संकल्पका गठन अब पूर्ण रूपसे अतिमानसिक स्तरपर ही हो सकता है और अतएव एक पूर्णतः ज्योतिर्मय और अमोघ संकल्प एवं ज्ञानका सूत्रपात हो जाता है। निःसंदेह, प्रारंभमें ज्योति और शक्ति पूर्ण नहीं होतीं क्योंकि अतिमानसिक बुद्धि अतिमानसका एक प्रारंभिक रूपमात्र है और क्योंकि मन तथा अन्य

करणोंको अभी अतिमानसिक प्रकृतिके साँचेमें ढालकर रूपान्तरित करना होता है। यह ठीक है कि मन अब विचार और संकल्प या किसी अन्य चीजके प्रत्यक्ष उत्पादक, निर्मायक या निर्णायकके रूपमें कार्य नहीं करता किन्तु एक वाहक प्रणालिकाका कार्य वह अबतक भी करता है और अतएव उस अंशमें एक ग्रहणकर्ताके रूपमें और कुछ हदतक, वहन-क्रियाके समय, ऊपरसे आनेवाली शक्ति और ज्योतिके वाधक और परिसीमकके रूपमें भी कार्य करता है। अतिमानसिक चेतना जिसमें 'पुरुष' अब स्थित रहता है तथा विचार और संकल्प करता है और मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक चेतना जिसके द्वारा उसे उसके प्रकाश और ज्ञानको क्रियान्वित करना होता है—इन दोनों चेतनाओंमें विषमता होती है। वह एक आदर्श चेतनाको अपने जीवनमें क्रियान्वित करता है और उसीके द्वारा देखता है, किन्तु अपनी निम्नतर सत्तामें उसे अभी उसको पूर्णतया क्रियात्मक और सफल बनाना होता है। अन्यथा वह आध्यात्मिक स्तरपर तथा उससे अनायास ही प्रभावित होनेवाले उच्चतर मनोमय स्तरपर दूसरोंके साथ आभ्यंतर आदान-प्रदानके द्वारा ही कम या अधिक आध्यात्मिक प्रभावके साथ उनपर कार्य कर सकता है, परन्तु वह प्रभाव क्षीण या मन्द पड़ जाता है, कारण, या तो हमारी सत्तामें निम्न प्रकारकी क्रिया होती रहती है या फिर सभी करण समग्र रूपसे अभिव्यक्तिमें भाग नहीं लेते। इसका उपाय तभी हो सकता है यदि अतिमानस मानसिक, प्राणिक और भौतिक चेतनाको अपने अधिकारमें लाकर अतिमानसिक बना दे,—अर्थात् उन्हें अतिमानसिक प्रकृतिके साँचोंमें ढालकर रूपान्तरित कर दे। यदि निम्नतर प्रकृतिके करणोंकी वह यौगिक तैयारी पूरी हो चुकी हो जिसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ तो यह रूपान्तर कहीं अधिक आसानीसे संपन्न हो सकता है; नहीं तो आदर्श अतिमानसिक अवस्था और उसका वहन करनेवाले मनोमय करण अर्थात् मनोमय प्रणालिका, हृदय, इन्द्रिय, प्राण एवं शरीर—इनके बीचके विसंवाद और असामंजस्यसे मुक्त होनेमें बड़ी कठिनाई होती है। अतिमानसिक बुद्धि इस रूपान्तरका संपूर्ण तो नहीं पर प्रारंभिक और बहुत सारा कार्य पूरा कर सकती है।

अतिमानसिक बुद्धिका स्वरूप है—आध्यात्मिक, प्रत्यक्ष, स्वतःप्रकाशमान और स्वयं-सक्रिय संकल्प और बुद्धि, मानस-बुद्धि नहीं, विज्ञान-बुद्धि। वह उन्हीं चार शक्तियोंसे कार्य करती है जिनसे कि अन्तर्ज्ञानात्मक मन, पर यहां ये शक्तियां अपने स्वरूपकी आदिम पूर्णताके साथ क्रियामें रत रहती हैं, बुद्धिके मनोमय तत्वके द्वारा विकृत नहीं होतीं, इनका कार्य मुख्यतः

मनको प्रकाश देना नहीं होता, वल्कि ये अपनी विशेष पद्धतिके साथ तथा अपने सहजात उद्देश्यके लिये कार्य करती हैं। यहाँ इन चारोंमेंसे अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक शायद कभी भी एक पृथक् शक्तिके रूपमें पहचानमें नहीं आता, पर वह अन्य तीनोंमें निरंतर ही अन्तर्निहित रहता है और उनके ज्ञानके क्षेत्र और संबंधोंका इस प्रकार निर्धारण करता है मानो वह स्वयं उनका ही किया हुआ निर्धारण हो। इस बुद्धिमें तीन स्तर हैं, एक वह जिसमें अन्तर्ज्ञानकी, यूँ कहें कि अतिमानसिक अन्तर्ज्ञानकी, क्रिया सत्य-संकल्प और सत्य-ज्ञानका रूप और प्रमुख धर्म निश्चित करती है, दूसरा वह जिसमें एक द्रुत अतिमानसिक अन्तःप्रेरणा उनका परिचालन करती है तथा उन्हें सामान्य गुण-धर्म प्रदान करती है, और तीसरा वह जिसमें यह सव कार्य एक विशाल अतिमानसिक प्रत्यक्ष दृष्टि करती है। और इनमेंसे प्रत्येक स्तर हमें सत्य-संकल्प तथा सत्य-ज्ञानके एक अधिक घनीभूत तत्त्व, उच्चतर प्रकाश, स्वतः-पर्याप्त शक्ति-सामर्थ्य तथा उच्चतर क्षेत्रतक उठा ले जाता है।

अतिमानसिक वुद्धिका कार्य मानसिक वुद्धिके द्वारा किये जानेवाले समस्त कार्यको अपने क्षेत्रमें समा लेता है तथा उसके भी परे जाता है, पर यह वुद्धि अपना कार्य दूसरे छोरसे आरंभ करती है और इसकी क्रिया भी उसके अनुरूप ही होती है। इस आध्यात्मिक वुद्धिके लिये आत्माके सारभूत सत्य और वस्तुओंका मूलभाव और अंतिम तत्व कोई ऐसे अमूर्त विचार या सूक्ष्म अपार्थिव अनुभव नहीं होते जिनपर यह सीमाओंका एक प्रकारका अतिक्रमण करके पहुँचती हो, वल्कि वे एक नित्य सद्वस्तु होते हैं तथा इसकी समस्त विचारणा और अनुभूतिके लिये स्वाभाविक पृष्ठभूमिका काम करते हैं। यह सत्ता और चेतनाके, आध्यात्मिक तथा अन्य प्रकारके संवेदन एवं आनन्दके और शक्ति तथा कर्मके सामान्य एवं समग्र तथा विशेष—दोनों प्रकारके सत्योंपर सद्वस्तु और दृग्विषय और प्रतीक, यथार्थ सत्ता, संभावित सत्ता और अन्तिम सत्ता, निर्धार्य और निर्धारकपर, मनकी भाँति नहीं पहुँचती वल्कि उन्हें सीधे ही प्रकाशित कर देती है,—और उन सवको प्रकाशित भी करती है स्वयं-प्रकाश प्रमाणके साथ। यह विचारके साथ विचारके, शक्तिके साथ शक्तिके तथा कर्मके साथ कर्मके संवन्धोंको और इन सबके पारस्परिक संवन्धोंको भी गठित और व्यवस्थित करती है और इनमें एक विश्वासोत्पादक एवं प्रकाशपूर्ण सामंजस्य स्थापित कर देती है। यह इन्द्रियलव्ध तथ्योंको अपनेमें समाविष्ट करती है, पर उन्हें, उनके पीछे अवस्थित वस्तुके प्रकाशमें, एक और ही अर्थ दे देती है और उनके साथ

अत्यंत बाह्य संकेतोंके रूपमें ही व्यवहार करती है : आंतरिक सत्य उस महत्तर इन्द्रियके द्वारा ज्ञात होता है जो इसके पास पहलेसे ही है। यह उनके अपने विषयोंके क्षेत्रमें भी केवल उनपर ही निर्भर नहीं करती न उनके कार्यक्षेत्रके द्वारा सीमित ही होती है। इसके एक अपनी ही आध्यात्मिक इन्द्रिय एवं इन्द्रियानुभूति होती है और छठी इन्द्रिय अर्थात् अन्तःकरणके द्वारा लब्ध तथ्य-सामग्रीको भी यह ग्रहण करती है तथा आध्यात्मिक इन्द्रिया-नुभवके साथ सुसंवद्ध करती है। और यह चैत्य अनुभवके परिचित आलोकों, जीवन्त प्रतीकों तथा प्रतिमाओंको भी स्वीकार करती है और इन्हें भी 'पुरुष' एवं आत्माके सत्योंके साथ सुसंवद्ध करती है।

आध्यात्मिक बुद्धि भावावेगों और चैत्य संवेदनोंको भी ग्रहण करती है, उन्हें उनके आध्यात्मिक प्रतिरूपोंके साथ सुसंवद्ध करती है, वह उन्हें उस उच्चतर चेतना एवं आनन्दके मूल्य प्रदान करती है जिससे वे उद्भूत होते हैं तथा जिसे वे निम्न प्रकृतिके अन्दर विकृत रूपोंमें प्रकट करते हैं और वह उनकी विकृतियोंको सुधारती भी है। इसी प्रकार वह प्राणमय सत्ता और चेतनाकी गतियोंको भी स्वीकार करती है और उन्हें आत्माके आध्या-त्मिक जीवन और उसकी तपः-शक्तिकी गतियोंके साथ सुसंबद्ध करती है तथा उन्हें आध्यात्मिक जीवन और तपः-शक्तिके गूढ़ार्थ प्रदान करती है। वह भौतिक चेतनाको स्वीकार करती है, उसे उसके अन्धकार तथा जड़ता-रूप तमस्से मुक्त करती है और उसे अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और आनन्दको ग्रहण करने तथा प्रत्युत्तर देनेवाली एवं उसका अत्यंत संवेदनशील यंत्र बना देती है। वह जीवन, कर्म और ज्ञानके साथ मानसिक संकल्प-शक्ति और बुद्धिकी भाँति व्यवहार करती है, पर इस कार्यका आरंभ वह जड़तत्त्व, प्राण और इन्द्रियगणसे तथा उनके द्वारा उपलब्ध तथ्योंसे नहीं करती और न विचारके माध्यमसे उनके साथ उच्चतर वस्तुओंके सत्यका संबन्ध जोड़ती एवं सामंजस्य बिठाती है, बल्कि इसके विपरीत वह अपना कार्य 'पुरुष' और आत्माके सत्यसे आरंभ करती है और एक ऐसे अपरोक्ष आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा, जो अन्य समस्त अनुभवोंको अपने आकारों और यंत्रोंके रूपमें ग्रहण करता है, मन, अन्तरात्मा, प्राण, इन्द्रिय और जड़त्वके तथ्योंको आत्माके सत्यके साथ सुसंबद्ध करती है। उसका क्षेत्र स्थूल इन्द्रियोंके कारागारमें बन्द साधारण देहबद्ध मनकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है, और शुद्ध मन जब अपने क्षेत्रोंमें स्वतंत्र होता है तथा चैत्य मन और आन्तरिक इन्द्रियोंकी सहायतासे कार्य करता है तब भी उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक बुद्धिका क्षेत्र अतीव विशाल होता है। साथ ही उसके अन्दर

एक ऐसी शक्ति भी है जो मानसिक संकल्पशक्ति और बुद्धिमें नहीं है, क्योंकि वे सच्चे रूपमें आत्म-निर्धारित नहीं हैं और न वस्तुओंके मूल निर्धारक ही हैं, वह शक्ति यह है कि वह संपूर्ण सत्ताको उसके सभी अंगोंसमेत आत्माके सामंजस्यपूर्ण यंत्र एवं अभिव्यक्तिमें रूपांतरित कर सकती है।

साथ ही, आध्यात्मिक बुद्धि मुख्यतया आत्माके अन्दर विद्यमान, सत्यके प्रतिनिधिरूप विचार और संकल्पके द्वारा कार्य करती है, यद्यपि एक अधिक महान् और तात्त्विक सत्य उसके उद्गम, पोषक और प्रामाणिक स्रोतके रूपमें सतत विद्यमान रहता है। अतः वह ईश्वरकी एक ज्योतिर्मय शक्ति है, पर सत्तामें विद्यमान उसकी प्रत्यक्ष उपस्थितिकी साक्षात् आत्म-शक्ति नहीं है; उसकी संपूर्ण आत्म-शक्ति या **'परास्वा प्रकृतिः'** नहीं, वल्कि उसकी सूर्य-शक्ति ही आध्यात्मिक वद्धिमें कार्य करती है। साक्षात् आत्म-शक्ति अपनी प्रत्यक्ष क्रिया महत्तर अतिमानसमें ही आरंभ करती है, और वह शरीर, प्राण, मन और अन्तर्ज्ञानमय सत्तामें तथा आध्यात्मिक वुद्धिद्वारा अवतक जो कुछ भी उपलब्ध किया जा चुका है उस सवको अपने हाथमें लेती है और हमारा मनोमय पुरुष जो कुछ भी उत्पन्न तथा एकत्र कर चुका है एवं जिसे वह अनुभवकी सामग्रीका रूप देकर चेतना, व्यक्तित्व और प्रकृतिका अंग वना चुका है, उस सवका यह आत्मशक्ति परम आत्माकी ऊर्ध्वस्थ अनन्त सत्ताके साथ तथा उसके विराट् जीवनके साथ सर्वोच्च सामंजस्य स्थापित करती है और इस प्रकार उसे एक नया ही रूप दे देती है। मन अनन्त और विराट् सत्ताका संस्पर्श प्राप्त कर सकता है, उन्हें प्रतिविम्वित कर सकता है, यहाँतक कि उनमें अपनेको खो भी सकता है, पर व्यक्तिको वैश्व तथा परात्पर आत्माके साथ कर्ममें पूर्ण एकता प्राप्त करनेकी शक्ति केवल अतिमानस ही प्रदान कर सकता है।

यहाँ एक चीज है जो सदैव और निरन्तर उपस्थित रहती है, जिसकी ओर साधक विकसित हो चुका है और जिसमें वह सदा निवास करता है, वह है एकमात्र अनन्त सत्ता। यहाँ जो कुछ भी है वह सव साधकको केवल एकमेव सत्ताके एक तत्वके रूपमें ही दृष्टिगत, अनुभूत और ज्ञात होता है तथा वह इसी रूपमें उस सवमें निवास भी करता है। यह सत्ता अनन्त चैतन्यस्वरूप है और यहाँ जो कुछ भी चेतन, क्रियाशील और गतिशील है वह सव उसे एकमेव चेतनाकी आत्मानुभूति एवं शक्तिके रूपमें दृष्टिगत, अनुभूत, गृहीत और ज्ञात होता है तथा इसी रूपमें वह उस सवमें निवास भी करता है। यह अनन्त आनन्द-स्वरूप है और यहाँ अनुभव करनेवाला तथा अनुभवमें आनेवाला जो कुछ भी है वह सव उसे एकमेव आनन्दके

आकारोंके रूपमें दृष्टिगत, अनुभूत, ज्ञात और गृहीत होता है और इसी रूपमें वह उस सबमें निवास भी करता है। अन्य सभी वस्तुएँ उसके लिये हमारी सत्ताके इस एकमात्र सत्यकी एक अभिव्यक्ति एवं परिस्थितिमात्र होती हैं। एकमेव सत्ताका यह ज्ञान अब पहलेकी तरह निरा ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष या मानसज्ञान नहीं होता, वल्कि साक्षात्कारकी उस वास्तविक अवस्थाके रूपमें प्रकट होता है जिसमें साधकको सबमें आत्माके और आत्मामें सबके, सबमें ईश्वरके और ईश्वरमें सबके दर्शन होते हैं और सब ईश्वर-स्वरूप ही दिखायी देते हैं, और यह अवस्था अब कोई ऐसी स्थिति नहीं होती जो सत्यको प्रतिबिम्बित करनेवाले आध्यात्मीकृत मनके समक्ष प्रस्तुत की जाती है, बल्कि यह अतिमानसिक प्रकृतिमें होनेवाले एक सर्वांगीण, नित्य-विद्यमान, सदा-सक्रिय साक्षात्कारके द्वारा धारण की जाती है और जीवनमें उतारी जाती है। इसमें विचार, संकल्प और संवेदन भी होते हैं और हमारी प्रकृतिसे संबंध रखनेवाली अन्य प्रत्येक वस्तु भी होती है, पर वह रूपां-तरित हो जाती तथा उच्चतर चेतनामें उन्नीत कर दी जाती है। इसमें समस्त विचार सत्ताके सारतत्त्वकी ज्योतिर्मय देह, उसकी शक्तिकी आलोकित गति तथा उसके आनन्दकी प्रकाशपूर्ण तरंगके रूपमें दिखायी देता तथा अनुभूत होता है; वह मनके शून्य वायुमण्डलमें उठनेवाला कोई विचार नहीं होता, वल्कि अनन्त सत्ताके सत्स्वरूपके अन्दर तथा उसके किसी वास्तविक सत्यकी ज्योतिके रूपमें अनुभूत होता है। इसी प्रकार हमारी संकल्पशक्ति और हमारे मनोवेग ईश्वरके सत्, चित्, आनन्दकी एक वास्तविक शक्ति एवं सारवस्तुके रूपमें अनुभूत होते हैं। समस्त अध्यात्मभावित संवेदन एवं भावावेग चेतना और आनन्दके शुद्ध साँचोंके रूपमें अनुभूत होते हैं। स्वयं हमारी दैहिक सत्ता भी परम आत्माके जीवनकी शक्ति और संपदाके एक सचेतन स्थूल आकारके रूपमें तथा हमारी प्राणिक सत्ता उसके एक सतत प्रवाहके रूपमें अनुभूत होती है।

विकासमें अतिमानसका कार्य इस उच्चतम चेतनाको व्यक्त और संघटित करना है जिससे कि वह पहलेकी तरह केवल ऊर्ध्वस्थ अनन्तमें ही निवास और कार्य न करती रहे तथा व्यक्तिकी सत्ता और प्रकृतिमें कुछ एक सीमित या आवृत या निम्न एवं विकृत अभिव्यक्तियोंके रूपमें ही न प्रकट होती रहे, वल्कि व्यक्तिको एक सचेतन एवं आत्मवित् अध्यात्म-सत्ताके रूपमें तथा अनन्त एवं विराट् आत्माकी एक सजीव और सक्रिय शक्तिके रूपमें यंत्र बनाकर उसके अन्दर व्यापक और समग्र रूपसे कार्य करे। इस कार्यका स्वरूप जहाँतक शब्दोंमें व्यक्त किया जा सकता है वहाँतक इसकी चर्चा

आगे चलकर उस स्थलपर करना अधिक उपयुक्त होगा जहाँ ग्राह्मी चेतना एवं अन्तर्दृष्टिके वर्णनका प्रसंग आयगा। अगले अध्यायोंमें हम इसके केवल उतने ही अंशका विवेचन करेंगे जितना व्यक्तिकी प्रकृतिके अन्दर उद्भूत होनेवाले विचार, संकल्प और चैत्य तथा अन्य प्रकारके अनुभवसे संवन्ध रखता है। इस समय इतना ही ध्यानमें रखना आवश्यक है कि यहाँ भी विचार और संकल्पके क्षेत्रमें त्रिविध क्रिया देखनेमें आती है। आध्यात्मिक वुद्धि सत्यकी प्रतिनिधिभूत एक महत्तर क्रियाके स्तरमें उन्नीत होकर विशाल वन जाती है। यह क्रिया मुख्यतया हमारे अन्दर और चारों ओर विद्यमान आत्माकी सत्ताके वास्तविक रूपोंको हमारे समक्ष सुनिश्चित आकारमें प्रकट करती है। उसके वाद अतिमानसिक ज्ञानकी एक उच्चतर सत्यद्योतक क्रिया प्रकट होती है किंवा एक ऐसा महत्तर स्तर प्रकट होता है जो वास्तविक रूपोंपर कम आग्रह करता है। वह देश-कालमें तथा इनसे परे भी और अधिक महान् संभाव्य शक्तियोंके द्वार खोल देता है। अन्तमें आता है तादात्म्यद्वारा प्राप्त होनेवाला उच्चतम ज्ञान। वह ईश्वरकी मूल आत्मसंवित् तथा सर्व-ज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ताके स्तरमें पहुँचनेके लिये प्रवेशद्वार है।

तथापि ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि एक-दूसरेके ऊपर अवस्थित ये स्तर हमारे अनुभवमें एक-दूसरेके प्रति वन्द हैं। मैंने इन्हें, आरोहणोन्मुख विकासका जो नियमित क्रम हो सकता है उस क्रममें, प्रस्तुत कर दिया है ताकि एक वौद्धिक स्थापनाके रूपमें इन्हें समझना अधिक सुगम हो सके। परन्तु अनन्त भगवान् हमारे सामान्य मनमें ही अपने आवरणोंको भेदकर तथा अपनी ही अवरोहण और आरोहणकी विभाजक रेखाओंको पार कर प्रकट हो उठते हैं और प्रायः ही किसी-न-किसी ढंगसे अपने स्वरूपकी ओर इंगित करते हैं। जव हम अभी अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी भूमिकामें होते हैं, तो उससे ऊपरकी भूमिकाएँ भी खुलती जाती हैं और उनकी वस्तुएँ अनियमित रूपसे हमारे पास आती हैं; फिर जैसे-जैसे हम विकसित होते हैं, वे अन्तर्ज्ञानात्मक स्तरके ऊपर पुनः-पुनः और नियमित रूपसे अपना कार्य करने लगती हैं। ज्योंही हम अतिमानसिक स्तरमें प्रवेश करते हैं त्योंही ऊर्ध्व स्तरोंके ये पूर्व-संकेत और भी अधिक व्यापक रूपसे तथा पुनः-पुनः प्राप्त होने लगते हैं। विराट् एवं अनन्त चेतना सदा ही मनको अधिकृत एवं चारों ओरसे आच्छादित कर सकती है और जव वह एक विशेष सीमा-तक सतत रूपसे, वारंवार या दृढ़तापूर्वक ऐसा करती है तभी मन अपने-आपको अत्यंत सुगमतासे अन्तर्ज्ञानमय मनमें रूपान्तरित कर सकता है और यह अन्तर्ज्ञानमय मन भी अपने-आपको अतिमानसिक क्रियामें रूपान्तरित

कर सकता है। भेद इतना ही है कि जैसे-जैसे हम ऊपर उठते हैं, हम अधिकाधिक घनिष्ठ एवं सर्वांगीण रूपसे अनन्त चेतनामें विकसित होते जाते हैं और वह अधिकाधिक पूर्ण रूपसे हमारी अपनी आत्मा और प्रकृति बनती जाती है। अपि च, दूसरी ओर, ऐसा लग सकता है कि सत्ताका निम्न स्तर तब हमारी प्राप्त भूमिकासे नीचेका ही नहीं वरन् सर्वथा विजातीय होगा, पर असलमें जब हम अतिमानसिक भूमिकामें निवास करने लगते हैं और जब हमारी संपूर्ण प्रकृति उसके सांचेमें ढल चुकती है तब भी उससे हम साधारण प्रकृतिमें रहनेवाले अन्य लोगोंके ज्ञान एवं अनुभूतिसे विच्छिन्न हो जाते हों ऐसी बात नहीं। निम्नतर या सीमिततर प्रकृतिको उच्चतर प्रकृतिके समझने और अनुभव करनेमें कठिनाई हो सकती है, पर उच्चतर एवं विशालतर प्रकृति, यदि वह चाहे तो, निम्न प्रकृतिको सदा ही समझ सकती है तथा उसके साथ तादात्म्य भी स्थापित कर सकती है। परमेश्वर भी हमसे पृथक् नहीं हैं; वे सबको जानते हैं, सबमें निवास करते तथा उनके साथ अपने-आपको एक कर देते हैं, तथापि विश्वमें विद्यमान मन, प्राण और शरीरकी प्रतिक्रियाओंके अधीन नहीं होते और न उनकी सीमाओंके कारण अपने ज्ञान, शक्ति और आनन्दमें सीमित ही होते हैं।

बाईसवाँ अध्याय

अतिमानसिक विचारशक्ति और ज्ञान

मनसे अतिमानसमें संक्रमण करनेका अर्थ मनके स्थानपर विचार और ज्ञानके एक महत्तर करणको प्रतिष्ठित करना नहीं बल्कि संपूर्ण चेतनाको परिवर्तित और रूपान्तरित करना है। अतिमानसके विकाससे अतिमानसिक विचार ही नहीं, अतिमानसिक संकल्प, इन्द्रियानुभव और भाव भी अभिव्यक्त हो जाते हैं; किम्बहुना, जो-जो क्रियाएँ आज मनके द्वारा संपन्न की जाती हैं उन सबके स्थानपर अनुरूप अतिमानसिक क्रियाएँ विकसित हो जाती हैं। ये सब उच्चतर क्रियाएँ पहले स्वयं मनमें एक महत्तर शक्तिके अवतरणों, प्रस्फुटनों, संदेशों या दिव्य दर्शनोंके रूपमें अभिव्यक्त होती हैं। प्रायः यह मनकी अधिक साधारण क्रियाओंके साथ मिली होती हैं और हमारी आरंभिक अनुभवहीन दशामें इनकी उच्चतर ज्योति, शक्ति और आनन्दके सिवा और किसी भी चिह्नके द्वारा मनकी क्रियाओंसे इनका भेद करना आसान नहीं होता। जब मन इनके पुनः-पुनः प्रादुर्भावसे महान् बनकर या उद्दीप्त होकर अपनी क्रियाका वेग बढ़ा देता है और अतिमानसिक क्रियाके बाह्य गुणोंका अनुकरण करता है तब तो इन्हें मानसिक क्रियासे पृथक् रूपमें पहचानना और भी कठिन होता है: तब मनकी अपनी क्रिया अधिक वेगवती, प्रकाशपूर्ण, प्रबल और निश्चयात्मिका बन जाती है और वह एक प्रकारका अनुकरणात्मक अन्तर्ज्ञान भी प्राप्त करता है जो प्रायः ही मिथ्या होता है तथा ज्योतिर्मय, साक्षात् एवं स्वयंभू सत्य बननेका यत्न करता है पर वास्तवमें बन नहीं पाता। इससे अगला कदम है—अन्तर्ज्ञान-मय अनुभव, विचार, संकल्प, वेदना और इन्द्रियानुभवसे युक्त एक ऐसे ज्योतिर्मय मनका निर्माण जिसमेंसे कि क्षुद्रतर मन और अनुकरणात्मक अन्त-र्ज्ञानका मिश्रण उत्तरोत्तर बाहर निकाल दिया जाय: यह शुद्धिकी प्रक्रिया है जो नयी रचना और सिद्धिके लिये आवश्यक है। इसके साथ ही मनके ऊपर अन्तर्ज्ञानात्मक क्रियाका मूल स्रोत उन्मुक्त हो जाता है और एक सच्ची अतिमानसिक चेतना, जो मनमें नहीं वरन् अपने ही उच्चतर स्तरपर क्रिया करती है, अधिकाधिक व्यवस्थित ढंगसे अपना कार्य करने लगती है। अन्तमें यह अन्तर्ज्ञानमय मनको, जिसे इसने अपने प्रतिनिधिके रूपमें रचा है, अपने

अन्दर समेट लेती है और चेतनाके संपूर्ण कार्यका भार अपने हाथमें ले लेती है। यह प्रक्रिया क्रमशः आगे बढ़ती जाती है, दीर्घकालतक यह क्षुद्रतर क्रियाके मिश्रणके कारण चितकवरी बनी रहती है और साधकको निम्नतर क्रियाओंका सुधार और रूपान्तर करनेके लिये उनकी ओर लौटनेकी आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी उच्चतर और निम्नतर शक्तियाँ बारी-बारीसे कार्य करती हैं,—चेतना जिन ऊँचाइयोंतक पहुँच चुकी होती है उनसे उतरकर फिर अपने पहले स्तरपर आ जाती है पर सदा ही पहलेसे कुछ बदली हुई होती है,—किन्तु कभी-कभी ये दोनों मिलकर एक प्रकारके पारस्परिक विचार-परामर्शके साथ कार्य करती हैं। अन्तमें मन पूर्ण रूपसे अन्तर्ज्ञानमय बन जाता है और अतिमानसिक क्रियाकी एक निष्क्रिय प्रणालिका मात्र रह जाता है। पर यह अवस्था भी आदर्श नहीं है और साथ ही, अबतक भी यह एक प्रकारकी कठिनाई उपस्थित करती है, क्योंकि उच्चतर क्रियाको अबतक भी एक बाधक और ह्रासजनक चेतन तत्त्वमेंसे गुजरना पड़ता है,—वह तत्त्व है भौतिक चेतनाका तत्त्व। अतः रूपांतरकी अंतिम अवस्था तब आयगी जब अतिमानस हमारी संपूर्ण सत्ताको अपने अधिकारमें लाकर अतिमानसिक बना देगा और प्राणमय तथा अन्नमय कोषोंको भी अपने साँचोंमें ढालकर प्रत्युत्तरशील एवं सूक्ष्म बना देगा तथा अपनी शक्तियोंसे परिपूरित भी कर देगा। तब मानव पूर्ण रूपसे अतिमानव बन जायगा। कम-से-कम, रूपान्तरकी स्वाभाविक एवं सर्वांगीण प्रणाली यही है।

अतिमानसके संपूर्ण स्वरूपका यथावत् निरूपण करने जैसे किसी कार्यके लिये प्रयत्न करना अपनी वर्तमान सीमाओंसे सर्वथा बाहर जाना होगा; अपि च, उसका पूर्ण निरूपण करना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि अतिमानस अपने अन्दर अनन्तकी एकताको ही नहीं वरन् उसकी विशालता तथा नानाविध अनेकताको भी धारण करता है। इस समय इतना ही करना आवश्यक है कि यौगिक रूपान्तरकी यथार्थ प्रक्रियाके दृष्किोणसे उसके कुछ प्रमुख लक्षणोंका वर्णन कर दिया जाय और मनके कार्यके साथ उसका संबन्ध तथा रूपान्तरके कुछ एक दृग्विषयोंका सिद्धान्त भी प्रतिपादित कर दिया जाय। मनके साथ उसका मूल-भूत संबन्ध यह है कि मनका समस्त कार्य गुप्त अतिमानससे उद्भूत होता है, यद्यपि जबतक हम अपनी उच्चतर आत्माको नहीं जान लेते तबतक हमें इस तथ्यका पता नहीं चलता। मनके कार्यमें जो कुछ भी सत्य और मूल्यवान् है उस सबको वह अपने इसी उद्गमसे ग्रहण करता है। हमारे सभी विचारों, संकल्पों, भावों और ऐन्द्रिय बोधोंमें या उनके मूलमें सत्यका कुछ अंश होता है, जो उनकी सत्ताका उद्गम

और धारक होता है, भले ही वे अपने प्रत्यक्ष तात्कालिक स्वरूपमें विकृत या मिथ्या ही क्यों न हों। उनके पीछे एक और भी महान् सत्य होता है जो उनकी पकड़में नहीं आया होता। यदि वे उसे पकड़में ला सकें तो वह उन्हें शीघ्र ही एकीकृत, समस्वर तथा कम-से-कम अपेक्षाकृत पूर्ण बना देगा। पर, वास्तवमें, उनमें सत्यका जो अंश रहता है उसका क्षेत्र संकुचित हो जाता है, वह पतित होकर एक निम्नतर गतिका रूप धारण कर लेता है, विखण्डनके द्वारा विभक्त होकर असत्य बन जाता है, अपूर्णतासे उत्पीड़ित तथा विकृतिके द्वारा क्षत-विक्षत हो जाता है। मानसिक ज्ञान समग्र नहीं बल्कि सदा ही आंशिक होता है। वह (मन) निरंतर एक ब्योरेमें दूसरे ब्योरेको जोड़ता रहता है, पर उन सबको एक-दूसरेके साथ ठीक प्रकारसे संबद्ध करनेमें उसे कठिनाई पड़ती है; उसके बनाये हुए अखण्ड अवयवी वास्तविक नहीं बल्कि अपूर्ण अवयवी होते हैं जिन्हें वह अधिक वास्तविक एवं समग्र ज्ञानका स्थान देनेकी प्रवृत्ति रखता है। चाहे वह एक प्रकारके समग्र ज्ञानपर पहुँच भी जाय, तो भी वह खण्डोंको एक प्रकारसे एकत्र करके, मन और बुद्धिके द्वारा क्रमबद्ध करके अर्थात् एक प्रकारकी कृत्रिम एकताके द्वारा ही उसपर पहुँचता है, न कि सारभूत और वास्तविक एकताके द्वारा। यदि इतनी ही बात होती तो भी यह कल्पना की जा सकती थी कि मन समग्र ज्ञानके किसी प्रकारके अर्द्ध-प्रतिबिम्ब एवं अर्द्ध-अनुवादपर पहुँच सकता है, पर फिर भी उसमें मूल दोष यह रहेगा कि वह प्रतिबिम्ब या अनुवाद वास्तविक वस्तु नहीं होगा बल्कि, अपने सर्वोत्तम रूपमें भी, वह एक बौद्धिक प्रतिरूपमात्र होगा। मानसिक सत्य सदा ही ऐसा होता है, सत्यका एक बौद्धिक, भावमय एवं सांवेदनिक प्रतिरूप, न कि अपरोक्ष सत्य या अपने शरीर और तात्विक रूपमें विद्यमान साक्षात् सत्य।

मन जो भी कार्य करता है वह सब अतिमानस कर सकता है, अर्थात् वह ब्योरों तथा उन तथ्योंका, जिन्हें हम सत्यके पक्ष या गौण अवयवी कह सकते हैं, निरूपण और संयोजन कर सकता है, पर यह कार्य वह मनकी अपेक्षा भिन्न प्रकारसे तथा भिन्न आधारपर करता है। वह मनकी भाँति सत्यमें विच्युति, मिथ्या विस्तार तथा आरोपित भ्रान्तिका तत्त्व नहीं लाता, पर जब वह आंशिक ज्ञान प्रदान करता है तब भी वह इसे स्थिर और यथार्थ ज्योतिके द्वारा प्रदान करता है, और इसके पीछे वह तात्विक सत्य, जिसपर ज्ञानके ब्योरे और गौण अवयवी या पक्ष आश्रित होते हैं, सदा विद्यमान रहता है, भले वह चेतनाके प्रति प्रकट हो या अप्रकट।

अतिमानसमें निरूपण करनेकी शक्ति भी है, पर उसके निरूपण बौद्धिक ढंगके नहीं होते, वे तात्त्विक सत्यकी ज्योतिके रूप और सारतत्त्वसे परिपूर्ण होते हैं, वे उसके वाहन होते हैं न कि स्थानापन्न प्रतिरूप। अतिमानसमें इस प्रकारकी असीम निरूपण-शक्ति है और वह एक दिव्य शक्ति है; मनकी क्रिया उस (शक्ति)का एक प्रकारका हीन प्रतिनिधि है। अतिमानसकी यह निरूपण-शक्ति उस बुद्धिमें, जिसे मैंने अतिमानसिक बुद्धिका नाम दिया है, और जो मनोमय बुद्धिके निकटतम है, तथा जिसमें मनोमय बुद्धिको अत्यंत सुगमतासे उन्नीत किया जा सकता है, एक निम्न क्रिया करती है, और समग्र अतिमानसमें, जो सभी वस्तुओंको दिव्य चेतना और स्वयंभू सत्ताकी एकता और अनन्ततामें देखता है, यह एक उच्चतर क्रिया करती है। किन्तु किसी भी स्तरपर क्यों न हो, इसकी क्रिया स्व-सदृश मानसिक क्रियासे भिन्न होती है, वह अपरोक्ष, ज्योतिर्मय तथा सुरक्षित होती है। मनकी संपूर्ण निम्न क्रियाका मूल कारण यह है कि वह अन्तरात्माकी उस अवस्थाकी क्रिया है जब वह निर्ज्ञान और अज्ञानमें पतित हो चुकी होती है और आत्मज्ञानकी ओर लौटनेका यत्न कर रही होती है, पर इसके लिये वह अभी निर्ज्ञान और अज्ञानके आधारपर ही यत्नशील होती है। मन अज्ञानका एक करण है जो ज्ञान पानेकी चेष्टा कर रहा है अथवा जिसे एक गौण प्रकारका ज्ञान प्राप्त होता है: वह अविद्याकी एक क्रिया है। अतिमानस सदा ही सहजात एवं स्वयंभू ज्ञानका आविर्भाव-स्वरूप होता है; वह विद्याकी क्रिया है।

मन और अतिमानसमें जो दूसरा भेद हम अनुभव करते हैं वह यह है कि अतिमानसमें एक महत्तर एवं स्वयं-स्फूर्त समस्वरता और एकता विद्यमान है। समस्त चेतना एकात्मक है, पर क्रियामें वह अनेक गति-विधियोंको अपनाती है और इन मूल गतिविधियोंमेंसे प्रत्येकके अनेक रूप और प्रक्रियाएँ होती हैं। मनोमय चेतनाके रूपों और प्रक्रियाओंका विशेष लक्षण होता है मानसिक शक्तियों और गतियोंका एक ऐसा विभाजन एवं पार्थक्य जो हमारे अन्दर क्षोभ और व्याकुलता उत्पन्न करता है। इन मानसिक शक्तियों एवं गतियोंमें सचेतन मनकी मूल एकता या तो बिलकुल ही नहीं प्रकट होती या फिर वह विच्छिन्न रूपमें ही प्रकट होती है। हम अपने मनमें विभिन्न विचारोंके बीच निरंतर ही एक संघर्ष या अस्तव्यस्तता एवं असंगति पाते हैं अथवा यदि उनमें कोई संगति हुई भी तो वह टूटी-फूटी-सी होती है। हमारी संकल्पशक्ति और कामनाकी नाना चेष्टाओं तथा हमारे भावावेशों और वेदनोंपर भी यही बात लागू होती है। अपि च,

हमारा विचार, संकल्प और वेदन एक-दूसरेके साथ स्वाभाविक समस्वरता और एकता की स्थितिमें नहीं हैं, बल्कि जब उन्हें मिलकर कार्य करना होता है तब भी वे अपनी पृथक्-पृथक् शक्तिके द्वारा कार्य करते हैं, बहुधा ही परस्पर संघर्ष करते हैं अथवा कुछ अंशमें एक-दूसरेका विरोध करते हैं। दूसरेकी बलि चढ़ाकर एकका असम विकास भी देखनेमें आता है। मन विरोधोंकी बनी वस्तु है जिसमें जीवनके कार्योंके लिये एक संतोषजनक समस्वरता तो नहीं, वरन् एक प्रकारकी क्रियात्मक व्यवस्था स्थापित की जाती है। बुद्धि एक अधिक अच्छी व्यवस्थापर पहुँचनेका यत्न करती है, अधिक उत्तम नियंत्रण एवं तर्कसंगत या आदर्श सामंजस्यको अपना लक्ष्य बनाती है। इस प्रयत्नमें वह अतिमानसका एक प्रतिनिधि या स्थानापन्न है और वह कार्य करनेकी चेष्टा कर रही है जिसे केवल अतिमानस ही अपने निज अधिकारके साथ कर सकता है: पर वास्तवमें वह शेष सारी सत्तापर पूरी तरह काबू नहीं पा सकती और हम अपने विचारोंमें जो तर्क-मूलक या आदर्श सामंजस्य उत्पन्न करते हैं उसमें तथा जीवनकी गतिविधिमें सामान्यतया अत्यधिक भेद होता है। बुद्धिकी रची हुई उत्तम-से-उत्तम व्यवस्थामें भी कृत्रिमता और आरोपणका कुछ अंश सदा ही रहता है, क्योंकि अन्ततः साहजिक समस्वर गतियाँ तो केवल दो ही हैं, एक तो है निश्चेतन या अधिकांशतः अवचेतन जीवनकी समस्वरता जिसे हम निश्चेतन या अवचेतन प्राणियोंकी सृष्टिमें एवं निम्न प्रकृतिमें पाते हैं, और दूसरी है आत्माकी समस्वरता। मानवकी अवस्था इन दोनों समस्वरताओंके बीचकी, प्राकृतिक और आदर्श या आध्यात्मिक जीवनके बीचकी, एक संक्रमण, प्रयत्न और अपूर्णताकी अवस्था है और यह अनिश्चित जिज्ञासा एवं अव्यवस्थासे पूर्ण है। यह नहीं कि मनुष्य किसी प्रकारकी अपनी निजी सापेक्ष समस्वरता प्राप्त किंवा निर्मित नहीं कर सकता, पर हाँ, वह इसे स्थायी नहीं बना सकता, क्योंकि उसपर आत्माका दबाव पड़ता रहता है। मनुष्यके अन्दर अवस्थित एक शक्ति उसे बाधित करती है कि वह एक न्यूनाधिक सचेतन आत्म-विकासके लिये प्रयास करे जो उसे आत्म-प्रभुत्व एवं आत्मज्ञान प्राप्त करायेगा।

इसके विपरीत, अतिमानस अपने कार्यकी दृष्टिसे एक ऐसी शक्ति है जो एकता, समस्वरता और सहजात व्यवस्थासे युक्त है। मनपर जब पहले-पहल ऊपरसे दबाव पड़ता है तो वह अनुभव में नहीं आता, यहाँतक कि कुछ समयके लिये एक विपरीत दृग्विषय भी सामने आ सकता है। इसके कई कारण होते हैं। प्रथम, निम्न चेतनापर जब एक महत्तर एवं

अपरिमेय-सी शक्तिका प्रभाव पड़ता है तो उसके कारण एक गड़बड़ी, यहाँतक कि उन्माद भी उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि निम्न चेतना उस महत्तर शक्तिको सजीव रूपसे प्रत्युत्तर देनेमें, यहाँतक कि शायद उसका दबाव सहनेमें भी समर्थ नहीं होती। जब दो सर्वथा विभिन्न शक्तियाँ एक ही समय, किन्तु बिना मेल-मिलापके अपना-अपना कार्य कर रही हों तब विशेषकर यदि मन अपनी पद्धतिपर अड़ा रहे, यदि वह अपने-आपको अतिमानस तथा उसके उद्देश्यके प्रति अर्पित करनेके बजाय उससे लाभ उठानेके लिये जोर-जबर्दस्तीके साथ या हठपूर्वक चेष्टा करे, यदि वह उच्चतर मार्गदर्शनके प्रति पर्याप्त निष्क्रिय एवं आज्ञापालक न हो तो इस अवस्थाके परिणामस्वरूप मनोमय शक्ति अत्यधिक उद्दीप्त हो सकती है, पर साथ ही अव्यवस्था भी बहुत बढ़ सकती है। इसी कारण पूर्व तैयारी और दीर्घकालीन शुद्धि,—ये जितनी अधिक पूर्ण हों उतना ही अच्छा—तथा स्थिरता और दृढ़ताके साथ आत्माकी ओर खुले हुए मनकी प्रशान्तता एवं साधारणतः उसकी निष्क्रियता, ये सब योगके अनिवार्य साधन हैं।

अपि च, मन, सीमाओंके भीतर कार्य करनेका आदी होनेके कारण, अपनी शक्तियोंमेंसे किसी एककी दिशामें अपने-आपको विज्ञानमय बनानेका यत्न कर सकता है। वह बोधिमय अर्द्ध-अतिमानसीकृत विचार और ज्ञानकी प्रचुर शक्ति विकसित कर सकता है, पर संकल्पशक्ति चिंतनात्मक मनके इस आंशिक अर्द्ध-अतिमानसिक विकासके साथ असमस्वरित एवं अरूपान्तरित ही रह सकती है, और शेष सत्ता अर्थात् भाव-प्रधान तथा स्नायविक सत्ता भी पहले जैसी या उससे भी अधिक असंस्कृत बनी रह सकती है। अथवा संभव है कि बोधिमय या तीव्रतया अनुप्रेरित संकल्प-शक्ति तो अत्यधिक विकसित हो जाय, पर उसके अनुरूप चिन्तनात्मक मन या भावप्रधान एवं चैत्य सत्ताका आरोहण संपन्न न हो, या फिर, संकल्प-क्रिया पूरी तरहसे रुक ही न जाय इसके लिये जितना आरोहण विशेष रूपसे आवश्यक है, अधिक-से-अधिक उतना ही संपन्न हो। भाव-प्रधान या चैत्य मन अपने-आपको बोधिमय एवं विज्ञानमय बनानेका यत्न कर सकता है और बहुत हदतक इसमें सफल भी हो सकता है, किन्तु फिर भी चिन्तनात्मक मन साधारण बना रह सकता है, उसकी विचार-सामग्री क्षुद्र और उसका प्रकाश धूमिल रह सकता है। नैतिक या सौन्दर्यात्मक सत्तामें अन्तर्ज्ञानका विकास हो सकता है, पर शेष सारी सत्ता बहुत कुछ पहले जैसी ही बनी रह सकती है। यही कारण है कि हमें प्रतिभाशाली मनुष्यमें, कवि, कलाकार, विचारक, सन्त या गुह्यवादीमें,

बहुधा ही एक प्रकारकी अस्तव्यस्तता या एकांगिता दिखायी देती है। जो मन कुछ अंशमें ही बोधिमय बना है उसमें, उसकी विशेष क्रियाके क्षेत्रको छोड़कर, अत्यंत विकसित बौद्धिक मनकी अपेक्षा बहुत ही कम समस्वरता और व्यवस्था दिखायी दे सकती है। अतः सर्वांगीण विकासकी, मनके संपूर्ण रूपान्तरकी परम आवश्यकता है; अन्यथा एक ऐसे मनकी क्रिया देखनमें आती है जो अतिमानसके अन्तःप्रवाहको अपने साँचेमें ढालकर अपने ही लाभके लिये प्रयुक्त करता है, और हमारी सत्तामें––भगवान्‌के तात्कालिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उक्त अवस्थाको भी स्वीकार्य समझा जाता है, यहाँतक कि उसे व्यक्तिके लिये इस एक जीवनमें पर्याप्त भी माना जा सकता है: पर यह अपूर्णताकी अवस्था है, न कि सत्ताका पूर्ण एवं सफल विकास। पर यदि बोधिमय मनका समग्र विकास साधित हो जाय तो हमें पता चलेगा कि एक महान् सामंजस्यने अपनी आधारशिला रखना आरंभ कर दिया है। यह सामंजस्य बौद्धिक मनद्वारा सृष्ट सामंजस्यसे भिन्न होगा और निःसंदेह सुगमतासे अनुभवमें भी नहीं आयेगा अथवा, यदि अनुभवमें आया भी सही, तो भी यह तर्कवादी मानवके लिये बुद्धिगम्य नहीं होगा, क्योंकि इसपर वह अपनी मानसिक पद्धतिके द्वारा नहीं पहुँचेगा और न ही उसके द्वारा उसका विश्लेषण कर सकेगा। यह तो आत्माकी साहजिक अभिव्यक्तिका सामंजस्य होगा।

ज्योंही हम मनसे ऊपर उठकर अतिमानसमें पहुँचेंगे, त्योंही इस आरंभिक सामंजस्यका स्थान एक महत्तर एवं समग्रतर एकता ले लेगी। अतिमानसिक बुद्धिके विचार जब सर्वथा विपरीत दिशाओंसे उद्भूत हुए होते हैं तब भी वे एकत्र होकर एक-दूसरेको समझते हैं तथा आप-से-आप ही एक स्वाभाविक व्यवस्थाके सूत्रमें ग्रथित हो जाते हैं। संकल्पकी जो गतियाँ मनमें परस्पर संघर्ष करती रहती हैं वे अतिमानसमें अपना-अपना ठीक स्थान प्राप्त कर लेती हैं तथा वहाँ उनके बीच आपसमें ठीक संबंध स्थापित हो जाता है। अतिमानसिक वेदन भी एक-दूसरेके बीच आत्मीयताके संबंधोंको खोज लेते हैं और एक स्वाभाविक संवाद एवं सामंजस्यमें आबद्ध हो जाते हैं। एक उच्चतर अवस्थामें यह सामंजस्य प्रगाढ़ होते-होते एकताकी ओर अग्रसर होता है। ज्ञान, संकल्प, वेदन तथा अन्य सब क्रियाएँ एक ही गतिका रूप धारण कर लेती हैं। यह एकता उच्चतम अतिमानसमें अपनी महत्तम पूर्णताको पहुँच जाती है। सामंजस्य एवं एकत्व अवश्यम्भावी ही हैं, क्योंकि अतिमानसमें ज्ञान, विशेषतः आत्म-ज्ञान, आत्माके सभी पक्षोंका ज्ञान ही आधार है। अतिमानसिक संकल्प

इस आत्मज्ञानका एक सक्रिय व्यक्त रूप होता है और अतिमानसिक वेदन आत्माके ज्योतिर्मय आनन्दका एक व्यक्त रूप, अतिमानसकी अन्य सब क्रियाएँ भी इसी एक क्रियाके अंग होती हैं। अपने उच्चतम शिखरपर यह, जिसे हम ज्ञान कहते हैं उससे एक अधिक महान् वस्तु बन जाता है, वहाँ यह हमारे अन्दर विद्यमान भगवान्की सारभूत एवं समग्र आत्म-संवित्का, उसकी सत्ता, चेतना, तपस् और आनन्दका रूप धारण कर लेता है, और सभी कुछ उसी एक सत्ताकी समस्वर, एकीभूत, प्रकाशमय क्रिया बन जाता है।

यह अतिमानसिक ज्ञान मुख्यत: या तत्वत: कोई विचारात्मक ज्ञान नहीं होता। बुद्धि जबतक किसी वस्तुकी अनुभूतिको विचारकी परिभाषाओंमें परिणत नहीं कर लेती, अर्थात् जबतक वह उसे निरूपक मानसिक प्रत्ययोंकी प्रणालीमें आबद्ध नहीं कर देती तबतक वह यह नहीं समझती कि उसने उस वस्तुको जान लिया है, और इस प्रकारका ज्ञान अपनी अत्यन्त निर्णयात्मक पूर्णता तभी प्राप्त करता है जब उसे स्पष्ट, यथार्थ और परिभाषात्मक शब्दोंमें प्रकट किया जा सके। यह ठीक है कि मन अपना ज्ञान मुख्यतया नाना प्रकारके संस्कारोंसे प्राप्त करता है जो प्राण और इन्द्रियके संस्कारोंसे आरंभ होकर ऊपर बुद्धिगत संस्कारोंतक पहुँचते हैं, पर विकसित बुद्धि इन्हें केवल ज्ञात तथ्योंके रूपमें ही ग्रहण करती है और उसे ये अपने-आपमें तबतक अनिश्चित एवं अनिर्दिष्ट प्रतीत होते हैं जबतक ये बाध्य होकर अपना सब अन्तर्निहित सार विचार-शक्तिके सम्मुख क्षरित नहीं कर देते और किसी बौद्धिक संबंध-परम्परा या व्यवस्थित विचार-शृंखलामें अपना स्थान नहीं ले लेते। यह भी सच है कि एक ऐसी वाणी एवं एक ऐसा विचार भी होते हैं जो व्याख्यात्मक होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक निर्देशक होते हैं और जिनमें अपने ढंगकी एक महत्तर क्षमता एवं अर्थ-वैभव होता है, और इस प्रकारकी वाणी एवं विचार प्राय: अन्तर्ज्ञानके किनारेको स्पर्श करते हैं; किन्तु फिर भी बुद्धिमें यह माँग होती है कि इन निर्देशोंके यथातथ बौद्धिक अन्त:सारको स्पष्ट शृंखला और सम्बन्ध-परम्पराके साथ प्रकट किया जाय और जबतक ऐसा न हो जाय तबतक उसे अपने ज्ञानकी पूर्णताके बारेमें संतोष अनुभव नहीं होता। तार्किक बुद्धिमें रहकर सत्य-प्राप्तिके लिये यत्न करती हुई विचार-शक्ति ही एक ऐसी शक्ति है जो सामान्यतया मानसिक क्रियाको सर्वोत्तम रूपसे व्यवस्थित करती प्रतीत होती है और मनको उसके ज्ञानमें तथा ज्ञानके प्रयोगमें अचूक सुनिश्चितता, सुरक्षितता एवं पूर्णताकी भावना प्रदान करती है। परन्तु

अतिमानसिक ज्ञानके संबंधमें इनमेंसे कोई भी बात किंचित् भी सत्य नहीं है।

अतिमानस विचारके नहीं, तादात्म्यके द्वारा अत्यंत पूर्ण एवं सुरक्षित रूपसे ज्ञान प्राप्त करता है, यहाँ तादात्म्यका अर्थ है आत्मामें और आत्माके द्वारा वस्तुओंके आत्म-सत्यकी शुद्ध अनुभूति, **आत्मनि आत्मानम् आत्मना**। सत्यके साथ, ज्ञानके विषयके साथ एक होकर ही मैं सर्वोत्तम रूपमें अतिमानसिक ज्ञान प्राप्त करता हूँ; जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, **ज्ञाता, ज्ञानम्, ज्ञेयम्**, में कुछ भी भेद नहीं रह जाता तभी अतिमानसिक संतुष्टि और समग्र ज्योति सर्वाधिक प्राप्त होती हैं। मैं ज्ञात वस्तुको अपनेसे बाहर स्थित विषयके रूपमें नहीं बल्कि अपनी ही आत्माके रूपमें या अपनी विराट् सत्ताके एक ऐसे अंशके रूपमें देखता हूँ जो मेरी निकटतम चेतनामें विद्यमान है। इसके परिणामस्वरूप उच्चतम एवं संपूर्णतम ज्ञान प्राप्त होता है; मनका विचार और वाणी ज्ञानके प्रतिनिधि हैं न कि उपर्युक्त, चेतनागत प्रत्यक्ष उपलब्धि, इसलिये अतिमानसके लिये वे ज्ञानका निम्नतर रूप हैं और यदि विचार आत्मिक सचेतनतासे परिपूरित न हो तो वास्तवमें वह ज्ञानका एक हीन रूप बन जाता है। कारण, मान लो कि वह एक अतिमानसिक विचार है तो वह उस महत्तर ज्ञानकी, जो आत्मामें विद्यमान तो है पर तत्क्षणकी सक्रिय चेतनाके समक्ष उस समय उपस्थित नहीं है, एक आंशिक अभिव्यक्तिमात्र होगा। अनन्तके उच्चतम स्तरोंमें विचारके अस्तित्वकी बिलकुल जरूरत नहीं रहेगी क्योंकि वहाँ सब कुछ आध्यात्मिक रूपमें, एक अविच्छिन्न श्रृंखला एवं नित्य उपलब्धिके रूपमें तथा निरपेक्ष प्रत्यक्षता एवं संपूर्णताके साथ अनुभूत होगा। विचार तो केवल एक अन्यतम साधन है जो इस महत्तर स्वयंभू ज्ञानमें छुपे पड़े सत्यको आंशिक रूपसे व्यक्त और वर्णित करता है। जबतक हम अतिमानसके अनेक स्तरोंमेंसे होते हुए उस अनन्ततक नहीं पहुँच पाते तबतक निःसंदेह यह सर्वोच्च प्रकारका ज्ञान अपने पूर्ण विस्तार और मात्रामें हमें प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु, फिर भी जैसे-जैसे अतिमानसिक शक्ति आविर्भूत होकर अपना कार्य-विस्तार करती है, वैसे-वैसे इस उच्चतम प्रकारके ज्ञानकी कोई कला प्रकट और विकसित होती जाती है, यहांतक कि जैसे-जैसे मनोमय सत्ताके करण अन्तर्ज्ञानमय और विज्ञानमय बनते जाते हैं, वैसे-वैसे वे भी अपने स्तरपर एक अनुरूप क्रियाका अधिकाधिक विकास करते चलते हैं। अपनी चेतनाके विषयभूत सभी पदार्थों और प्राणियोंके साथ ज्योतिर्मय प्राणिक, आन्तरात्मिक, भाविक, क्रियाशील तथा अन्य प्रकारका तादात्म्य स्थापित करनेकी शक्ति हमारे

अन्दर बढ़ती जाती है और पृथक्कारक चेतनाका अतिक्रमण करनेवाली ये अवस्थाएँ अपने साथ अपरोक्ष ज्ञानके अनेक रूप और साधन लाती हैं।

अतिमानसिक ज्ञान या तादात्म्य-लब्ध अनुभव अपने अन्दर अपने एक परिणाम या एक गौण अंगके रूपमें अतिमानसिक अंतर्दर्शनको वहन करता है। इस अन्तर्दर्शनको किसी प्रतिमाके सहारेकी जरूरत नहीं होती, जो चीज मनके लिये अमूर्त होती है उसे भी यह मूर्त बना सकता है और इसका स्वरूप एक अन्तर्दर्शनका होता है भले इसका विषय रूपवान् पदार्थका अदृश्य सत्य हो या अरूप पदार्थका सत्य। यह अन्तर्दर्शन किसी भी प्रकारके तादात्म्यके पहले, उससे होनेवाले एक प्रकारके पूर्वगामी ज्योति-विकिरणके रूपमें प्राप्त हो सकता है, या फिर यह उससे पृथक् रहकर एक स्वतंत्र शक्तिके रूपमें भी कार्य कर सकता है। उस दशामें ज्ञात सत्य या पदार्थ मेरे साथ पूर्णतया एकीभूत नहीं होता या कम-से-कम अभीतक एकीभूत नहीं होता, बल्कि वह मेरे ज्ञानका एक विषय होता है: किन्तु अबतक भी वह एक ऐसा विषय होता है जो आत्मामें आन्तरिक रूपसे देखा जाता है या कम-से-कम, चाहे वह ज्ञाताके लिये अभी एक बाह्य विषयके रूपमें उससे पृथक् एवं बहुत दूर अवस्थित हो फिर भी, वह आत्माके द्वारा ही देखा जाता है। आत्मा उसे किसी मध्यवर्ती क्रियाके द्वारा नहीं वरन् या तो एक प्रत्यक्ष आन्तरिक ग्रहणके द्वारा या विषयके साथ आध्यात्मिक चेतनाके अन्तर्वेधक एवं आच्छादक ज्योतिर्मय संस्पर्शके द्वारा देखती है। इस ज्योतिर्मय ग्रहण एवं संस्पर्शको ही आध्यात्मिक 'दृष्टि' कहते हैं, उपनिषद् आध्यात्मिक ज्ञानके बारेमें निरन्तर "पश्यति" (अर्थात् "वह साक्षात् करता है") शब्दका प्रयोग करती है; और सृष्टिकी परिकल्पना करते हुए परम आत्माके बारेमें वह हमारी आशाके अनुरूप यह कहनेके बजाय कि "उसने विचार किया" यह कहती है कि उसने "ईक्षण किया"। यह "दृष्टि" आत्माके लिये वही काम करती है जो स्थूल मनके लिये इन्द्रियाँ करती हैं और व्यक्तिको एक ऐसी क्रियामेंसे गुजरनेका अनुभव होता है जो सूक्ष्म रूपसे इन्द्रियोंकी क्रियाके ही तुल्य होती है। विचारको जिन पदार्थोंका एक संकेत या मानसिक वर्णनमात्र प्राप्त हुआ होता है उनका प्रत्यक्ष आकार स्थूल दृष्टि हमारे समक्ष प्रस्तुत कर सकती है और वे हमारे लिये एक ही साथ वास्तविक और प्रत्यक्ष हो जाती हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि विचारके संकेतों या निरूपणोंको भी पार कर सभी वस्तुओंके आत्मा एवं सत्यको हमारे समक्ष उपस्थित एवं प्रत्यक्ष बना सकती है।

इन्द्रिय हमारे सामने पदार्थोंकी स्थूल प्रतिमा ही प्रस्तुत कर सकती है

और उस प्रतिमाको पूरित तथा अनुप्राणित करनेके लिये उसे विचारकी सहायताकी आवश्यकता होती है; पर आध्यात्मिक दृष्टि हमारे सामने वस्तुका निज स्वरूप तथा तद्विषयक संपूर्ण सत्य प्रस्तुत करनेका सामर्थ्य रखती है। उस अध्यात्म-दृष्टिकी प्रक्रियामें ऋषिको विचारकी सहायताकी आवश्यकता ज्ञानके साधनके रूपमें नहीं बल्कि वर्णन और अभिव्यक्तिके एक साधनके रूपमें ही होती है,—विचार तो उसके लिये एक क्षुद्रतर शक्तिके समान होता है और उसका प्रयोग भी वह एक गौण प्रयोजनके लिये ही करता है। यदि और आगे ज्ञानके विस्तारकी आवश्यकता हो तो उसे वह नये साक्षात्कारके द्वारा प्राप्त कर सकता है। उसके लिये उसे उन मन्दतर विचार-प्रक्रियाओंकी आवश्यकता नहीं होती जो मनकी खोजके लिये सहारेका काम करती हैं और सत्यके लिये उसकी टोह-टटोलमें सहायक होती हैं,—यह कार्य ऋषि ठीक वैसे ही करता है जैसे कि हम प्रथम अवलोकनके समय अपनी दृष्टिसे छूट गयी वस्तुको जाननेके लिये आंखसे पुनः छानबीन करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिके द्वारा प्राप्त होनेवाला यह अनुभव एवं ज्ञान प्रत्यक्षता और महानतामें अतिमानसिक शक्तियोंके बीच दूसरे नम्बरपर आता है। यह मानसिक साक्षात्कारकी अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ, गहन और व्यापक वस्तु है, क्योंकि यह सीधे तादात्म्यलब्ध ज्ञानसे उद्‌भूत होता है, और इसमें यह गुण होता है कि जिस प्रकार हम तादात्म्यसे साक्षात्कारकी ओर बढ़ सकते हैं उसी प्रकार इस आध्यात्मिक साक्षात्कारसे हम एकदम तादात्म्यकी ओर बढ़ सकते हैं। इस प्रकार जब हमारी अन्तरात्मा आध्यात्मिक साक्षात्कारके द्वारा ईश्वर, परम आत्मा या ब्रह्मको देख चुकती है तो उसके बाद वह परम आत्मा, ईश्वर या ब्रह्ममें प्रवेश कर उसके साथ एक हो सकती है।

एकता स्थापित करनेकी यह क्रिया समग्र रूपसे तो अतिमानसिक स्तरपर या उसके परे जानेपर ही संपन्न की जा सकती है, पर इसके साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टि अपने मानसिक रूप ग्रहण कर सकती है जिनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने ढंगसे इस एकीकरणमें सहायता कर सकता है। मानसिक बोधिमय अन्तर्दर्शन या आध्यात्मीकृत मानसिक दृष्टि, चैत्य अन्तर्दर्शन, हृदयका भावावेगमय अन्तर्दर्शन, ऐन्द्रिय मनका अन्तर्दर्शन—ये सभी योगानुभवके अंग हैं। यदि ये अन्तर्दर्शन निरे मानसिक हों, तो वे सत्य हो तो सकते हैं पर यह जरूरी नहीं कि वे सत्य हों ही, क्योंकि मन अपने अन्दर सत्य और भ्रान्ति दोनोंको स्थान दे सकता है, वह सच्चे और झूठे दोनों प्रकारके वर्णन कर सकता है। पर जैसे-जैसे मन बोधिमय और अतिमानसिक

वनता जाता है, वैसे-वैसे ये शक्तियाँ अतिमानसकी अधिक ज्योतिर्मय क्रियाके द्वारा शुद्ध और संशोधित होती जाती हैं और अपने-आप भी अतिमानसिक एवं वास्तविक अन्तर्दर्शनके रूप बन जाती हैं। यह ध्यानमें रखने योग्य है कि अतिमानसिक अन्तर्दर्शन अपने साथ एक पूरक एवं परिपूरक अनुभव लाता है जिसे सत्यका,—उसके सारका तथा इसके द्वारा उसके मर्मका—आध्यात्मिक श्रवण और स्पर्श कहा जा सकता है, अर्थात् उस अनुभवके द्वारा सत्यकी गति, स्पन्दना और लय हमारी पकड़में आ जाती हैं और उसका घनिष्ठ सान्निध्य, संपर्क और सार तत्त्व भी हम अधिकृत कर लेते हैं। ये सब शक्तियाँ हमें उस तत्त्वके साथ एक होनेके लिये तैयार करती हैं जो इस प्रकार ज्ञानके द्वारा हमारे निकटवर्ती बन चुका है।

अतिमानसिक विचार तादात्म्यलब्ध ज्ञानका एक रूप है और अतिमानसिक अन्तर्दर्शनके समक्ष प्रस्तुत सत्यका विचारके रूपमें विकास है। तादात्म्य और अन्तर्दर्शन सत्यके सारतत्त्व, देह और अंगोंको एक ही अखण्ड दृष्टिमें प्रत्यक्ष करा देते हैं: विचार सत्यकी इस प्रत्यक्ष चेतना और अव्यवहित शक्तिको विचारमय ज्ञान और संकल्पका रूप दे देता है। वैसे वह कोई नयी चीज नहीं जोड़ता न उसे ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता ही होती है, वह तो केवल ज्ञानकी देहको पुनः एक रूप और वाणी प्रदान करता है तथा उसकी परिक्रमा करता है। किन्तु जहाँ तादात्म्य और अन्तर्दर्शन अभी अपूर्ण ही होते हैं वहाँ अतिमानसिक विचारका कार्य इससे अधिक महान् होता है और वह उस सत्यकी अभिव्यक्ति और व्याख्या कर देता है या मानों अन्तरात्माकी स्मृतिको उसकी याद करा देता है जिसे प्रकट करनेके लिये वे (तादात्म्य और अन्तर्दर्शन) अभी तैयार नहीं होते। और जहाँ ये महत्तर अवस्थाएँ एवं शक्तियाँ अभी आवृत्त होती हैं, वहाँ विचार सामने आकर आवरणके आंशिक विदारणकी तैयारी करता है और कुछ अंशमें उसका विदारण भी कर देता है अथवा वह आवरणके हटानेमें सक्रिय रूपसे सहायता करता है। अतएव मानसिक अज्ञानमेंसे अतिमानसिक ज्ञानकी ओर विकसित होनेमें यह आलोकित विचार हमारे सामने सदा नहीं तो प्रायः ही सबसे पहले प्रकट होता है, इसका उद्देश्य अन्तर्दर्शनका मार्ग खोलना या फिर तादात्म्यकी बढ़ती चेतना एवं उसके महत्तर ज्ञानको आरंभिक आश्रय देना होता है। साथ ही, यह विचार आदान-प्रदान और अभिव्यक्तिका एक प्रभावशाली साधन भी है और व्यक्तिके अपने निम्न मन एवं सत्तापर या दूसरोंके मन एवं सत्तापर सत्यका संस्कार डालने या उसकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा करनेमें सहायक होता है। अतिमानसिक विचार

बौद्धिक विचारसे केवल इस कारण ही भिन्न नहीं होता कि वह अज्ञानके प्रति सत्यका एक प्रकारका निरूपण नहीं बल्कि साक्षात् सत्यमय विचार होता है,—आत्मा सत्य-चैतन्य होता है जो सदा ही अपने प्रति यथार्थ रूपोंको प्रकट करता है, जिन्हें वेदमें **सत्यम्** और **ऋतम्** कहा गया है,—अपितु इस कारण भी कि वह एक प्रबल वास्तविकता, ज्योतिर्मय देह और सारतत्त्वसे युक्त होता है।

बौद्धिक विचार सूक्ष्म और परिष्कृत होकर एक विरलीभूत अमूर्त अवस्थाकी ओर ऊपर उठ जाता है; उधर अतिमानसिक विचार जैसे-जैसे अपनी उच्चतामें ऊपर उठता है वैसे-वैसे वह अधिकाधिक आध्यात्मिक मूर्तता धारण करता जाता है। बुद्धिका विचार अपने-आपको मन-रूपी इन्द्रियके द्वारा गृहीत किसी वस्तुके अमूर्त सारके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत करता है और मानों बुद्धिकी अगोचर शक्ति ही उसे मनके शून्य एवं सूक्ष्म वातावरणमें टिकाये होती है। यदि वह चाहे कि अन्तरात्माकी इन्द्रिय और दृष्टि उसे अधिक ठोस रूपमें अनुभव करें और देखें तो उसे मनकी रूप-निर्माण-शक्तिके प्रयोगका आश्रय लेना पड़ेगा। इसके विपरीत, अतिमानसिक विचार किसी भावको सदा ही सत्ताके एक प्रकाशमान तत्त्वके रूपमें तथा चेतनाके एक ऐसे ज्योतिर्मय उपादानके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत करता है जो एक अर्थसूचक विचारात्मक रूप ग्रहण कर लेता है और इसलिये वह विचार तथा यथार्थ वस्तुके बीच किसी ऐसी खाईकी अनुभूति नहीं पैदा करता जैसी हमें मनमें अनुभव हो सकती है, बल्कि वह अपने-आप एक वास्तविक सत्य, एक वास्तविक विज्ञानमय विचार होता है तथा किसी वास्तविक सत्ताका मूर्त रूप होता है। जब वह अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है तब उसके साथ, उसके एक परिणामके रूपमें, बौद्धिक स्पष्टता-से भिन्न प्रकारकी एक आध्यात्मिक ज्योतिका विलक्षण तथ्य, चरितार्थता प्राप्त करनेवाली एक महान् शक्ति और ज्योतिर्मय हर्षोल्लास भी जुड़े रहते हैं। वह सत्ता, चेतना और आनन्दका एक ऐसा स्पन्दन होता है जो तीव्र रूपसे अनुभव किया जा सकता है।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, अतिमानसिक विचारकी प्रखरताके एक-से-एक ऊँचे तीन स्तर हैं, पहला है साक्षात् विचारमय अन्त-र्दृष्टिका, दूसरा अर्थद्योतक अन्तर्दृष्टिका जो एक महत्तर सत्यप्रकाशक विचार-दृष्टिकी ओर इंगित करती है तथा उसकी तैयारी करती है, तीसरा प्रति-निधिभूत अन्तर्दृष्टिका जो मानों आत्माके ज्ञानको उस सत्यका स्मरण करा देती है जिसे उच्चतर शक्तियाँ अधिक सीधे रूपसे प्रकाशित करती हैं।

मनमें ये चीजें अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी तीन साधारण शक्तियोंका रूप ग्रहण कर लेती हैं। वे शक्तियाँ हैं—संकेतात्मक और विवेककारी अन्तर्ज्ञान, अन्त:प्रेरणा, और साक्षात्कार-स्वरूप विचार। ऊपर वे अतिमानसिक सत्ता और चेतनाके तीन उच्च स्तरोंसे संबंध रखती हैं और, जैसे-जैसे हम आरोहण करते हैं, निम्नतर शक्ति पहले तो उच्चतर शक्तिको पुकारकर अपने अन्दर उतार लाती है और पीछे स्वयं उसीमें उन्नीत हो जाती है, जिससे कि प्रत्येक भूमिकामें तीनोंके तीनों स्तरोंका पुन:-गठन होता है, पर सदा ही विचारके सारतत्त्वमें उस विशेष शक्तिकी प्रधानता होती है जो उस स्तरके चैतन्य एवं आध्यात्मिक उपादानके अपने विशिष्ट रूपसे संबंध रखती है। इस बातको ध्यानमें रखना आवश्यक है; कारण, अन्यथा मन अतिमानसके स्तरोंके प्रकट होनेपर उनकी ओर दृष्टि डालता हुआ यह सोच सकता है कि उसे उच्चतम शिखरोंका साक्षात्कार हो गया है जब कि असलमें निम्न आरोहणका उच्चतम क्षेत्र ही उसके अनुभवके समक्ष प्रस्तुत होता है। प्रत्येक शिखरपर, **सानोः सानुम् आरुहत्**, अति-मानसकी शक्तियोंकी प्रखरता, विस्तृतता एवं समग्रता बढ़ती जाती है।

एक ऐसी वाणी अर्थात् एक ऐसा अतिमानसिक शब्द भी है जिसका वेष धरकर उच्चतर ज्ञान, अन्तर्दर्शन या विचार हमारे अन्दर प्रकट हो सकता है। पहले-पहल यह एक ऐसे शब्द, संदेश या अन्त:प्रेरणाके रूपमें हमतक पहुँच सकता है जो हमारे पास ऊपरसे अवतरित होकर आती है, या फिर यह परम आत्मा या ईश्वरकी वाणी या आदेश भी प्रतीत हो सकता है। बादमें इसका यह पृथक् रूप समाप्त हो जाता है और यह विचारका एक सामान्य रूप बन जाता है जिसे यह तब प्रयोगमें लाता है जब यह अपने-आपको अन्तर्वाणीके रूपमें प्रकट करता है। विचार अपने-आपको किसी संकेतप्रद या विकसनशील शब्दकी सहायताके बिना भी प्रकट कर सकता है और अतिमानसिक अनुभवके किसी प्रकाशपूर्ण तत्त्वके रूपमें ही, किन्तु फिर भी सर्वथा संपूर्ण और स्पष्ट रूपसे तथा अपने अन्तर्निहित समग्र तत्त्वोंके साथ अपने-आपको व्यक्त कर सकता है। जब वह इतना स्पष्ट नहीं होता तो वह एक संकेतपूर्ण अन्तर्वाणीकी सहायता ले सकता है जो उसके संपूर्ण मर्मको प्रकट करनेके लिये उसके साथ रहती है। अथवा विचार एक मौन अनुभवके रूपमें नहीं बल्कि एक ऐसी वाणीके रूपमें प्रकट हो सकता है जो सत्यमेंसे स्वयमेव जन्म लेती है और अपने निज अधिकारके बलपर ही पूर्ण होती है और अपना अन्तर्दर्शन और ज्ञान अपने ही अन्दर धारण किये होती है। ऐसी दशामें वह एक सत्य-दृष्टि-संपन्न, अन्त:प्रेरित

या अन्तर्ज्ञानमय शब्द होता है अथवा वह इनसे भी उच्च कोटिका एक ऐसा शब्द होता है जो उच्चतर अतिमानस एवं आत्मतत्वके असीम आशय या निर्देशको अपने अन्दर धारण कर सकता है। वह अपने-आपको उस भाषाके रूपमें गठित कर सकता है जो आज बुद्धि और ऐन्द्रिय मनके विचारों, अनुभवों और आवेगोंको प्रकट करनेके लिये प्रयोगमें लायी जाती है, पर उसका प्रयोग वह एक भिन्न ढंगसे करता है और ऐसा करते हुए वह उन गूढ़ अन्तर्ज्ञानात्मक या सत्य-दर्शक अर्थोंको, जिन्हें वाणी प्रकाशमें ला सकती है, तीव्र रूपसे प्रकट करता है। अतिमानसिक शब्द अन्तरमें एक ऐसी ज्योति एवं शक्तिके साथ तथा विचार और अन्तर्ध्वनिकी एक ऐसी लयके साथ प्रकट होता है जो उसे अतिमानसिक विचार और अन्तर्दर्शनका स्वाभाविक एवं जीवंत शरीर बना देती हैं, और वह अपनी भाषामें, जो चाहे मानसिक वाणीकी ही भाषा होती है, सीमित बौद्धिक, भावप्रधान या संवेदनात्मक अर्थसे भिन्न अर्थ भर देता है। वह अन्तर्ज्ञानमय मन या अतिमानसमें गठित होता और सुनायी देता है और आरंभमें, कुछ एक उच्चशक्ति-संपन्न आत्माओंको छोड़कर अन्योंमें, उसका वाणी और लेखके रूपमें सहजतः प्रकट होना आवश्यक नहीं, पर जब भौतिक चेतना और उसके करणोंको तैयार किया जा चुका हो तब वाणी और लेखमें भी उसे निर्बाध रूपसे प्रकट किया जा सकता है, और यह सर्वांगीण सिद्धिकी अपेक्षित पूर्णता एवं शक्तिका एक अंग है।

अतिमानसिक विचार, अनुभव और अन्तर्दर्शनका ज्ञान-क्षेत्र उस समस्त क्षेत्रके समान विस्तृत होगा जो पार्थिव ही नहीं वरन् अन्य सब भूमिकाओंपर भी मानव-चेतनाके सामने खुला हुआ है। परन्तु वह उत्तरोत्तर मानसिक चिंतन और अनुभवकी भावनासे ठीक उलटी भावनाके साथ कार्य करेगा। मानसिक चिन्तनका केन्द्र है अहं, अर्थात् व्यष्टि-रूप विचारकका अहंमय रूप। इसके विपरीत, विज्ञानमय मानव अधिकतर वैश्व मनके द्वारा चिंतन करेगा अथवा वह इससे भी परे उठ सकता है, और उसकी व्यष्टि-सत्ता परम आत्माकी विराट् विचार-शक्ति और ज्ञानशक्तिका केन्द्र नहीं होगी वरन् उनका प्रसारण और उनके साथ आदान-प्रदान करनेके लिये एक ऐसा आधार होगी जिसकी ओर वे स्वभावतः ही अभिमुख होंगी। मनोमय मनुष्य एक ऐसे घेरेमें चिन्तन और कार्य करता है जो उसके मन तथा मानसिक अनुभवकी क्षुद्रता या विशालताके द्वारा निर्धारित होता है। विज्ञानमय मानवका क्षेत्र संपूर्ण भूतलके साथ-साथ वह सब भी होगा जो कुछ कि इसके पीछे सत्ताके अन्य स्तरोंपर विद्यमान है। और अंतिम

बात यह है कि मनोमय मनुष्य वर्तमान जीवनके स्तरपर ही सोचता और देखता है, भले वह ऊर्ध्वमुख अभीप्साके साथ ही ऐसा क्यों न करे, और उसकी दृष्टिके सामने सब तरफ रुकावट ही रुकावट है। उसके ज्ञान और कर्मका मुख्य आधार वर्तमान है। इसके साथ वह अतीतके गर्भमें भी दृष्टि डालता है तथा उसके दबावका प्रभाव भी अस्पष्ट रूपसे अनुभव करता और भविष्यकी ओर भी अन्धभावसे निहारता है। वह अपना आधार पार्थिव जीवनके यथार्थ तथ्योंपर रखता है, उनमें भी पहले तो वह बाह्य जगत्के तथ्योंको अपना आधार बनाता है,—साधारणतः उसकी यह आदत ही है कि वह अपने संपूर्ण आन्तर चिंतन और अनुभवका नहीं तो उसके नव-दशमांशोंका संबन्ध इन तथ्योंसे ही जोड़ता है,—पर बादमें वह अपनी अन्तःसत्ताके अधिक ऊपरी भागके परिवर्तनशील तथ्योंको ही अपना आधार बनाता है। जैसे-जैसे उसकी मानसिक शक्ति विकसित होती है, वह इनसे परे अधिक स्वतंत्रतापूर्वक उन शक्यताओंतक जाता है जो इनसे उद्भूत होती हैं और फिर इन्हें अतिक्रम भी कर जाती हैं; उसका मन संभावनाओंके विस्तृततर क्षेत्रमें अपना कार्य करता है: पर अधिकांशमें ये उसके लिये वहींतक पूर्णतः वास्तविक होती हैं जहाँतक किसी यथार्थ वस्तुके साथ इनका संबंध होता है और जहाँतक इन्हें इस लोकमें, आज या बादमें, यथार्थ रूप दिया जा सकता है। वस्तुओंके मूल तत्त्वको वह यदि देखता भी है तो अपने स्वभावसे ही उसे इस रूपमें देखता है कि वह उसके अपने प्रत्यक्ष एवं यथार्थ तथ्योंका परिणाममात्र है, उनके साथ संबंध रखता है तथा उनपर निर्भर करता है, और अतएव वह वस्तुओंको निरन्तर एक मिथ्या आलोकमें या सीमित रूपमें ही देखता है। इन सब विषयोंमें विज्ञानमय मानव इससे उलटे अर्थात् सत्य-दर्शनके सिद्धान्तके आधारपर ही कार्य करेगा।

विज्ञानमय जीव वस्तुओंको ऊपरसे विशाल व्योममें देखता है और अपनी सर्वोच्च स्थितिमें तो वह उन्हें अनन्तके व्योमसे देखता है। उसकी दृष्टि वर्तमानके दृष्टिकोणतक ही सीमित नहीं होती, वल्कि कालके अविरत प्रवाहोंमें या फिर कालके ऊपरसे परम आत्माके अविभाज्य विस्तारोंमें वस्तुओंको देख सकती है। वह सत्यको उसके ठीक क्रममेंसे देखता है, अर्थात् पहले तो वह उसके सारतत्त्वको देखता है, फिर इससे उद्भूत होने-वाली उसकी संभाव्य शक्तियोंको और केवल अन्तमें ही वह उसकी यथार्थ एवं प्रत्यक्ष अवस्थाओंको देखता है। मूलभूत सत्य उसकी दृष्टिमें स्वयंसत् और स्वयंप्रकाश होते हैं, वे अपनी प्रामाणिकताके लिये इस या उस प्रत्यक्ष तथ्यपर आश्रित नहीं होते; संभाव्य सत्य स्वयं 'सत्' की तथा वस्तुओंमें

विद्यमान 'सत्' की शक्तिके सत्य हैं, शक्तिकी अनन्तताके सत्य हैं, और वे इस या उस प्रत्यक्ष तथ्यके रूपमें अपनी अतीत या वर्तमान चरितार्थतासे पृथक् भी वास्तविक हैं अथवा उन व्यवहारसिद्ध स्थूल रूपोंसे, जिन्हें हम संपूर्ण प्रकृति समझते हैं, पृथक् भी वे वास्तविक ही हैं। प्रत्यक्ष एवं यथार्थ तथ्य तो केवल कुछ ऐसे सत्य होते हैं जो उसके साक्षात्कृत संभाव्य सत्योंमेंसे चुने गये होते हैं, उनपर निर्भर करते हैं और सीमित तथा परिवर्तनशील होते हैं। विज्ञानमय मानवके चिन्तन और संकल्पपर वर्तमानका, यथार्थका, तथ्योंकी तात्कालिक श्रृंखलाका और कर्म करनेकी तात्क्षणिक उत्तेजना एवं मांगका अत्याचार कुछ भी प्रभाव नहीं रखता, और अतएव वह एक अधिक व्यापक ज्ञानपर आधारित विशालतर संकल्पशक्तिको धारण कर सकता है। वह वस्तुओंको एक ऐसे व्यक्तिकी तरह नहीं देखता जो वर्तमान तथ्यों और दृग्विषयोंके जंगलसे घिरे स्तरोंमें स्थित होता है, बल्कि उन्हें ऊपरसे देखता है, वह उन्हें बाहरसे तथा उस रूपमें नहीं देखता जो उनके उपरितलोंके द्वारा निर्णीत होता है, बल्कि भीतरसे तथा उस रूपमें देखता है जो उनके केन्द्रके सत्यसे देखनेपर दृष्टिगत होता है। अतएव वह दिव्य सर्वज्ञताके अधिक निकट होता है। वह एक प्रभुत्वशाली शिखरपरसे, कालप्रवाहमें सुदीर्घ कालतक चलनेवाली गतिके साथ तथा शक्तियोंकी विशालतर क्षमताके द्वारा संकल्प और कार्य करता है। अतः वह दिव्य सर्वशक्तिमत्ताके अधिक निकट होता है। उसकी सत्ता क्षणोंकी क्रम-श्रृंखलामें आबद्ध नहीं होती, बल्कि अतीतकी संपूर्ण शक्तिसे संपन्न होती है और द्रष्टाके रूपमें भविष्यके आरपार देखती है: वह सीमित करनेवाले अहं और व्यक्तिगत मनके अन्दर बन्द नहीं होती, बल्कि विराट्की मुक्ततामें, ईश्वरमें तथा सर्वभूतों और सर्वपदार्थोंमें निवास करती है; भौतिक मनकी जड़ घनतामें नहीं बल्कि अन्तरात्माकी ज्योति और परम आत्माकी अनन्ततामें निवास करती है। विज्ञानमय मानव मन और अन्तरात्माको परम आत्माकी केवल एक शक्ति और गतिके रूपमें तथा जड़तत्वको उसके एक परिणामभूत आकारके रूपमें ही देखता है। उसका समस्त विचार एक ऐसा विचार होगा जो ज्ञानसे उद्भूत होता है। वह दृश्य जीवनकी वस्तुओंको आध्यात्मिक सत्ताकी वास्तविकताके प्रकाशमें तथा सक्रिय आध्यात्मिक सारतत्वकी शक्तिके द्वारा देखता तथा कार्य-व्यवहारमें लाता है।

पहले-पहल, इस महत्तर अवस्थामें रूपान्तरके आरंभमें विचार कम या अधिक समयतक, न्यूनाधिक परिमाणमें, मनकी पद्धतिके अनुसार ही कार्य करता रहेगा, पर यह कार्य वह मुक्तता और परात्परताकी महत्तर ज्योतिके

साथ तथा उनकी अधिकाधिक ऊँची उड़ानों, विशालताओं और गतियोंके साथ करेगा। वादमें मुक्तता और परात्परता प्रभुत्व प्राप्त करने लगेंगी; चाहे कोई भी कठिनाइयाँ और पतन क्यों न हों विचारदृष्टिका पलटाव और विचार-पद्धतिका रूपान्तर चिन्तनात्मक मनकी, एकके वाद एक, विभिन्न गतियोंके रूपमें संपन्न होगा, जवतक कि वह समग्र रूपमें प्रभुत्व प्राप्त करके पूर्ण रूपान्तर साधित नहीं कर देता। साधारणतः अतिमानसिक ज्ञान विशुद्ध विचार और ज्ञानकी प्रक्रियाओंमें सवसे पहले तथा सर्वाधिक सुगमताके साथ संगठित होगा, क्योंकि इन क्षेत्रोंमें मानव-मनकी गति पहलेसे ही ऊपरकी ओर है और इनमें वह सर्वाधिक मुक्त भी है। इसके वाद ही वह व्यव-हारलक्षी और ज्ञानकी प्रक्रियाओंमें संगठित होगा और वह भी अपेक्षाकृत कम सुगमताके साथ, क्योंकि वहाँ मनुष्यका मन अत्यंत सक्रिय होनेके साथ-साथ अपनी निम्नतर विधियोंके साथ अत्यधिक वद्ध और आसक्त भी है। अंतिम और अत्यन्त दुष्कर विजय होगी तीनों कालोंका ज्ञान, त्रिकालदृष्टि; दुष्कर इसलिये कि आज यह उसके मनके लिये एक अटकलवाजीका या शून्यताका क्षेत्र है। इन सभी विजयोंमें आत्माका यह स्वभाव समान रूपसे देखनेमें आयगा कि वह जिस शरीरको धारण किये है उसके अन्दर ही नहीं वरन् उसके ऊपर और चारों ओर भी सीधे रूपसे देखेगा और संकल्प करेगा और इन सवमें तादात्म्यलब्ध अतिमानसिक ज्ञान, अतिमानसिक साक्षात्कार, अतिमानसिक विचार और अतिमानसिक वाणीकी क्रिया भी, पृथक्-पृथक् या संयुक्त गतिके साथ, समान रूपसे होगी।

इस प्रकार, अतिमानसिक विचार एवं ज्ञानका सामान्य स्वरूप यही होगा और उसकी मुख्य शक्तियाँ और क्रियाएँ भी यही होंगी। अव उसके विशेष करणोंपर वर्तमान मानव-मनके विभिन्न तत्त्वोंमें अतिमानस जो परि-वर्तन लायगा उसपर तथा जो विशेष क्रियाएँ विचारको उसके उपादान, प्रेरक भाव और तथ्यसामग्री प्रदान करती हैं उनपर विचार करना वाकी है।

तेईसवाँ अध्याय

अतिमानसिक करण—विचार-प्रक्रिया

अतिमानस, दिव्य विज्ञान, कोई ऐसी चेतना नहीं जो हमारी वर्तमान चेतनाके लिये पूर्णतः विजातीय हो : वह आत्माका एक उत्कृष्टतर करण है और हमारी सामान्य चेतनाकी सभी क्रियाएँ अतिमानसिक क्रियाके ही सीमित और निम्नतर रूप हैं जो उसीसे उद्भूत हुए हैं, क्योंकि ये तो तात्कालिक प्रयोग और रचनाएँ हैं, और वह आत्माकी सच्ची एवं पूर्ण, स्वयं स्फूर्त एवं समस्वर प्रकृति और क्रिया है। अतएव, जब हम मनसे अतिमानसकी ओर उठते हैं, तो चेतनाकी वह नयी शक्ति हमारी आत्मा और हमारे मन एवं प्राणकी क्रियाओंका परित्याग नहीं कर देती, बल्कि उन्हें ऊपर उठाती, विशाल बनाती और रूपान्तरित करती है। वह उन्हें उदात्त बनाती तथा उन्हें उनकी शक्ति और क्रियाका नित अधिकाधिक सच्चा स्वरूप प्रदान करती है। वह मन, चैत्य भागों और प्राणकी स्थूल शक्तियों और क्रियाके रूपान्तरतक ही अपनेको सीमित नहीं रखती, बल्कि वह हमारी प्रच्छन्न सत्ताकी उन विशिष्ट दुर्लभतर शक्तियों और उस विशालतर बल एवं ज्ञानको भी व्यक्त और रूपान्तरित करती है जो हमें आज गुह्य, अद्भुत-रूपसे-चैत्य तथा असामान्य वस्तुओंके समान प्रतीत होते हैं। अतिमानसिक प्रकृतिमें ये वस्तुएँ जरा भी असामान्य नहीं रहतीं, बल्कि पूर्णतया स्वाभाविक एवं सामान्य बन जाती हैं, पृथक् रूपसे चैत्य नहीं रहतीं, बल्कि आध्यात्मिक बन जाती हैं, एक गुह्य और विचित्र क्रिया नहीं रहतीं, बल्कि एक सीधी, सरल, स्वाभाविक और स्वयंस्फूर्त क्रिया बन जाती हैं। आत्मा जाग्रत् भौतिक चेतनाकी भाँति सीमित नहीं है, और अतिमानस जब जाग्रत् चेतनाको अपने अधिकारमें ले आता है तो वह उसे अभौतिक बना देता है, सीमाओंसे मुक्त कर देता है, पार्थिव तथा चैत्य भागको आध्यात्मिक सत्ताकी प्रकृतिमें रूपान्तरित कर देता है।

इस बातका संकेत हम पहले ही कर आये हैं कि मनकी जो क्रिया अत्यंत सहज रूपसे व्यवस्थित की जा सकती है वह शुद्ध विचारणात्मक ज्ञानकी क्रिया है। उच्चतर स्तरपर यह वास्तविक ज्ञान, अतिमानसिक विचार, अतिमानसिक अन्तर्दर्शन तथा तादात्म्यलभ्य अतिमानसिक ज्ञानमें

रूपान्तरित हो जाती है। इस अतिमानसिक ज्ञानकी सारभूत क्रियाका वर्णन पिछले अध्यायमें किया जा चुका है। परन्तु यह देखना भी आवश्यक है कि अपने बाह्य व्यावहारिक प्रयोगमें यह ज्ञान किस प्रकार कार्य करता है और सत्ताकी ज्ञात सामग्रीके साथ यह कैसा व्यवहार करता है। मनकी क्रियासे इसका पहला भेद यह है कि जो क्रियाएँ मनके लिये अत्युच्च तथा अत्यंत कठिन हैं उनका प्रयोग यह सहज-स्वाभाविक रूपमें करता है, उनके अन्दर या उनपर यह ऊपरसे नीचेकी ओर क्रिया करता है, इस क्रियामें इसे मनकी तरह ऊर्ध्वगतिके लिये कुण्ठित आयास नहीं करना पड़ता, न उसकी तरह अपने स्तर तथा निम्नतर स्तरोंकी सीमाओंमें आबद्ध होकर ही कार्य करना पड़ता है। उच्चतर क्रियाएँ निम्नतर स्तरकी सहायतापर निर्भर नहीं करतीं, बल्कि वस्तुतः निम्नतर क्रियाएँ अपने मार्गदर्शनके लिये ही नहीं, वरन् अपने अस्तित्वके लिये भी उच्चतर क्रियाओंपर निर्भर करती हैं। अतः रूपान्तरके द्वारा मनकी निम्नतर क्रियाओंका केवल रूप ही नहीं बदलता, बल्कि वे पूर्णतया अधीन भी हो जाती हैं। साथ ही, मनकी उच्चतर क्रियाएँ भी अपना रूप बदल लेती हैं, क्योंकि विज्ञानमय बनकर वे अपना प्रकाश सीधे उच्चतम ज्ञानसे, आत्मज्ञान या असीम ज्ञानसे प्राप्त करने लगती हैं।

इस प्रयोजनके लिये मनकी सामान्य विचार-क्रियाको तीन स्तरोंकी गतियोंसे गठित माना जा सकता है। उनमेंसे पहला, सबसे निचला तथा देहस्थित मनोमय पुरुषके लिये सबसे आवश्यक स्तर है रूढ़ विचारात्मक मन। वह अपने विचारोंकी नींव इन्द्रियोंके द्वारा तथा स्नायविक एवं भावप्रधान सत्ताके स्थूल अनुभवोंके द्वारा दी हुई तथ्य-सामग्रीपर और शिक्षा, बाह्य जीवन एवं परिस्थितिके द्वारा बने हुए प्रथानुगत विचारोंपर रखता है। यह रूढ़ मन दो प्रकारकी क्रियाएँ करता है, उनमेंसे एक है यंत्रवत् पुनः-पुनः आनेवाले विचारकी एक प्रकारकी सतत गुप्त धारा। यह विचार सदा एक भौतिक, प्राणिक, भाविक, व्यावहारिक और संक्षिप्त बौद्धिक धारणा एवं अनुभवके एक ही चक्रमें अपने-आपको दुहराता रहता है। इस मनकी दूसरी क्रिया उस समस्त नये अनुभवपर, जिसे मन स्वीकार करनेको बाध्य होता है, अधिक सक्रिय रूपसे कार्य करती है तथा उसे रूढ़ चिन्तनके सूत्रोंमें परिणत कर देती है। औसत मनुष्यकी मानसिकता इस रूढ़ मनके द्वारा सीमित होती है और इसके घेरेके बाहर तो वह अत्यंत अपूर्ण रूपमें ही विचरण करती है।

चिन्तन-क्रियाका दूसरा स्तर है व्यवहारलक्षी विचारात्मक मन, वह

प्राणसे ऊपर उठ जाता है और विचार तथा प्राण-शक्तिके बीच; जीवनके सत्य तथा अभीतक जीवनमें व्यक्त न हुए विचारके सत्यके बीच एक मध्यस्थकी भाँति सर्जनशील रूपसे कार्य करता है। वह अपनी सामग्री जीवनसे ही लेता है और उसमेंसे तथा उसीके आधारपर ऐसे सर्जनशील विचारोंका निर्माण करता है जो भावी जीवन-विकासके लिये सक्रिय एवं प्रभावशाली बन जाते हैं। दूसरी ओर, वह मनकी भूमिकासे या, अधिक मूल रूपमें, अनन्तकी विचारोत्पादक शक्तिसे नया विचार एवं मानसिक अनुभव ग्रहण करती है और तुरन्त ही उसे मानसिक विचार-शक्तिमें तथा वास्तविक अस्तित्व-धारण एवं जीवन-यापनकी शक्तिमें परिणत कर देती है। इस व्यवहारलक्षी विचारात्मक मनका सारा झुकाव आन्तर तथा बाह्य कर्म और अनुभवकी ओर होता है। आन्तर कर्म एवं अनुभव सत्यकी पूर्णतर तृप्तिके लिये अपनेको बाहरकी ओर झोंकता रहता है। उधर, बाह्य कर्म एवं अनुभव आंतरमें समा लिया जाता है और आत्मसात् एवं परिवर्तित होकर अभिनव रचनाओंके लिये फिर उसकी ओर अभिमुख होता है। इस मानसिक भूमिकामें विचार अन्तरात्माके लिये केवल या मुख्यतया कर्म और अनुभवके एक विशाल क्षेत्रके साधनके रूपमें ही आकर्षक होता है।

चिन्तनका तीसरा स्तर हमारे अन्दर शुद्ध विचारणात्मक मनको खोल देता है। यह मन, कर्म और अनुभवके लिये विचारकी जो उपयोगिता है उसके प्रति किसी प्रकारकी भी आवश्यक अधीनताको एक ओर छोड़कर, विचारके सत्यमें तटस्थ रूपसे निवास करता है। यह इन्द्रियों तथा उथले आन्तरिक अनुभवोंके द्वारा दी हुई सामग्रीपर केवल इसलिये विचार करता है कि जिस विचार और सत्यकी वह साक्षी देती है उन्हें यह ढूंढ़ निकाले और ज्ञानकी परिभाषाओंमें परिणत कर सके। यह प्राणमें मनकी सर्जनशील क्रियाको भी इसी ढंगसे तथा इसी प्रयोजनके लिये देखता है। इसका प्रमुख कार्य है ज्ञान प्राप्त करना, इसका संपूर्ण उद्देश्य है चिन्तन-क्रियाका आनन्द प्राप्त करना, सत्यकी खोज करना, अपने-आपको, जगत्‌को तथा उस सबको जाननेका प्रयत्न करना जो उसके अपने कार्य तथा जगत्-कार्यके पीछे विद्यमान हो। यह विचारणात्मक मन बुद्धिकी उच्चतम भूमिका है जिसमें कि वह विशिष्ट रूपसे, अपने लिये, अपनी निज शक्तिके द्वारा तथा अपने निज उद्देश्यके लिये ही कार्य करती है।

बुद्धिकी इन तीन क्रियाओंको ठीक ढंगसे मिलाना तथा समस्वर करना मानव-मनके लिये कठिन है। साधारण मनुष्य मुख्यतया रूढ़िग्रस्त मनमें

निवास करता है। उसके अन्दर सर्जनशील एवं व्यवहारलक्षी मनकी क्रिया अपेक्षाकृत दुर्बल ही होती है और शुद्ध विचारणात्मक मनका प्रयोगभर करनेमें या उसकी क्रियाके भीतर प्रवेश करनेमें उसे बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। सर्जनशील व्यवहारलक्षी मन साधारणतः शुद्ध विचारणात्मक ढंगके वातावरणमें स्वतंत्र और तटस्थ रूपसे विचरनेकी अपनी गतिमें ही अत्यधिक व्यस्त रहता है और दूसरी ओर, रूढ़ मनके द्वारा लादी गयी प्रत्यक्ष एवं यथार्थ अवस्थाओं तथा बाधाओंपर उसका अधिकार प्रायः अपूर्ण ही होता है, इसी प्रकार व्यवहारलक्षी चिंतन और सर्जनकी जिस क्रियाका निर्माण करनेमें उसे स्वयं रस आता है उससे भिन्न क्रियाओंपर भी उसका अधिकार पर्याप्त नहीं होता। शुद्ध विचारणात्मक मन सत्यकी अमूर्त और मनमानी प्रणालियों, बौद्धिक खण्डों और विचारात्मक भवनोंका निर्माण करनेकी प्रवृत्ति रखता है, और वह या तो जीवनके लिये आवश्यक व्यावहारिक क्रियाको त्यागकर केवल या मुख्य रूपसे विचारोंमें ही निवास करता है या फिर जीवनके क्षेत्रमें पर्याप्त शक्तिके साथ और प्रत्यक्ष रूपसे कार्य नहीं कर सकता, और उसे व्यावहारिक एवं रूढ़िग्रस्त मनके जगत्से बिलकुल अलग जा पड़ने या उसमें दुर्बल हो जानेका खतरा बना रहता है। इनमें किसी-न-किसी प्रकारका समझौता कर लिया जाता है, किंतु इनमेंसे प्रमुख प्रवृत्तिकी उग्रता मनुष्यकी चिंतनात्मक सत्ताकी समग्रता और एकतामें हस्तक्षेप करती है। मन अपनी समग्रताका भी सुनिश्चित स्वामी नहीं बन पाता, क्योंकि उस समग्रताका रहस्य इससे परे आत्माकी उस मुक्त एकतामें निहित है जो मुक्त होनेके कारण ही अनन्त बहुलता और विविधताको धारण कर सकती है, साथ ही यह उस अतिमानसिक शक्तिमें भी निहित है जो अकेली ही आत्माकी एकताकी सजीव अनेकात्मक गतिको एक स्वाभाविक पूर्णताके रूपमें प्रकट कर सकती है।

अतिमानस अपनी पूर्ण अवस्थामें मनके चिन्तनके संपूर्ण ढंगको बदल देता है। वह इन्द्रियगोचर नहीं, वरन् तात्विक सत्तामें अर्थात् आत्मामें निवास करता है और सब वस्तुओंको आत्माकी सत्ताके अंश, उसकी शक्ति, आकृति और गतिके रूपमें ही देखता है। अतिमानसमें समस्त चिंतन तथा चिन्तनकी प्रक्रिया भी इसी ढंगकी होनी चाहिये। उसकी समस्त मूलभूत विचारणा अतिमानसिक साक्षात्कारका तथा भूतमात्रके साथ एकत्वके द्वारा अपना कार्य करनेवाले आध्यात्मिक ज्ञानका ही एक रूपान्तर होती है। अतएव, वह मुख्यतया आत्मा, सत्ता और चेतनाके नित्य, तात्विक और सार्वभौम सत्योंमें तथा सत्ताके (जो चीजें हमारी वर्तमान चेतनाको अ-सत्ता

प्रतीत होती हैं उन सबके भी) अनन्त बल और आनन्दमें विचरण करता है। उसका समस्त विशिष्ट चिन्तन इन नित्य सत्योंकी शक्तिसे उद्भूत होता तथा उसीपर निर्भर करता है। पर इसके साथ ही वह सनातनकी सत्ताके सत्योंके अनन्त पक्षों, अनन्त व्यावहारिक रूपों, क्रमबद्ध स्तरों और सामंजस्योंसे सुपरिचित होता है तथा उनके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार कर सकता है। अतएव, अपने शिखरोंपर वह उन सब चीजोंमें निवास करता है जिन्हें प्राप्त करने और जाननेके लिये शुद्ध विचारणात्मक मन अपनी क्रियाके द्वारा यत्न करता है, और उसके निम्न स्तरोंपर भी ये चीजें उसकी प्रकाशमय ग्रहणशीलताके प्रति निकट या सुप्राप्त एवं सुलभ होती हैं।

पर जहाँ सत्य या विशुद्ध विचार विचारणात्मक मनके लिये अमूर्त भाव ही होते हैं, क्योंकि मन कुछ तो बाह्य दृग्विषयोंमें और कुछ बौद्धिक रचनाओंमें निवास करता है और उच्चतर सद्वस्तुओंतक पहुँचनेके लिये उसे अमूर्त्तीकरणकी पद्धतिका प्रयोग करना पड़ता है, वहाँ अतिमानस आत्मामें निवास करता है और अतएव, वह उस वस्तुके वास्तविक सारतत्वमें निवास करता है जिसका कि ये विचार और सत्य प्रतिनिधित्व करते हैं या वस्तुतः जो इनका मूल रूप है। वह वास्तविक रूपमें इनका साक्षात्कार करता है। वह इनपर केवल विचार ही नहीं करता, बल्कि विचारते समय इनके सार तत्त्वको अनुभव करता है तथा उसके साथ अपनेको एकाकार कर लेता है। उसके लिये ये, इस संसारमें जो अधिक-से-अधिक वास्तविक वस्तुएँ हो सकती हैं, उनमें स्थान रखते हैं। चेतना और सारभूत सत्ताके सत्य अतिमानसके लिये सद्वस्तुका वास्तविक उपादान ही हैं, वे सत्ताकी बाह्य गति और आकृतिकी अपेक्षा अधिक अन्तरंग रूपमें और, हम यहाँतक भी कह सकते हैं कि, अधिक सघन रूपमें वास्तविक हैं, यद्यपि ये भी उसके लिये सद्वस्तुकी गति और आकृति हैं, कोई भ्रान्ति नहीं जैसी कि वे आध्यात्मीकृत मनकी एक विशेष क्रियाके लिये हैं। विचार भी उसके लिये एक परमार्थसत् विचार, अर्थात् चिन्मय सत्ताके वास्तविक स्वरूपका एक उपादान होता है, जो सत्यके स्थूल, भौतिक प्राकट्यके लिये और अतएव, सर्जनके लिये शक्तिसे परिपूर्ण होता है।

अपि च, जहाँ शुद्ध विचारणात्मक मन ऐसी मनमानी प्रणालियोंका निर्माण करनेकी प्रवृत्ति रखता है जो सत्यकी मानसिक एवं आंशिक रचनाएँ होती हैं, अतिमानस सत्यके किसी भी प्रकारके निरूपण या उसकी किसी भी प्रणालीसे बँधा नहीं है, यद्यपि वह अनन्तके व्यवहारलक्षी प्रयोजनोंके लिये सत्यका निरूपण और उसकी व्यवस्था करने तथा उसके सजीव सार-

तत्त्वके अनुसार रचना करनेमें पूर्ण रूपसे समर्थ है। मन जब अपनी एकांगितासे, सत्यको प्रणालीबद्ध करनेकी अपनी चेष्टाओंसे तथा अपनी रचनाओंके प्रति आसक्तिसे मुक्त हो जाता है, तो वह अनन्तकी अनन्ततामें पहुँचकर हक्का-बक्का रह जाता है। अनन्त उसे 'अव्यवस्था'-रूप प्रतीत होता है, भले वह अव्यवस्था ज्योतिर्मय ही क्यों न हो। तब मन पहलेकी तरह रूप गढ़ने और अतएव निश्चयात्मक रूपसे विचार एवं कार्य करनेमें समर्थ नहीं रहता, क्योंकि वहाँ सभी चीजें, यहाँतक कि अत्यंत विभिन्न या परस्पर-विरोधी चीजें भी, इस अनन्तताके किसी सत्यकी ओर निर्देश करती हैं, तथापि वह जो कुछ भी सोच सकता है उसमेंसे कुछ भी पूर्णतया सत्य नहीं होता, और उसकी सभी रूप-रचनाएँ अनन्तसे आनेवाले नये निर्देशोंकी कसौटीपर टूट-फूट जाती हैं। वह संसारको इन्द्रजालके रूपमें और विचारको ज्योतिर्मय 'अनिश्चित सत्ता'मेंसे निकलनेवाली स्थित चिनगारियोंके रूपमें देखने लगता है। मन अतिमानसकी विशालता और स्वतंत्रतासे आक्रान्त होकर अपने-आपको खो बैठता है और उस विशालतामें उसे पग टेकनेके लिये कोई दृढ़ आधार नहीं मिलता। इसके विपरीत, अतिमानस अपनी स्वतंत्रतामें स्थित रहता हुआ सद्वस्तुके दृढ़ आधारपर सत्ता-संबंधी अपने विचार और अभिव्यक्तिके सामंजस्यपूर्ण स्तरोंका गठन कर सकता है, और फिर भी वह अपने असीम स्वातंत्र्यको धारण किये रहता है तथा अपनी अनन्ततया वृहत् सत्ताका आनन्द भी लेता रहता है। वह जो कुछ भी है, जो भी कार्य वह करता है तथा जो कुछ भी वह चरितार्थ करता है वह सब, इसी प्रकार जो कुछ भी वह सोचता है वह सब भी सत्यम्, ऋतम्, वृहत्से संबंध रखता है।

इस अखण्डताका परिणाम यह होता है कि मनके विशुद्ध, स्वतंत्र, निष्पक्ष और निःसीम विचारसे सादृश्य रखनेवाला अतिमानसका मुक्त, तात्विक चिन्तन और उसका सोद्देश्य, निर्धारक, सर्जनशील एवं व्यवहारलक्षी चिन्तन इन दोनोंमें कोई विभेद या असंगति नहीं होती। सत्ताकी अनन्तता स्वभावतः ही अभिव्यक्तिके सामंजस्योंकी मुक्तताको जन्म देती है। अतिमानस सदा ही कर्मको परम आत्माके आविर्भाव एवं अभिव्यक्तिके रूपमें तथा सृष्टिको अनन्तके आत्म-प्रकाशके रूपमें देखता है। उसका समस्त सर्जनशील एवं व्यवहारलक्षी विचार आत्माकी संभूतिके लिये एक यंत्र एवं प्रकाशप्रद शक्ति है, वह अपरिमेय सत्की शाश्वत एकता तथा अनन्त विचित्रता एवं विविधताके और सभी लोकोंमें तथा उनके जीवनमें उसकी आत्म-अभिव्यक्तिके बीच मध्यस्थका काम करता है। अतिमानस सदा

इसी विचारको देखता और मूर्त रूप देता है और जहाँ उसका विचार-सर्जक अन्तर्दर्शन और चिन्तन उसके समक्ष उस अनन्तकी अपरिमेय एकता एवं विविधताकी व्याख्या करते हैं जिसके साथ शाश्वत तादात्म्यके कारण वह स्वयं भी वही है और जिसमें वह अपनी सत्ता और संभूतिकी सम्पूर्ण शक्तिके साथ निवास करता है, वहाँ उसमें एक विशिष्ट सर्जनशील विचार भी सदा विद्यमान रहता है। यह विचार अनन्त संकल्प, अर्थात् तपस् या सत्ताकी शक्तिकी क्रियाके साथ संबद्ध है। यही इस बातको निश्चित करता है कि कालके प्रवाहमें अतिमानस अनन्तमेंसे किस चीजको सामने लायगा अथवा प्रकट या उत्पन्न करेगा तथा इस लोकमें और अभी अथवा कालकी किसी भी अवधिमें या किसी भी लोकमें—विश्वके अन्दर हो रही आत्माकी शाश्वत अभिव्यक्तिको क्या रूप देगा।

अतिमानस इस व्यवहारलक्षी क्रियाके द्वारा सीमित नहीं होता और इस पद्धतिसे अपने विचार और जीवनमें वह जो कुछ बनता एवं उत्पन्न करता है उसकी एक आंशिक गति या संपूर्ण धाराको अपनी सत्ताका या अनन्तका समग्र सत्य नहीं मानता। वर्तमानमें या सत्ताके किसी एक ही स्तरपर वह अपने चुनावके अनुसार जो स्वरूप धारण करता है तथा जो कुछ सोचता एवं करता है, केवल उसमें ही वह निवास नहीं करता; वह अपने जीवनका आधार केवल वर्तमानके ऊपर या क्षणोंकी उस अविच्छिन्न श्रृंखलाके ऊपर ही नहीं रखता जिसकी धड़कनोंको हम 'वर्तमान' का नाम देते हैं। वह अपने-आपको कालकी या कालगत चेतनाकी एक गतिके रूपमें या फिर संभूतिके शाश्वत चक्रमें रहनेवाले एक जीवके रूपमें ही नहीं देखता। वह एक ऐसी कालातीत सत्तासे सचेतन है जो अभिव्यक्तिसे परे है पर यहाँका सब कुछ जिसकी एक अभिव्यक्ति है, वह उस सत्ताको जानता है जो 'काल'के भीतर भी नित्य है, सत्ताके जो अनेकानेक स्तर हैं उनका भी उसे ज्ञान है, वह अभिव्यक्तिके अतीत सत्यको जानता है और सत्ताका जो बहुत-सा सत्य अभी भविष्यमें अभिव्यक्त होनेको है पर जो सनातनकी आत्म-दृष्टिमें पहलेसे ही विद्यमान है उसे भी वह जानता है। वह व्यावहारिक सत्यको, जो कर्ममय और विकारशील अवस्थाका सत्य है, एकमात्र सत्य समझनेकी भूल नहीं करता, बल्कि उसे उस सत्ताकी, जो सनातन रूपसे वास्तविक है, एक सतत चरितार्थताके रूपमें देखता है। वह जानता है कि जड़तत्त्व, प्राण, मन और अतिमानसमेंसे किसी भी स्तरपर सृष्टि करनेका अर्थ सनातन सत्यके स्व-निर्धारित रूपको आविर्भूत करना एवं सनातनको अभिव्यक्त करना ही होता है और हो भी यही सकता है। साथ ही वह

अन्तरंग रूपसे यह भी जानता है कि सभी वस्तुओंका सत्य सनातनमें पहलेसे ही विद्यमान है। यह दृष्टि उसके सभी व्यवहारलक्षी विचारों एवं उनके परिणामस्वरूप होनेवाली क्रियाओंको मर्यादित करती है। उसके अन्दरकी निर्मात्री शक्ति द्रष्टा और मनीषीकी एक चुनाव करनेवाली शक्ति है, आत्म-स्रष्ट्री शक्ति आत्मद्रष्टाकी एक शक्ति है, आत्म-अभिव्यक्ति करनेवाली शक्ति अनन्त आत्माकी एक शक्ति है। वह अनन्त अध्यात्म-सत्ता एवं आत्मामेंसे स्वतंत्रताके साथ सृजन करता है, और उस स्वतंत्रताके कारण ही और भी अधिक सुरक्षित एवं निश्चयात्मक रूपसे सृजन करता है।

अतएव वह अपनी विशिष्ट अभिव्यक्तिमें कैद नहीं हो जाता, न अपने घेरे या अपनी कार्यपद्धतिमें आवद्ध ही होता है। जव वह सर्जनात्मक अभिव्यक्तिसंवंधी अपने निज सामंजस्यके लिये एक निश्चयात्मक संकल्प, विचार और क्रियाका प्रवल रूपसे प्रयोग करता है तव भी वह इस अभि-व्यक्तिके अन्य सामंजस्योंके सत्यकी ओर एक ऐसे ढंगसे तथा ऐसी मात्रामें खुला होता है जो मनकी पहुँचसे वाहर हैं। जव वह एक संघर्षके ढंगके कार्यमें लगा होता है,—उदाहरणार्थ, अतीत या किसी अन्य विचार, रूप और अभिव्यक्तिके स्थानपर उस विचार, रूप और अभिव्यक्तिको स्थापित करना जिसे व्यक्त करनेका काम उसे सौंपा गया है,—तो वह जिसे पदच्युत करता है उसके सत्यको जानता होता है और पदच्युत करते हुए भी उसे सार्थकता प्रदान करता है; साथ ही उसके स्थानपर वह जिस चीजको प्रति-ष्ठित करता है उसका सत्य भी उसे ज्ञात होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति और चुनाव करनेकी क्रियासे एवं अपनी व्यवहारलक्षी सचेतन क्रियासे वँधता नहीं, किन्तु फिर भी एक विशिष्ट रूपसे सर्जनशील विचारका और कर्म-संवन्धी यथार्थताकी चयनशील वृत्तिका संपूर्ण आनन्द, अपनी तथा दूसरोंकी अभिव्यक्तिके रूपों एवं गतियोंके सत्यका आनन्द उसे समान रूपसे प्राप्त होता है। जीवन, कर्म और सर्जन-संवन्धी उसका समस्त चिन्तन एवं संकल्प समृद्ध और बहुविध होता है तथा अनेक स्तरोंके सत्यको केन्द्रित करता है, वह मुक्त होनेके साथ-साथ सनातनके अपरिमेय सत्यसे आलोकित होता है।

अतिमानसिक विचार और चेतनाकी इस सर्जनशील या व्यवहारलक्षी गतिके साथ-साथ एक ऐसी क्रिया भी जन्म लेती है जो रूढ़ या यांत्रिक मनकी क्रियाके सदृश होती हुई भी अत्यंत भिन्न प्रकारकी होती है। उसके द्वारा सृष्ट होनेवाली वस्तु सामंजस्यका एक आत्मनिर्धारित रूप होती है और समस्त सामंजस्य साक्षात्कृत या स्वीकृत पद्धतियोंके आधारपर अपना

कार्य करता है तथा एक सतत स्पन्दन एवं तालबद्ध पुनरावर्तनकी गति भी सदा उसके संग रहती है। अतिमानसिक विचार, अतिमानसिक भूमिकाकी व्यक्त सत्ताके सामंजस्यको संघटित करता हुआ इसे सनातन तत्वोंपर प्रतिष्ठित करता है, जिस सत्यको व्यक्त करना है उसकी यथार्थ प्रणालियोंके आधारपर इसे ढालता है, अनुभव और कर्मके जो सतत उपयोगी तत्व सामंजस्यका गठन करनेके लिये आवश्यक होते हैं उनके पुनरावर्तनको विशेष स्वरोंके रूपमें गुंजायमान रखता है। वहाँ विचारका क्रम-विधान, संकल्पका नियमित चक्र एवं गतिकी स्थिरता विद्यमान होती है। तथापि उसकी स्वतंत्रता उसे उक्त पुनरावर्तनके वश उस रूढ़ क्रियाकी गरारीमें बन्द हो जानेसे रोकती है जो सदा ही विचारोंके परिमित भण्डारके चारों ओर यंत्रवत् चक्कर काटती रहती है। वह रूढ़ मनके समान चिन्तनके रूढ़ लोकप्रचलित साँचेको अपना आधार मानकर समस्त नये विचार और अनुभवको इसके आगे पेश नहीं करता न उसे इसके समान ही बना डालता है। उसका आधार, जिसके आगे वह सब कुछ निर्णयार्थ प्रस्तुत करता है, ऊपर है, **उपरि बुध्ने,** आत्माकी विशालतामें, अतिमानसिक सत्यकी परमोच्च आधार-भूमिमें स्थित है, **बुध्ने ऋतस्य**। उसके चिन्तनका क्रम-विधान, उसका संकल्पचक्र, उसकी कर्मसंबन्धी स्थिर गति यांत्रिकता या रूढ़िका बँधा-बँधाया रूप नहीं धारण करती, वल्कि सदैव मूल भावसे अनुप्राणित रहती है, अन्य सब क्रमों एवं चक्रोंका बहिष्कार करके अथवा अन्य सहवर्ती या संभव क्रम-का विरोध करते हुए अपना अस्तित्व धारण नहीं करती, बल्कि जिन चीजोंके भी संपर्कमें आती है उन सबसे पोषक तत्त्व खींच लेती है तथा उन्हें अपने मूल-तत्वके अनुकूल बनाकर आत्मसात् कर लेती है। इस प्रकारका आध्यात्मिक आत्मसात्करण संभव है क्योंकि विज्ञानमय भूमिकामें सभी कुछ आत्माकी विशालता तथा मुक्त ऊर्ध्वस्थ दृष्टिके समक्ष निर्णयार्थ प्रस्तुत किया जाता है। अतिमानसिक चिन्तन और संकल्पका क्रम-विधान निरन्तर ही ऊपरसे नयी ज्योति और शक्ति प्राप्त कर रहा है और इसे अपनी गतिके अन्दर स्वीकार कर लेनेमें उसे कोई कठिनाई नहीं होती : जैसा कि अनन्तके क्रम-विधानका अपना विशिष्ट स्वभाव है, उसके अनुसार वह अपनी गतिकी स्थिरतामें भी अवर्णनीय रूपसे नरम एवं नमनीय है, एकमेवमें सब वस्तुओंका एक-दूसरेके साथ जो संबन्ध है उसे वह देख सकता तथा प्रकट कर सकता है, अनन्तके स्वरूपको सदा ही अधिकाधिक व्यक्त कर सकता है, अपनी पूर्णतम अवस्थामें वह अनन्तके उस समस्त स्वरूपको अपने ढंगसे व्यक्त कर सकता है जिसे व्यक्त करना सचमुचमें संभव हो।

इस प्रकार अतिमानसिक ज्ञानकी जटिल गतिमें किसी प्रकारका असामंजस्य एवं विषमता नहीं होती, न उसमें सामंजस्य स्थापित करनेकी ही कोई कठिनाई होती है, बल्कि वहाँ जटिलतामें भी सरलता होती है तथा बहुमुखी समृद्धतामें भी एक ऐसी सुरक्षित विश्रान्तिकी अवस्था बनी रहती है जो आत्मज्ञानकी सहज सुनिश्चितता एवं समग्रतासे उत्पन्न होती है। विघ्न-बाधा, अन्त:संघर्ष, विषमता, कठिनाई, अवयवों और गतियोंमें असामंजस्य—ये सब मनके अतिमानसमें रूपान्तरकी प्रक्रियामें ही देखनेमें आते हैं, पर वहाँ भी ये केवल तभीतक रहते हैं जबतक रचनाकी अपनी ही विधियोंपर आग्रह करनेवाले मनका व्यापार, प्रभाव या दबाव बना रहता है अथवा जबतक आदि अज्ञानके आधारपर ज्ञानका विचार एवं कर्मसंबंधी संकल्पका गठन करनेकी उसकी प्रक्रिया अतिमानसकी इससे उलटी प्रक्रियाका प्रतिरोध करती है जिसके द्वारा अतिमानस सब चीजोंका संगठन आत्मा और इसके सहजात एवं सनातन आत्मज्ञानमेंसे होनेवाली एक प्रकाशमय अभिव्यक्तिके रूपमें करता है। इस ढंगसे ही अतिमानस आत्माके तादात्म्यलभ्य ज्ञानकी एक प्रतिनिधिभूत, व्याख्याकारिणी, सत्यका दर्शन करानेवाली अलंघ्य शक्तिके रूपमें कार्य करता है, अनन्त चेतनाकी ज्योतिको मुक्त और असीम रूपसे वास्तविक विचारके उपादान और आकारमें परिणत कर देता है, चिन्मय सत्ता और वास्तविक विचारकी शक्तिके द्वारा सृजन करता है, एक ऐसी क्रियाको स्थिर रूप दे देता है जो अपने विधानका अनुसरण करती है किन्तु फिर भी अनन्तकी एक नमनशील एवं सुनम्य क्रिया होती है। अपनी इन सब क्रियाओंके द्वारा वह प्रत्येक विज्ञानमय व्यक्तिके अन्दर एकमेव पुरुष एवं आत्माकी तत्तद् व्यक्तिके अनुसार विशिष्ट एवं यथार्थ अभिव्यक्तिकी व्यवस्था करनेके लिये अपने विचार और ज्ञानका तथा एक ऐसे संकल्पका प्रयोग करता है जो अपने सारतत्व और ज्योतिमें ज्ञानसे एकाकार होता है।

इस प्रकारकी गठनवाले अतिमानसिक ज्ञानकी क्रिया, स्पष्ट ही, मनोमय बुद्धिकी क्रियासे बहुत ही उत्कृष्ट है और अब हमें देखना यह है कि अतिमानसिक रूपान्तरमें मानसिक बुद्धिके स्थानपर कौन-सी शक्ति प्रतिष्ठित होती है। मनुष्यके चिन्तनात्मक मनको अपना अत्यंत निर्मल और विशेष संतोष तर्कशील एवं युक्तिप्रधान बुद्धिमें ही प्राप्त होता है और सत्ताकी व्यवस्था करनेके लिये अपने अत्यंत सुनिश्चित एवं प्रभावशाली सिद्धान्तकी प्राप्ति भी उसे इसीमें होती है। यह ठीक है कि मनुष्य अपने विचार या कर्ममें पूर्ण रूपसे तर्कबुद्धिके द्वारा ही नियंत्रित नहीं होता और ऐसा होना संभव भी नहीं है। उसका मन तर्कशील बुद्धि तथा अन्य दो शक्तियोंकी

संयुक्त, मिश्रित एवं गहन क्रियाके प्रति जटिल रूपसे अधीन है। उन दो शक्तियोंमेंसे एक है अन्तर्ज्ञान, जो मानव-मनके अन्दर वस्तुतः केवल अर्ध-आलोकित है, बुद्धिकी अधिक प्रत्यक्ष क्रियाके पीछे रहकर कार्य करता है या फिर सामान्य बुद्धिकी क्रियामें छुपा रहता है या उसमें आकर परिवर्तित हो जाता है। दूसरी शक्ति है संवेदन, अन्धप्रेरणा और आवेगसे युक्त प्राणिक मन। वह अपने स्वभावमें एक प्रकारका धूमिल तिरोहित अन्तर्ज्ञान ही है और वह बुद्धिको नीचेसे उसकी आरंभिक सामग्री एवं ज्ञात तथ्य प्रदान करता है। इन अन्य शक्तियोंमेंसे प्रत्येक अपने-अपने ढंगसे, मन और प्राणमें कार्य कर रहे आत्माकी एक अन्तरंग क्रिया है और इसका कार्य करनेका ढंग तर्कशील बुद्धिकी अपेक्षा अधिक सीधा एवं सहज-स्फूर्त है, तथा इसकी अनुभव एवं कर्म करनेकी शक्ति भी उसकी अपेक्षा अधिक अपरोक्ष है। तथापि इनमेंसे कोई भी शक्ति मनुष्यके मानसिक जीवनको व्यवस्थित करनेमें समर्थ नहीं है।

उसका प्राणिक मन—इसकी अन्धप्रेरणाएँ, इसके आवेग,—उस तरह स्वतः-पर्याप्त एवं प्रभुत्वपूर्ण नहीं है और हो भी नहीं सकता जिस तरह वह निम्नतर सृष्टिमें है। इसे बुद्धिने अपने अधिकारमें लाकर अत्यधिक बदल डाला है। जहाँ बुद्धिका विकास अपूर्ण है और यह (प्राण-मन) स्वयं अपनी श्रेष्ठतापर अत्यधिक आग्रह करता है वहाँ भी यही बात देखनेमें आती है। यह अपने अन्तर्ज्ञानात्मक स्वरूपको अधिकांशमें खो चुका है, वास्तवमें अब यह ज्ञानकी सामग्री और ज्ञात तथ्योंके जुटानेवाले एक करण-के रूपमें पहलेसे अनन्तगुना समृद्ध है, पर अब यह सर्वथा स्वरूपप्रतिष्ठ नहीं रहा और न ही यह अपना कार्य सहजमें कर सकता है, क्योंकि यह आधा बौद्धिक बन गया है, कम-से-कम, यह तार्किक या बौद्धिक क्रियाके किसी अन्तःसंचारित तत्वपर आश्रित रहता है, भले वह तत्त्व कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो; अतएव अब यह बुद्धिकी सहायताके बिना किसी अच्छे उद्देश्यके लिये कार्य नहीं कर सकता। इसकी जड़ें अवचेतनमें हैं जहाँसे यह उद्भूत होता है, और इसका पूर्णता प्राप्त करनेका स्थान भी वहीं है और मनुष्यका कार्य अभिवृद्धि प्राप्त करना है, इस अर्थमें कि वह अधिकाधिक चेतन ज्ञान और कर्मकी ओर प्रगति करता जाय। यदि वह प्राणिक मनके द्वारा अपनी सत्ताका नियंत्रण करनेकी ओर लौटे तो वह या तो विवेकहीन एवं अव्य-वस्थित बन जायगा या जड़ एवं निःशक्त और मानवताके मूल लक्षणको गँवा बैठेगा।

इसके विपरीत, अन्तर्ज्ञानका मूल और इसका पूर्णता प्राप्त करनेका

धाम अतिमानसमें है जो आज हमारे लिये अतिचेतन है, और मनमें इसकी क्रिया न तो विशुद्ध होती है न व्यवस्थित, बल्कि वह तत्क्षण ही तर्कशील बुद्धिकी क्रियाके साथ मिल जाती है, बिलकुल अपने ही स्वरूपमें नहीं रह पाती, बल्कि सीमित, खण्डात्मक, मिश्रित, हलकी एवं अशुद्ध हो जाती है, *और अपने निर्देशोंके व्यवस्थित प्रयोग एवं संगठनके लिये तर्कबुद्धिकी* सहायता-पर निर्भर करती है। मानव-मन अपने अंतर्ज्ञानोंके विषयमें तबतक कभी भी पूरी तरहसे निश्चयवान् नहीं होता जबतक तर्कबुद्धिकी निर्णय-शक्ति उनपर विचार करके उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर देती : तर्कबुद्धिकी इस शक्तिमें ही वह अपनेको अत्यंत सुदृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित एवं सुरक्षित अनुभव करता है। यदि मनुष्य अन्तर्ज्ञानात्मक मनके द्वारा अपने चिंतन और जीवनकी व्यवस्था करनेके लिये तर्कबुद्धिसे ऊपर उठ जाय तो इतनेसे ही वह अपनी मानवताके विशिष्ट लक्षणको पार कर अतिमानवताके विकासके पथपर चल रहा होगा। यह कार्य केवल ऊर्ध्व भूमिकामें ही किया जा सकता है : क्योंकि नीचेकी भूमिकामें इसके लिये यत्न करनेका अर्थ एक अन्य प्रकारकी अपूर्णता प्राप्त करना ही है : वहाँ तो मनोमय बुद्धि एक आवश्यक करण है।

तर्कशील बुद्धि, प्राणिक मन और अबतक अविकसित अतिमानसिक अन्तर्ज्ञान——इन दोनोंके बीचका एक करण है। उसका कार्य एक मध्यस्थका कार्य है, अर्थात् एक ओर तो उसका काम है——प्राणिक मनको आलोकित करना, इसे सचेतन बनाना तथा इसकी क्रियाको यथासंभव नियंत्रित एवं व्यवस्थित करना। यह सब उसे तबतक करते जाना होगा जबतक विश्व-प्रकृति अतिमानसिक शक्तिका विकास करनेके लिये तैयार नहीं हो जाती। यह शक्ति विकसित होकर प्राणको अपने अधिकारमें ले लेगी और उसकी सभी क्रियाओंको आलोकित करके पूर्ण बनायेगी। इसके लिये वह उसकी कामना, भावावेश, संवेदन और कर्मकी अस्पष्टतः अन्तर्ज्ञानमय गतियोंको आत्मा और अध्यात्मसत्ताकी एक ऐसी प्राणिक अभिव्यक्तिमें रूपान्तरित कर देगी जो आध्यात्मिक एवं ज्योतिर्मय रूपसे सहजस्फूर्त होगी। दूसरी ओर, उच्चतर स्तरपर तर्कबुद्धिका कार्य है——ऊपरसे आनेवाली ज्योतिरश्मियों-को ग्रहण करना तथा उन्हें बौद्धिक मनकी परिभाषाओंका रूप देना, साथ ही, अन्तर्ज्ञानकी जो धाराएँ अपनी सीमाको पार कर अतिचेतनासे मनमें उतर आती हैं उन्हें स्वीकार करना, परखना, विकसित करना तथा बौद्धिक ढंगसे उपयोगमें लाना। यह कार्य वह तबतक करती है जबतक मनुष्य अपने स्वरूप, अपनी परिस्थिति और अपनी सत्ताके प्रति अधिकाधिक बौद्धिक रूपसे सचेतन होकर यह भी नहीं जान जाता कि वास्तवमें वह इन चीजोंको

अपनी बुद्धिके द्वारा नहीं जान सकता, बल्कि अपनी बुद्धिके समक्ष इनका मानसिक निरूपणमात्र कर सकता है।

परन्तु, बुद्धिप्रधान मनुष्यमें तर्कबुद्धि अपने सामर्थ्य और व्यापारकी सीमाओंकी उपेक्षा करनेकी प्रवृत्ति रखती है और 'पुरुष' एवं आत्माका एक यंत्र एवं करण नहीं बल्कि उसकी स्थानापन्न शक्ति बननेकी चेष्टा करती है। अपनी सफलता और प्रधानताके कारण एवं अपने प्रकाशकी अपेक्षाकृत महत्ता-के कारण आत्मविश्वाससे पूर्ण होकर वह अपनेको एक प्रधान एवं निरपेक्ष तत्व समझती है, अपने पूर्ण सत्य एवं स्वयं-समर्थताके बारेमें विश्वस्त अनुभव करती है और मन एवं प्राणकी सर्वतंत्र स्वतंत्र शासिका बननेका यत्न करती है। पर यह कार्य वह सफलता-पूर्वक नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपने वास्तविक सारतत्त्व एवं अस्तित्वके लिये निम्नतर प्राणिक अन्तर्ज्ञानपर तथा प्रच्छन्न अतिमानस एवं उसके अन्तर्ज्ञानात्मक संदेशोंपर निर्भर करती है। उसे केवल अपनेको ऐसा लग सकता है कि मैं सफल हो रही हूँ, क्योंकि वह अपने समस्त अनुभवको तार्किक सूत्रोंमें परिणत कर देती है और इसके पीछे विचार और क्रियाका जो वास्तविक स्वरूप विद्यमान है उसमेंसे आधेकी ओरसे तथा जो अपरिमित सत्य उसके सूत्रोंके घेरेमें नहीं आता उसकी ओरसे अपनी आँखें मूंद लेती है। बुद्धिकी अति तो केवल जीवनको एक कृत्रिम वस्तु एवं बुद्धि-चालित यंत्र-सा बना देती है, इसे इसकी स्वाभाविकता एवं जीवनशक्तिसे वंचित कर देती है और आत्माके स्वातंत्र्य एवं विस्तारको रोक देती है। सीमित और परिसीमक मनोमय बुद्धिको अपने-आपको सुनम्य एवं संस्कारग्राही बनाना होगा, अपने मूल स्रोतके प्रति अपने-आपको खोलना होगा, ऊपरसे ज्योति प्राप्त करनी होगी, अपनेको अतिक्रम करके रूपान्तर-रूपी सहजमृत्यु-प्रक्रियाके द्वारा अतिमानसिक बुद्धिके रूपमें परिणत हो जाना होगा। इस बीच उसे विशिष्ट मानवीय स्तरपर चिंतन और कर्मकी व्यवस्थाके लिये सामर्थ्य और नेतृत्व प्रदान किया गया है। मानवीय स्तर एक बीचका स्तर है जिसके एक ओर तो आत्माकी अवचेतन शक्ति है जो पशुके जीवनकी व्यवस्था करती है और दूसरी ओर आत्माकी अतिचेतन शक्ति है जो चेतन बनकर आध्यात्मिक अतिमानवताके अस्तित्व एवं जीवनकी व्यवस्था कर सकती है।

तर्कबुद्धिकी विशिष्ट शक्ति अपने पूर्ण विकसित रूपमें एक तार्किक क्रिया है। यह क्रिया सर्वप्रथम, निरीक्षण और व्यवस्थाके द्वारा, समस्त प्राप्य सामग्री एवं स्वीकृत तथ्योंका सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर लेती है, और फिर इसके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले ज्ञानके लिये यह उनपर कार्य करती

है। यह ज्ञान चिंतन-शक्तियोंके प्राथमिक प्रयोगके द्वारा प्राप्त, संतुष्ट तथा परिवर्द्धित होता है, अन्तमें तर्कबुद्धि अपने परिणामोंकी यथार्थताके वारेमें अपनेको आश्वस्त करती है। इसके लिये वह एक अधिक सतर्क, औपचारिक, जागरूक, सुचिंतित एवं कठोर-तर्कयुक्त क्रियाका प्रयोग करती है जो विचार और अनुभवके वलपर विकसित हुए कुछ-एक सुरक्षित मानदण्डों एवं प्रक्रियाओंके अनुसार इन परिणामोंको परखकर इनका खण्डन या मण्डन करती है। अतएव तर्कबुद्धिका पहला कार्य अपनी प्राप्य सामग्री एवं स्वीकृत तथ्योंका यथार्थ, सतर्क एवं पूर्ण निरीक्षण करना है। स्वीकृत तथ्योंका जो सवसे पहला एवं सहजतम क्षेत्र हमारे ज्ञानके सामने खुला है वह प्राकृतिक जगत् है, उन भौतिक पदार्थोंका जगत् है जिन्हें मनकी पृथक्कारी क्रियाने उसे अपने प्रति वाह्य वना रखा है, ऐसी वस्तुओंका जगत् है जो अनात्मा हैं और इसलिये जो केवल हमारे इन्द्रियानुभवोंकी व्याख्याके द्वारा, निरीक्षण, संचित अनुभव, अनुमान और ध्यानपूर्ण चिन्तनके द्वारा परोक्ष रूपसे ही जानी जा सकती हैं। ज्ञात तथ्योंका दूसरा क्षेत्र है हमारी अपनी आन्तरिक सत्ता और उसकी क्रियाएँ जिन्हें मनुष्य, स्वभावतः ही, अन्दरसे कार्य करने-वाले मानसिक बोध, अन्तर्ज्ञान एवं सतत अनुभवके द्वारा तथा हमारी प्रकृतिकी साक्षियोंपर ध्यानपूर्ण चिन्तनके द्वारा जानता है। इन आन्तर क्रियाओंके संवंधमें भी वुद्धि सर्वोत्तम रूपमें अपना कार्य तभी करती है तथा इनका अत्यंत यथार्थ ज्ञान तभी प्राप्त करती है यदि वह अपने-आपको इनसे पृथक् करके इन्हें सर्वथा निर्व्यक्तिक दृष्टिसे एवं वहिःस्थित रूपमें देखे। इस प्रकारका साक्षिभाव एक ऐसी क्रिया है जिसका परिणाम ज्ञानयोगमें यह होता है कि हम अपनी सक्रिय सत्ताको भी अनात्माके रूपमें, शेष जगत्-सत्ताकी भाँति प्रकृतिकी एक यांत्रिक रचनाके रूपमें देखने लगते हैं। अन्य विचारशील एवं सचेतन जीवों-विषयक ज्ञान इन दो क्षेत्रोंके वीचमें आता है, पर यह भी परोक्ष रूपमें निरीक्षण एवं अनुभवसे तथा आदान-प्रदानके नाना साधनोंसे और इन साधनोंपर चिन्तन एवं अनुमानके द्वारा कार्य करके प्राप्त किया जाता है। यह चिंतन एवं अनुमान अधिकतर हमारी अपनी प्रकृतिसंवंधी हमारे ज्ञानके साथ इस ज्ञानके सादृश्यके आधारपर (उपमान प्रमाणपर) प्रतिष्ठित होता है। स्वीकृत तथ्योंका एक अन्य क्षेत्र भी है जिसका वुद्धिको निरीक्षण करना होता है। वह उसकी अपनी क्रिया तथा संपूर्ण मानवीय वुद्धिकी क्रियाका क्षेत्र है, क्योंकि इस अध्ययनके विना वह अपने ज्ञानकी यथार्थता या अपनी पद्धति एवं प्रक्रियाकी शुद्धताके वारेमें असंदिग्ध नहीं हो सकती। अन्तमें, ज्ञानके कुछ अन्य क्षेत्र भी हैं जिनके लिये स्वीकृत

तथ्य इतने सुलभ नहीं हैं और जिनके लिये लोकोत्तर शक्तियोंका विकास करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, एक क्षेत्र उन वस्तुओं तथा सत्ताके उन स्तरोंकी खोजका है जो स्थूल जगत्की प्रतीतियोंके पीछे विद्यमान हैं और दूसरा क्षेत्र है मनुष्य एवं विश्वप्रकृतिके गुप्त आत्माकी या उनकी सत्ताके मूल तत्त्वकी खोजका। इनमेंसे पहलेपर तर्कबुद्धि, जो भी तथ्य प्राप्त हो जायँ उन्हें अपनी छानवीनके लिये स्वीकार करके, उन्हींके आधारपर विचार करनेका यत्न कर सकती है जिस तरह वह स्थूल जगत्पर विचार करती है, पर साधारणतया उसमें उन तथ्योंपर विचार करनेकी प्रवृत्ति बहुत ही कम होती है, क्योंकि, उसे संदेह और इन्कार करना ही अधिक आसान मालूम होता है, साथ ही इस क्षेत्रमें उसकी क्रिया भी कदाचित् ही सुनिश्चित या प्रभावशाली होती है। दूसरे क्षेत्रकी खोज वह सामान्यतया एक ऐसे रचनात्मक दार्शनिक तर्कके द्वारा करनेका यत्न करती है जो प्राण, मन और जड़तत्त्वके दृग्विषयोंके संबंधमें बुद्धिद्वारा किये हुए विश्लेषणात्मक एवं संश्लषणात्मक निरीक्षणपर आधारित होता है।

अपने ज्ञात तथ्योंके इन सभी क्षेत्रोंमें तर्कबुद्धिकी क्रिया एक-सी होती है। सबसे पहले बुद्धि निरीक्षणों, संस्कारों, प्रत्यक्ष-बोधों, गृहीत-विचारों तथा प्रत्ययोंकी विपुल सामग्रीका संग्रह करती है, उनके पारस्परिक संबंधोंका तथा सभी पदार्थोंका, उनकी समानताओं और विषमताओंके अनुसार एक कम या अधिक स्पष्ट व्यवस्थापन एवं वर्गीकरण करती है, और फिर विचारों, स्मृतियों, कल्पनाओं एवं निर्णयोंकी संचित होती हुई निधि एवं सतत वृद्धिके द्वारा उनपर क्रिया करती है; मुख्य रूपसे यही चीजें हमारे ज्ञानकी क्रियाका स्वरूप गठित करती हैं। अपने ही गतिवेगके द्वारा विकसित होते हुए मनकी इस बुद्धिप्रधान क्रियाका एक प्रकारका स्वाभाविक विस्तार भी होता है, यह एक ऐसा विकास होता है जिसमें व्यक्तिके सचेतन योगदानसे अधिकाधिक सहायता प्राप्त होती है, विकासके इस सचेतन अनुशीलनसे शक्तियोंमें जो वृद्धि होती है वह फिर अपने क्रममें, जैसे ही ये शक्तियाँ एक अधिक सहज-स्वाभाविक क्रियाके रूपमें प्रतिष्ठित होती हैं, प्रकृतिका एक अंग बन जाती है। इसके परिणामस्वरूप जो विकास साधित होता है वह बुद्धिकी अपनी स्वरूपगत विशेषता एवं सारभूत शक्तिका नहीं, वरन् उसकी शक्तिकी मात्रा, उसकी नमनीयता, सामर्थ्यकी विविधता एवं सूक्ष्मताका विकास होता है। तब भ्रान्तियोंका संशोधन, सुनिश्चित विचारों एवं निर्णयोंका संग्रह तथा नवीन ज्ञानका ग्रहण या निर्माण—ये सब क्रियाएँ आरंभ हो जाती हैं। साथ ही, बुद्धिकी एक

अधिक यथार्थ एवं सुनिश्चित क्रियाकी आवश्यकता भी उत्पन्न हो जाती है, ऐसी क्रियाकी जो बुद्धिकी इस साधारण पद्धतिकी स्थूलतासे मुक्त होकर प्रत्येक पगकी जाँच करेगी, प्रत्येक निष्कर्षकी कठोरतापूर्वक छानबीन करेगी और मनकी क्रियाको एक दृढ़प्रतिष्ठ प्रणाली एवं व्यवस्थाका रूप दे देगी।

यह क्रिया पूर्ण तार्किक मनका विकास करती है और बुद्धिकी तीक्ष्णता एवं क्षमताको पराकाष्ठातक पहुँचा देती है। एक अधिक अनगढ़ एवं स्थूल निरीक्षणके स्थानपर या उसके परिपूरकके रूपमें दो अन्य क्रियाएँ प्रतिष्ठित हो जाती हैं। उनमेंसे एक तो पदार्थका गठन करनेवाली या उससे संबद्ध सभी प्रक्रियाओं, गुणों, उपादानों तथा शक्तियोंकी छानबीन करनेवाले विश्लेषणकी क्रिया है और दूसरी पदार्थकी समूचे रूपमें संश्लेषणात्मक रचना करनेकी क्रिया है जो मनकी उस पदार्थ-विषयक स्वाभाविक परिकल्पनामें जोड़ दी जाती है या अधिकांशमें उस परिकल्पनाके स्थानपर प्रतिष्ठित कर दी जाती है। उस पदार्थका अन्य सब पदार्थोंसे भेद अधिक ठीक रूपमें किया जाता है और साथ ही अन्य पदार्थोंके साथ उसके संबंधोंकी खोज भी अधिक पूर्ण रूपसे की जाती है। साम्य या सादृश्य एवं संबंधका और साथ ही भेदों एवं विषमताओंका भी निर्धारण कर लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर तो सत्ता और विश्वप्रकृतिकी मूलभूत एकता तथा उनकी प्रक्रियाओंकी सदृशता एवं अविच्छिन्नताका अनुभव होता है और दूसरी ओर विभिन्न शक्तियों तथा विभिन्न प्रकारके प्राणियों और पदार्थोंका स्पष्ट निर्धारण एवं वर्गीकरण भी संभव हो जाता है। ज्ञानके लिये आवश्यक सामग्री और स्वीकृत तथ्योंका संग्रह एवं व्यवस्था भी वहाँतक पूर्णताको पहुँचा दी जाती है जहाँतक कि तर्कबुद्धिके लिये ऐसा करना संभव है।

स्मृति मनका एक अनिवार्य साधन है जो उसके अतीत निरीक्षणोंको सुरक्षित रखनेमें उसकी सहायता करता है। यहाँ 'स्मृति'में व्यक्तिकी ही नहीं संपूर्ण जातिकी स्मृति भी सम्मिलित है, चाहे वह संचित अभिलेखोंके कृत्रिम रूपमें हो या सर्वसामान्य जातिगत स्मृतिके रूपमें जो एक प्रकारके सतत पुनरावर्तन एवं नवीकरणके द्वारा अपने लाभोंकी सुरक्षा करती है। इनके साथ ही एक और तत्व भी होता है जिसका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया है। वह प्रसुप्त स्मृतिका तत्व है। वह नाना प्रकारके उत्तेजकोंका दवाव पड़नेपर ज्ञानकी अतीत क्रियाओंको नयी अवस्थाओंमें दुहरा सकती है जिससे कि बढ़ी हुई जानकारी एवं बुद्धिके द्वारा उन क्रियाओंपर विचार किया जा सके। विकसित तर्कप्रधान मन मानव-

स्मृतिकी क्रिया एवं साधन-संपदाको व्यवस्थित करता है और उसे अपनी सामग्रीका अधिकतम उपयोग करनेकी प्रशिक्षा देता है। मानवकी निर्णय-शक्ति, स्वभावतः ही, इस सामग्रीपर दो विधियोंसे कार्य करती है, उनमेंसे एक निरीक्षण, अनुमान, सर्जनशील या आलोचनात्मक निष्कर्ष, अन्तर्दृष्टि और तात्कालिक विचारको कम या अधिक द्रुत एवं संक्षिप्त रूपसे संयुक्त करती है। यह अधिकांशमें मनका सहज ढंगसे तथा ऐसी प्रत्यक्षताके साथ कार्य करनेका प्रयत्न है जो केवल अन्तर्ज्ञानकी उच्चतर शक्तिके द्वारा ही सुरक्षित रूपसे प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि मनमें यह बहुत-कुछ मिथ्या विश्वास एवं अविश्वसनीय निश्चय-भाव पैदा कर देती है। दूसरी विधि खोज, विचार तथा परीक्षा करनेवाले निर्णयकी है जो अपेक्षाकृत धीमी है, पर अन्तमें बौद्धिक रूपसे अधिक सुनिश्चित होती है तथा एक सावधानतापूर्ण तार्किक क्रियाके रूपमें विकसित हो जाती है।

स्मृति और निर्णय-शक्ति दोनोंको कल्पना-शक्तिसे सहायता प्राप्त होती है। कल्पना-शक्ति, ज्ञानके एक करणके रूपमें, ऐसी संभावनाओंका संकेत देती है जिन्हें अन्य शक्तियोंने प्रत्यक्षतया प्रस्तुत या समर्थित नहीं किया होता। साथ ही वह नये दृश्य क्षेत्रोंके द्वार भी खोल देती है। विकसित तर्कबुद्धि कल्पना-शक्तिका प्रयोग नये अनुसंधान एवं नये वादका संकेत देनेके लिये करती है, पर निरीक्षण एवं संशयशील या सतर्क निर्णयशक्तिके द्वारा उसके संकेतोंको पूरी तरहसे परखनेका ध्यान रखती है। वह स्वयं निर्णय-शक्तिके समस्त व्यापारको भी यथासंभव परखनेका आग्रह करती है, निगमन और उपपादनकी व्यवस्थित प्रणालीके पक्षमें उतावले अनुमानका परित्याग कर देती है और अपने सभी पगोंके बारेमें तथा अपने निष्कर्षोंकी न्याय-परता, शृंखलाबद्धता, सुसंगतता एवं संहतताके बारेमें अपने-आपको आश्वस्त कर लेती है। एक अतीव रूढ़िबद्ध तार्किक मन सद्यः अन्तर्दृष्टिकी एक विशेष क्रियाको, अर्थात् उच्चतर अन्तर्ज्ञानकी ओर मनकी निकटतम पहुँचको, निरुत्साहित करता है, किन्तु तर्कबुद्धिके समस्त व्यापारका उन्मुक्त प्रयोग इस क्रियाको अपेक्षाकृत उन्नत ही कर सकता है, पर वह इसपर अमर्यादित रूपसे भरोसा नहीं करता। तर्कबुद्धिका प्रयत्न सदा यही रहता है कि वह एक अनासक्त, निष्पक्ष एवं सुप्रतिष्ठित विधिके द्वारा भूल, पूर्वनिर्णय एवं मनके मिथ्या विश्वाससे मुक्त होकर विश्वसनीय ध्रुव सत्योंपर पहुँचे।

और यदि मनकी यह विस्तृत एवं सुनिष्पन्न विधि सत्यकी खोजके लिये सचमुचमें पर्याप्त होती तो ज्ञानके विकासमें इससे ऊँचे किसी सोपानकी आवश्यकता ही न पड़ती। वास्तवमें, यह मनके अपने ऊपर तथा अपने

चारों ओरके जगत्के ऊपर प्रभुत्वको बढ़ाती है तथा इसके ऐसे महान् उपयोग भी हैं जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता : पर इस विषयमें यह कभी असंदिग्ध नहीं हो सकती कि इसकी ज्ञात तथ्य-सामग्री इसे वास्तविक ज्ञानका ढाँचा प्रदान करती है या केवल एक ऐसा ढाँचा प्रदान करती है जो मानव-मन एवं संकल्पके लिये उसकी वर्तमान कार्यप्रणालीमें ही उपयोगी एवं आवश्यक है। यह अधिकाधिक अनुभवमें आता है कि दृग्विषयोंका ज्ञान तो बढ़ जाता है, पर सद्वस्तुका ज्ञान इस श्रमपूर्ण प्रक्रियासे छूट जाता है। एक ऐसा समय अवश्य आयेगा और वह आ ही रहा है जब मन अन्तर्ज्ञानको और इसके शब्दके अस्पष्ट प्रयोग तथा इसके अर्थके अनिश्चित बोधके पीछे जो महान् शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं उन सबको अपनी सहायताके लिये पुकारने तथा पूर्ण रूपसे विकसित करनेकी आवश्यकता अनुभव करेगा। अन्तमें वह इस सत्यको अवश्य उपलब्ध कर लेगा कि ये शक्तियाँ उसकी अपनी विशिष्ट क्रियामें सहायता देकर उसे पूर्ण ही नहीं कर सकतीं, बल्कि उसका स्थान भी ले सकती हैं। इस सत्यकी उपलब्धि आत्माकी अति-मानसिक शक्तिकी उपलब्धिका आरंभ होगी।

हम देख ही चुके हैं कि अतिमानस मानसिक चेतनाकी क्रियाको अन्तर्ज्ञानकी ओर ऊपर ले जाकर उसके अन्दर प्रविष्ट करा देता है। पहले वह एक मध्यवर्ती अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी सृष्टि करता है जो अपने-आपमें अपर्याप्त होता हुआ भी तर्कबुद्धिकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। इसके बाद वह इस मनको भी और ऊपर ले जाकर सच्ची अति-मानसिक क्रियामें रूपान्तरित कर देता है। आरोही क्रममें अतिमानसका प्रथम सुव्यवस्थित करण है अतिमानसिक बुद्धि, उच्चतर तर्कबुद्धि नहीं, बल्कि घनिष्ठतया आत्मगत एवं घनिष्ठतया विषयगत ज्ञानका एक सीधा-प्रकाशपूर्ण व्यवस्थित करण, अर्थात् उच्चतर बुद्धि, तर्कात्मक या यूं कहें कि शब्दब्रह्मात्मक विज्ञान। विज्ञानमय बुद्धि तर्कबुद्धिका समस्त कार्य करती है और उससे भी अधिक कुछ करती है, पर करती है एक महत्तर शक्तिके साथ तथा एक भिन्न ढंगसे। फिर वह स्वयं भी ज्ञान-शक्तिके एक उच्चतर स्तरमें उन्नीत हो जाती है और उसमें भी खोया कुछ भी नहीं जाता, बल्कि सब-कुछ और भी उन्नत हो जाता है, उसका क्षेत्र और भी विस्तृत तथा उसकी कार्य करनेकी शक्ति रूपान्तरित हो जाती है।

बुद्धिकी साधारण भाषा विज्ञानबुद्धिके इस कार्यका वर्णन करनेके लिये पर्याप्त नहीं, क्योंकि शब्द तो वही-के-वही प्रयोगमें लाने पड़ते हैं जो कुछ सादृश्यका ही संकेत देते हैं, पर असलमें एक भिन्न वस्तुको अपूर्ण रूपसे

प्रकट करनेके लिये भी प्रयोगमें लाये जाते हैं। इस प्रकार, अतिमानस इन्द्रियोंकी एक प्रकारकी क्रियाका प्रयोग करता है जो स्थूल इन्द्रियोंको प्रयोगमें लाती है, पर उनसे सीमित नहीं होती। यह क्रिया अपने स्वरूप एवं स्वभावमें रूप-चेतना एवं (इन्द्रियार्थ) स्पर्श-चेतना होती है, परन्तु इन्द्रियके संबंधमें हमारी जो मानसिक धारणा और अनुभूति हैं वे हमें इस अतिमानसीकृत इन्द्रिय-चेतनाकी तात्विक एवं विशिष्ट क्रियाकी कुछ भी कल्पना नहीं करा सकतीं। अतिमानसिक क्रियामें चिन्तन भी मनोमय बुद्धिके चिन्तनसे भिन्न होता है। अतिमानसिक चिन्तन, मूलतः, ज्ञात वस्तुकी सत्ताके सारतत्त्वके साथ ज्ञाताकी सत्ताके सचेतन संपर्क या मिलन या तादात्म्यके रूपमें अनुभूत होता है और उसके विचारका स्वरूप आत्माकी स्वचेतनताकी एक ऐसी शक्तिके रूपमें अनुभूत होता है जो मिलन या एकत्वके द्वारा किसी विषयके अन्तर्निहित तत्त्व, व्यापार और मर्मके एक विशेष ज्ञानात्मक रूपको प्रकट करती है, क्योंकि वह उसे अपने अन्दर धारण किये होती है। अतएव, निरीक्षण, स्मृति और निर्णयमेंसे भी प्रत्येकका मनोमय बुद्धिकी प्रक्रियामें जो अर्थ होता है, अतिमानसमें उसका उससे भिन्न अर्थ होता है।

मनोमय वुद्धि जिस सवका अवलोकन करती है, अतिमानसिक वुद्धि उस सबका और उससे भी वहुत अधिक अवलोकन करती है। दूसरे शब्दोंमें, वह ज्ञेय वस्तुको बोध-क्रियाका एक क्षेत्र, अर्थात् एक प्रकारसे एक वाह्य विषय वनाती है। यह बोधक्रिया उस वस्तुके स्वरूप, स्वभाव, गुण और व्यापारको प्रकट करा देती है। पर विषयकी यह वाह्यता वह कृत्रिम वाह्यता नहीं होती जिसके द्वारा बुद्धि अपने अवलोकनमें वैयक्तिक या विषयिगत भूलका अंश दूर करनेकी चेष्टा करती है। अतिमानस प्रत्येक वस्तुको आत्माके अन्दर देखता है और इसलिये उसका अवलोकन एक आत्मगत वस्तुका अवलोकन होता है तथा हम अपनी आन्तरिक गतियोंको ज्ञानका विषय मानकर उनका जो अवलोकन करते हैं, अतिमानसका अवलोकन उसके अत्यधिक सदृश होता है, यद्यपि विलकुल वैसा ही नहीं होता। वह अपनी पृथक्-वैयक्तिक सत्ताके अन्दर या उसकी शक्तिके द्वारा नहीं देखता और अतएव उसे व्यक्तिमूलक भूलके अंशसे वचनेके लिये सतर्क नहीं रहना पड़ता : व्यक्तिगत भूल तो केवल तभी हस्तक्षेप करती है जव मनका तल या पारिपार्श्विक वायुमण्डल अभी वचा होता है और अपना प्रभाव डाल सकता है अथवा जव अतिमानस मनको वदलनेके लिये अभीतक उसके अन्दर उतरकर कार्य कर रहा होता है।

और भूलके साथ बरताव करनेका अतिमानसका ढंग यह है कि उसे किसी अन्य युक्तिसे नहीं वरन् अतिमानसिक विवेककी बढ़ती हुई स्वयंस्फूर्ततासे तथा उसकी अपनी शक्तिकी सतत वृद्धिके द्वारा दूर किया जाय। अतिमानसकी चेतना वैश्व चेतना है और विराट् चेतनाकी इस सत्तामें ही, जिसमें व्यष्टि-रूप ज्ञाता निवास करता है और जिसके साथ वह कम या अधिक घनिष्ठ रूपसे एकीभूत होता है, वह उसके सम्मुख ज्ञानके विषयको प्रस्तुत करती है।

ज्ञाता अपने अवलोकनमें एक साक्षी होता है और इससे ऐसा प्रतीत होगा कि यह सम्बन्ध एक अन्य-पन एवं भेदको सूचित करता है, किन्तु असली बात यह है कि यह कोई पूर्ण रूपसे पृथक् करनेवाला भेद नहीं है, यह दृष्ट वस्तुके संबंधमें उस विचारको स्थान नहीं देता जो उसे पूर्णतया अनात्मा मानकर द्रष्टासे बहिष्कृत कर देता है, जैसा कि किसी बाह्य पदार्थके मानसिक अवलोकनमें किया जाता है। अतिमानसमें तो ज्ञात वस्तुके साथ एकत्वकी मूलगत अनुभूति सदा ही बनी रहती है, क्योंकि इस एकत्वके बिना अतिमानसिक ज्ञान हो ही नहीं सकता। ज्ञाता अपने विषयको अपनी विश्वभावापन्न चिन्मय सत्तामें अपनी साक्षि-दृष्टिके केन्द्र-स्थानके सामने अवस्थित पदार्थके रूपमें धारण करता हुआ अपनी विशालतर सत्ताके अन्तगत कर लेता है। अतिमानसिक अवलोकन ऐसी वस्तुओंका अवलोकन होता है जिनके साथ हम अपनी सत्ता और चेतनामें एकीभूत होते हैं और जिन्हें हम उस एकत्वके बलपर उसी प्रकार जाननेमें समर्थ होते हैं जिस प्रकार हम अपने-आपको जानते हैं : अवलोकनकी क्रिया छुपे हुए ज्ञानको बाहर लानेकी क्रिया है।

इस प्रकार सर्वप्रथम, चेतनाकी एक मूलभूत एकता है जिसकी शक्ति अतिमानसिक स्तरोंमें हमारे जीवन-धारण, अनुभव और अवलोकनकी प्रगति, उच्चता और गभीरताके अनुसार कम या अधिक होती है तथा इन्हींके अनुसार जो अपने अन्दर निहित ज्ञानसामग्रीको कम या अधिक पूर्ण एवं तात्क्षणिक रूपसे प्रकट करती है। इस मूलभूत एकताके परिणामस्वरूप ज्ञाता और ज्ञेयके बीच सचेतन संबन्धकी एक धारा या सेतु स्थापित हो जाता है–– हम रूपकोंका प्रयोग करनेको वाध्य होते हैं, भले वे रूपक कितने ही अपूर्ण क्यों न हों––और फिर उसके फलस्वरूप एक ऐसा संपर्क या सक्रिय मिलन स्थापित हो जाता है जो व्यक्तिको, पदार्थमें या उसके बारेमें जो कुछ भी जानने योग्य है उसे अतिमानसिक रूपसे देखने, अनुभव करने और जाननेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। कभी-कभी संबन्धकी यह धारा या सेतु उस विशेष क्षणमें सचेतन रूपसे अनुभूत नहीं होता, केवल इस संबन्धके परिणाम

दृष्टिगोचर होते हैं, पर वास्तवमें यह सदा ही वहाँ विद्यमान होता है और यदि हम बादमें स्मरण करके देखें तो हमें सदैव यह पता चल सकता है कि वास्तवमें यह सेतु सारा समय वहाँ विद्यमान था : जैसे-जैसे हम अति-मानसिक अवस्थामें विकसित होते हैं, वैसे-वैसे यह एक स्थायी तत्व बनता जाता है। जब यह आधारभूत एकता एक पूर्ण सक्रिय एकता बन जाती है तब संबंधकी इस धारा या इस सेतुकी आवश्यकता नहीं रहती। यह प्रक्रिया उस पद्धतिका आधार है, जिसे पतंजलि **संयम** कहते हैं। संयमका अभिप्राय है एकाग्रता, चेतनाका किसी एक ही विषयकी ओर प्रेरण या उसकी उसमें निमग्नता। पतंजलिका कहना है कि संयमके द्वारा साधक किसी पदार्थमें जो कुछ भी है उस सबका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु जब सक्रिय एकत्व विकसित हो जाता है तब एकाग्रताकी आवश्यकता बहुत कम हो जाती है या बिलकुल ही नहीं रहती; ज्ञेय और उसके अन्तर्निहित तत्वोंके संबंधमें प्रकाशपूर्ण चेतना अधिक स्वयंस्फूर्त, सामान्य एवं सहजसाध्य हो जाती है।

इस प्रकारके अतिमानसिक अवलोकनकी क्रिया तीन प्रकारकी हो सकती है। प्रथम, ज्ञाता अपने-आपको अपनी चेतनामें ज्ञेय पदार्थपर प्रक्षिप्त कर सकता है, यह अनुभव कर सकता है कि उसकी बोधशक्ति पदार्थका स्पर्श कर रही है अथवा इसे चारों ओरसे आच्छादित कर रही है या इसमें पैठ रही है और वहाँ, मानों स्वयं पदार्थमें ही, वह ज्ञातव्य तथ्योंको जान सकता है। अथवा, वह ज्ञेयके साथ चेतनाके संस्पर्शके द्वारा, जो कुछ ज्ञेयमें है या उससे संबंध रखता है उस सबको जान सकता है, उदाहरणार्थ, किसी दूसरे व्यक्तिके विचार या वेदनको; वह अनुभव करता है कि ज्ञेयगत ये सभी चीजें ज्ञेयसे आ रही हैं और उसके अन्दर वहाँ प्रवेश कर रही हैं जहाँ वह अपनी साक्षी-की-भूमिकामें स्थित है। अथवा वह, किसी ऐसे प्रक्षेप या प्रवेशके बिना, अपनी साक्षि-स्थितिमें केवल एक प्रकारके अति-मानसिक बोधके द्वारा अपने अन्दर ज्ञेयको जान सकता है। अवलोकनका आरंभ-बिन्दु एवं प्रत्यक्ष आधार स्थूल या किन्हीं अन्य इन्द्रियोंके सम्मुख पदार्थकी उपस्थिति-मात्र हो सकता है, पर अतिमानसके लिये स्थूल पदार्थकी ऐसी उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। वहाँ इसके स्थानपर पदार्थकी आन्तरिक प्रतिमा या केवल उसका विचार ही आरंभ-बिन्दु या आधारका काम कर सकता है। ज्ञाताकी जाननेकी इच्छामात्र या, संभव है कि, ज्ञेय पदार्थकी ज्ञात होनेकी या अपना ज्ञान प्रदान करनेकी इच्छामात्र, अतिमानसिक चेतनाके समक्ष अपेक्षित ज्ञान ला सकती है।

तार्किक बुद्धि विश्लेषणात्मक निरीक्षण एवं संश्लेषणात्मक निर्माणकी

जिस श्रमसिद्ध प्रक्रियाका अवलम्बन करती है वह अतिमानसकी पद्धति नहीं है और फिर भी अतिमानस एक इससे मिलती-जुलती क्रिया करता है। वह एक प्रत्यक्ष अवलोकनके द्वारा वस्तुके विशेष ब्योरों अर्थात् इसके रूप, शक्ति-सामर्थ्य, व्यापार, गुण, मन और आत्माको, जो उसकी दृष्टिमें होते हैं, पृथक्-पृथक् जान लेता है, इसके लिये उसे वस्तुको खण्ड-खण्ड करनेकी किसी मानसिक प्रक्रियाका आश्रय नहीं लेना पड़ता। साथ ही, वह उस अर्थपूर्ण समग्र वस्तुको भी, ये विशेष ब्योरे जिसके गौण अंगमात्र होते हैं, उतनी ही प्रत्यक्षताके साथ तथा समन्वयात्मक रचनाकी किसी प्रक्रियाके बिना ही देखता है। स्वयं वस्तुके स्वभावको भी वह देखता है। किसी पदार्थकी समग्रता (समग्र स्वरूप) तथा उसकी विशिष्टताएँ उसके स्वभावकी ही अभिव्यक्ति होती हैं। और फिर, इस स्वभावके पृथक् रूपमें हो या इसके द्वारा, वह उस एकमेव आत्माको उस एकमेव सत्ता, चेतना, शक्ति एवं तपस्को भी देखता है जिसमेंसे यह एक आधारभूत तत्वके रूपमें प्रकट होता है। हो सकता है कि किसी विशेष समयमें वह किसी पदार्थकी विशिष्टताओं-का ही अवलोकन कर रहा हो, पर उस समय पदार्थकी समग्रता भी उस अवलोकनमें गर्भित रहती है, और इसी प्रकार समग्रताके अवलोकनके समय विशिष्टताएँ गर्भित रहती हैं,——उदाहरणार्थ, यदि किसीके मनमेंसे एक विचार या वेदन उत्पन्न हो तो उस विचार या वेदनके ज्ञानके साथ वह उसके मनकी समग्र अवस्थाको भी जान सकता है। अपि च, अतिमानसकी बोध-शक्ति समग्रता और विशिष्टतामेंसे किसी एकसे अपना कार्य आरंभ कर सकती है और फिर एक अविलम्ब निर्देशके द्वारा तुरत ही गर्भित ज्ञानकी ओर अग्रसर हो सकती है। इसी प्रकार स्वभाव पदार्थके समग्र स्वरूपमें और उसकी प्रत्येक या सभी विशिष्टताओंमें अन्तर्निहित रहता है और यहाँ भी वही प्रक्रियाएँ विकल्पसे या वारी-बारीसे तथा द्रुत वेगसे या तत्क्षण हो सकती हैं। अतिमानसका तर्क मनके तर्कसे भिन्न है : वह सदा-सर्वत्न आत्माको ही एक सत् पदार्थके रूपमें देखता है, पदार्थके स्वभावको आत्माकी सत्ता और शक्तिकी एक आधारभूत अभिव्यक्तिके रूपमें तथा पदार्थके समग्र स्वरूप एवं विशिष्ट गुणोंको इस शक्तिके एक परिणामभूत आविर्भाव तथा इसकी एक सक्रिय अभिव्यक्तिके रूपमें देखता है। अतिमानसिक चेतना और ज्ञान-शक्तिकी पूर्ण-विकसित अवस्थामें यही स्थायी विधान होता है। अतिमानसिक वुद्धि एकता, सदृशता, विषमता, जाति और विशिष्टताका जो भी ज्ञान प्राप्त करती है वह सव इस विधानके साथ समस्वर होता है तथा इसपर निर्भर करता है।

अतिमानसकी यह अवलोकन-क्रिया सब पदार्थोंपर प्रयुक्त होती है। उसका स्थूल पदार्थोंका अवलोकन, जब बाह्य ब्योरोंपर एकाग्र होता है तब भी, केवल एक उपरितलीय या बाह्य अवलोकन नहीं होता और न हो ही सकता है। वह पदार्थके आकार, व्यापार और विशेष धर्मोंको देखता है, पर इनके साथ ही वह उन गुणों या शक्तियोंको भी जानता है जिनका कि वह आकार एक रूपान्तर होता है और उन्हें वह आकार या व्यापारके आधारपर अनुमान या उपपादन करके नहीं देखता, बल्कि सीधे पदार्थकी सत्तामें ही तथा बिलकुल उतने ही स्पष्ट रूपसे अनुभव करता और देखता है जितने स्पष्ट रूपसे कि आकार या गोचर व्यापारको,—हम यह भी कह सकते हैं कि उन्हें वह एक सूक्ष्म मूर्तता एवं सूक्ष्म वास्तविकताके साथ अनुभव करता है। वह उस चेतनाको भी जानता है जो अपने-आपको गुण, शक्ति एवं रूपमें प्रकट करती है। जो शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ और वस्तुएँ हमारे लिये अमूर्त हैं उन्हें वह बिलकुल उन पदार्थोंकी तरह ही, जिन्हें हम आज प्रत्यक्ष एवं गोचर कहते हैं, अपरोक्ष और स्पष्ट रूपमें अनुभव कर सकता एवं जान सकता है तथा देख सकता एवं साक्षात् कर सकता है। व्यक्तियों और समस्त सत्ताओंको भी वह ठीक इसी प्रकारसे, प्रत्यक्ष रूपमें, देखता है। किसी व्यक्ति या सत्ताका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वह उसकी वाणी, क्रिया एवं बाह्य चिह्नोंको अपने आरंभबिन्दु या प्रथम संकेतके रूपमें अपना सकता है, पर वह उनके द्वारा सीमित या उनके अधीन नहीं हो जाता। वह दूसरेकी ठेठ आत्मा एवं चेतनाको जान सकता, अनुभव कर सकता और देख सकता है, वह या तो किसी चिह्नके द्वारा सीधे उसकी ओर अग्रसर हो सकता है या अपनी अधिक शक्तिशाली क्रियामें आत्मा एवं चेतनासे ही आरंभ कर सकता है और, बाह्य अभिव्यक्तिकी साक्षीके द्वारा अन्तःसत्ताको जाननेकी चेष्टा करनेके स्थानपर, अन्तःसत्ताके प्रकाशमें समस्त बाह्य अभिव्यक्तिको तुरत समझ सकता है। अतिमानसिक (विज्ञानमय) जीव अपनी आन्तरिक सत्ता और प्रकृतिको भी ठीक इसी प्रकार जानता है। भौतिक व्यवस्थाके पीछे जो कुछ छुपा है उसपर भी अतिमानस इतनी ही शक्तिके साथ कार्य कर सकता है और उसे भी वह सीधे अनुभवके द्वारा साक्षात् देख सकता है; वह जड़ जगत्से इतर स्तरोंमें भी विचरण कर सकता है। वह वस्तुओंकी आत्मा एवं वास्तविक सत्ताको तादात्म्यके द्वारा, एकत्वके अनुभव या संस्पर्शके द्वारा तथा एक अन्तर्दर्शन, अर्थात् साक्षात्कार एवं उपलब्धि करानेवाले विचार एवं ज्ञान, के द्वारा जानता है जो इन वस्तुओंपर निर्भर करते हैं या इनमें उद्‌भूत होते हैं, और आत्माके सत्योंके

विषयमें उसका विचारात्मक निरूपण इस प्रकारकी दृष्टि और अनुभूतिकी अभिव्यक्ति-रूप होता है।

अतिमानसिक स्मरणशक्ति मानसिक स्मरणशक्तिसे भिन्न है, वह अतीत ज्ञान और अनुभवका संग्रह नहीं बल्कि ज्ञानकी एक स्थायी उपस्थिति है जिसे सामने लाया जा सकता है या जो, अपने अधिक लाक्षणिक रूपमें, आवश्यकता होनेपर अपने-आपको स्वयं ही प्रस्तुत कर देती है। वह ध्यान देने या सचेतन रूपसे ग्रहण करनेके ऊपर निर्भर नहीं करती, क्योंकि अतीतकी जो वस्तुएँ व्यक्तिको वस्तुतः ज्ञात नहीं होतीं या जो उसने नहीं देखी होतीं उन्हें भी एक विशेष क्रियाके द्वारा निगूढ़ावस्थासे ऊपरी तलपर लाया जा सकता है। यह क्रिया (स्मरणात्मक न होनेपर भी) मूलतः एक स्मृति ही होती है। विशेषकर, एक विशेष स्तरपर समस्त ज्ञान अपने-आपको स्मरणके रूपमें ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है, क्योंकि सभी कुछ अतिमानसकी सत्ताके अन्दर प्रसुप्त या सहजात रूपमें विद्यमान है। भूतकी तरह भविष्य भी अपने-आपको अतिमानसके ज्ञानके समक्ष पूर्व-ज्ञातकी स्मृतिके रूपमें प्रस्तुत करता है। कल्पनाशक्ति, अतिमानसमें रूपान्तरित होकर, एक ओर तो सच्चे प्रतिरूप एवं प्रतीकका निर्माण करनेवाली शक्तिके रूपमें कार्य करती है, यह प्रतिरूप या प्रतीक सदा ही सत्ताके किसी मूल्य या गूढ़ार्थ या किसी अन्य सत्यको प्रकट करता है। दूसरी ओर, अतिमानसिक कल्पनाशक्ति उन संभावनाओं एवं शक्यताओंकी अन्तःप्रेरणा देने या उनका अर्थबोधक साक्षात्कार करानेवाली शक्तिके रूपमें कार्य करती है जो यथार्थ या सिद्ध वस्तुओंसे कम वास्तविक नहीं होतीं। इन संभावनाओं एवं शक्यताओंको इनके साथ रहनेवाली एक अन्तर्ज्ञानमय या अर्थ-प्रकाशक विवेकशक्ति अथवा प्रतिमा, प्रतीक या शक्यताके अन्तर्दर्शनमें अन्तर्निहित विवेकशक्ति इनके अपने स्थानपर प्रतिष्ठित करती है। या फिर जो तत्व प्रतिमा या प्रतीकके पीछे अवस्थित है या जो शक्य एवं यथार्थका तथा उनके संबंधोंका निर्धारण करता है और, संभवतः, उन्हें पादाक्रान्त एवं अतिक्रम करके चरम सत्यों तथा परम ध्रुवताओंकी स्थापना करता है उसका परमोच्च साक्षात्कार इन सब संभावनाओंको यथास्थान स्थापित कर देता है।

अतिमानसिक विवेकशक्ति अतिमानसिक अवलोकन-शक्ति या स्मरण-शक्तिसे अपृथक् रहकर कार्य करती है, वह मूल्यों, गूढ़ार्थों, कारणों, परिणामों, संबंधों आदिके प्रत्यक्ष दर्शन या ज्ञानके रूपमें उसके अन्दर रहती हुई कार्य करती है; अथवा वह अवलोकनके ऊपर एक अतिरिक्त प्रकाशपूर्ण एवं अनावरक विचार या सुझावके रूपमें आ उपस्थित होती है; या फिर

वह किसी भी अवलोकनसे स्वतंत्र रूपमें, उससे पहले ही आ सकती है, और उसके बाद हमें पदार्थका स्मरण आता है तथा हम उसका अवलोकन करते हैं और तब वह पदार्थ हमारे विचारके सत्यको प्रत्यक्ष रूपसे पुष्ट करता है। परन्तु इनमेंसे हरएक अवस्थामें वह अपने कार्यके लिये अकेली ही पर्याप्त होती है, वह अपना प्रमाण आप ही होती है तथा वास्तवमें अपने सत्यके लिये वह किसी भी प्रकारकी बाहरी सहायता या पुष्टिपर निर्भर नहीं करती। अतिमानसिक बुद्धिका भी अपना एक प्रकारका तर्क है, पर उसका कार्य परीक्षा या छानबीन करना, पुष्ट एवं प्रमाणित करना या भूलको ढूंढ़ निकालना और दूर करना नहीं है। उसका कार्य तो बस ज्ञानको ज्ञानसे जोड़ना, सामंजस्योंको और व्यवस्था एवं संवन्धोंको खोजना और उपयोगमें लाना है तथा अतिमानसिक ज्ञानकी क्रियाको व्यवस्थित करना है। यह कार्य वह किसी रूढ़ नियम या अनुमान-रचनाके द्वारा नहीं करता बल्कि श्रृंखला और संबंधको सीधे, जीवन्त और प्रत्यक्ष रूपमें देखकर तथा स्थापित करके करता है। अतिमानसमें समस्त विचार अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणा या साक्षात्कारके ढंगका होता है और ज्ञानकी सारी कमी इन्हीं शक्तियोंकी और आगेकी क्रियासे पूरी करनी होती है; भूलका निवारण एक सहजस्फूर्त एवं प्रकाशमय विवेककी क्रियाके द्वारा किया जाता है; वहाँ गति सदा ज्ञानसे ज्ञानकी ओर ही होती है। वह हमारी मानवीय परिभाषामें बौद्धिक नहीं है, बल्कि अतिबौद्धिक है,—जिस कार्यको मनोमय बुद्धिके द्वारा स्खलनशील एवं अपूर्ण रूपसे करनेकी चेष्टाकी जाती है उसे वह प्रभुत्वपूर्ण ढंगसे करता है।

विज्ञानमय बुद्धिके ऊपर ज्ञानके जो स्तर हैं, जो उसे ऊपर उठाकर अतिक्रम कर जाते हैं, उनका सम्यक् वर्णन करना संभव नहीं। यहाँ उनके वर्णनका प्रयास करनेकी आवश्यकता भी नहीं है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन भूमिकाओंमें ज्ञान-प्राप्तिकी प्रक्रिया अपनी ज्योतिमें अपेक्षाकृत अधिक स्वयं-पूर्ण, गभीर और विशाल है, साथ ही वह अटल है और क्षण-मात्रमें संपन्न हो जाती है। इनमें सक्रिय ज्ञानका क्षेत्र अधिक विशाल है, इनकी पद्धति तादात्म्यलभ्य ज्ञानके अधिक निकट है, इनमें जो विचार उद्भुत होता है वह आत्मचैतन्य और सर्व-दृष्टिके ज्योतिर्मय तत्त्वसे अधिक ठसाठस भरा होता है और निम्न कोटिके किसी अन्य आश्रय या सहायतासे, अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूपमें, स्वतंत्र होता है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये लक्षण अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी तीव्रतम क्रियापर भी पूरी तरहसे नहीं घटते, बल्कि वहाँ ये अपनी आरंभिक झाँकियोंमें ही दिखायी देते हैं। जबतक अतिमानसिक सत्ता केवल निर्माणकी

प्रक्रियामें होती है और उसके नीचे मानसिक क्रियाकी धारा वह रही होती है या वह उसके साथ मिली या उससे घिरी रहती है तबतक ये लक्षण पूर्ण या विशुद्ध रूपसे प्रकट हो भी नहीं सकते। जब मानसिक सत्ताका अतिक्रमण हो जाता है और वह निष्क्रिय-नीरवतामें डूब जाती है तभी अति-मानसिक विज्ञान पूर्णतया अनावृत होकर अपनी प्रभुत्वपूर्ण और सर्वांगीण क्रिया कर सकता है।

चौबीसवाँ अध्याय

अतिमानसिक इन्द्रिय

अतिमानसिक शक्तिकी क्रियामें मानसिक चेतनाके सब करणोंकी अपनी अनुरूप शक्तियाँ हैं और मनकी सभी क्रियाओंके अनुरूप क्रियाएँ भी हैं और वहाँ मानवके ये सब करण और क्रियाएँ उन्नत एवं रूपान्तरित हो जाती हैं, परन्तु वहाँ इनकी प्रधानता एवं आवश्यक महत्ताका क्रम बिलकुल उलट जाता है। जैसे एक अतिमानसिक चिंतन-शक्ति तथा अतिमानसिक मूल-चेतना है वैसे ही एक अतिमानसिक इन्द्रिय भी है। इन्द्रिय, मूलतः, शरीरके किन्हीं विशेष अंगोंकी नहीं है, बल्कि वह चेतनाका अपने विषयोंके साथ संपर्क, संज्ञान, है।

जब किसी व्यक्तिकी चेतना पूर्णतया अपने अन्दर मुड़ी होती है तो वह केवल अपने-आपसे, अपनी सत्ता और चेतनासे, अपनी सत्ताके आनन्द और सत्ताकी एकाग्र शक्तिसे ही सचेतन होता है, और इन चीजोंके भी बाह्य रूपोंसे नहीं, बल्कि मूलतत्वसे। जब वह इस आत्म-निमज्जनसे बाहर निकलता है, तो वह अपनी सत्ता, चेतना, आनन्द और शक्तिके व्यापारों एवं रूपोंसे सचेतन हो जाता है अथवा वह इन्हें अपने आत्म-निमज्जनमेंसे मुक्त या विकसित करता है। तब भी, विज्ञानमय भूमिकामें, उसका प्राथमिक (अर्थात् रूपों और क्रियाओंके संबंधमें) ज्ञान एक ऐसे ढंगका रहता है जो आत्माकी स्व-चेतनताके लिये, एकमेव तथा अनन्तके आत्मज्ञानके लिये स्वाभाविक होता है और उसकी विशेषताओंसे पूर्णतया युक्त होता है। यह एक ऐसा ज्ञान होता है जो अपने सब विषयों, रूपों और कार्योंको जानता है, अपनी अनन्त आत्मामें उनसे सचेतन होकर यह उन्हें व्यापक रूपसे जानता है, उनके अन्दर उनकी आत्माके रूपमें सचेतन होकर यह उन्हें घनिष्ठ रूपसे जानता है, उन्हें अपनी सत्ताके साथ एकात्म अनुभव करके वह उन्हें पूर्ण एवं समग्र रूपसे जानता है। उसके अन्य सब प्रकारके ज्ञान इस तादात्म्य-लब्ध ज्ञानसे उदित होते हैं, इसके अंग या इसकी क्रियाएँ होते हैं, या कम-से-कम अपनी सत्यता और ज्योतिके लिये उसपर निर्भर करते हैं, अपनी पृथक् कार्य-प्रणालीमें भी उसीसे प्रभावित और पोषित होते हैं और उसे अपना प्रमाण एवं उद्गम मानकर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे उसीका आश्रय लेते हैं।

जो क्रिया इस तात्विक तादात्म्यलभ्य ज्ञानके सबसे निकट होती है वह एक विशाल सर्वग्राही चेतना ही होती है। यह चेतना अतिमानसिक शक्तिके लक्षणोंसे विशेषतया युक्त होती है। यह ज्ञानके अन्दर निहित समस्त सत्य एवं विचारको और ज्ञानके समस्त विषयको अपने अन्दर ग्रहण कर लेती है और उनके मूलतत्व एवं समग्रताको तथा उनके खण्डों या पक्षोंको एक साथ देखती है,--**विज्ञान**। इसकी क्रिया एक समग्र दर्शन एवं ग्रहणकी क्रिया है; यह विज्ञानमय पुरुषमें विषयका व्यापक ज्ञान तथा उसपर अधिकार है। यह चेतनाके विपयको अपनी सत्ताके एक भागके रूपमें या अपने साथ एकीभूत पदार्थके रूपमें अपने अन्दर धारण करती है। यह एकत्व ज्ञान-प्राप्तिकी क्रियामें स्वयंस्फूर्त तथा प्रत्यक्ष रूपसे अनुभूत होता है। विज्ञानकी एक अन्य क्रिया तादात्म्यलब्ध ज्ञानको अपेक्षाकृत पृष्ठभूमिमें रख छोड़ती है और ज्ञात पदार्थकी विषयता (वाह्यता)पर अधिक वल देती है। उसकी विशिष्ट क्रिया, मनमें अवतरित होती हुई, हमारे मानसिक ज्ञानके विशेप स्वरूप, **प्रज्ञान**, का स्रोत वन जाती है। मनके स्तरपर प्रज्ञा (प्रज्ञान)की क्रियामें शुरू-शुरूमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञातके वीच पार्थक्य एवं भेद रहता है; पर अतिमानसमें इसकी क्रिया अभी अनन्त तादात्म्यमें या कम-से-कम वैश्व एकत्वमें ही होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि विज्ञानमय पुरुप चेतनाके विषयको मूल एवं सनातन एकत्वकी अधिक प्रत्यक्ष निकटताकी स्थितिसे कुछ दूर, किन्तु सदा अपने अन्दर ही रखने तथा उसे पुनः एक और ढंगसे जाननेमें आनन्द लेता है जिससे कि वह उसके साथ परस्पर-क्रियाके नानाविध संवंध स्थापित कर सके जो कि चेतनाकी लीलाकी समस्वरतामें इतने सारे गौण स्वर (तार) होते हैं। इस अतिमानसिक प्रज्ञा, **प्रज्ञान**,की क्रिया अतिमानसकी एक गौण, तीसरे दर्जेकी क्रिया बन जाती है जिसकी पूर्णताके लिये विचार और शव्दकी आवश्यकता पड़ती है। उसकी प्रथम क्रियाका स्वरूप तादात्म्यलव्ध ज्ञानका या चेतनाके अन्दर व्यापक रूपसे धारण कर लेनेका होता है और अतएव, वह अपने-आपमें पूर्ण होती है तथा उसे रूप ग्रहण करनेके लिये इन साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती। अतिमानसिक प्रज्ञा, **प्रज्ञान**,का स्वरूप है सत्यका दर्शन, सत्यका श्रवण और सत्यका स्मरण। यद्यपि वह एक प्रकारसे स्वतः पर्याप्त हो सकती है तथापि वह विचार और शव्दके द्वारा, जो उसे अभिव्यक्तिमय रूप देते हैं, अपने-आपको अधिक समृद्धतया पूर्ण अनुभव करती है।

अन्तमें, अतिमानसिक चेतनाकी चौथी क्रियाके द्वारा अतिमानसिक

ज्ञानकी नानाविध संभावनाएँ अपनी पूर्णता प्राप्त करती हैं। यह क्रिया ज्ञात वस्तुकी बाह्यतापर और भी अधिक बल देती है, उसे अनुभव करनेवाली चेतनाके केन्द्र-स्थानसे दूर रखती है और फिर एक एकत्वसाधक संपर्कके द्वारा उसे निकट ले आती है। यह संपर्क या तो अव्यवहित समीपता, स्पर्श एवं मिलनके द्वारा साधित होता है अथवा, कुछ कम निकटताके साथ, चेतनाके सेतुको पार करके या उसकी संबंध जोड़नेवाली धाराके द्वारा स्थापित किया जाता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सत्के साथ, प्रत्यक्ष सत्ताओं, वस्तुओं, रूपों, शक्तियों एवं क्रियाओंके साथ संपर्क स्थापित करना, जड़तत्वके भेद-विभेदोंमें तथा स्थूल करणोंके द्वारा नहीं, वरन् अतिमानसिक सत्ता और शक्तिके उपादानमें इनके साथ संपर्क स्थापित करना ही अतिमानसिक इन्द्रियके व्यापार, **संज्ञान**,को गठित करता है।

मानव-मनको, जो अभी अपने अनुभवका विस्तार करके अतिमानसिक इन्द्रियसे परिचित नहीं बना है, इस (इन्द्रिय)का स्वरूप समझाना कुछ कठिन है, क्योंकि इन्द्रियके व्यापारके विषयमें हमारा विचार स्थूल मनके सीमाकारी अनुभवके द्वारा शासित है और हम यह समझते हैं कि इसमें मूल वस्तु वह प्रभाव है जो बाह्य पदार्थके द्वारा आँख, कान, नाक, त्वचा वा रसना-रूपी स्थूल इन्द्रियपर पड़ता है, और फिर यह है कि हमारी चेतनाके वर्तमान प्रधान करण, मन, का काम केवल स्थूल प्रभाव एवं उसके स्नायविक रूपान्तरको ग्रहण करना और इस प्रकार पदार्थके प्रति बौद्धिक रूपसे सचेतन बनना है। इन्द्रिय (व्यापार)के अतिमानसिक रूपान्तरको समझनेके लिये हमें पहले यह हृदयंगम करना होगा कि पदार्थको जाननेकी स्थूल प्रक्रियामें भी मन ही एकमात्र वास्तविक इन्द्रिय है : स्थूल प्रभावोंके प्रति उसकी अधीनता पार्थिव विकासकी परिस्थितियोंका परिणाम है, पर यह कोई मौलिक एवं अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। मन देखनेकी एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर सकता है जो स्थूल आँखसे स्वतंत्र हो, सुननेकी भी एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर सकता है जो स्थूल कानसे स्वतंत्र हो और यही बात अन्य सब इन्द्रियोंकी क्रियाके बारेमें भी समझनी चाहिये। वह ऐसे पदार्थोंका भी अनुभव प्राप्त कर सकता है जिनका ज्ञान या संकेततक स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त नहीं होता। हमें ऐसा लगता है कि ऐसे अनुभवकी प्राप्तिमें वह, उसपर पदार्थके जो संस्कार पड़ते हैं उनके द्वारा, कार्य करता है। वह ऐसे संबंधों, घटनाओं एवं रूपोंतककी ओर और शक्तियोंकी क्रियाकी ओर भी उद्घाटित हो सकता है जिनकी साक्षी स्थूल इन्द्रियाँ नहीं दे सकती थीं। तब, इन दुर्लभतर शक्तियोंसे सचेतन होकर,

हम कहते हैं कि मन छठी इन्द्रिय है; पर सच पूछो तो यही एकमात्र वास्तविक इन्द्रिय है और शेष इन्द्रियाँ इसके वाह्य, सुविधाजनक साधनों एवं गौण उपकरणोंसे अधिक कुछ नहीं हैं, यद्यपि इसके उनपर निर्भर करनेके कारण, वे इसे सीमित करनेवाली तथा इसकी अत्यंत अपरिहार्य और एकमात्र संदेशवाहिका बन बैठी हैं। अपि च, हमें यह भी अनुभव करना होगा—और इस विषयमें हमारे जो सामान्य विचार हैं उनके लिये यह स्वीकार करना अधिक कठिन है—कि स्वयं मन भी इन्द्रिय (संज्ञान)का एक विशेष करणमात्र है, किन्तु इन्द्रियका विशुद्ध स्वरूप, स्वयं इन्द्रिय, अर्थात् **संज्ञान** मनके पीछे और परे अवस्थित है और इसका (एक करणके रूपमें) प्रयोग करता है। यह संज्ञान आत्माकी ही एक क्रिया है, उसके चैतन्यकी असीम शक्तिकी एक सीधी और मौलिक गति है। इन्द्रियकी विशुद्ध क्रिया एक आध्यात्मिक क्रिया है और स्वयं विशुद्ध इन्द्रिय भी आत्माकी ही एक शक्ति है।

आध्यात्मिक इन्द्रिय सभी वस्तुओंका, वे चाहे कोई भी क्यों न हों, चाहे जड़ वस्तुएँ हों या वे जो हमारे लिये अजड़ हैं—सभीका तथा सब रूपोंका और रूपातीतका ज्ञान अपने विशिष्ट ढंगसे प्राप्त कर सकती है। यह ढंग अतिमानसिक विचारके, अथवा प्रज्ञा या आध्यात्मिक समग्रबोध, अर्थात् **विज्ञान**, किंवा तादात्म्यलभ्य ज्ञानके ढंगसे भिन्न होता है। कारण, सभी वस्तुएँ सत्के आध्यात्मिक उपादानसे, चिच्छक्ति और आनन्दके आध्यात्मिक उपादानसे बनी हुई हैं; और आध्यात्मिक इन्द्रिय, विशुद्ध संज्ञान,का अभिप्राय है चिन्मय सत्ताको अपने आत्माके सर्वत्र विस्तृत उपादानके स्पर्शका, उसकी पदार्थताका भान होना और साथ ही इस उपादानके अन्दर उस सबका भी भान होना जो इस अनन्त या विराट् तत्वसे बना है। हम आत्मा, 'पुरुष', भगवान् एवं अनन्तको केवल सचेतन तादात्म्यके द्वारा, सत्ताके, मूलतत्वों और पक्षोंके, शक्ति, लीला और क्रियाके आध्यात्मिक समग्र-बोधके द्वारा, अपरोक्ष, आध्यात्मिक, अतिमानसिक एवं बोधिमूलक विचारमय ज्ञानके द्वारा, हृदयके अध्यात्म-प्रकाशित एवं विज्ञान-आलोकित वेदन, प्रेम और आनन्दके द्वारा ही नहीं जान सकते, वरन् अत्यंत शाब्दिक अर्थमें उसका इन्द्रियानुभव-इन्द्रिय-ज्ञान या संवेदन—भी प्राप्त कर सकते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद्में एक ऐसी स्थितिका वर्णन आया है जिसमें व्यक्ति सब प्रकारसे ब्रह्मको और केवल ब्रह्मको ही देखता और सुनता है, अनुभव और स्पर्श करता तथा मात्र स्पर्शोंके द्वारा जानता है, क्योंकि तब सभी पदार्थ चेतनाके लिये ब्रह्म ही बन गये होते हैं और उनका उससे

भिन्न, पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता। यह स्थिति कोई अलंकारमात्र नहीं है, बल्कि विशुद्ध इन्द्रियकी आधारभूत क्रियाका, शुद्ध संज्ञानके आध्यात्मिक विषयका यथायथ वर्णन है। यह मूल क्रिया हमारे अनुभवके लिये इन्द्रियकी एक रूपान्तरित, महिमान्वित और अनन्तानन्द-पूर्ण क्रिया है, आत्माका अपने अन्दर, चारों ओर तथा सर्वत्र प्रत्यक्षानुभव है, जिसका प्रयोजन उसकी विराट् सत्तामें विद्यमान सभी वस्तुओंका आलिंगन और स्पर्श करना तथा उनका ऐन्द्रिय संवेदन प्राप्त करना होता है। इस क्रियामें हम एक अत्यंत मर्मस्पर्शी एवं आनन्दपूर्ण ढंगसे 'अनन्त'का तथा उसके अन्दर जो कुछ भी है उस सबका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही, समस्त सत्ताके साथ अपनी सत्ताके घनिष्ठ संपर्कके द्वारा हम उस सबका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो कुछ कि इस विश्वमें है।

अतिमानसिक इन्द्रियकी क्रिया इन्द्रिय-विषयक इस वास्तविक सत्यपर आधारित है; वह इस शुद्ध, आध्यात्मिक, अनन्त, निरपेक्ष **संज्ञान**की एक व्यवस्थित क्रिया है। इन्द्रियके द्वारा कार्य करता हुआ अतिमानस सभी चीजोंको भगवान्के रूपमें तथा भगवान्के अन्दर अनुभव करता है, सब पदार्थोंको अनन्तके व्यक्त स्पर्श, रूप, शब्द, रस और गन्धके रूपमें, अनन्तके अनुभूत, दृष्ट एवं साक्षात्कृत उपादान, बल, शक्ति, क्रिया एवं लीलाके रूपमें उसके अनुप्रवेश (व्यापकता), स्पन्दन, रूप, सामीप्य, दबाव, तथा वास्तविक आदान-प्रदानसे युक्त पदार्थोंके रूपमें अनुभव करता है। उसके इन्द्रियानुभवके लिये कोई भी चीज अनन्त ब्रह्मसे स्वतंत्र रूपमें अस्तित्व नहीं रखती, वरन् सब कुछ एक ही सत्ता एवं गतिके रूपमें अनुभूत होता है और प्रत्येक वस्तु यों प्रतीत होती है कि वह शेष सबसे विभक्त नहीं हो सकती तथा अपने अन्दर संपूर्ण 'अनन्त'को, संपूर्ण भगवान्को धारण किये है। इस अतिमानसिक इन्द्रियको केवल रूपोंका ही नहीं, बल्कि शक्तियोंका और पदार्थोंमें विद्यमान ऊर्जा एवं गुणका तथा उस दिव्य वस्तु एवं उपस्थितिका भी साक्षात् वेदन एवं अनुभव होता है जो उनके अन्दर और चारों ओर विद्यमान है और जिसके अन्दर वे (सब पदार्थ), अपने गुप्त सूक्ष्म स्वरूप और तत्वोंमें, अपने-आपको खोलते तथा विस्तारित करते हैं और इस प्रकार असीमके अन्दर विस्तृत होकर उसके साथ एक हो जाते हैं। अतिमानसिक इन्द्रियके लिये ऐसा कुछ भी नहीं है जो वस्तुतः सान्त हो : वह प्रत्येकमें सबको और सबमें प्रत्येकको अनुभव करती है और इस अनुभवपर ही अपना आधार रखती है। अतिमानसद्वारा की हुई अतिमानसिक इन्द्रिय-बोधकी व्याख्या यद्यपि मानसिक व्याख्यासे अधिक

यथार्थ एवं पूर्ण होती है तथापि वह सीमाकी दीवारें नहीं खड़ी करती। वह एक महासागर एवं आकाश-जैसी इन्द्रिय है जिसमें तत्तत्, प्रत्येक इन्द्रिय-बोध एवं संवेदन एक ऐसी तरंग या गति या फुहार या विन्दु होता है जो विन्दु होनेपर भी संपूर्ण सागरका एक घनीभूत रूप होता है और जिसे सागरसे पृथक् नहीं किया जा सकता। उसकी क्रिया सत्ता और चेतनाको ज्योति, शक्ति और आनन्दके आकाशातीत आकाशमें, उपनिषदोंके आनन्द-आकाशमें विस्तारित और स्पन्दित करनेके परिणामके रूपमें उत्पन्न होती है। यह आनन्द-आकाश परमात्माकी विश्वमय अभिव्यक्तिका साँचा और आधार है,—यहाँ देह और मनमें सीमित विस्तारों और स्पन्दनोंमें ही अनुभूत होता है,—और उसके वास्तविक अनुभवका माध्यम भी है। यह इन्द्रिय-चेतना (संज्ञान) अपनी निम्नतम शक्तिमें भी एक ऐसी सत्योद्भासक ज्योतिसे प्रकाशमान होती है जो अपने अनुभवमें आनेवाली वस्तुके रहस्यको अपने अन्दर धारण करती है और अतएव शेष सारे अतिमानसिक ज्ञानका,—अतिमानसिक विचार, आध्यात्मिक प्रज्ञा और समग्रबोध, सचेतन तादात्म्यका,—आरंभ-बिन्दु एवं आधार बन सकती है। अपनी उच्चतम भूमिकामें या अपनी क्रियाकी अतिशय तीव्रताकी अवस्थामें यह (इन्द्रिय-चेतना) इन वस्तुओंकी ओर खुलती है या इन्हें अपने अन्दर धारण किये रहती और अपने अन्दरसे तुरन्त मुक्त भी करती है। यह एक ऐसी ज्योतिर्मय शक्तिसे संपन्न है जो अपने अन्दर आत्म-साक्षात्कारकी शक्ति तथा एक अतिशय तीव्र या असीम फलसाधकताको धारण करती है, और अतएव यह इन्द्रियानुभव आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक संकल्प और ज्ञानकी सर्जनशील या चरितार्थताकारी क्रियाकी प्रेरणाका आरंभ-विन्दु हो सकता है। यह एक ऐसे शक्तिशाली और ज्योतिर्मय आनन्दकी मस्तीसे भरी होती है जो इसे अर्थात् समस्त इन्द्रियानुभव एवं संवेदनको दिव्य एवं अनन्त आनन्दकी कुंजी या उसका पात्र वना देता है।

अतिसमानसिक इन्द्रिय-चेतना अपनी निज शक्तिसे कार्य कर सकती है और अपने कार्यके लिये वह शरीर, स्थूल प्राण और वाह्य मनपर निर्भर नहीं करती तथा वह आन्तर मन और उसके अनुभवोंके भी ऊपर स्थित है। वह सभी वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त कर सकती है, चाहे वे किसी भी लोक या किसी भी स्तरकी क्यों न हों अथवा वैश्व चेतनाके किसी भी रूपायणके अन्तर्गत क्यों न हों। समाधिकी तन्मयावस्थामें भी वह स्थूल जगत्की वस्तुओंसे सचेतन हो सकती है, वे जैसी हैं या स्थूल इन्द्रियोंको जैसी प्रतीत होती हैं उस रूपमें उन्हें ठीक वैसे ही जान सकती है जैसे

कि वह अनुभवकी अन्य अवस्थाओंको, अर्थात् पदार्थोंके शुद्ध-प्राणिक, मानसिक, चैत्य एवं अतिमानसिक रूपको जानती है। भौतिक चेतनाकी जाग्रत् अवस्थामें वह हमारे सामने ऐसी चीजोंको भी प्रस्तुत कर सकती है जो हमारी सीमित ग्रहणशीलतासे छुपी हुई हैं या स्थूल इन्द्रियोंके क्षेत्रसे परे हैं, उदाहरणार्थ, सुदूरस्थित आकारों, दृश्यों एवं घटनाओंको, उन पदार्थोंको जो भौतिक सत्तामेंसे विलुप्त हो चुके हैं; अथवा उन्हें जो अभी भौतिक अस्तित्वमें आये ही नहीं हैं, जैसे, प्राणिक, चैत्य, मानसिक, अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक लोकोंके दृश्यों, आकारों, घटनाओं तथा -प्रतीकोंको——इन सबको वह इनके वास्तविक या अर्थपूर्ण सत्यमें तथा इनके बाह्य रूपमें प्रस्तुत कर सकती है। वह इन्द्रिय-चेतनाकी अन्य सब अवस्थाओंको तथा उनकी उपयुक्त इन्द्रियों एवं करणोंको भी प्रयुक्त कर सकती है और इस प्रकार उनमें उस चीजकी वृद्धि कर सकती है जो उनमें नहीं है, उनकी भूलोंको सुधारकर उनकी कमियोंको पूरा कर सकती है : क्योंकि वह इन्द्रिय-चेतनाकी अन्य अवस्थाओंका उद्गम है और वे तो इस उच्चतर इन्द्रिय-चेतनासे, इस सच्चे और असीम **संज्ञान**से उद्भूत निम्न क्रियाएँ मात्र हैं।

2

यदि चेतनाका स्तर मनसे अतिमानसतक उठ जाय और उसके परिणामस्वरूप हमारी सत्ता मनोमय पुरुषकी अवस्थासे विज्ञानमय पुरुषकी अवस्थामें रूपान्तरित हो जाय तो इसके साथ ही, इस अवस्थाके पूर्ण होनेके लिये, प्रकृतिके सभी भागों और उसकी समस्त क्रियाओंका रूपान्तर हो ही जायगा। हमारा सारा मन अतिमानसिक क्रियाओंकी एक निष्क्रिय प्रणालिका, प्राण और शरीरके अन्दर उनके अधः-प्रवाहकी और साथ ही उनके बहिः-प्रवाहकी या बाह्य जगत् अर्थात् जड़ सत्ताके साथ उनके आदान-प्रदानकी प्रणालिका बन जाता है——यह तो प्रक्रियाकी केवल पहली अवस्था है। इसके साथ ही वह स्वयं तथा उसके सब उपकरण भी विज्ञानमय बन जाते हैं। तदनुसार स्थूल इन्द्रियानुभवमें भी एक परिवर्तन, एक गहन रूपान्तर हो जाता है, स्थूल अवलोकन; श्रवण और स्पर्श आदिका भी अतिमानसीकरण हो जाता है जो जीवन और उसके प्रयोजनके ही नहीं वरन् जड़ जगत् और उसके सभी रूपों तथा पक्षोंके भी एक सर्वथा भिन्न दृश्यकी सृष्टि करता है या उसे हमारे समक्ष प्रकट करता है। अतिमानस भौतिक करणोंका प्रयोग करता तथा उनकी कार्यप्रणालीको संपुष्ट करता है, पर वह उनके

पीछे उन आभ्यंतर एवं गहनतर इन्द्रियोंको विकसित करता है जो स्थूल इन्द्रियोंसे छिपे हुए पदार्थोंको भी देखती हैं तथा आगे चलकर वह इस प्रकार सृष्ट हुए नये चक्षु, श्रोत्र आदिको भी अपने साँचेमें एवं इन्द्रियानुभव करनेकी अपनी प्रणालीमें ढालकर रूपान्तरित कर देता है। यह एक ऐसा रूपान्तर होता है जो पदार्थके भौतिक सत्यमेंसे कुछ भी कम नहीं करता, वरन् अपना अतिभौतिक सत्य उसमें जोड़ देता है और अनुभवके भौतिक ढंगमें जो मिथ्यात्व-का अंश है उसे वह उसकी भौतिक सीमाको दूर करके निकाल डालता है।

भौतिक इन्द्रियोंके अतिमानसीकरणका जो परिणाम हमारे सामने आता है वह इस (इन्द्रियानुभव-रूपी) क्षेत्रमें उस परिणामके सदृश ही होता है जो कि चिन्तन एवं मानसिक चेतनाके रूपान्तरके क्षेत्रमें हमारे अनुभवमें आता है। उदाहरणार्थ, ज्योंही हमारी दृष्टि अतिमानसिक अवलोकनके प्रभावमें आकर परिवर्तित होती है त्योंही हमारे चक्षुको पदार्थोंका तथा हमारे चारों ओरके जगत्का एक नया एवं रूपान्तरित साक्षात्कार प्राप्त होने लगता है। उसकी दृष्टिको एक असाधारण समग्रता तथा आशु एवं सर्वग्राही यथार्थता प्राप्त हो जाती हैं। इस समग्रता एवं यथार्थतामें वस्तुका समग्र रूप तथा उसका प्रत्येक ब्योरा तुरंत ही उस पूर्ण सामंजस्यके साथ तथा उस गूढ़ आशयकी स्पष्टताके साथ प्रकट हो उठते हैं जो प्रकृतिको उस वस्तुके अन्दर अभिप्रेत होते हैं तथा जिन्हें वह, अन्नमय सत्तापर विजय पाकर वस्तुके रूपके अन्दर अपने एक विचारको मूर्तिमन्त करती हुई, प्रकट करना चाहती है। यह तो ऐसा होता है मानों हमारी धुंधली या क्षुद्र एवं अन्ध साधारण दृष्टिका स्थान किसी कवि और कलाकारकी आँखने ले लिया हो, पर वह स्वयं भी अद्भुत रूपसे आध्यात्मिक एवं महिमान्वित हो गयी हों,—मानों कि जिस दृष्टिमें हम भाग ले रहे हैं वह, वास्तवमें, परम दिव्य कवि एवं कलाकारकी ही दृष्टि हो और विश्वकी तथा विश्वगत प्रत्येक वस्तुकी योजनामें उसका जो सत्य एवं आशय अन्तर्निहित हैं उनका पूर्ण साक्षात्कार हमें प्रदान कर दिया गया हो। इस अतिमानसिक दृष्टिमें एक असीम प्रकर्ष एवं प्रखरता होती है जो, हम जो कुछ भी देखते हैं उस सबको गुण, विचार, रूप और रंगकी गरिमाकी एक अभिव्यक्ति बना देती है। तब भौतिक आँख अपने अन्दर एक ऐसी आत्मा एवं चेतनाको धारण करती प्रतीत होती है जो पदार्थके केवल भौतिक पहलूको ही नहीं देखती बल्कि उसके अन्तर्निहित गुणकी आत्माको, शक्तिके स्पन्दनको तथा उन ज्योति, शक्ति और आध्यात्मिक उपादानको भी देखती है जिनसे कि वह पदार्थ बना हुआ है। स प्रकार, ऐन्द्रिय-प्रत्यक्षके भीतर और पीछे

जो समग्र इन्द्रिय-चेतना विद्यमान है उसे, भौतिक इन्द्रियके द्वारा, दृष्ट वस्तुकी आत्माका तथा उस विश्वात्माका साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है जो अपनी ही चेतन सत्ताके इस वहिर्गत रूपमें अपने-आपको प्रकट कर रहा है।

इसके साथ ही एक सूक्ष्म परिवर्तन भी घटित होता है जो आँखको एक प्रकारके चौथे दिङ्मानमें देखनेकी सामर्थ्य देता है। इस दिङ्मानका विशेष लक्षण है एक प्रकारकी अन्तर्मुखता, उपरितल एवं वाह्य रूपको ही नहीं वल्कि उस तत्त्वको भी देखना जो इसे अनुप्राणित करता है तथा इसके चारों ओर सूक्ष्म रूपसे फैला रहता है। जड़ पदार्थ इस दृष्टिके लिये उससे भिन्न कोई चीज वन जाता है जिसे हम इस समय देखते हैं, वह शेष प्रकृतिकी पृष्ठभूमिपर या उसके घेरेके अन्दर एक पृथक् पदार्थ नहीं रहता, वरन् हम जो कुछ भी देखते हैं उस सवकी एकताका एक अविभाज्य अंग तथा एक सूक्ष्म रूपमें उसकी एक अभिव्यक्ति तक वन जाता है। और यह एकता, जिसका हमें साक्षात्कार होता है, केवल सूक्ष्मतर चेतनाको ही नहीं वल्कि स्वयं कोरे चर्मचक्षुको एवं आलोकित स्थूल दृष्टिको भी 'सनातन'की अभेदमयता, ब्रह्मकी अद्वैतात्मकताके रूपमें प्रत्यक्ष होने लगती है। कारण, अतिमानसीकृत दृष्टिके लिये जड़ जगत्, 'देश' और जड़ पदार्थ उस अर्थमें जड़ नहीं रहते जिस अर्थमें हम उन्हें आज अपनी सीमित स्थूल इन्द्रियोंकी और उनके द्वारा देखनेवाली भौतिक चेतनाकी एकमात्र साक्षीके वलपर अपने स्थूल प्रत्यक्षके द्वारा ग्रहण करते हैं तथा जड़तत्व-विषयक अपनी परिकल्पनाके द्वारा समझते हैं। यह जड़ जगत् एवं 'देश' और ये पदार्थ साक्षात् आत्मा ही प्रतीत होते एवं दिखाई देते हैं—ऐसा आत्मा जो अपने ही एक रूपमें तथा अपने चेतन विस्तारमें यहाँ विद्यमान है। सव कुछ ही एक अखण्ड एकत्व है—ऐसा एकत्व जो पदार्थों और व्योरोंकी किसी भी वहुलता से प्रभावित नहीं होता। इस एकत्वको चेतना अपने अन्दर आत्मिक आकाशमें धारण करती है और वहाँ समस्त उपादान चेतन उपादान है। देखनेके ढंगका यह रूपान्तर एवं उसकी यह समग्रता हमें अपने वर्तमान स्थूल चक्षुकी सीमाओंको पार करनेसे ही प्राप्त होती हैं, क्योंकि सूक्ष्म या चैत्य आँखकी शक्ति हमारी स्थूल आँखमें संचारित हो जाती है और फिर दृष्टिकी इस चैत्य-भौतिक शक्तिमें आध्यात्मिक दृष्टि, शुद्ध इन्द्रिय-शक्ति, अतिमानसिक संज्ञान संचारित हो जाता है।

अन्य सव इन्द्रियोंका भी इसी प्रकारका रूपान्तर हो जाता है। कान जो कुछ भी सुनता है वह सव अपनी नाद-रूपी देहकी तथा नादके गर्भित अर्थकी समग्रताको और अपने कंपनके सभी सुरोंको प्रकाशित कर देता है।

साथ ही वह एक ही अखण्ड एवं पूर्ण श्रवणके प्रति नादके गुण, उसकी लयात्मक शक्ति और आत्माको तथा उसके द्वारा होनेवाली एकमेव विराट् आत्माकी अभिव्यक्तिको भी प्रकाशित कर देता है। यहाँ भी वैसी ही आन्तरिकता पायी जाती है, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय ध्वनिकी गहराइयोंमें जाती है और वहाँ उस चीजको ढूंढ निकालती है जो ध्वनिको अनुप्राणित करती है तथा उसे विस्तृत करके समस्त ध्वनि एवं समस्त नीरवताकी स्वर-सुषमाके साथ एकत्वमें प्रतिष्ठित कर देती है, फलतः श्रोत्र सदा ही अनन्तकी श्रवण-गोचर अभिव्यक्तिका एवं उसकी नीरवताकी वाणीका श्रवण करता रहता है। विज्ञानमय रूपान्तरको प्राप्त श्रोत्रके लिये सब ध्वनियां भगवान्‌की वाणी बन जाती हैं जो उस ध्वनिके भीतर स्वयं प्रादुर्भूत होता है, और साथ ही वे उसे वैश्व स्वर-संगतिकी एकतानतामें लयतालके रूपमें अनुभूत होती हैं। और यहाँ भी वैसी ही पूर्णता, सजीवता, तीव्रता, श्रुत शब्दकी आत्माकी अभिव्यक्ति तथा श्रवण-क्रियामें आत्माकी आध्यात्मिक तृप्ति अनुभवमें आती हैं। विज्ञानभावापन्न स्पर्शेन्द्रिय भी सब वस्तुओंमें भगवान्‌का संपर्क प्राप्त करती है अथवा सबमें उन्हींको स्पर्श करती है और स्पर्शमें विद्यमान अपनी सचेतन सत्ताके द्वारा सब वस्तुओंको भगवान्‌के रूपमें ही अनुभव करती है : और यहाँ भी वैसी ही समग्रता एवं तीव्रता पायी जाती है तथा स्पर्शके अन्दर और पीछे जो कुछ भी विद्यमान है वह सब अनुभव-कारिणी चेतनाके समक्ष प्रकाशित हो उठता है। अन्य इन्द्रियोंका भी इसी प्रकारका रूपान्तर हो जाता है।

इसके साथ ही सभी इन्द्रियोंमें नयी शक्तियाँ खुल जाती हैं, उनका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तथा भौतिक चेतना एक अतर्कित क्षमताकी सीमा-तक विस्तृत हो जाती है। अतिमानसिक रूपान्तर भौतिक चेतनाको शरीरकी सीमाओंसे बहुत ही परेतक विस्तृत कर देता है और उसे दूरस्थ वस्तुओंका स्थूल स्पर्श पूर्ण मूर्तताके साथ प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। स्थूल इन्द्रियाँ चैत्य तथा अन्य इन्द्रियोंके लिये प्रणालिकाओंका कार्य करनेमें समर्थ बन जाती हैं। फलतः, जो चीजें साधारणतः केवल असामान्य अवस्थाओंमें तथा चैत्य अवलोकन, श्रवण या अन्यविध इन्द्रिय-ज्ञानके प्रति ही प्रकाशित होती हैं उन्हें भी हम जाग्रत् अवस्थामें स्थूल चक्षुसे देख सकते हैं। ऐसे समयोंमें वस्तुतः अध्यात्मसत्ता या अन्तरात्मा ही देखती और ऐन्द्रियबोध प्राप्त करती है, पर स्वयं शरीर और उसकी शक्तियाँ भी अध्यात्ममय बन जाती हैं और अनुभवमें प्रत्यक्ष रूपसे भाग लेती हैं। इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले समस्त भौतिक संवेदनका विज्ञानमय रूपान्तर हो जाता है और

इन्द्रियाँ शक्तियों एवं गतियोंको तथा पदार्थों और प्राणियोंके भौतिक, प्राणिक, भाविक एवं मानसिक स्पन्दनोंको सीधे ही अनुभव करने लगती हैं, इस अनुभवमें स्थूल रूपसे भाग लेती हैं और अन्तमें तो वे इन चीजोंको सूक्ष्मतर करणोंके साथ एकाकार होकर अनुभव करती हैं। इन सबको वे अपनी अन्तःसत्तामें आत्मिक या मानसिक रूपसे ही नहीं वरन् शारीरिक रूपसे तथा इन अनेकानेक शरीरोंमें विद्यमान एक ही आत्माकी गतियोंके रूपमें भी अनुभव करती हैं। शरीर और उसकी इन्द्रियोंकी सीमाओंने हमारे चारों ओर जो दीवार खड़ी कर रखी है वह स्वयं शरीर और इन्द्रियोंके रहते भी ढह जाती है और उसके स्थान पर सनातन एकत्वका मुक्त आदान-प्रदान होने लगता है। समस्त इन्द्रियाँ और उनके संवेदन दिव्य ज्योतिसे, अनुभवकी दिव्य शक्ति एवं तीव्रतासे, दिव्य हर्ष एवं ब्रह्मानन्दसे ओतप्रोत हो जाते हैं। जो कुछ आज हमारे लिये बेसुरा है और इन्द्रियोंको कर्कश प्रतीत होता है वह भी तब वैश्व गतिकी वैश्व समस्वरतामें अपना स्थान पा लेता है, अपना रस, आशय एवं उद्देश्य प्रकट कर देता है और इस प्रकार, भागवत चेतनामें निहित 'अपने अस्तित्वके मूल हेतु' में आनन्द लेते हुए, अपने विधान एवं धर्मकी अभिव्यक्तिके द्वारा, समग्र सत्ताके साथ अपने सामंजस्य तथा भागवत सत्ताकी अभिव्यक्तिमें अपने स्थानके द्वारा हमारे अन्तरनुभवके प्रति सुन्दर और सुखद बन जाता है। समस्त संवेदन आनन्दका रूप धारण कर लेता है।

हमारा देह-स्थित मन साधारणतया स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है और उनके द्वारा भी वह उनके विषयोंको तथा उन आभ्यन्तरिक अनुभवोंको ही जान पाता है जो स्थूल अनुभवोंसे उद्भूत होते दिखते हैं तथा जो, सुदूर परम्परासे ही क्यों न हो, उन्हींको अपना आधार तथा अपनी रचनाका साँचा मानते प्रतीत होते हैं। शेष सब कुछ, वह सब कुछ जो इन्द्रिय-गोचर स्वीकृत-तथ्योंसे संगत नहीं है अथवा उनका अंग या उनके द्वारा संपुष्ट नहीं है वह उसे सत्यसे कहीं अधिक एक कल्पना प्रतीत होता है और केवल असामान्य अवस्थाओंमें ही वह (हमारा मन) अन्य प्रकारके चेतन अनुभवोंकी ओर खुलता है। पर वास्तवमें स्थूल भूमिका के पीछे अनुभवकी अनेक विशाल भूमिकाएँ हैं और यदि हम अपनी अन्तःसत्ताके द्वार खोल दें तो हम इन्हें जान सकते हैं। ये भूमिकाएँ वहाँ पहलेसे ही कार्य कर रही हैं और हमारे अन्दर प्रच्छन्न पुरुष इन्हें जानता भी है, और हमारी स्थूल चेतनाका भी बहुत-सा भाग सीधे इन्हींसे उद्भूत होता है तथा हमारे बिना जाने वह पदार्थ-विषयक हमारे अन्तरीय अनुभवको

प्रभावित करता है। स्थूल चेतनाके पीछे स्वतंत्र प्राणिक अनुभवोंकी भी एक भूमिका है जो प्राणभावापन्न भौतिक चेतनाकी स्थूल क्रियाके स्तरके नीचे प्रच्छन्न रूपमें विद्यमान है तथा उससे भिन्न है। और जब यह भूमिका अपने-आपको खोल देती है या किसी प्रकारसे कार्य करने लगती है तब जाग्रत् मनके सामने एक प्राणिक चेतना, एक प्राणिक अन्तर्ज्ञान एवं प्राणिक इन्द्रिय-शक्तिके दृग्विषय प्रकट हो उठते हैं। यह प्राणिक चेतना, अन्तर्ज्ञान किंवा इन्द्रिय-शक्ति शरीर और उसके करणोंपर निर्भर नहीं करती, यद्यपि यह एक गौण माध्यम या एक वृत्त-संग्राहकके रूपमें उनका प्रयोग कर सकती है। इस स्तरको पूर्ण रूपसे भी खोला जा सकता है और जब हम ऐसा करते हैं तो हमें पता चलता है कि इसकी क्रिया हमारे अन्दरकी व्यक्ति-भावापन्न सचेतन प्राण-शक्ति की ही एक क्रिया है जिसे वह तब करती है जब वह विराट् प्राणशक्तिके संपर्कमें आ जाती है तथा वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियोंमें होनेवाली उसकी क्रियाओंका भी स्पर्श प्राप्त करती है। हमारे मनको सब वस्तुओंमें व्याप रही प्राणमय चेतनाका भान हो जाता है और वह उसे हमारी प्राण-चेतनाके द्वारा तुरन्त एवं सीधे ही प्रत्युत्तर देता है। अपनी इस क्रियामें वह शरीर और उसकी इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले साधारण आदान-प्रदानसे सीमित नहीं होता। वह इस सर्वव्यापी प्राणमय चेतनासे प्राप्त होनेवाली अन्तःस्फुरणाओंको अंकित करता है, सत्तामात्रको वैश्व प्राणकी एक विशिष्ट अभिव्यक्तिके रूपमें अनुभव करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जिस क्षेत्रको प्राणमय चेतना एवं प्राणमय इन्द्रिय मुख्य रूपसे जानती है वह रूपोंका नहीं वरन् सीधे ही शक्तियोंका क्षेत्र है : उसका जगत् शक्तियोंकी क्रीड़ाका जगत् है, और उसे रूप एवं घटनाएँ तो शक्तियोंके परिणाम एवं मूर्त आकारके रूपमें केवल गौण रूपसे ही अनुभूत होती हैं। स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा कार्य करनेवाला मानव मन एक बुद्धिगत विचारके रूपमें ही इस भूमिकाकी कल्पना कर सकता है एवं इसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पर वह शक्तियोंकी भौतिक प्रतिमूर्तिके परे नहीं जा सकता, और अतएव उसे प्राणके यथार्थ स्वरूपका वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं होता, प्राण-शक्ति एवं वास्तविक प्राण-सत्ताकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती। हमारे अन्दर अवस्थित अनुभवके इस अन्य स्तर या गहराईको खोलनेसे और प्राणमय चेतना एवं प्राणेन्द्रियमें प्रवेश पानेसे ही मन यथार्थ एवं प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकता है। तथापि, जबतक यह अनुभव हमें मानसिक स्तरपर ही होता है तबतक यह प्राणिक परिभाषाओं तथा उनके मानसिक

रूपान्तरोंसे सीमित रहता है और इस विस्तारित इन्द्रियानुभव एवं ज्ञानमें भी धूमिलता रहती है। अतिमानसिक रूपान्तर प्राणको अतिप्राणिक रूपमें परिणत कर देता है, उसे आत्माकी गतिशक्तिके रूपमें प्रकट कर देता है, प्राण-शक्ति एवं प्राण-सत्ताके पीछे और भीतर निहित समस्त आध्यात्मिक सद्‌वस्तुको और उसके समस्त आध्यात्मिक, मानसिक एवं शुद्ध-प्राणिक सत्य और मर्मको पूर्ण रूपसे अनावृत तथा यथार्थ रूपसे प्रकाशित कर देता है।

भौतिक सत्तामें अवतरित होते समय अतिमानस हमारे अन्दरकी उस (प्राणिक) चेतनाको, जो हममेंसे वहुतोंके अन्दर छुपी हुई है या तमसे ढकी पड़ी है और जो प्राण-कोपका धारण एवं गठन करती है, जागृत कर देता है यदि वह पहले ही हमारी पिछली योग-साधानाके द्वारा जाग न चुकी हो। जव यह जाग जाती है, तवसे हम केवल स्थूल शरीरमें ही नहीं अपितु एक प्राणमय शरीरमें भी निवास करते हैं जो स्थूल शरीरके भीतर ओतप्रोत है और उसे सव ओरसे घरे भी हुए है तथा एक अन्य प्रकारके आघातोंके प्रति संवेदनशील है और उन प्राणिक शक्तियोंकी क्रीड़ाको भी तुरन्त सूक्ष्मताके साथ अनुभव कर सकता है जो हमारे चारों ओर विद्यमान है तथा जो विश्वसे या विशेष व्यक्तियोंसे अथवा समष्टि जीवनोंसे या पदार्थोंसे किंवा इस जड़ जगत्‌के पीछे विद्यमान प्राणिक स्तरों एवं लोकोंसे हमपर आक्रमण करके हमारे अन्दर घुस आती हैं। इन आधातोंको हम इनके परिणामों तथा कुछ-एक स्पर्शों एवं छद्‌मवेशोंके रूपमें आज भी अनुभव करते हैं, पर यह तो हम बिलकुल ही नहीं जानते या वहुत ही कम जानते हैं कि इनका मूल स्रोत क्या है और ये आते कैसे हैं। प्राण-शरीरमें रहने-वाली चेतना जब जाग जाती है तो वह इन्हें तुरत ही अनुभव कर लेती है, वह भौतिक शक्तिसे भिन्न एक अन्य, व्यापक प्राण-शक्तिको जान जाती है, और प्राण-वल बढ़ाने एवं भौतिक शक्तियोंको धारण करनेके लिये उसमेंसे शक्ति आहरण कर सकती है, प्राणके इस अन्त:प्रवाहके द्वारा या प्राण-धाराओंको अभीष्ट लक्ष्यपर प्रेरित करके स्वास्थ्य और रोगकी अवस्थाओं तथा कारणोंके साथ सीधे ही बर्ताव कर सकती है, दूसरोंके प्राणिक और प्राणवेगमय वातावरणको अनुभव कर सकती है, तथा उसके साथ स्वेच्छा-पूर्वक आदान-प्रदान कर सकती है, इसके अतिरिक्त वह और भी कितने ही दृग्विषयोंको अनुभव कर सकती है जो हमारी वाह्य चेतनाके अनुभवमें नहीं आते या उसके प्रति अस्पष्ट ही रहते हैं पर जो इस प्राणिक चेतनामें सचेतन एवं संवेद्य वन जाते हैं। यह हमारे तथा दूसरोंके अन्दर विद्यमान प्राणमय पुरुष एवं प्राण-शरीरको तीव्र रूपसे अनुभव करती है। अतिमानस

इस प्राणिक चेतना एवं प्राणेन्द्रियको अपने हाथमें लेकर इसे इसके यथार्थ आधारके ऊपर स्थापित करता है और इसे रूपान्तरित कर देता है यह प्रकट करके कि यहाँ जो प्राण-शक्ति है वह आत्माकी ही निज शक्ति है जिसे इसलिये सक्रिय किया गया है कि आत्मा सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थपर तथा उसके द्वारा घनिष्ठ एवं सीधी क्रिया कर सके और जड़ जगत्में रूपोंका गठन तथा अपना कार्य-व्यापार भी कर सके।

इसका पहला परिणाम यह होता है कि हमारी वैयक्तिक प्राण-सत्ताकी सीमाएँ टूट जाती हैं और आगेसे हम व्यक्तिगत प्राणशक्तिके द्वारा नहीं जीते,—यह भी नहीं कि अब भी साधारणतया उसके द्वारा जीते हों,—बल्कि विराट् प्राण-शक्तिके अन्दर और उसके द्वारा ही जीते हैं। सारा वैश्वप्राण ही सचेतन रूपसे हमारे अन्दर और हमारे द्वारा प्रवाहित होता हुआ आता है, वहाँ वह एक क्रियाशील अविच्छिन्न आवर्तको, अपनी शक्तिके एक अविभक्त केन्द्रको, संग्रह एवं आदान-प्रदानके प्रस्पन्दनशील स्टेशनको बनाये रखता है, उसे अपनी शक्तियोंसे निरन्तर परिपूरित करता रहता है और उन्हें हमारे चारों ओरके जगत्पर क्रिया-व्यापारके रूपमें उँडेलता रहता है। और फिर इस प्राण-शक्तिको हम प्राणके एक महासागर और *उसकी धाराओंके रूपमें ही अनुभव नहीं करते, बल्कि एक चिन्मय वैश्व* शक्तिके प्राणमय रूप-स्वरूप, प्राणमय देह और प्रवाहके रूपमें भी अनुभव करते हैं। वह सचेतन शक्ति अपने-आपको भगवान्की चित्शक्ति, परात्पर और विराट् आत्मा तथा पुरुषकी शक्तिके रूपमें प्रकट करती है,—हमारा विश्वभावापन्न व्यक्तित्व इन्हींका—या यूँ कहें कि परात्पर और विराट् 'पुरुषों' का—यंत्र एवं प्रणालिका बन जाता है। इसके फलस्वरूप हम अपने-आपको अन्य सबके प्राणके साथ, समस्त विश्वप्रकृतिके और जगत्की सब वस्तुओंके प्राणके साथ एकमय अनुभव करते हैं। हमारे अन्दर कार्य कर रही प्राण-शक्ति दूसरोंमें कार्य कर रही उसी शक्तिके साथ मुक्त और सचेतन रूपसे आदान-प्रदान करती है। हमें उनके प्राणका भी उसी तरह भान होता है जिस तरह अपने अथवा, कम-से-कम, हमें इतना भान अवश्य होता है कि हमारी प्राणमय सत्ता उन्हें स्पर्श करती है, उनपर दबाव डालती है तथा अपनी क्रियाएँ उनतक संप्रेषित करती है और उनकी प्राण-सत्ता भी हमारे साथ यह सब व्यवहार करती है। हमारी प्राणेन्द्रिय शक्तिशाली और तीक्ष्ण बन जाती है, इस प्राण-जगत्के—इसके सभी स्तरों, भौतिक और अतिभौतिक, प्राणिक और अतिप्राणिकके—समस्त, छोटे या बड़े, सूक्ष्म या स्थूल स्पन्दनोंको सहनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है, इसके

समस्त क्रिया-व्यापार एवं आनन्दसे पुलकित होती है और सभी शक्तियोंको अनुभव करती तथा उनकी ओर खुली होती है। अतिमानस अनुभवके इस महान क्षेत्रको अपने अधिकारमें लेकर सारेके सारेको प्रकाशमान और समस्वर बना देता है, तब इस क्षेत्रका अनुभव हमें अस्पष्ट और खण्डित रूपमें नहीं होता, न वह मानसिक अज्ञानके द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण सीमाओं और भूलोंमें ग्रस्त ही होता है, वरन् वह और उसकी प्रत्येक गति अपने सत्य स्वरूपमें तथा अपने समग्र बल एवं आनन्दके साथ साक्षात् प्रकाशित हो उठती है। इसके साथ ही, अतिमानस क्रियाशक्तिमय प्राणकी—उसके सभी स्तरोंकी—महान् शक्तियों एवं सामर्थ्योंको,—जो शायद तब असीम हो जाती हैं,—हमारे जीवनमें कार्य कर रही भगवान्की सरल, किन्तु फिर भी जटिल, विशुद्ध और सहजस्फूर्त किन्तु फिर भी अस्खलित एवं गहन इच्छाके अनुसार संचालित करता है। वह प्राणेन्द्रियको हमारे चारों ओरकी प्राणशक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एक वैसा ही पूर्ण साधन बना देता है, जैसा कि स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल विश्वके रूपों और मात्रा-स्पर्शोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हैं, साथ ही वह उसे आत्म-अभिव्यक्तिके यंत्रके रूपमें कार्य करनेवाली हमारी सक्रिय प्राण-शक्तिकी प्रतिक्रियाओंका वहन करनेके लिये एक पूर्ण प्रणालिका भी बना देता है।

3

इस प्राणमय चेतना एवं इन्द्रियके दृग्विषयोंको, भौतिक शक्तियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म शक्तियोंकी क्रियाके इस प्रत्यक्ष संवेदन एवं अनुभवको और फिर उस क्रियाके प्रति की गयी प्रतिक्रियाको प्रायः बिना किसी भेदके 'चैत्य दृग्विषयों' की श्रेणीके अन्तर्गत कर दिया जाता है। एक विशेष अर्थमें, हमारे चैत्य अर्थात् अन्तरात्माका जागरण ही,—ऐसी अन्तरात्माका जो इस समय छुपी हुई है तथा भौतिक मन और इन्द्रियोंकी स्थूल क्रियाके द्वारा पूर्णतया अवरुद्ध या अंशतः आच्छादित है,—निमज्जित या प्रच्छन्न आन्तरिक प्राणमय चेतनाको उपरितलपर ले आता है। इसके साथ ही वह एक आंतरिक या प्रच्छन्न मानसिक चेतना और इन्द्रियको भी प्रकट कर देता है जो केवल प्राण-शक्तियोंके उनकी क्रीड़ा, परिणामों और दृग्विषयोंको ही नहीं, वरन् मानसिक और चैत्य लोकों तथा उनके अन्दर विद्यमान सभी पदार्थोंको और इस लोकके मानसिक व्यापारों, स्पन्दनों, दृग्विषयों, रूपों और प्रतिमाओंको भी प्रत्यक्ष रूपसे देख सकती एवं अनुभव कर सकती हैं तथा स्थूल

इन्द्रियोंकी सहायताके विना और उनके द्वारा हमारी चेतनापर थोपी हुई सीमाओंमें वँधे विना एक मन एवं दूसरे मनके बीच सीधा संबंध स्थापित कर सकती हैं। परन्तु चेतनाके इन आन्तरिक स्तरोंकी क्रिया दो भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। उनमेंसे पहली जागते हुए प्रच्छन्न मन एवं प्राणकी एक अधिक वाह्य एवं अव्यवस्थित क्रिया होती है जो मन और प्राणमय सत्ताकी स्थूलतर कामनाओं एवं भ्रान्तियोंसे अवरुद्ध तथा उनके अधीन होती है और अपनी अनुभूति, शक्ति एवं क्षमताओंके क्षेत्रके व्यापक होनेपर भी संकल्प और ज्ञानकी भूलों एवं विकृतियोंके अपरिमित संघातसे कलुषित होती है, मिथ्या सुझावों और प्रतिमाओंसे, मिथ्या और विरूप सहजबोधों, स्फुरणाओं एवं आवेगोंसे पूर्ण होती है जो प्रायः दूषित एवं विपर्यस्ततक होते हैं, इसके अतिरिक्त यह स्थूल मन और उसकी धूमिलताओंके हस्तक्षेपसे भी दूषित होती है। यह एक निम्न कोटिकी क्रिया है। अतीन्द्रियदर्शी, चैत्यवादी, प्रेतात्मवादी, गुह्यदर्शी तथा शक्तियों एवं सिद्धियोंकी खोज करनेवाले इसमें सहज ही फंस सकते हैं। इस प्रकारकी खोजके खतरों और भूलोंके विरुद्ध जो चेतावनियाँ दी जाती हैं वे सभी विशेष रूपसे इस क्रियापर ही लागू होती हैं। आध्यात्मिक पूर्णताके अभिलाषीको चाहिये कि यदि वह संकटके इस क्षेत्रसे पूरे तौरपर न बच सकता हो तो इसे जितना जल्दी हो सके पार कर जाय, और इस विषयमें निरापद नियम यह है कि साधक इनमेंसे किसी भी चीजमें आसक्त न हो, वरन् आध्यात्मिक उन्नतिको अपना एकमात्र वास्तविक लक्ष्य वनाये और अन्य वस्तुओंमें तवतक पक्का विश्वास न करे जवतक मन और प्राण-सत्ता शुद्ध न हो जायँ और अनुभवके ये आन्तरिक क्षेत्र आत्मा और अतिमानसकी या कम-से-कम अध्यात्मप्रकाश-युक्त मन और अंतरात्माकी ज्योतिसे आलोकित न हो उठें। कारण, जब मन शान्त और शुद्ध हो जाता है और शुद्ध चैत्य कामनामय पुरुषकी इच्छाओंके आग्रहसे मुक्त हो जाता है तब इन अनुभवोंमें किसी प्रकारका भी गंभीर संकट नहीं रहता,—हाँ, संकीर्णताका खतरा एवं भूलका कुछ अंश अवश्य रहता है जिसे तवतक पूर्ण रूपसे दूर नहीं किया जा सकता जवतक आत्मा मन की भूमिकापर अनुभव और कार्य करती है। इनके सिवा अन्य संकटोंसे मुक्त हो जानेका कारण यह होता है कि तब सच्ची आन्तरात्मिक चेतना और उसकी शक्तियोंकी शुद्ध क्रिया होने लगती है तथा व्यक्ति एक ऐसे चैत्य अनुभवको ग्रहण करने लगता है जो व्याख्याकारी मनकी सीमाओंमें ग्रस्त रहनेपर भी निकृष्ट विकृतियोंसे रहित, शुद्ध एवं वास्तविक होता है और उच्च आध्यात्मिकता एवं ज्योति

प्राप्त कर सकता है। तथापि पूर्ण शक्ति एवं सत्य तो विज्ञान-भूमिकाके उद्घाटनसे तथा मानसिक और चैत्य अनुभवको विज्ञानमय बनानेसे ही प्राप्त हो सकता है।

चैत्य पुरुषकी चेतना और इसके अनुभवोंका क्षेत्र लगभग असीम है और इसके दृग्विषयोंकी विविधता एवं जटिलता भी लगभग अनन्त है। यहाँ केवल उनकी कुछ-एक मोटी रूपरेखाओं और मुख्य लक्षणोंका ही उल्लेख किया जा सकता है। उनमेंसे प्रथम और प्रधानतम है चैत्य इन्द्रियोंकी क्रिया। इन इन्द्रियोंमेंसे साधारणतया दर्शनेन्द्रिय सबसे अधिक विकसित होती है और जब स्थूल चेतनामें निमग्नता-रूपी आवरण जो हमारी आन्तर दृष्टिको रोके रहता है, भंग हो जाता है तब सबसे पहले यह दर्शनेन्द्रिय ही कुछ विशाल रूपमें प्रकट होती है। परन्तु चैत्य सत्तामें सभी स्थूल इन्द्रियोंके अनुरूप सूक्ष्म इन्द्रियशक्तियाँ हैं, चैत्य श्रोत्र, स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा स्वादेन्द्रिय हैं : निःसंदेह स्वयं भौतिक इन्द्रियाँ, वास्तवमें, आन्तरिक इन्द्रियका ही एक सीमित एवं बहिर्मुख क्रियाके रूपमें बहिःप्रक्षेप हैं जिसके द्वारा वह स्थूल जड़तत्त्वके दृग्विषयोंके अन्दर, उनमेंसे और उनपर अपने-आपको प्रकट करती है। चैत्य दृष्टि निज स्वभाववश ही उन प्रतिमाओंको ग्रहण करती है जो मानसिक या चैत्य आकाश, **चित्ताकाश**, के सूक्ष्म उपादानमें निर्मित होती हैं। ये भौतिक पदार्थों, व्यक्तियों, दृश्यों एवं घटनाओंकी तथा इस स्थूल जगत्में जो कुछ भी है, था या होगा या हो सकता है उस सबकी चित्ताकाशगत प्रतिलिपि या छाप हो सकती हैं। ये प्रतिमाएँ नाना रूपोंमें तथा सब प्रकारकी अवस्थाओंमें दिखायी देती हैं; कभी समाधिमें तो कभी जाग्रत् अवस्थामें, और जाग्रत्में भी कभी स्थूल नेत्रोंके खुले होनेपर तो कभी मुँदे रहनेपर; कभी ये स्थूल पदार्थ अथवा माध्यमपर या उसके अन्दर प्रक्षिप्त-सी जान पड़ती हैं और कभी यों दिखायी देती हैं मानों इन्होंने भौतिक वायुमण्डलमें स्थूल रूप धारण कर लिया हो; या फिर ये केवल **चित्ताकाश** में दिखायी देती हैं जो अपने-आपको इस स्थूलतर भौतिक वायुमण्डलके माध्यमसे प्रकट करता है; कभी-कभी ये स्वयं स्थूल आँखोंको एक गौण उपकरण बनाकर उनके द्वारा और मानों स्थूल प्रत्यक्षकी अवस्थाओंमें भी दृष्टिगोचर होती हैं और कभी ये केवल चैत्य दृष्टिके द्वारा ही दिखायी देती हैं और तब ये, 'देश'के साथ हमारी साधारण दृष्टिके जो संबंध हैं उनसे बिलकुल स्वतंत्र रहती है। इन सभी अवस्थाओंमें वास्तविक करण सदा चैत्य दृष्टि ही होती है और उसकी शक्ति यह सूचित करती है कि चैत्य शरीरमें चेतना कम जागृत है या

अधिक, कभी-कभी जागती है या सामान्य रूपसे जागृत ही रहती है और अधिक पूर्ण रूपमें जागृत है या कम पूर्ण रूपमें। इस प्रकार स्थूल दृष्टिके क्षेत्रसे परे चाहे कितनी ही दूरीपर विद्यमान पदार्थोंकी प्रतिलिपि या छापको अथवा भूत या भविष्य कालकी प्रतिमाओंको देखा जा सकता है।

इन प्रतिलिपियों या छापोंके अतिरिक्त चैत्य दृष्टि उन विचार-प्रतिमाओं तथा अन्य प्रकारके रूपोंको भी ग्रहण करती है जो हमारे या दूसरे में मनुष्योंके अन्दर चेतनाकी अनवरत क्रियासे उत्पन्न होते हैं, और ये इस क्रियाके स्वरूपके अनुसार सत्य या असत्यकी प्रतिमाएँ या फिर ऐसी मिश्रित प्रतिमाएँ हो सकती हैं जो कुछ सत्य हों और कुछ झूठी, और ये या तो केवल खोखले आवरण एवं रूप हो सकती हैं या फिर ऐसी प्रतिमाएँ जो क्षणस्थायी जीवन एवं चेतनासे अनुप्राणित हों और यह भी संभव है कि इनमें किसी-न-किसी रूपमें हमारे मन या प्राणपर अथवा उनके द्वारा हमारे शरीरपर भी किसी प्रकारकी मंगल या अमंगल क्रिया करने किंवा कोई स्वेच्छाकृत या अनिच्छाकृत प्रभाव डालनेकी शक्ति भी हो। ये प्रति-लिपियाँ, प्रभाव, विचार-प्रतिमाएँ एवं प्राणमय रूप तथा चेतनाके ये बहिः प्रक्षेप ऐसी प्रतिनिधि-सत्ताएँ या रचनाएँ भी हो सकते हैं जो स्थूल जगत्‌की नहीं, वरन् हमसे परेके प्राणिक, चैत्य या मानसिक लोकोंकी हों तथा जो हमारे अपने मनोंमें हमें दिखायी पड़ें अथवा मनुष्येतर सत्ताओंकी ओरसे हमपर प्रक्षिप्त की गयी हों। और जिस प्रकार चैत्य चेतनामें यह चैत्य दृष्टि है जिसकी कुछ-एक अधिक बाह्य एवं साधारण अभिव्यक्तियाँ अतीन्द्रिय-दर्शनके नामसे सुप्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार चैत्य श्रवण, चैत्य स्पर्श, स्वाद और गन्धकी शक्तियाँ भी हैं—अतीन्द्रिय श्रवण, अतीन्द्रिय बोध इनकी अधिक बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमेंसे प्रत्येकका अपने-अपने ढंगका ठीक वैसा ही क्षेत्र है जैसा चैत्य दृष्टिका, इनके दृग्विषयोंके क्षेत्र, ढंग, अवस्थाएँ और विविधताएँ भी वैसी ही हैं।

ये तथा अन्य दृग्विषय चैत्य अनुभव के एक परोक्ष एवं प्रतिनिधिभूत क्षेत्रकी सृष्टि करते हैं; पर चैत्य इन्द्रियमें ऐसी शक्ति भी है कि वह पार्थिव या अतिपार्थिव सत्ताओंके साथ, उनकी चैत्य आत्माओं या चैत्य देहोंके द्वारा, हमारा अधिक सीधा संबंध स्थापित करा सकती है, यहाँतक कि वह पदार्थोंके साथ भी हमारा ऐसा संबंध जोड़ सकती है, क्योंकि पदार्थोंमें भी ऐसी चैत्य सत्ता तथा ऐसी आत्माएँ या अन्तःसत्ताएँ होती हैं जो उन्हें धारण करती हैं तथा जो हमारी अन्तरात्म-चेतनाके साथ आदान-प्रदान कर सकती हैं। इन अधिक प्रभावशाली पर विरलतर दृग्विषयोंमेंसे

सर्वाधिक उल्लेखनीय वे हैं जो हमारी चेतनाकी एक विशेष शक्तिसे संबंध रखते हैं। वह शक्ति यह है कि हमारी चेतना स्थूल देहसे भिन्न किसी और जगह तथा किसी और ढंगसे नाना प्रकारके कार्य करनेके लिये अपने-आपको बाहर किसी भी केन्द्रपर केन्द्रित कर सकती है। वे कार्य हैं: चैत्य शरीरमें आदान-प्रदान करना अथवा उसकी कोई अंशविभूति या प्रतिमूर्ति किसी अन्य स्थानपर प्रकट करना—यह आवश्यक रूपसे तो नहीं, किंतु प्रायः निद्रा या समाधिकी अवस्थामें होता है, तथा सत्ताके किसी अन्य स्तरके अधिवासियोंके साथ नाना तरीकोंसे बहुविध संबंध या आदान-प्रदान स्थापित करना।

कारण, चेतनाके स्तरोंकी एक अविच्छिन्न शृंखला है जो पृथ्वीके स्तरसे संबद्ध एवं उसपर आश्रित चैत्य तथा अन्य मेखलाओंसे आरंभ होती है और यथार्थ, स्वतंत्र, प्राणमय एवं चैत्य लोकोंमेंसे गुजरती हुई देवोंके लोकों तथा सत्ताके उच्चतम अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरोंतक पहुँचती है। और ये, हमारे जाग्रत् मनके बिना जाने, सचमुच ही हमारी अन्तः-प्रच्छन्न सत्तापर सदैव कार्य कर रहे हैं, और हमारे जीवन तथा प्रकृतिपर इनका काफी अधिक प्रभाव पड़ता है। भौतिक मन हमारा केवल एक छोटा-सा भाग है और इसके अतिरिक्त हमारी सत्ताका एक और कहीं अधिक विशाल क्षेत्र है जिसमें अन्य स्तरोंका प्रभाव तथा उनकी उपस्थितियाँ एवं शक्तियाँ हमपर कार्य कर रही हैं और हमारी बाह्य सत्ता तथा उसके कार्योंको गठित करनेमें सहायता देती हैं। चैत्य चेतनाका जागरण हमें हमारे अन्दर और चारों ओर विद्यमान इन शक्तियों, उपस्थितियों और प्रभावोंसे सचेतन होनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है; और यद्यपि अशुद्ध, अद्यावधि अज्ञ एवं अपूर्ण मनमें यह अनावृत संपर्क संकटोंसे पूर्ण होता है, तथापि यदि इसे ठीक प्रकारसे तथा ठीक उद्देश्यके लिये प्रयुक्त किया जाय तो यह हमें उनके दास न रहकर उनके स्वामी बननेकी तथा अपनी प्रकृतिके आन्तर रहस्योंपर सचेतन एवं आत्म-नियंत्रित प्रभुत्व प्राप्त करनेकी सामर्थ्य भी प्रदान करता है। चैत्यकी चेतना आन्तर और बाह्य भूमिकाओंकी, इस लोक तथा अन्य लोकोंकी इस परस्पर-क्रियाको दो प्रकारसे हमारे सामने प्रकट करती है। एक तो यह कि हमें अपनी आन्तर चिंतन-शक्ति एवं चेतन सत्तापर उनके आघातोंका, उनके सुझावों तथा संदेशोंका कुछ-कुछ भान होता है जो अत्यंत स्थायी, विशाल, विशद् एवं सजीव हो सकता है और उन आघातों आदिके प्रति हम वहाँ प्रतिक्रिया भी कर सकते हैं। दूसरे यह कि पार्थिव या अतिपार्थिव दृग्विषयोंकी अनेक प्रकारकी प्रतीकात्मक,

प्रतिलिप्यात्मक या प्रतिनिधि-रूप प्रतिमाएँ विभिन्न चैत्य इन्द्रियोंके समक्ष प्रकट होती हैं। परन्तु अन्य लोकों एवं भूमिकाओंकी शक्तियों, बलों और सत्ताओंके साथ एक अधिक सीधा आदान-प्रदान स्थापित करना भी संभव है जो मूर्त रूप से गोचर एवं लगभग भौतिक हो, यहाँतक कि कभी-कभी तो सक्रिय रूपसे भौतिक हो; उसे एक पूर्ण किन्तु अस्थायी स्थूल-भौतिक रूप प्रदान करना भी संभव प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि भौतिक चेतना और स्थूल जगत्की सीमाएँ पूर्णतया भंग हो जायँ।

चैत्य चेतनाके जागरणके फलस्वरूप हमारे अन्दर मनका छठी इन्द्रियके रूपमें सीधा एवं उन्मुक्त प्रयोग होने लगता है, और इस शक्तिको स्थिर एवं स्वाभाविक बनाया जा सकता है। भौतिक चेतना बाह्य साधनों, चिह्नों एवं संकेतोंके द्वारा केवल दूसरोंके मनोंके साथ ही आदान-प्रदान कर सकती है अथवा हमारे चारों ओरके जगत्की घटनाओंको जान सकती है, और इस सीमित कार्यक्षेत्रके परे वह मनकी अधिक सीधी सामर्थ्योंका केवल अनिश्चित एवं अव्यवस्थित प्रयोग ही कर सकती है तथा उसे कभी-कभी जो पूर्वबोध, सहज ज्ञान एवं संदेश प्राप्त होते हैं उनका क्षेत्र अत्यंत ही संकुचित है। निःसंदेह, हमारे मन अज्ञात गुप्त धाराओंके द्वारा दूसरोंके मनोंपर निरन्तर क्रिया कर रहे हैं तथा स्वयं भी उनकी क्रियासे निरन्तर प्रभावित हो रहे हैं, किन्तु हमें इन साधनोंका कोई ज्ञान नहीं है और न इनपर हमारा कोई नियंत्रण ही है। जैसे-जैसे चैत्य चेतना विकसित होती है, वैसे-वैसे वह हमें उन सब प्रकारके विचारों, संवेदनों, सुझावों, संकल्पों, आघातों और प्रभावोंके महान् संघातका ज्ञान कराती चलती है जिन्हें हम दूसरोंसे ग्रहण कर रहे हैं या दूसरोंके पास भेज रहे हैं अथवा अपने चारों ओरके सर्वसामान्य मानसिक वातावरणसे ग्रहण कर रहे हैं और उसके अन्दर फेंक रहे हैं। जैसे-जैसे उसकी शक्ति, यथार्थता एवं स्पष्टताका विकास होता है वैसे-वैसे हम इन विचारों आदिके मूल स्रोतका पता लगा सकते हैं अथवा इनके उद्गम एवं हमारे प्रति संक्रमणको तत्क्षण ही अनुभव कर सकते हैं तथा अपने संदेशोंको भी सचेतन रूपसे एवं ज्ञानयुक्त संकल्पके साथ प्रेषित कर सकते हैं। हम दूसरोंके मनोंकी, चाहे शारीरिक रूपसे वे हमारे पास हों या दूर, क्रियाओंको कम या अधिक यथार्थ रूपमें एवं विवेकपूर्वक जान सकते हैं तथा उनके स्वभाव एवं चरित्रको, विचारों, वेदनों एवं प्रतिक्रियाओंको चैत्य इन्द्रिय या सीधे मानसिक प्रत्यक्षके द्वारा अथवा अपने मनके अन्दर या उसके अंकनकारी तलपर उनके अत्यन्त गोचर एवं प्रायः अतिशय मूर्त ग्रहणके द्वारा समझ सकते और अनुभव कर सकते

हैं या उनके साथ अपनेको एकाकार कर सकते हैं। इसके साथ ही हम कम-से-कम दूसरोंकी अन्तरात्माओंको तथा उनके स्थूल मनोंको—यदि ये पर्याप्त संवेदनशील हों तो—अपनी आन्तर मानसिक या चैत्य सत्ताका, सचेतन रूपसे, अनुभव करा सकते हैं और उन्हें उसके विचारों, सुझावों एवं प्रभावोंके प्रति नमनशील बना सकते हैं अथवा, यहाँतक कि, उसे या उसकी एक सक्रिय प्रतिमाको उनकी आभ्यंतरिक ही नहीं, प्राणिक और भौतिक सत्तामें भी प्रभावकारी रूपमें निक्षिप्त कर सकते हैं ताकि वह वहाँ एक सहायक या रूप-निर्मायक या अधिशासक शक्ति एवं उपस्थितिके रूपमें कार्य कर सके।

चैत्यगत चेतनाकी इन सब शक्तियोंका उपयोग एवं महत्व मानसिकसे अधिक कुछ हो यह जरूरी नहीं और प्रायः वह इससे अधिक कुछ होता भी नहीं, किन्तु उसका उपयोग आध्यात्मिक भाव, प्रकाश और उद्देश्यके साथ तथा आध्यात्मिक प्रयोजनके लिये भी किया जा सकता है। ऐसा तभी हो सकता है यदि दूसरोंके साथ हमारे चैत्य आदान-प्रदान का कोई आध्यात्मिक प्रयोजन हो तथा उसका आध्यात्मिक उपयोग किया जाय, और अधिकतर इस प्रकारके चैत्य-आध्यात्मिक आदान-प्रदानके द्वारा ही एक योगीगुरु अपने शिष्यकी सहायता करता है। अपनी आन्तरिक प्रच्छन्न एवं चैत्य प्रकृतिका तथा उसकी शक्तियों, उपस्थितियों और प्रभावोंका ज्ञान एवं अन्य स्तरों और उनकी शक्तियों तथा सत्ताओंके साथ आदान-प्रदानकी क्षमता किसी मानसिक या लौकिक उद्देश्यसे ऊँचे उद्देश्यके लिये, अपनी संपूर्ण प्रकृतिको अपने अधिकार और वशमें लानेके लिये तथा सत्ताके परमोच्च आध्यात्मिक शिखरोंके मार्गमें पड़नेवाले मध्यवर्ती स्तरोंको पार करनेके लिये भी प्रयुक्त की जा सकती है। परन्तु चैत्यकी चेतनाका सबसे सीधा आध्यात्मिक प्रयोग उसे भगवान्‌के साथ संपर्क, आदान-प्रदान और एकत्वका करण बनाना है। उसके द्वारा चैत्य-आध्यात्मिक प्रतीकोंका एक लोक सहज ही खुल जाता है, प्रकाशप्रद, सशक्त और सजीव रूप एवं करण उन्मुक्त हो जाते हैं। इन सबको आध्यात्मिक रहस्योंके प्रकाशक हमारी आध्यात्मिक अभिवृद्धिके तथा आध्यात्मिक क्षमता एवं अनुभूतिके विकासके सहायक और आध्यात्मिक शक्ति, ज्ञान या आनन्दके साधन बनाया जा सकता है। मंत्र इन चैत्य-आध्यात्मिक साधनोंमेंसे एक है जो दिव्य अभिव्यक्तिके लिये एक प्रतीक, करण और नाद-शरीर—सब कुछ एक साथ ही है, और भगवान् तथा उनके व्यक्तित्वों या शक्तियोंकी मूर्तियाँ भी, जो योगमें ध्यान या आराधनके लिये प्रयुक्त की जाती हैं, इसी

प्रकारके साधन हैं। भगवान्के महान् रूप या विग्रह प्रकाश में आते हैं जिनके द्वारा वे अपनी जीवंत उपस्थिति हमारे समक्ष प्रकट करते हैं। उनकी सहायतासे हम उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सुगमताके साथ तथा घनिष्ठ रूपमें जान सकते हैं, उनकी उपासना कर सकते हैं, अपने-आपको उन्हें सौंप सकते हैं और जिन विभिन्न लोकोंमें उनका आवास एवं उपस्थिति है उनमें प्रवेश कर सकते हैं तथा वहाँ उनकी सत्ताकी ज्योतिमें निवास कर सकते हैं। उनका शब्द एवं आदेश, उनकी उपस्थिति, उनका स्पर्श एवं मार्गनिर्देश हमें अपनी आध्यात्मीकृत चैत्य चेतनाके द्वारा प्राप्त हो सकते हैं और, आत्मासे होनेवाले संक्रमणके एक सूक्ष्मतः-मूर्त साधनके रूपमें, यह (चेतना) हमें हमारी सभी चैत्य इन्द्रियोंके द्वारा उनके साथ निकट संपर्क एवं सान्निध्य प्रदान कर सकती है। ये चैत्य चेतना और चैत्य इन्द्रियोंके कुछ आध्यात्मिक उपयोग हैं और इनके अतिरिक्त और भी कितने ही हैं। यह ठीक है कि वे (चैत्य चेतना और इन्द्रिय) सीमित और विकृत हो सकती हैं—क्योंकि सभी गौण उपकरण हमारे मनकी एकांगी आत्म-परिसीमनकी क्षमताके कारण आंशिक उपलब्धिके साधन भी हो सकते हैं, पर साथ ही वे एक अधिक सर्वांगीण उपलब्धिमें बाधक भी बन सकते हैं,—तथापि वे आध्यात्मिक पूर्णताके पथपर अत्यंत ही उपयोगी हैं और पीछे, हमारे मनोंकी सीमासे मुक्त होकर, रूपान्तर प्राप्त कर तथा अतिमानसिक बनकर तो वे आध्यात्मिक आनन्दकी अनुभूतिमें एक विविध-समृद्धिशाली तत्त्व बन जाती हैं।

भौतिक और प्राणिक चेतना एवं इन्द्रियोंकी भाँति चैत्यगत चेतना एवं इन्द्रियाँ भी अतिमानसिक रूपान्तर प्राप्त कर सकती हैं और उसके द्वारा अपनी समग्र पूर्णता एवं सार्थकता प्राप्त करती हैं। अतिमानस चैत्य सत्ताको अपने अधिकारमें कर लेता है, उसमें अवतरित होता है, उसे अपनी प्रकृतिके साँचेमें ढालकर रूपान्तरित कर देता है और उसे ऊपर उठाकर अतिमानसिक क्रिया और अवस्थाका एक अंग एवं विज्ञान-पुरुषकी एक अति-चैत्य सत्ता बना देता है। इस परिवर्तनका पहला परिणाम यह होता है कि हम चैत्यगत चेतनाके दृग्विषयोंको उनके सच्चे आधारपर स्थापित करते हैं। इसके लिये हमें उसमें दूसरोंके मनों और अन्तरात्माओं तथा वैश्व प्रकृतिके मन एवं अन्तरात्माके साथ अपने मन और अन्तरात्माकी एकताका स्थायी बोध, पूर्ण साक्षात्कार एवं सुरक्षित उपलब्धि साधित करनी होती है। कारण, अतिमानसिक विकासका प्रभाव सदा ही यह होता है कि वह वैयक्तिक चेतनाको विश्वमय बना देता है। जिस प्रकार वह, हमारी व्यक्तिगत प्राणिक क्रियामें तथा हमारे चारों ओरके सब लोगोंके

साथ उसके संबंधोंमें भी हमें विश्वगत प्राणके द्वारा ही जीवन धारण करवाता है, उसी प्रकार वह हमें विश्वगत मन एवं चैत्य सत्ताके द्वारा ही विचार, वेदन और बोध करवाता है यद्यपि यह विचार आदि होता है व्यक्तिगत केन्द्र या करणके माध्यमसे ही। इसके दो अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं।

प्रथम, चैत्य इन्द्रिय और मनके दृग्विषयोंकी वह खण्डात्मकता, असंबद्धता अथवा दु:साध्य व्यवस्था एवं प्राय: सर्वथा कृत्रिम क्रमबद्धता समाप्त हो जाती है जो इन दृग्विषयोंका उससे भी अधिक पीछा करती है जितना कि उपरितलकी हमारी अधिक साधारण मानसिक क्रियाओंका करती है। ये दृग्विषय हमारे अन्दर अवस्थित विराट् आन्तर मन एवं हृत्पुरुषकी समस्वर लीला बन जाते हैं, अपने सच्चे नियमको एवं यथार्थ रूपों और संबंधोंको प्राप्त कर लेते हैं तथा अपने ठीक-ठीक अर्थ प्रकट कर देते हैं। मानसिक भूमिकामें भी मनुष्य मनको आध्यात्मिक बनाकर आत्मिक एकताका किसी-न-किसी प्रकारका साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है, पर वह साक्षात्कार कभी भी सच्चे अर्थोंमें पूर्ण नहीं होता, कम-से-कम अपने व्यावहारिक प्रयोगमें तो वह पूर्ण होता ही नहीं, और न वह इस वास्तविक एवं समग्र नियम, रूप और संबंधको तथा अपने गूढ़ार्थोंकी पूर्ण एवं अचूक सत्यता और यथार्थताको ही प्राप्त करता है। और, दूसरे, चैत्यगत चेतनाकी क्रियामें जो असामान्यताके, एक असाधारण, अनियमित और यहाँतक कि अति-सामान्य एवं संकटपूर्ण क्रियाके लक्षण पाये जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप प्राय: मनुष्यका अपने जीवनपर नियंत्रण नहीं रहता तथा सत्ताके अन्य भागोंकी क्रियामें बाधा या क्षति पहुँचती है, वे सब नष्ट हो जाते हैं। वह न केवल अपने अन्दर निज यथोचित व्यवस्था ही प्राप्त कर लेती है, बल्कि एक ओर तो भौतिक जीवनके साथ तथा दूसरी ओर सत्ताके आध्यात्मिक सत्यके साथ अपना यथार्थ संबंध भी आयत्त कर लेती है और तब सब-कुछ ही देहधारी आत्माकी एक समस्वर अभिव्यक्ति बन जाता है। सृष्टिकारी अतिमानस ही सदा हमारी सत्ताके अन्य भागोंके सच्चे मूल्यों, मर्मों और संबंधोंको अपने अन्दर धारण करता है और उसका प्राकट्य ही हमारे लिये अपनी आत्मा और प्रकृतिकी समग्र उपलब्धिकी शर्त है।

पूर्ण रूपान्तर हमें अपनी साक्षी चिन्मय आत्माकी स्थिति या भूमिकाके ही एक विशेष प्रकारके परिवर्तनसे प्राप्त नहीं होता, यहाँतक कि उसके गुणधर्मके परिवर्तनसे भी वह प्राप्त नहीं होता, वरन् उसके लिये हमारी

चेतन सत्ताके संपूर्ण तत्त्वका भी परिवर्तित होना आवश्यक है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता तबतक अतिमानसिक चेतना सत्ताके मानसिक एवं चैत्य वातावरणके—जिसमें भौतिक चेतना हमारी आत्माकी अभिव्यक्तिकी एक गौण और, अधिकांशमें, एक आश्रित प्रणाली बन गयी होती है,—ऊपरके स्तरमें प्रकट होती है और उसे आलोकित एवं रूपान्तरित करनेके लिये वह उसके अन्दर अपनी शक्ति, ज्योति एवं प्रभाव प्रेषित करती है। परन्तु जब निम्न चेतनाका तत्त्व सत्ताकी महत्तर शक्ति और वृहत्तामें, **महान्, वृहत्** में, परिवर्तित हो जाता है, उसके द्वारा प्रबलतया परिपूरित और उसमें अद्‌भुततया रूपान्तरित हो जाता है, मानों उसमें निगीर्ण एवं विलीन हो जाता है,—उस महान् एवं **वृहत्** में जिससे कि यह उद्‌भूत एवं प्रक्षिप्त हुआ है, केवल तभी हमें परिपूर्ण, समग्र एवं सुस्थिर अतिमानसिक चेतना प्राप्त होती है। सत्ताके जिस सारतत्वमें, जिस चिन्मय आकाशमें, मानसिक या चैत्य चेतना एवं इन्द्रिय अपना अस्तित्व धारण करती हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान, वेदन और अनुभव प्राप्त करती हैं, वह स्थूल मन और इन्द्रियके (सत्ता-संबंधी) सारतत्व एवं चिदाकाशसे अधिक सूक्ष्म, मुक्त और नमनीय तत्त्व है। जबतक हमपर स्थूल मन और इन्द्रियका प्रभुत्व रहता है तबतक चैत्य दृग्विषय हमें कम वास्तविक, यहाँतक कि भ्रमात्मक प्रतीत हो सकते हैं, पर जितना ही अधिक हम अपनेको चैत्यके वातावरणके लिये तथा सत्ताके जिस आकाशमें वह अवस्थित है उसके लिये अभ्यस्त बनाते हैं, उतना ही अधिक हम एक महत्तर सत्यको देखने लगते हैं तथा उन सब वस्तुओंके अधिक आध्यात्मिक एवं मूर्त सारतत्वको भी अनुभव करने लगते हैं जिनके अस्तित्वकी साक्षी उस (चैत्य)का अधिक मुक्त एवं विशाल कोटिका अनुभव हमें प्रदान करता है। तब, भौतिक सत्ता भी अपने-आपको अवास्तविक एवं मायामय प्रतीत होने लग सकती है—पर यह भी एक अतिरंजना है और है एक नयी भ्रामक एकांगिता जिसका कारण है केन्द्रका स्थानान्तरण तथा मन और इन्द्रियकी क्रियाका परिवर्तन—या फिर, कम-से-कम, एक ऐसी सत्ता प्रतीत हो सकती है जो कम प्रबल रूपमें सत्य है। परन्तु जब चैत्य और भौतिक अनुभव, अपने सच्चे संतुलनमें, सम्यक् रीतिसे संयुक्त हो जाते हैं तब हम एक साथ अपनी सत्ताके दो परस्पर पूरक लोकोंमें निवास करते हैं जिनमेंसे प्रत्येककी अपनी वास्तविकता होती है, पर तब चैत्य लोक उस सबको प्रकाशमें लाता है जो भौतिक लोकके पीछे विद्यमान है, आत्म-दृष्टि एवं आत्मानुभव प्रमुखता प्राप्त कर लेता है और भौतिक दृष्टि तथा अनुभवको आलोकित करता एवं उसकी

व्याख्या करता है। और जब अतिमानसिक रूपान्तर होता है तो वह हमारी चेतनाके संपूर्ण सारतत्वको फिर बदल डालता है; वह एक महत्तर सत्ता, चेतना, इन्द्रिय और प्राणके आकाशको प्रकट कर देता है जो चैत्य आकाशको भी अपूर्णताका दोषी ठहराता है और यह दिखलाता है कि वह भी अपने-आपमें एक अपूर्ण सत्य है तथा हम जो कुछ हैं, जो कुछ बन जाते और देखते हैं उस सबका केवल एक आंशिक सत्य है।

निःसंदेह अतिमानसिक चेतना और उसकी शक्तिमें चैत्यके समस्त अनुभवोंको स्वीकार तथा संपुष्ट किया जाता है, पर उन्हें एक महत्तर सत्यके प्रकाश तथा एक महत्तर आत्माके सारतत्वसे परिपूरित कर दिया जाता है। चैत्यगत चेतना पहले तो अतिमानसिक ज्योति एवं शक्ति तथा उसके स्पन्दनोंकी सत्यप्रकाशक तीव्रताके द्वारा धारित तथा आलोकित होती है और फिर वह उससे ओतप्रोत तथा अधिकृत हो जाती है। किसी विच्छिन्न आकस्मिक घटना, अपर्याप्त-आलोकित आभास, वैयक्तिक सुझाव, भ्रामक प्रभाव एवं विचारसे अथवा सीमा या विकृतिके किसी अन्य कारणसे उत्पन्न जो कोई भी भूल या अतिरंजना मानसिक और आन्तरात्मिक अनुभव एवं ज्ञानके सत्यमें हस्तक्षेप करती है वह प्रकाशमें आ जाती है तथा उसे सुधार लिया जाता है या फिर वह वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और संकेतोंके तथा इस महत्तर विशाल सत्ताके अपने विशिष्ट प्रतिरूपोंके सत्यकी, **सत्यम्, ऋतम्** की ज्योतिमें न ठहर सकनेके कारण विलुप्त ही हो जाती है। समस्त चैत्य संदेश, प्रतिलेख, प्रभाव, प्रतीक और प्रतिरूप अपना यथार्थ मूल्य प्राप्त करके, अपना सही स्थान ग्रहण कर लेते हैं तथा उन्हें उनके ठीक संबंधोंमें सुस्थापित कर दिया जाता है। चैत्य बुद्धि और संवेदन अतिमानसिक इन्द्रियानुभव एवं ज्ञानसे आलोकित हो उठते हैं; उनके दृग्विषय, जो आध्यात्मिक और भौतिक लोकोंके मध्यवर्ती होते हैं, अपने सत्य और अर्थको तथा अपने सत्य और महत्त्वकी सीमाओंको भी स्वयमेव प्रकट करने लगते हैं। आन्तर दर्शन, श्रवण तथा अन्य सब प्रकारके ऐन्द्रिय संवेदनके समक्ष जो प्रतिमाएँ उपस्थित होती हैं वे स्पन्दनोंके एक विशालतर एवं उज्ज्वलतर संघातके द्वारा, ज्योति और तीव्रताके एक महत्तर सारतत्वके द्वारा अधिकृत हो जाती तथा उसमें धारित रहती हैं। वह संघात एवं सारतत्त्व उनके अन्दर वैसा ही परिवर्तन लाता है जैसा कि स्थूल इन्द्रियकी वस्तुओंमें, अर्थात् वह उनमें एक महत्तर समग्रता और यथार्थताके साथ-साथ ऐन्द्रिय ज्ञानकी एक ऐसी सत्यप्रकाशक शक्ति भी लाता है जो वस्तुकी प्रतिमामें निहित होती है। अन्तमें सभी कुछको

ऊपर अतिमानसमें ले जाकर तथा उसके अन्दर आत्मसात् करके विज्ञान पुरुषके अनन्त-ज्योतिर्मय चैतन्य, ज्ञान और अनुभवका एक अंग बना लिया जाता है।

इस अतिमानसिक रूपान्तरके बाद जीवकी अवस्था उसके चेतना और ज्ञान-संबंधी सभी अंगोंमें एक अनन्त वैश्व चेतनाकी अवस्था होगी जो विश्वभावापन्न व्यष्टि-पुरुषके द्वारा कार्य कर रही होगी। उसकी आधारभूत शक्ति होगी तादात्म्यकी चेतना, तादात्म्यके द्वारा ज्ञान,—तादात्म्यका अभिप्राय है सत्ताका, चेतनाका, सत्ता और चेतनाकी शक्तिका, सत्ताके आनन्दका अनन्तके साथ, भगवान्‌के साथ, अनन्तके अन्दर जो कुछ भी है उस सबके साथ, जो कुछ भी भगवान्‌की अभिव्यक्ति एवं आविर्भाव है उस सबके साथ तादात्म्य। यह चेतना एवं ज्ञान जिन साधनोंको अपने करणोप-करणोंके रूपमें प्रयुक्त करेगा वे ये हैं—तादात्म्यलब्ध ज्ञान जिन चीजोंकी स्थापना कर सकता है उन सबका आध्यात्मिक साक्षात्कार, अतिमानसिक यथार्थ भाव एवं विचार जो अपनी प्रकृतिमें विचारका साक्षात् दर्शन, श्रवण और स्मरण ही होता है तथा जो चेतनाके सामने सब वस्तुओंके सत्यको प्रकाशित, विवृत या निरूपित करता है, एक आन्तर सत्य-वाणी जो उसे व्यक्त करती है, और अन्तमें एक अतिमानसिक इन्द्रिय जो सत्ताके सभी स्तरोंमें सब वस्तुओं, व्यक्तियों, बलों और शक्तियोंके साथ सत्ताके सारतत्वमें हमारा संस्पर्श-रूपी संबंध स्थापित करती है।

अतिमानस करणोंकी, उदाहरणार्थ, इन्द्रियकी सहायतापर उस प्रकार निर्भर नहीं करेगा, जिस प्रकार स्थूल मन हमारी इन्द्रियोंकी साक्षीपर निर्भर करता है, यद्यपि वह उन्हें ज्ञानके उच्चतर रूपोंके लिये एक आरंभ-बिन्दु बना सकेगा, जैसे कि वह सीधे इन उच्चतर रूपोंके द्वारा आरंभ करके इन्द्रियको केवल रचना और बाह्य अभिव्यक्तिका साधन भी बना सकेगा। इसके साथ ही अतिमानसिक या विज्ञानमय जीव मनके वर्तमान चिन्तनको तादात्म्यलब्ध ज्ञानमें एवं समग्र बोधसे, ब्योरे और संबंधके अन्तरीय अनुभवसे प्राप्त ज्ञानमें रूपान्तरित करके अपने अन्दर समा लेगा, वह सब ज्ञान असीम रूपसे अधिक विशाल होगा, साक्षात्, प्रत्यक्ष एवं स्वतःस्फूर्त, वह आत्माके पहलेसे ही विद्यमान सनातन ज्ञानकी अभिव्यक्ति होगा। विज्ञानमय जीव स्थूल इन्द्रियोंको, मनकी छठी इन्द्रियकी क्षमताओंको, चैत्य चेतना और चैत्य इन्द्रियोंको हाथमें लेकर रूपान्तरित कर देगा, उन्हें विज्ञानमय बना देगा तथा उन्हें अनुभवके चरम आन्तर विषयीकरणके साधनोंके रूपमें प्रयुक्त करेगा। उसके लिय कोई भी चीज वस्तुतः बाह्य विषय नहीं

होगी, क्योंकि वह सभीको उस वैश्व-चेतनाकी एकतामें अनुभव करेगा जो कि उसकी अपनी होगी, अनन्तकी उस सत्ताकी एकतामें अनुभव करेगा जो उसकी अपनी ही सत्ता होगी। वह जड़तत्त्वको, स्थूल जड़तत्त्वको ही नहीं, वरन् सूक्ष्म तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़तत्त्वको भी आत्माके उपादान और आकारके रूपमें अनुभव करेगा, प्राणको तथा सब प्रकारकी शक्तिको आत्माकी क्रिया-शक्तिके रूपमें, अतिमानसीकृत मनको आत्माके ज्ञानके साधन या प्रणालिकाके रूपमें, अतिमानसको आत्माकी अनन्त ज्ञान-सत्ता, ज्ञान-शक्ति और ज्ञानानन्दके रूपमें अनुभव करेगा।

पच्चीसवाँ अध्याय

अतिमानसिक काल-दृष्टिकी ओर

समस्त सत्ता, चेतना एवं ज्ञान सत्‌की दो अवस्थाओं एवं शक्तियोंके बीच गति करता है—कालतीत 'अनन्त'की अवस्था, और सब वस्तुओंको अपने अन्दर कालमें प्रकट और व्यवस्थित करनेवाले 'अनन्त'की अवस्थाके बीच। हमारी वर्तमान स्थूल चेतनाके लिये तो यह गुप्त रूपमें गति करता है, पर जब हम इससे परे आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक स्तरोंकी ओर उठ जाते हैं तब यह खुले रूपमें इन अवस्थाओंके बीच गति करता है। ये दो अवस्थाएँ केवल हमारे मानसिक तर्कके लिये ही परस्पर-विरुद्ध और असंगत हैं, क्योंकि वह विरोधोंके एक मिथ्या विचारके चारों ओर परेशान होकर चक्कर काटता हुआ निरन्तर ठोकरें खाता रहता है तथा सनातन द्वन्द्वोंको एक-दूसरेके सामने खड़ा करता रहता है। वास्तवमें, जब हम अतिमानसिक तादात्म्य और अन्तर्दर्शनपर आधारित ज्ञानके साथ वस्तुओंको देखते हैं और उस ज्ञानके अपने विशिष्ट, महान्, गभीर एवं नमनीय तर्कके साथ सोचते हैं तो हमें पता चलता है कि ये दोनों अनन्तके एक ही सत्यकी केवल सहवर्तिनी एवं सहगामिनी स्थिति एवं गतिकी अवस्थाएँ हैं। कालातीत अनन्त इस अभिव्यक्तिसे परे अपने अन्दर, अपनी सत्ताके सनातन सत्यके अन्दर उस सबको धारण करता है जिसे वह कालमें व्यक्त करता है। उसकी कालगत चेतना भी स्वयं अनन्त है और जो कुछ हमें वस्तुओंका भूत, वर्तमान और भविष्य प्रतीत होता है उसे वह अपने अन्दर, समग्रताओं एवं विशिष्टताओंके, गतिशील क्रम या क्षण-दृष्टिके तथा समग्र स्थिरीकारक दृष्टि या स्थिर समग्र दृष्टिके अन्तरानुभवमें एक ही साथ धारण करती है।

कालातीत अनन्तकी चेतना हमें कई प्रकारसे हृदयंगम हो सकती है, पर साधारणतया उसकी एक प्रतिच्छाया एवं प्रबल छापके द्वारा उसे हमारे मनपर लाद दिया जाता है या फिर वह एक ऐसी वस्तुके रूपमें हमारे सामने उपस्थित की जाती है जो मनसे ऊपर है, जिसके प्रति मन सचेतन होता है, जिसकी ओर वह उठता है, पर जिसमें वह प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं कालभावना तथा क्षण-परम्परामें ही निवास करता

है। यदि हमारा वर्तमान मन, जो अतिमानसिक प्रभावसे रूपान्तरित नहीं हुआ, कालातीतमें प्रवेश करनेका यत्न करे तो उसे या तो समाधिकी भग्नावस्थामें विलुप्त एवं आत्म-विस्मृत हो जाना होगा, अथवा यदि वह जागरित अवस्थामें रहे तो वह अपने-आपको एक ऐसे अनन्तमें विकीर्ण हुआ अनुभव करेगा जहाँ शायद एक अतिभौतिक आकाशकी, विशालताकी, चेतनाके असीम विस्तारकी अनुभूति होती है, पर जहाँ काल सत्ता, काल-गति या काल-व्यवस्था नहीं है। और यदि तब भी मनोमय पुरुष कालगत पदार्थोंके प्रति यन्त्रवत् सचेतन होता है तो भी वह उनके साथ अपने ढंगसे वरताव नहीं कर सकता, कालातीत सत्ता और कालगत पदार्थोंमें सत्य-संबंध स्थापित नहीं कर सकता और अपने अनिर्दिष्ट 'अनन्त'मेंसे कर्म और संकल्प नहीं कर सकता। तब मनोमय पुरुषके लिये जो कर्म करना संभव रहता है वह प्रकृतिके करणोंका यांत्रिक कार्य ही होता है। यह कार्य पुरानी प्रवृत्ति एवं स्वभावके वलपर या अतीत शक्तिके भोगे जा रहे फलके कारण, **प्रारब्ध** कर्मके कारण चलता रहता है, या फिर यह एक अस्तव्यस्त, अनियंत्रित एवं असंबद्ध कार्य होता है, अर्थात् एक ऐसी शक्तिका अव्यवस्थित एवं आकस्मिक परिणाम होता है जिसका कोई चेतन केन्द्र अब नहीं होता।

इसके विपरीत, अतिमानसिक चेतना कालातीत अनन्तकी परम चेतना-पर आधारित है, पर 'काल'के भीतर अनन्त शक्तिके प्राकट्यका रहस्य भी उसे उपलब्ध है। वह कालगत चेतनामें स्थित होकर कालातीत अनन्तको अपनी परमोच्च-मूल-सत्ता-रूपी पृष्ठभूमिके रूपमें रख सकती है जहाँसे वह अपना समस्त व्यवस्थाकारी ज्ञान, संकल्प और कर्म प्राप्त करती है। अथवा, वह अपनी मूल सत्तामें केन्द्रित होकर कालातीतमें रह सकती है, पर साथ ही वह कालगत अभिव्यक्तिमें भी रह सकती है जिसे वह अनन्त एवं उसी एक 'अनन्त'के रूपमें अनुभव करती तथा देखती है, और जिसे वह एकमें (कालातीत अनन्तमें) दिव्यतया धारण करती है उसे दूसरेमें (कालगत अनन्तमें) प्रकट, धारण और विकसित कर सकती है। अतः उसकी कालगत चेतना मनोमय पुरुषकी काल-चेतनासे भिन्न होगी। वह क्षणोंकी धारापर अवश रूपसे वही नहीं चली जायगी, न ही प्रत्येक क्षणको एक आश्रय-बिन्दु एवं तेजीसे विलीन हो जानेवाले दृष्टिकोणके रूपमें पकड़ेगी, बल्कि प्रथम तो वह कालके परिवर्तनोंसे परे अपनी सनातन एकतापर आधारित होगी, दूसरे, इस एकताके साथ रहनेवाली कालकी उस शाश्वत धारापर जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य सनातनके आत्म-ज्ञान एवं आत्म-वलमें सदाके लिये एक साथ रहते हैं आधारित होगी, तीसरे, तीनों कालोंकी

इस समग्र दृष्टिपर कि ये तीनों एक ही गति हैं जो इनके क्रमों, युगों और चक्रोंके अनुक्रममें भी एक, और अविभाज्य दिखायी देती है, अन्तमें— और ऐसा केवल करणात्मक चेतनामें ही होता है—क्षणोंके क्रमिक विकासपर आधारित होगी। अतः उसे तीनों कालोंका ज्ञान होगा, **त्रिकालदृष्टि** प्राप्त होगी जिसे प्राचीन कालमें द्रष्टा एवं ऋषिका सर्वोच्च चिह्न माना जाता था। पर यह त्रिकालदृष्टि उसकी एक असाधारण शक्ति नहीं, वरन् काल-ज्ञानका उसका साधारण ढंग होगी।

यह एकीकृत एवं अनन्त काल-चेतना और यह अन्तर्दृष्टि एवं ज्ञान विज्ञानमय पुरुषके, अपने परम ज्योतिर्लोकमें, ऐश्वर्य हैं और ये अतिमानसिक प्रकृतिके उच्चतम स्तरोंपर ही अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। परन्तु ऊँचा उठाने एवं रूपान्तर करनेवाली विकासात्मक योग-प्रक्रियाके द्वारा—अर्थात्, अपने-आपको अनावृत, विकसित और उत्तरोत्तर पूर्ण बनानेवाली योग-प्रक्रियाके द्वारा मानव-चेतनाका जो आरोहण होता है उसमें हमें तीन क्रमिक अवस्थाओंको विचारमें लाना होगा। इन तीनोंको पार करके ही हम उच्चतम स्तरोंपर विचरण करनेके योग्य बन सकते हैं। हमारी चेतनाकी पहली अवस्था, जिसमें कि हम आज विचरण करते हैं, यह अज्ञानमय मन है जो जड़ प्रकृतिकी निश्चेतना और निर्ज्ञानमेंसे उद्भूत हुआ है। यह अज्ञ होता हुआ भी ज्ञानकी खोज करनेमें समर्थ है और उसे, कम-से-कम मानसिक निरूपणोंकी एक शृंखलाके रूपमें प्राप्त करता है। इन निरूपणोंको यथार्थ सत्यके संकेत-सूत्र बनाया जा सकता है और ये ऊर्ध्व स्तरकी ज्योतिके प्रभाव, अन्तःक्षरण एवं अवतरणसे अधिकाधिक परिष्कृत, आलोकित एवं पारदर्शक बनकर बुद्धिको सत्य ज्ञानकी क्षमताकी ओर खुलनेके लिये तैयार करते हैं। इस मनके लिये समस्त सत्य एक ऐसी वस्तु है जो इसके पास मूलतः नहीं थी और जो इसे प्राप्त करनी पड़ी है या अभी प्राप्त करनी है, एक ऐसी वस्तु जो इसके लिये बाह्य है और जो अनुभवसे या अनुसंधानकी कुछ-एक निश्चित विधियों एवं नियमोंका अनुसरण करके, गणनाके द्वारा, आविष्कृत नियमके प्रयोगसे, चिह्नों और संकेतोंकी व्याख्याके द्वारा संचित करने योग्य है। इसका ज्ञान ही एक पूर्ववर्ती निर्ज्ञानका सूचक है; यह अविद्याका करण है।

चेतनाकी दूसरी अवस्था मनुष्यके लिये केवल सुप्त और संभाव्य रूपमें ही विद्यमान है और यह आन्तरिक ज्ञानदीप्ति तथा अज्ञानमय मनके रूपान्तरसे ही प्राप्त होती है। इस अवस्थामें पहुँचकर ही मन अपने ज्ञानके उद्गमको बाहर न खोजकर भीतर खोजता है और, चाहे जिन

भी साधनोंसे हो, वह अपने वेदन एवं आत्मानुभवके प्रति मूल अविद्यासे युक्त मन न रहकर आत्मविस्मृतिपूर्ण ज्ञानसे संपन्न मन बन जाता है। यह मन जानता है कि सब वस्तुओंका ज्ञान इसके अन्दर ही छुपा है या कम-से-कम मानव-सत्तामें ही कहींपर विद्यमान है, पर मानों वह आवृत एवं विस्मृत पड़ा है, और ज्ञान उसके पास एक ऐसी वस्तुके रूपमें नहीं आता जो बाहरसे प्राप्त की गयी हो, वरन् वह गुप्त रूपसे सदा ही वहाँ विद्यमान होता है और अब स्मृतिमें आ जाता है तथा तत्काल ही सत्य जान पड़ता है,—उसमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर तथा अपनी मात्रा, रीति-नीति और नाप-तोलके अनुसार होती है। ज्ञानके प्रति इस मनकी यही वृत्ति होती है—उस समय भी जब कि कोई बाह्य अनुभव, चिह्न या संकेत ही ज्ञानकी प्राप्तिमें निमित्त बना हो, क्योंकि वह तो इसके लिये एक निमित्तमात्र है और ज्ञानकी सत्यताके लिये यह बाह्य संकेत या प्रमाणपर नहीं अपितु अन्दरके निश्चायक साक्षीपर निर्भर करता है। वास्तविक मन हमारे अन्दरका वैश्व मन ही है और व्यक्तिगत मन तो उसका उपरितलपर एक प्रक्षेपमात्र है। अतएव, चेतनाकी यह दूसरी अवस्था हमें या तो तब प्राप्त होती है जब वैयक्तिक मन अधिकाधिक भीतर जाता है और सदा ही चेतन या अवचेतन रूपसे वैश्व मनके स्पर्शोंके निकटवर्ती एवं उनके प्रति संवेदनशील होता है,—उस वैश्व मनके जिसमें सब कुछ निहित है, सब कुछ ग्रहण किया जाता है और अभिव्यक्त किया जा सकता है, अथवा, और भी शक्तिशाली रूपमें यह अवस्था तब प्राप्त होती है जब हम वैश्व मनकी चेतनामें निवास करते हैं और व्यक्तिगत मन उसका उपरितलपर एक प्रक्षेप या संकेत-पटल या एक संचारक बटनमात्र होता है।

चेतनाकी तीसरी अवस्था ज्ञानमय मनकी है जिसमें सभी वस्तुएँ और सभी सत्य इस रूपमें प्रत्यक्ष और अनुभूत होते हैं कि वे पहलेसे ही विद्यमान और ज्ञात हैं और उसपर (मनपर) अन्दरकी ज्योति फेंकनेमात्रसे तुरंत उपलब्ध हो सकते हैं, जैसे, जब कोई व्यक्ति एक कमरेमें रखी हुई, पहलेसे ही विदित और परिचित वस्तुओंपर दृष्टि डालता है और पाता है कि वे पूर्व-विद्यमान ज्ञानके विषय हैं, यद्यपि वे सदा दृष्टिके सामने उपस्थित नहीं होतीं, क्योंकि वह उनकी ओर एकाग्र नहीं होती। चेतनाकी दूसरी, आत्मविस्मृतिपूर्ण, अवस्थासे इसका भेद यह है कि इसमें किसी प्रकारके प्रयत्न या खोजकी जरूरत नहीं होती, जरूरत होती है केवल ज्ञानके किसी भी क्षेत्रकी ओर अन्दरकी ज्योति फेंकने या खोल देनेकी। अतएव, इसका अर्थ मनकी स्मृतिसे उतर गयी एवं उससे छुपी हुई वस्तुओंका स्मरण

नहीं है, बल्कि पहलेसे ही विद्यमान, प्रस्तुत और उपलभ्य वस्तुओंका उज्ज्वल निरूपण है। यह अन्तिम अवस्था केवल तभी प्राप्त हो सकती है यदि अन्तर्ज्ञानात्मक मन कुछ अंशमें विज्ञानमय बन जाय तथा वह अतिमानसिक स्तरोंसे आनेवाले प्रत्येक संदेशके प्रति पूर्ण रूपसे खुला रहे। यह ज्ञानमय मन अपने तात्त्विक रूपमें गर्भित सर्वशक्तिमत्ताकी ही एक क्षमता है, परन्तु मनके स्तरपर इसकी जो यथार्थ क्रिया होती है उसमें इसका क्षेत्र एवं कार्य-व्यापार सीमित होता है। यह सीमितताका स्वभाव स्वयं अतिमानसपर भी लागू होता है जब वह मानसिक स्तरके भीतर अवतरित होकर मनके क्षुद्रतर उपादानमें कार्य करता है, चाहे वह करता है अपने ही ढंगसे तथा अपने शक्तिमय एवं ज्योतिर्मय स्वरूपमें। यह स्वभाव अतिमानसिक बुद्धिकी क्रियामें भी दृढ़ रूपसे बना रहता है। अपने स्तरोंपर कार्य करती हुई उच्चतर अतिमानसिक शक्ति ही एक ऐसी शक्ति है जिसका संकल्प और ज्ञान सदा एक असीम प्रकाशमें या ज्ञानका अपरिमेय विस्तार करनेकी स्वतंत्र क्षमताके साथ कार्य करते हैं। यह ज्ञान-विस्तार केवल ऐसी सीमाओंके अधीन होता है जिन्हें आत्मा अपने प्रयोजनोंके लिये तथा अपनी इच्छानुसार अपने ऊपर लादता है।

अतिमानसकी ओर विकसित होते हुए मानव-मनको इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरना पड़ता है और अपने आरोहण एवं विस्तारमें वह अनेक परिवर्तनोंको तथा अपनी काल-चेतना एवं काल-ज्ञानकी शक्तियों और शक्यताओंकी नाना प्रवृत्तियोंको अनुभव कर सकता है। पहले-पहल अज्ञानमय मनकी अवस्थामें मनुष्य न तो अनन्त काल-चेतनामें निवास कर सकता है और न त्रिविध काल-ज्ञानकी किसी प्रत्यक्ष एवं वास्तविक शक्तिको अधिकृत कर सकता है। अज्ञानमय मन कालकी अविभाज्य, अविच्छिन्न धारामें नहीं, बल्कि क्रमशः एक-एक क्षणमें निवास करता है। उसे आत्माकी अविच्छिन्नताकी तथा अनुभवकी सारभूत अविच्छिन्नताकी एक अनिश्चित अनुभूति होती है। इस अनुभूतिका मूलस्रोत हमारे अन्दरकी गभीरतर आत्मा है, किन्तु, क्योंकि अज्ञानमय मन इस गभीरतर आत्मामें नहीं रहता, वह सच्चे अविच्छिन्न काल-प्रवाहमें भी नहीं रहता, पर हाँ, वह इस अनिश्चित, किन्तु फिर भी आग्रहपूर्ण अनुभूतिको अपनी वर्तमान अवस्थामें एक पृष्ठभूमि, आश्रय एवं आश्वासनके रूपमें प्रयुक्त करता है, नहीं तो यह अवस्था उसके लिये अपनी सत्ताका एक सतत आधारहीन प्रवाह ही होगी। अपनी व्यावहारिक क्रियामें वह वर्तमानमें स्थित होनेके अतिरिक्त केवल उस लीकका सहारा लेता है जिसे भूतकाल अपने पीछे

छोड़ जाता है और जो स्मृतिमें सुरक्षित होती है। इसके साथ ही वह पूर्व अनुभवसे संचित संस्कार-पुंजका भी आश्रय लेता है और, भविष्यके लिये, अनुभवकी नियमितताके आश्वासनका तथा अनिश्चित अनुमानकी उस शक्तिका सहारा पकड़ता है जो कुछ तो पुनरावृत्त अनुभव एवं सुप्रतिष्ठित अनुमानपर आधारित होती है और कुछ कल्पनात्मक रचना एवं अटकलपर। अज्ञानात्मक मन अपनी सामान्य क्रियाके लिये आपेक्षिक या नैतिक निश्चितताओंके एक विशेष आधार या तत्त्वपर भरोसा रखता है, पर बाकी सब चीजोंके लिये सुशक्यताओं और संभावनाओंके साथ व्यवहार करना ही उसका मुख्य साधन है।

इसका कारण यह है कि अज्ञानावस्थामें मन एक विशेष क्षणमें निवास करता है और एक घण्टेसे दूसरे घण्टेकी ओर उस पथिककी भाँति ही बढ़ता है जो अपने तत्क्षणके दृष्टि स्थानके निकट और चारों ओर दिखायी देनेवाली वस्तुओंको ही देखता है और जिन चीजोंसे वह पहले गुजर चुका है उन्हें अधूरे रूपमें ही याद रखता है, किन्तु उसकी तात्क्षणिक दृष्टिके परे उसके सामने जो कुछ भी है वह सब अदृष्ट एवं अज्ञात है जिसका अनुभव उसे अभी प्राप्त करना है। अतएव, जैसा कि बौद्ध दार्शनिकोंने देखा था, अपनी अज्ञानावस्थामें मनुष्य काल-चक्रके अन्तर्गत गति-चेष्टा करता हुआ विचारों और संवेदनोंकी तथा अपने विचार और संवेदनके समक्ष उपस्थित बाह्य रूपोंकी क्रमधारामें ही निवास करता है। उसकी वर्तमान क्षणस्थायिनी सत्ता ही उसके लिये सत्य है, उसकी अतीत सत्ता मिट चुकी है या लुप्त हो रही है अथवा केवल स्मृति, परिणाम एवं संस्कारके रूपमें ही सुरक्षित है, उसकी भावी सत्ता पूर्णतया असत् है या केवल रचनाकी प्रक्रियामेंसे गुजर रही है या जन्म लेनेकी तैयारीमें है। उसके चारों ओरका जगत् भी प्रत्यक्षके इसी नियमके अधीन है। इसका यथार्थ रूप तथा इसकी घटनाओं और दृग्विषयोंका समूह ही उसके सामने उपस्थित है तथा उसके लिये सर्वथा वास्तविक है, इसके अतीतकी अब कोई सत्ता नहीं है, अथवा वह केवल स्मृति तथा इतिवृत्तके रूपमें और अपने उतने ही अंशमें विद्यमान है जितना कि अपना मृत स्मारक छोड़ गया है या वर्तमानमें अभी भी जीवित है। इसके भविष्यका तो अभी तनिक भी अस्तित्व नहीं है।

तो भी यह ध्यानमें रखना होगा कि यदि हमारा वर्तमान संबंधी ज्ञान स्थूल मन तथा इन्द्रियोंपर हमारी निर्भरताके कारण सीमित न हो तो उक्त परिणाम सर्वथा अनिवार्य नहीं रहेगा। यदि हम किसी क्षण कार्य कर रही शारीरिक, प्राणिक, मानसिक शक्तियोंके संपूर्ण वर्तमानको, उनके संपूर्ण

कार्यको जान सकें तो यह कल्पना की जा सकती है कि हम उनके अन्दर तिरोहित उनके अतीतको तथा उनके गुप्त भविष्यको भी देख सकेंगे या कम-से-कम वर्तमान ज्ञानसे अतीत और भावी ज्ञानकी ओर बढ़ सकेंगे। कुछ विशेष अवस्थाओंमें यह वास्तविक एवं नित्य-विद्यमान, अविच्छिन्न काल-धाराकी अनुभूतिको, पिछले, अगले और वर्तमान क्षणमें जीवन धारण करनेकी अनुभूतिको उत्पन्न कर सकता है, और इससे आगेका और एक कदम हमें इस नित्य अनुभूतिमें ले जा सकता है कि अनन्त कालमें तथा अपने कालातीत आत्मामें हम सदा ही अस्तित्व रखते हैं, और तब सनातन कालमें उस (आत्मा)की अभिव्यक्ति हमारे लिये वास्तविक हो सकती है और साथ ही हम लोकोंके पीछे अवस्थित कालातीत आत्माको तथा उसकी शाश्वत विश्व-अभिव्यक्तिकी वास्तविकताको अनुभव कर सकते हैं। कुछ भी हो, इस समय हमारे अन्दर जो काल-चेतना है उससे भिन्न प्रकारकी काल-चेतना तथा त्रिविध काल-ज्ञानकी संभावना इसपर निर्भर करती हैं कि स्थूल मन और इन्द्रियकी अपनी विशेष चेतनासे भिन्न चेतनाका हम कहाँतक विकास कर सकते हैं और संवेदन, स्मृति, अनुमान एवं अटकलकी सीमाओंमें बँधे अज्ञानमय मनकी तथा तत्तत् क्षणकी जिस कारामें हम कैद हैं उसे हम कहाँ-तक तोड़ सकते हैं।

वस्तुतः मनुष्य केवल वर्तमानमें निवास करनेसे ही संतुष्ट नहीं होता, यद्यपि यहीं वह अत्यन्त प्रवल सजीवता एवं आग्रहके साथ करता है : वह आगे और पीछे देखनेके लिये प्रेरित होता है, अतीतका अधिक-से-अधिक जितना भी अंश वह जान सकता है उसे जाननेके लिये तथा, कितने धूमिल रूपमें ही सही, भविष्यके अन्दर दूरसे दूरतक पैठनेका यत्न करनेके लिये प्रेरित होता है। इस प्रयासके लिये उसके पास कुछ-एक सहायक साधन भी हैं जिनमेंसे कुछ उसके स्थूल मनपर आश्रित हैं, जब कि दूसरे एक अन्य अन्तःप्रच्छन्न या अतिचेतन सत्तासे आनेवाले संदेशोंकी ओर खुले रहते हैं। इस सत्ताको अधिक महान्, अधिक सूक्ष्म और सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त है। मनुष्यके पास सबसे पहला सहायक साधन बुद्धि है जो आगे तो कारणसे कार्यकी ओर गति करती है और पीछे कार्यसे कारणकी ओर, शक्तियोंके नियम और उनकी सुनिश्चित यांत्रिक प्रक्रियाकी खोज करती है, प्रकृतिकी गतियोंकी शाश्वत एकरूपताकी कल्पना करती है, उसके काल-परिमाणोंको निश्चित करती है और इस प्रकार सामान्य दिशाओं तथा सुनिश्चित परिणामों-के विज्ञानके आधारपर भूत और भविष्यका आकलन करती है। भौतिक प्रकृतिके क्षेत्रमें इस पद्धतिसे कुछ सफलता प्राप्त हुई है जो परिमित होने

पर भी काफी आश्चर्यजनक है और ऐसा लग सकता है कि मन और प्राण की क्रियाओंपर भी अन्ततः यही विधि प्रयुक्तकी जा सकती है और कि, चाहे जो भी हो, किसी भी क्षेत्रमें यथार्थताके साथ पीछे और आगे देखनेके लिये यही मनुष्यका एकमात्र विश्वसनीय साधन है। पर वास्तवमें प्राणिक प्रकृतिकी और, इससे भी अधिक, मानसिक प्रकृतिकी घटनाएँ सुनिश्चित नियमके आधारपर अनुमान एवं गणना करनेकी उन विधियोंसे जो भौतिक ज्ञानके क्षेत्रमें लागू होती है, एक वड़ी हदतक, अगोचर ही रह जाती हैं। यह नियम वहाँ नियमित घटनाओं एवं दृग्विपयोंके सीमित क्षेत्रतक ही लागू हो सकता है और वाकीके लिये यह हमें सापेक्ष निश्चितताओं, अनिश्चित सुशक्यताओं और अगण्य संभावनाओंके एक मिश्रित संघातके वीच, जहाँ हम थे वहीं छोड़ देता है।

इसका कारण यह है कि मन और प्राण क्रियाकी एक महान् सूक्ष्मता एवं जटिलताको ले आते हैं, प्रत्येक संसिद्ध क्रिया अपने अन्दर शक्तियोंके एक जटिल संघातको धारण किये होती है, और यदि हम इन सवको अर्थात् जो वस अभी हालमें चरितार्थ हुई हैं और उपरितल पर या उसके निकट हैं उन सवको संघातमेंसे पृथक् करके जान भी सकें तो भी हम वाकीकी उन सव चीजोंके वारेमें जो तमसाच्छन्न या प्रसुप्त हैं, हतप्रभ ही रहेंगे, अनेकों गुप्त और फिर भी शक्तिशाली सहायक कारण, प्रच्छन्न गति एवं प्रेरक शक्ति, अप्रकाशित संभावनाएँ, परिवर्तनकी अनवधारित एवं अनवधार्य संभावनाएँ—इन सवके वारेमें हमारी वुद्धि चकरायी ही रहेगी। यहाँ भौतिक क्षेत्रकी भाँति एक निश्चित कारणसे निश्चित कार्यका यथार्थ आकलन करना अर्थात् वर्तमान अवस्थाओंके एक ज्ञात, प्रत्यक्ष समुदायसे परवर्ती अवस्थाओंके एक अनिवार्य, परिणामभूत समुदायका या पूर्ववर्ती अवस्थाओंके एक अनिवार्य पूर्वभावका ठीक-ठीक और सुनिश्चित हिसाव लगाना हमारी सीमित वुद्धिके लिये व्यवहार्य नहीं रहता। यही कारण है कि तथ्य-सामग्रीके अवलोकनमें व्यापकसे व्यापक दृष्टि तथा संभावित परिणामके पर्यालोचनमें अत्यंत सतर्कताके होनेपर भी मानव-वुद्धिकी भविष्यवाणियाँ और भाविदृष्टियाँ यथार्थ घटनासे निरंतर पराजित और खण्डित होती रहती हैं। प्राण और मन आत्मा और जड़तत्वके वीचमें आ सकनेवाली संभव वस्तुओंका एक सततप्रवाह हैं और पग-पगपर ये संभव वस्तुओंके एक अनन्त नहीं तो कम-से-कम एक अनिश्चित संघातको ले आते हैं और यह चीज समस्त तार्किक अवधारणाको अनिश्चित एवं सापेक्ष रूप देनेके लिये काफी है। पर साथ ही इनके पीछे एक परमोच्च कारण तत्त्व प्रभुत्वशाली रूपमें स्थित है जिसका

आकलन मानव-मन नहीं कर सकता। वह है चैत्यका संकल्प तथा गुह्य आत्माका संकल्प। इनमेंसे पहला अनियत रूपसे परिवर्तनशील, तरल तथा जटिल है, दूसरा अनन्त है, अज्ञेय रूपसे अटल है और यदि वह वद्ध है भी तो केवल अपने-आपसे तथा अनन्तके संकल्पसे ही वद्ध है, और किसीसे नहीं। अतएव स्थूल भौतिक मनसे पीछे हटकर चैत्य और आध्यात्मिक चेतनामें जानेसे ही तीनों कालोंका साक्षात्कार एवं ज्ञान तथा तत्तत् क्षणके दृष्टिविन्दु एवं दृष्टिक्षेत्रके प्रति अपनी सीमितताका पूर्ण अतिक्रमण किया जा सकता है।

इस वीच, अन्तश्चेतनापरसे वहिश्चेतनाकी ओर खुलनेवाले कुछ ऐसे द्वार हैं जो स्थूल मनमें भी अतीतके प्रत्यक्ष अनुदर्शन, वर्तमानके परिदर्शन और भविष्यके पूर्वदर्शनकी कभी-कभी उत्पन्न होनेवाली पर अपर्याप्त शक्तिको कम-से-कम एक संभावनाके रूपमें साध्य वना देते हैं। सर्वप्रथम, मन-रूपी इन्द्रिय और प्राणिक चेतनाकी कुछ विशेष क्रियाएँ इसी प्रकारकी हैं—जिनमेंसे एक प्रकारकी क्रियाको, जिसने हमारे प्रत्यक्ष वोधोंको अत्यन्त प्रभावित किया है, 'पूर्ववोध'की संज्ञा दी गयी है। ये क्रियाएँ ऐन्द्रिय मन तथा प्राणिक सत्ताके सहज-वोध एवं अस्पष्ट अन्तर्ज्ञान हैं, और मनुष्यमें जो भी सहज-प्रेरित वृत्तियाँ हैं उनके समान इन्हें भी मनोमय वुद्धिकी सर्वग्रासिनी क्रियाने दवा दिया, दुर्लभ वना दिया या अविश्वसनीय कहकर निन्द्य ठहराया है। यदि इन्हें खुला क्षेत्र प्रदान किया जाय तो ये विकसित होकर ऐसी तथ्य-सामग्री प्रदान कर सकती हैं जो साधारण वुद्धि और इन्द्रियोंके लिये प्राप्य नहीं है। किन्तु फिर भी ये अपने-आपमें पूर्णतया उपयोगी या विश्वसनीय संकेत नहीं होंगी जवतक कि इनकी अस्पष्टता एक ऐसे अर्थ-विवरण एवं मार्गदर्शनद्वारा आलोकित न हो जिसे साधारण वुद्धि नहीं प्रदान कर सकती, पर उच्चतर अन्तर्ज्ञान प्रदान कर सकता है। अतएव अन्तर्ज्ञान दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण और संभव साधन है जो हमें प्राप्त हो सकता है, और वह हमें वास्तवमें ही, इस कठिन क्षेत्रमें सामयिक आलोक एवं मार्गदर्शन प्रदान कर सकता है और कभी-कभी प्रदान करता ही है। पर हमारी वर्तमान मानसिकतामें कार्य करता हुआ वह इस असुविधाका शिकार होता है कि उसकी क्रिया निश्चित नहीं होती, उसका व्यापार अपूर्ण होता है, वह कल्पना तथा भ्रान्तिशील मानसिक निर्णयकी मिथ्या अनुकरणात्मक क्रियाओंसे आच्छन्न हो जाता है और सतत्-भ्रान्तिशील मनकी सामान्य क्रिया उसे निरंतर अपने अधिकारमें लाकर मिश्रित और विकृत करती रहती है। उच्चतर प्रकाशपूर्ण वुद्धिके कार्यकी इस संभावनाको विस्तृत और सुनिश्चित रूप देनेके लिये

उपर्युक्त त्रुटियोंसे मुक्त एवं विशुद्ध, व्यवस्थित अन्तर्ज्ञानात्मक मनका निर्माण करना आवश्यक होगा।

बुद्धिकी इस असमर्थताके सामने खड़ा हुआ पर भविष्यके ज्ञानके लिये उत्कण्ठित मानव फिरसे अन्य बाह्य साधनोंकी शकुनों, भाग्य-निर्णयों, स्वप्नों तथा फलित ज्योतिषकी और भूत एवं भावीके ज्ञानके लिये अन्य अनेक प्रस्थापित तथ्योंकी शरणमें चला गया है जिन्हें कम संशयवादी युगोंमें सच्चे विज्ञानोंका रूप दे दिया गया है। संशयप्रधान बुद्धिके द्वारा चुनौती दिये जाने एवं अविश्वास किये जानेपर भी ये अभीतक हमारे मनोंको आकृष्ट करनेमें निरन्तर निरत हैं और अपना अधिकार जमाये हुए हैं; इसमें इन्हें कामना, श्रद्धालुता और अन्धविश्वासका सहारा मिलता है, साथ ही इनके दावोंमें सत्यका कुछ अंश होनेकी जो साक्षी, अपूर्ण ही सही, हमें प्रायः मिलती है वह भी इनका समर्थन करती है। एक उच्चतर चैत्य ज्ञान हमें दिखाता है कि वास्तवमें जगत् सादृश्यों और संकेतोंकी अनेक पद्धतियोंसे पूर्ण है और चाहे इन चीजोंका मानव-बुद्धिद्वारा कितना ही अधिक दुरुपयोग क्यों न किया गया हो, फिर भी ये अपने स्थानपर तथा ठीक अवस्थाओंमें हमें अतिभौतिक ज्ञानके लिये वास्तविक तथ्य सामग्री दे सकती हैं। तथापि यह स्पष्ट ही है कि अन्तर्ज्ञान (बोधिमय ज्ञान) ही इन्हें खोजकर सूत्रबद्ध रूप दे सकता है,—जैसे कि वास्तवमें चैत्य एवं अन्तर्ज्ञानात्मक मनने सत्य-प्रतिपादक ज्ञानकी इन पद्धतियोंकी पहले-पहल रचनाकी थी,—और व्यवहारमें भी यह पता चलेगा कि परम्परागत या दैव-घटित व्याख्या या यांत्रिक नियम एवं सूत्रका कोरा प्रयोग नहीं वरन् बोधिमूलक ज्ञान ही हमें इन संकेतोंके यथायथ प्रयोगका निश्चय बँधा सकता है। अन्यथा, स्थूल बुद्धिद्वारा प्रयोगमें लाये जानेपर ये भ्रान्तिके एक घने जंगलका रूप धारण कर सकते हैं।

भूत, वर्तमान और भविष्यका सच्चा और प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार चैत्य चेतना और चैत्य शक्तियोंके उद्घाटनसे आरंभ होता है। चैत्य चेतना वह है जिसे आजकल प्रायः प्रच्छन्न अन्तःसत्ता कहा जाता है, अर्थात् भारतीय मनोविज्ञानका सूक्ष्म या स्वाप्न आत्मा। उसके संभाव्य ज्ञानका क्षेत्र, जैसा कि पिछले अध्यायमें निर्दिष्ट किया जा चुका है, लगभग अनन्त ही है। वह भूत, वर्तमान और भविष्यकी संभावनाओं और निश्चित यथार्थताओंमें पैठनेवाली अन्तर्दृष्टिकी एक बहुत व्यापक शक्तिको तथा इस अन्तर्दृष्टिके अनेक रूपोंको अपने अन्दर समाविष्ट करता है। उसकी प्रथम शक्ति, जो सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, देश और कालमें विद्यमान किन्हीं भी वस्तुओंकी मूर्तियोंको चैत्य इन्द्रियद्वारा देखनेकी उसकी शक्ति है।

अतीन्द्रिय-दर्शियों, माध्यमों तथा कुछ दूसरोंके द्वारा यह जिस रूपमें प्रयोग-में लायी जाती है उसमें यह प्रायः ही और, वास्तवमें साधारणतया ही, एक विशिष्ट शक्ति है जो सीमित होती हुई भी अपनी क्रियामें प्रायः सुनिश्चित और यथार्थ होती है, और यह अन्तरात्मा या आध्यात्मिक सत्ता या उच्चतर बुद्धिके किसी प्रकारके विकासको द्योतित नहीं करती। यह एक द्वार है जो जाग्रत् मन और अन्तःप्रच्छन्न मनके बीच संयोगवश या एक सहजात देनके कारण या किसी प्रकारके दबावसे खुल जाता है और यह हमें प्रच्छन्न मनके ऊपरी तल या बाहरी अंचलमें ही प्रवेश प्रदान करता है। गुप्त विराट् मनकी एक विशेष शक्ति एवं क्रियामें सभी वस्तुएँ प्रतिमाओंके द्वारा—केवल चाक्षुष ही नहीं वरन्, यदि हम ऐसी पदावलिका प्रयोग कर सकते हों तो, श्रव्य तथा अन्यविध प्रतिमाओंके द्वारा भी—प्रतिरूपित होती हैं। और यदि रचनाकारी मन तथा उसकी कल्पनाओंका हस्तक्षेप न हो, अर्थात् यदि कृत्रिम या मिथ्याकारक मानसिक प्रतिमाएँ बीचमें दखल न दें, यदि चैत्य इन्द्रिय मुक्त, सच्ची और निष्क्रिय (निष्प्रतिरोध) हो तो सूक्ष्म या चैत्य इन्द्रियोंके एक विशेष प्रकारके विकाससे इन प्रतिरूपों या प्रतिलेखोंको पूर्ण यथार्थताके साथ ग्रहण करना संभव हो जाता है। इसके साथ ही, मनकी यथार्थ प्रतिमाओंमें भूत और भविष्यको तथा स्थूल इन्द्रियकी पहुँचसे परेके वर्तमानको साक्षात् देखना भी संभव हो जाता है, यद्यपि उनके बारेमें भविष्यवाणी करना उतना संभव नहीं होता। इस प्रकारके साक्षात्कारकी यथार्थता इसपर निर्भर करती है कि मन दृष्ट वस्तुके वर्णनतक ही सीमित रहे। अनुमान एवं व्याख्या करनेकी अथवा किसी और प्रकारसे चाक्षुष ज्ञानके परे जानेकी चेष्टा अत्यधिक भ्रान्तिकी ओर ले जा सकती है। पर हाँ, यदि इस चेष्टाके साथ ही एक परिष्कृत, सूक्ष्म, विशुद्ध और तीव्र चैत्य अन्तर्ज्ञान भी विद्यमान हो या ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धिका उच्च विकास हो चुका हो तो बात दूसरी है।

चैत्य चेतनाका एक अधिक पूर्ण उद्घाटन हमें प्रतिमाओंद्वारा साक्षात्कार करनेकी इस शक्तिसे बहुत ही परे ले जाता है और निःसंदेह वह हमें एक नयी काल-चेतनामें तो नहीं पर तीनों कालोंके ज्ञानकी अनेक पद्धतियोंमें प्रवेश प्रदान करता है। अन्तः-प्रच्छन्न या चैत्य सत्ता अपने-आपको चेतना एवं अनुभूतिकी अतीत अवस्थाओंमें वापिस ले जा सकती या प्रक्षिप्त कर सकती है और चेतना एवं अनुभूतिकी भावी अवस्थाओंको भी पहलेसे जान सकती है अथवा उनमें अपनेको प्रबलतया प्रक्षिप्त भी कर सकती है, यद्यपि साधारणतया ऐसा कम ही देखनेमें आता है। ऐसा वह भूत और भविष्यके

नित्य स्वरूपों या प्रतिरूपोंमें कुछ कालके लिये प्रवेश करके या उनके साथ अपनी सत्ताको या ज्ञानानुभवकी शक्तिको एकीभूत करके करती है। ये नित्य स्वरूप या प्रतिरूप हमारे मनके पीछे स्थित सनातन काल-चेतनामें धारित रहते हैं या फिर अतिमानसकी सनातनताके द्वारा काल-दृष्टिकी अविभाज्य, अविच्छिन्न धारामें उपरितलपर उछाल फेंके जाते हैं। अथवा, चैत्य सत्ता इन वस्तुओंकी छापको ग्रहण करके चैत्यके सूक्ष्म आकाशमें एक प्रतिलेखके रूपमें इनका अनुभव रच सकती है। या फिर वह भूतको अवचेतन स्मृतिमेंसे, जहाँ वह प्रसुप्त रूपमें सदा ही विद्यमान है, उभार सकती है और उसे अपने अन्दर एक जीवन्त रूप तथा ऐक प्रकारका नया स्मृत्यात्मक अस्तित्व प्रदान कर सकती है, और इसी तरह वह भविष्यको प्रसुप्तताकी गहराइयोंमेंसे, जहाँ यह हमारी सत्तामें पहलेसे ही निर्मित एवं तैयार है, उपरितलपर ला सकती है और अतीतकी भाँति उसे भी अपने लिये रूप दे सकती एवं अनुभव कर सकती है। वह एक प्रकारकी चैत्य विचार-द्रृष्टि या चैत्य अन्तर्ज्ञानके द्वारा—यह अन्तर्ज्ञान और ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धिकी सूक्ष्मतर एवं कम मूर्त विचार-दृष्टि एक ही चीज नहीं है—भविष्यको पहलेसे ही देख या जान सकती है या जो भूतकाल पर्देके पीछे चला गया है उसमें इस चैत्य अन्तर्ज्ञानकी प्रभा फेंककर उसे वर्तमान ज्ञानके लिए पुनः प्राप्त कर सकती है। वह एक प्रतीकात्मक अन्तर्दर्शनका विकास कर सकती है जो शक्तियों और गूढ़ार्थोंके अन्तर्दर्शनके द्वारा भूत और भविष्यको प्रकाशित करता है। ये शक्तियाँ और गूढ़ार्थ अतिभौतिक स्तरोंसे संबंध रखते हैं पर जड़ जगत्में सर्जन करनेमें समर्थ हैं। अन्तःप्रच्छन्न या चैत्य सत्ता भगवान्के प्रयोजन एवं देवताओंके विचारको और सभी पदार्थों तथा उनके चिह्नों एवं संकेतोंको भी अनुभव कर सकती है जो अन्तरात्मापर ऊर्ध्वसे प्रकट होते हैं और शक्तियोंकी जटिल गतिका निर्धारण करते हैं। वह उन शक्तियों-की गतिको भी अनुभव कर सकती है जो हमारे जीवनोंसे संबंध रखनेवाली, मानसिक, प्राणिक तथा अन्य लोकोंकी सत्ताओंके दवावको सूचित करती हैं तथा उसे प्रत्युत्तर देती हैं, जैसे कि वह इन सत्ताओंकी उपस्थिति और क्रियाका भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकती है। वह भूत, वर्तमान और भवि-ष्यत् कालकी घटनाओंके सव प्रकारके संकेतोंको सभी साधनोंसे अर्जित कर सकती है। वह अपनी दृष्टिके समक्ष आकाशलिपिको ग्रहण कर सकती है जो सभी अतीत वस्तुओंका इतिवृत्त सुरक्षित रखती है तथा उस सवकी प्रतिलिपि करती जाती है जो वर्तमानमें घटित हो रहा है, और जो भविष्यको भी लेखवद्ध कर डालती है।

ये सब तथा अन्य अनेक शक्तियाँ हमारी अन्तःप्रच्छन्न सत्तामें छुपी हुई हैं और चैत्यगत चेतनाके जागरणके साथ ये उपरितलपर लायी जा सकती हैं। हमारे अतीत जन्मोंका ज्ञान,—वह चाहे आत्माकी अतीत अवस्थाओं या उसके व्यक्तित्वोंका हो या किन्हीं दृश्यों एवं घटनाओंका तथा दूसरोंके साथ हमारे संबंधोंका,—दूसरोंके विगत जन्मोंका, संसारके अतीतका, भविष्यका ज्ञान, उन वर्तमान वस्तुओंका ज्ञान जो हमारी स्थूल इन्द्रियोंके क्षेत्रसे परे हैं या जो स्थूल बुद्धिके सामने खुले हुए ज्ञानके किसी-भी साधनकी, पहुँचसे परे हैं, भौतिक पदार्थोंका ही नहीं, वरन् हमारे तथा दूसरोंके अतीत वर्तमान और भावी मन, प्राण एवं आत्माके कार्य-व्यापारका सहजज्ञान एवं स्मृति-अंकन, इस लोकका ही नहीं वल्कि अन्य लोकों या चेतना-स्तरोंका तथा उनकी कालगत अभिव्यक्तियोंका ज्ञान और पृथ्वी तथा इसकी देहधारी आत्माओं तथा उनके भाग्योंपर अन्य लोकोंकी क्रियाओं एवं प्रभावोंका, इन सबमें उनके हस्तक्षेपका ज्ञान हमारी चैत्य सत्ताके लिये खुला पड़ा है, क्योंकि वह वैश्व सत्ताके सन्देशोंके अत्यंत निकट है, केवल या मुख्य रूपसे प्रत्यक्ष और वर्तमानमें ही ग्रस्त नहीं है और न निरे वैयक्तिक एवं भौतिक अनुभव के संकुचित घेरेमें ही बन्द है।

पर इसके साथ ही ये शक्तियाँ इस दोषसे ग्रस्त हैं कि ये भूल-भ्रान्तिमें फँसनेकी संभावनासे किसी तरह भी मुक्त नहीं हैं, और विशेषतया चैत्य चेतनाके निम्न स्तर एवं अधिक वाह्य क्रिया-व्यापार तो भयानक प्रभावों, प्रवल भ्रमों, और भ्रान्त, दूषित एवं विकृत करनेवाले सुझावों और प्रतिमाओंके शिकार होते हैं। शुद्ध मन और हृदय तथा तीव्र और सूक्ष्म चैत्य अन्तर्ज्ञान इस विकृति और भ्रान्तिसे बचानेके लिये वहुत कुछ कर सकते हैं, पर अधिक-से-अधिक सुविकसित चैत्य चेतना भी तवतक पूर्णतया सुरक्षित नहीं हो सकती जवतक कि चैत्य शक्ति अपनेसे ऊँची शक्तिके द्वारा आलोकित एवं उन्नीत न हो और उसे ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक मनका स्पर्श एवं वल प्राप्त न हो और जवतक इस अन्तर्ज्ञानात्मक मनको भी आत्माकी अतिमानसिक शक्तिकी ओर उन्नीत न कर दिया जाय। चैत्य चेतना अपने काल-ज्ञानको आत्माकी अविभाज्य, अविच्छिन्न धारामें सीधे निवास करके नहीं प्राप्त करती और उसके पास अपने मार्गदर्शनके लिये न तो एक पूर्ण अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक होता है और न उच्चतर सत्य-चेतनाकी चरम-परम ज्योति। वह अपने कालानुभवोंको मनकी भाँति केवल किसी अंश एवं व्योरेमें ही ग्रहण करती है, सब प्रकारके सुझावोंकी ओर खुली रहती है, और जैसे, इसके परिणामस्वरूप, उसका सत्यका क्षेत्र अधिक विस्तृत है, वैसे ही इसके भ्रान्तिके

मूलस्रोत भी अनेक और नानाविध हैं। भूतमेंसे उसके पास केवल वह ही नहीं आता जो असलमें था, बल्कि वह भी जो हो सकता था या जिसने यत्न किया पर घटित होनेमें असफल रहा, वर्तमानसे उसके पास केवल वह ही नहीं आता जो है, बल्कि जो हो सकता है या होना चाहता है उस सबकी भीड़ भी आ जमा होती है और भविष्यसे उसके पास आगे होनेवाली वस्तुएँ ही नहीं आतीं वरन् अनेक प्रकारकी संभावनाओंके सुझाव, अन्तर्ज्ञान, अन्तर्दर्शन और मूर्त रूप भी आ जाते हैं। इसके साथ ही चैत्य अनुभवके निरूपणके समय मानसिक रचनाएँ और मानसिक प्रतिमाएँ वस्तुओंके वास्तविक सत्यमें सदा ही हस्तक्षेप कर सकती हैं।

अन्तःप्रच्छन्न सत्ताके सन्देशोंका उपरितलपर आना और चैत्यगत चेतना-की क्रिया ये दोनों अज्ञानमय मनको, जिससे हम अपनी साधना आरंभ करते हैं, पूर्णतया तो नहीं पर उत्तरोत्तर आत्म-विस्मृतिपूर्ण ज्ञानसे युक्त मनमें बदलते चले जाते हैं। यह मन अन्तरात्मासे उठनेवाली संदेशवाणियों एवं ज्ञानधाराओंसे, उसकी समग्र सत्ता एवं अनन्त अन्तर्निधि-विषयक और भी गुप्त चैतन्यसे निर्गत रश्मियोंसे निरन्तर आलोकित होता है। सनातन आत्मा भूत, वर्तमान और भविष्यके जिस सहजात, नित्य पर गुप्त ज्ञानको सदा ही अपने अन्दर धारण किये है, तद्विषयक चैतन्यसे भी यह सतत प्रकाशित रहता है—यह चैतन्य यहाँ अपने-आपको आत्माके उक्त ज्ञानके एक प्रकारके स्मरण, पुनरुद्बोधन या आविष्करण के रूपमें प्रकट करता है। पर क्योंकि हम देहधारी हैं तथा भौतिक चेतनापर आधारित हैं, अतः अज्ञान-मय मन तब भी एक अवरोधक परिस्थिति, हस्तक्षेपकारक शक्ति तथा सीमा-जनक स्वभाव-शक्तिके रूपमें डटा रहता है जो नयी रचनामें बाधा डालती हैं तथा उसके साथ मिल-मिला जाती हैं अथवा, व्यापक ज्ञानदीप्तिके क्षणोंमें भी, यह मन एक साथ एक सीमा-भित्ति एवं दृढ़ आधारके रूपमें बना रहता है और अपनी अक्षमताओं एवं भूलोंको लादता रहता है। उसकी इस हठधर्मीका इलाज करनेके लिये पहला आवश्यक साधन यह प्रतीत होगा कि एक ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानात्मक बुद्धिकी शक्तिका विकास किया जाय जो काल और उसकी घटनाओंके सत्यको तथा अन्य सब प्रकारके सत्यको अन्तर्ज्ञा-नात्मक विचार, ऐन्द्रिय संवेदन और अन्तर्दर्शनके द्वारा देखती है और अपनी सहजात विवेक-ज्योतिके द्वारा भूल-भ्रान्तियोंके आक्रमणोंका पता लगाकर उन्हें बहिष्कृत करती है।

समस्त बोधिमूलक ज्ञान (अन्तर्ज्ञान), कम या अधिक प्रत्यक्ष रूपसे, स्व-सचेतन आत्माकी ज्योतिके मनके अन्दर प्रवेश करनेसे ही प्राप्त होता

है। यह आत्मा मनके पीछे छुपा है। इसके अपने अन्दर तथा इसकी सब आत्माओंके अन्दर जो कुछ भी है उस सबसे यह सचेतन है। यह सर्वज्ञ है तथा अज्ञानमय या आत्म-विस्मृतिपूर्ण मनको विरली या सतत दीप्तियोंके द्वारा या अपनी उस ज्योतिके द्वारा आलोकित कर सकता है जो इसकी सर्वज्ञतामेंसे उसके अन्दर स्थिरतया प्रवाहित होती है। इस 'सब'के अन्दर, जिससे कि यह सचेतन है, वह सभी कुछ आ जाता है जो कालमें था, है या होगा और यह सर्वज्ञता हमारे मनके किये हुए तीन कालोंके विभाजनसे परिसीमित, प्रतिहत या कुण्ठित नहीं होती, न ही यह एक मृत, इस समय अविद्यमान, अल्प-स्मृत या विस्मृत अतीतके, तथा अभीतक अस्तित्वमें न आये और अतएव, अज्ञेय भविष्यके,—जो अज्ञानावस्थामें मनके लिये अत्यंत अटल है,—विचार एवं अनुभवसे सीमित, व्याहृत या पराभूत होती है। इस प्रकार, अन्तर्ज्ञानात्मक मनका विकास अपने साथ काल-ज्ञानकी क्षमता ला सकता है जो उसके पास बाहरी संकेतोंसे नहीं, वरन् वस्तुओंके विराट् आत्माके भीतरसे आती है। उसके अन्दर अतीतकी जो सनातन स्मृति है, वर्तमान वस्तुओंका जो असीम भंडार है तथा भविष्यका जो पूर्व-दर्शन है, जिसे स्व-विरोधात्मक, पर सांकेतिक भाषामें भविष्यकी स्मृति कहा गया है,—उस सबसे उसे काल-ज्ञानकी क्षमता प्राप्त होती है। पर यह क्षमता पहले-पहल व्यवस्थित ढंगसे नहीं, वरन् विक्षिप्त एवं अनिश्चित रूपसे कार्य करती है। जैसे-जैसे अन्तर्ज्ञानकी शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे इस क्षमताके प्रयोगपर प्रभुत्व प्राप्त करना तथा इसके क्रिया-व्यापार एवं नाना गतियोंको कुछ सीमातक व्यवस्थित करना अधिक संभव होता जाता है। तीनों कालोंकी वस्तुओंके उपादानोंपर तथा उनके मूलतत्वों या सूक्ष्म व्योरोंके ज्ञानपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी शक्ति अभ्यासद्वारा आयत्त एवं स्थापित की जा सकती है, पर साधारणतया यह एक विशिष्ट या असामान्य शक्तिके रूपमें ही अस्तित्व रखती है और मनका सामान्य कार्य या उसका एक बहुत बड़ा भाग अब भी अज्ञानमय मनका व्यापार बना रहता है। यह स्पष्ट ही एक न्यूनता एवं सीमा है। जब यह शक्ति पूर्णतः बोधि-भावापन्न मनकी सामान्य एवं स्वाभाविक क्रियाके रूपमें अपना स्थान ग्रहण कर लेती है तभी यह कहा जा सकता है कि जहाँतक मनोमय मनुष्यमें संभव है वहाँतक त्रिकाल-ज्ञानकी क्षमता पूर्णताको पहुँच गयी है।

बुद्धिकी सामान्य क्रियाको उत्तरोत्तर बहिष्कृत करके, अन्तर्ज्ञानमय चेतनापर पूर्ण एवं समग्र निर्भरता प्राप्त करके और इसके फलस्वरूप मनोमय सत्ताके सभी भागोंको अन्तर्ज्ञानमय बनाकर ही अज्ञानमय मनके स्थानपर

अन्तर्निहित ज्ञानसे युक्त मनको, अभी पूर्ण रूपसे नहीं तो अधिक सफलता-पूर्वक, प्रतिष्ठित किया जा सकता है। परन्तु, आवश्यकता है अज्ञानमय मनकी नींवपर खड़ी की गयी मानसिक रचनाओंको समाप्त करनेकी, विशेषकर, उक्त प्रकारके अन्तर्ज्ञानके लिये तो इन्हें समाप्त करना अत्यावश्यक है। साधारण मन और अन्तर्ज्ञानात्मक मनमें भेद यह है कि साधारण मन अंधेरेमें या, अधिक-से-अधिक, अपनी अस्थिर मशालके प्रकाशद्वारा खोजता हुआ पहले तो पदार्थोंको वैसे ही देखता है जैसे वे उस प्रकाशमें उसे प्रतीत होते हैं और दूसरे, जहाँ उसे पता नहीं चलता वहाँ वह कल्पना, अनिश्चित अनुमान तथा अपने कुछ अन्य साधनों एवं कामचलाऊ युक्तियोंके द्वारा वस्तुओंको गढ़ लेता है जिन्हें वह तुरत ही सत्य मान लेता है, अर्थात् वह छाया-प्रक्षेपों, गन्धर्व-नगरों, मिथ्या-विस्तारित-छायाओं, प्रतारक-पूर्वबोधों, सम्भावनाओं और सुशक्यताओंको घड़ लेता है जो उसके लिये सुनिश्चित सत्योंका कार्य करती हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक मन इस प्रकारकी कोई भी कृत्रिम रचना नहीं करता, वरन् अपने-आपको ज्योतिका ग्रहण करनेवाला पात्र बनाता है और सत्यको अपने अन्दर व्यक्त होने तथा उसकी रचनाओंको संघटित करनेकी अनुमति देता है। पर जबतक मिश्रित क्रिया चलती रहती है और जबतक मानसिक रचनाओं तथा कल्पनाओंको क्रिया करने दी जाती है, तबतक उच्चतर ज्योति या सत्य ज्योतिके प्रति अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी यह निष्क्रियता पूर्ण नहीं हो सकती, न यह सुरक्षित प्रभुत्व ही प्राप्त कर सकती है और अतएव त्रिकालज्ञानकी सुदृढ़ व्यवस्था भी स्थापित नहीं हो सकती। इस बाधा एवं मिश्रणके कारण ही त्रिकाल-दर्शनकी, अर्थात् पश्चाद्दर्शन, परिदर्शन और पुरोदर्शनकी वह शक्ति, जो कभी-कभी आलोकित मनपर अपनी छाप लगाती है, मानसिक क्रियाकी बुनावटका भाग न होकर अन्य शक्तियोंकी तरह केवल एक असामान्य शक्ति ही है। इतना ही नहीं, वरन् वह केवल कभी-कभी ही प्रकट होनेवाली तथा अत्यंत अपूर्ण होती है और प्रायः ही विकृत हो जाती है, क्योंकि हमें बिना पता लगे ही उसमें भूल मिल-मिला जाती है या उसमें हस्तक्षेप करके वह उसका स्थान स्वयं ले लेती है।

जो मानसिक रचनाएँ हस्तक्षेप करती हैं वे मुख्यतया दो प्रकारकी हैं। उनमेंसे पहले प्रकारकी एवं अत्यन्त प्रबल रूपसे विकृत करनेवाली वे हैं जो इच्छाशक्तिके दबावोंसे उत्पन्न होती हैं। हमारी इच्छाशक्ति देखने और निर्णय करनेका दावा करती है, वह ज्ञानमें हस्तक्षेप करती है और अन्तर्ज्ञानको सत्य ज्योतिके प्रति निष्क्रिय तथा उसकी निष्पक्ष एवं

शुद्ध प्रणालिका नहीं बनने देती। व्यक्तिगत इच्छाशक्ति,—वह चाहे भावावेगों और हृदयकी कामनाओंका रूप ले या प्राणकी लालसाओंका अथवा प्रबल क्रियाशील संकल्पोंका रूप ले या बुद्धिकी स्वेच्छापूर्ण अभिरुचियोंका,—स्पष्टतया ही विकृतिका मूल होती है, उस समय जब कि ये सब (भावावेग आदि) अपने-आपको ज्ञानपर लादनेकी चेष्टा करते हैं और जिस चीजके लिये हम कामना या संकल्प करते हैं उसीको अतीत, वर्तमान या भविष्यकी वास्तविक वस्तु समझनेके लिये हमें प्रेरित करते हैं, और ऐसी चेष्टा ये प्राय: अवश्य ही करते हैं और इसमें इन्हें सफलता भी मिलती है। कारण, या तो ये सत्य-ज्ञानको अपनी क्रिया नहीं करने देते, अथवा यदि वह अपनेको सामने लाता भी है तो ये उसपर झपटकर उसे अपने अधिकारमें कर लेते हैं, उसे तोड़-मरोड़कर उसका रूप ही बदल डालते हैं और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विकृत रूपको एक ऐसा आधार बना देते हैं जो इच्छाशक्तिद्वारा रचे मिथ्यात्वके संघातको सही सिद्ध करता है। अत: व्यक्तिगत इच्छाशक्तिको या तो बिलकुल त्याग देना होगा या फिर उसके सुझावोंको तबतक उनके उचित स्थानपर रखना होगा जबतक कि उच्चतर निर्व्यक्तिक ज्योतिके सामने उन्हें प्रस्तुत करके उनके बारेमें उसका सर्वोच्च निर्णय न प्राप्त कर लिया जाय और तब मनकी अपेक्षा कहीं गहरी एक भीतरी सत्तासे या एक उच्चतर स्तरसे प्राप्त सत्यके अनुसार उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करना होगा। पर, यद्यपि व्यक्तिगत इच्छाशक्तिको निरुद्ध तथा मनको उच्चतर सत्यके ग्रहणके लिये निष्क्रिय रखा जाय, तो भी सब प्रकारकी शक्तियों और संभावनाओंके सुझाव उसपर (मनपर) आक्रमण कर सकते हैं तथा अपने-आपको उसपर लाद सकते हैं। ये शक्तियाँ और संभावनाएँ संसारमें अपनी चरितार्थताके लिये प्रयास करती हैं। अपनी अस्तित्वेच्छाके (अपने-आपको प्रकट करनेकी इच्छाशक्तिके) प्रवाहमें ये जिन वस्तुओंको घड़ती हैं उन्हें ये भूत, वर्तमान या भविष्यके सत्यके रूपमें प्रस्तुत करती हुई हमारे सामने प्रकट होती हैं। यदि मन इन प्रतारक सुझावोंपर ध्यान दे, उनके स्व-मूल्यांकनोंको स्वीकार कर ले, उन्हें दूर न हटाये या सत्य ज्योतिके सामने निर्णयार्थ प्रस्तुत न करे तो सत्यका अवरोध या विकृति-रूपी उपर्युक्त परिणाम उत्पन्न होकर रहेगा। यह भी संभव है कि इच्छाशक्तिके तत्त्वको पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाय और मनको उच्चतर ज्योतिर्मय ज्ञानकी एक नीरव एवं निष्क्रिय पंजिका बना दिया जाय, और ऐसी दशामें काल-संबंधी अन्तर्ज्ञानोंको कहीं अधिक शुद्ध रूपसे ग्रहण करना संभव हो जाता

है। परन्तु सत्ताकी समग्रता एक निष्क्रिय ज्ञानकी ही नहीं, इच्छाशक्तिके कार्यकी भी माँग करती है, और इसलिये अधिक व्यापक और पूर्ण उपचार यह है कि व्यक्तिगत इच्छाके स्थानपर विश्वभावापन्न इच्छाको उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित किया जाय। यह विश्वभावापन्न इच्छा ऐसी किसी भी चीजपर आग्रह नहीं करती जिसे यह सुरक्षित रूपमें यों अनुभव नहीं कर लेती कि यह उस उच्चतर ज्योतिसे प्राप्त भावि-संबंधी अन्तर्ज्ञान, अन्तःप्रेरणा या साक्षात्कार है जिसमें इच्छाशक्ति ज्ञानके साथ एकीभूत है।

दूसरे प्रकारकी मानसिक रचना हमारे मन एवं बुद्धिके वास्तविक स्वभावके साथ तथा कालगत वस्तुओंके प्रति उसके व्यवहारके साथ संबंध रखती है। मनको यहाँ सभी वस्तुएँ ऐसी संसिद्ध, प्रत्यक्ष, यथार्थ वस्तुओंका संघात दिखायी देती हैं जिनके कुछ पूर्ववर्ती कारण तथा स्वाभाविक परिणाम होते हैं, उसे सब कुछ संभावनाओंका एक अनिर्धारित संघात प्रतीत होता है। और संभवतः उसे एक और चीज भी दीख पड़ती है, यद्यपि इसके संबंधमें वह निश्चयवान् नहीं होता। इन सब संभावनाओंके पीछे उसे एक निर्धारक तत्त्व,—एक संकल्पशक्ति, नियति या कोई शक्तिशालिनी सत्ता,—दिखायी देता है जो अनेक संभव वस्तुओंमें से कुछको अस्वीकार कर देता है तथा कुछ दूसरी वस्तुओंको स्वीकृति देता है या प्रकट होनेके लिये बाध्य करता है। अतएव, उसकी रचनाएँ, कुछ अंशमें तो, अतीत और वर्तमान दोनोंकी वास्तविक वस्तुओंके आधारपर किये गये अनुमानोंसे बनी होती हैं, कुछ अंशमें संभावनाओंके संकल्पानुगत या कल्पनामूलक एवं आनुमानिक चयन एवं संयोजनसे और, थोड़ेसे अंशमें, निर्णायक तर्कणा या रागमूलक निर्णय या आग्रहपूर्ण सर्जनशील संकल्प-बुद्धिसे बनी होती हैं जो यथार्थ और संभव वस्तुओंके संघातमें उस सुनिश्चित सत्यको निर्धारित करनेका यत्न करती है जिसे खोजने या निर्धारित करनेका वह प्रयास कर रही है। इस सबको, जो हमारे मनके चिंतन एवं व्यापारके लिये अनिवार्य है, बहिष्कृत या रूपांतरित करना होगा। ऐसा होनेके बाद ही अन्तर्ज्ञानको एक सुदृढ़ आधारपर अपने-आपको व्यवस्थित करनेका अवसर प्राप्त हो सकता है। ऐसा रूपान्तर संभव है, क्योंकि अन्तर्ज्ञानात्मक मनको भी वही (मनका) कार्य करना होता है और उसका क्षेत्र भी वही होता है; पर हाँ, वह अपने साधन-द्रव्योंका प्रयोग भिन्न ढंगसे करता है तथा उनके अर्थपर एक और ही प्रकारका प्रकाश डालता है। इसी प्रकार, मनकी रचनाओंका बहिष्कार करना भी संभव है, क्योंकि वास्तवमें सब कुछ ऊपर, सत्य-चेतनामें ही निहित है और अज्ञानमय मनकी वह निश्चल-नीरवता एवं फलगर्भित

ग्रहणशीलता हमारी पहुँचके बाहर नहीं है जिसमें सत्य-चेतनासे उतरनेवाले अन्तर्ज्ञानकी रश्मियाँ सूक्ष्म या तीव्र यथार्थताके साथ ग्रहण की जा सकती हैं और ज्ञानके सब साधन-द्रव्योंको भी उनके समुचित स्थान एवं यथार्थ अनुपातमें देखा जा सकता है। व्यवहारमें हमें यह पता चलेगा कि एक प्रकारके मनसे दूसरे प्रकारके मनतक संक्रमण साधित करनेके लिये दोनों विधियाँ बारी-बारी से या एक साथ प्रयुक्त की जाती हैं।

त्रिकालकी गतिके साथ संबंध रखनेवाले अन्तर्ज्ञानात्मक मनको प्रत्यक्ष यथार्थ तथ्यों, सम्भव पदार्थों तथा अटल भावी वस्तुओं—तीनोंको अपनी विचारात्मक इन्द्रिय तथा विचारात्मक दृष्टिके द्वारा ठीक-ठीक देखना होगा। सबसे पहले एक प्राथमिक अन्तर्ज्ञानात्मक क्रिया विकसित होती है जो साधारण मनकी तरह मुख्यतया कालमें विद्यमान क्रमिक यथार्थ-सत्ताओंकी धाराको देखती है, पर यह कार्य वह सत्यकी एक ऐसी तात्क्षणिक प्रत्यक्ष-क्रियाके द्वारा तथा सहज यथार्थताके साथ करती है जो साधारण मनको आयत्त नहीं हो सकती। पहले-पहल वह उन्हें एक प्रत्यक्ष-बोधके द्वारा, एक विचार-क्रिया, विचारेन्द्रिय एवं विचारदृष्टिके द्वारा देखती है जो व्यक्तियों और पदार्थोंपर कार्य कर रही शक्तियोंको अर्थात् उनके अन्दर और चारों ओर कार्यरत विचारों, निश्चयों, प्रेरणाओं, सामर्थ्यों और प्रभावोंको तुरन्त ही जान लेती है, केवल उन्हीं विचारों, निश्चयों आदिको नहीं जो उनके अन्दर रूप ग्रहण कर चुके हैं या ग्रहण कर रहे हैं, वरन् उन्हें भी जो परिपार्श्वसे या साधारण मनको न दीखनेवाले गुह्य उद्‌गमोंसे उनके अन्दर या ऊपर आ रहे हैं या आनेवाले हैं। यह विचारात्मक क्रिया, इन्द्रिय एवं दृष्टि इन शक्तियोंके जटिल संघातको खोज और आयाससे रहित एक द्रुत अन्तर्ज्ञानात्मक विश्लेषणके द्वारा या एक समन्वयात्मक समग्र दृष्टिके द्वारा विभक्त करके इन सब शक्तियोंमें भेद करती है, फलप्रद शक्ति और निष्फल या कम फलप्रद शक्तिमें विवेक करती है तथा उनसे निकलनेवाले परिणामको भी देख लेती है। प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओंके अन्तर्ज्ञानात्मक दर्शनकी सर्वांगीण विधि यही है, किन्तु अन्य विधियाँ भी हैं जो अपने स्वरूपमें इतनी पूर्ण नहीं हैं। कारण, कार्यरत शक्तियोंको परिणामसे पहले या उसके साथ-साथ प्रत्यक्ष किये विना भी परिणामको देख लेनेकी शक्ति साधकमें विकसित हो सकती है। या फिर यह भी हो सकता है कि पहले परिणाम ही तीव्र वेगसे, तुरन्त उसके सामने आ जाय और कार्यरत शक्तियाँ बादमें ही दिखायी दें। दूसरी ओर, यह भी संभव है कि शक्तियोंके जटिल संघातका कुछ-कुछ या पूर्ण प्रत्यक्ष प्राप्त

हो जाय, पर अन्तिम निश्चित परिणामके विषयमें निश्चय न होने पाये या, केवल धीमे-धीमे ही निश्चय हो पाये या फिर एक सापेक्ष निश्चय ही प्राप्त हो। यथार्थ वस्तुओंके समग्र और एकीकृत साक्षात्कारकी क्षमताके विकासमें यही क्रमिक अवस्थाएँ आती हैं।

इस प्रकारका अन्तर्ज्ञान काल-ज्ञानका पूर्णतया निर्दोष यंत्र नहीं है। साधारणतया यह वर्तमानकी धारामें ही वहता है, और एक-एक क्षणमें केवल वर्तमान, निकटतम भूत और निकटतम भविष्यको ही ठीक-ठीक देखता है। यह ठीक है कि वह अपनेको पीछेकी ओर (भूतकालमें) प्रक्षिप्त करके अपनी इसी शक्ति और पद्धतिके द्वारा एक अतीत क्रियाको फिरसे ठीक रूपमें निर्मित कर सकता है या अपनेको आगेकी ओर (भविष्यमें) प्रक्षिप्त करके अधिक दूरस्थ भविष्यकी किसी वस्तुकी ठीक प्रतिमूर्ति वना सकता है। पर विचारात्मक अन्तर्दृष्टिकी सामान्य शक्तिके लिये यह एक अधिक असाधारण एवं दुष्कर प्रयास है और साधारणतया वह इस आत्म-प्रक्षेपणको अधिक स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोगमें लानेके लिये चैत्य साक्षात्कारकी सहायता और आश्रयकी अपेक्षा रखती है। अपि च, वह केवल वही कुछ देख सकती है जो कि प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओंकी अनुद्वेलित प्रक्रियामें स्वतः ही उसके संमुख आ जाय और यदि शक्तियोंकी कोई अदृष्ट भीड़ या कोई हस्तक्षेपकारी शक्ति विशालतर संभाव्य शक्तिके प्रदेशोंसे टूट पड़े तथा अवस्थाओंके जटिल संघातको वदल डाले तो उसकी अन्तर्दृष्टि फिर अपना कार्य नहीं करती। कालकी गतिमें कार्य कर रही शक्तियोंकी क्रियामें ऐसी घटना निरन्तर ही होती रहती है। अन्तर्ज्ञानकी उक्त शक्ति इन संभाव्य शक्तियोंपर प्रकाश डालनेवाली अन्तः-प्रेरणाओंको ग्रहण करके उनसे सहायता प्राप्त कर सकती है, इसी प्रकार उसे सत्यके उन अटल साक्षात्कारोंसे भी सहायता मिल सकती है जो यह वताते हैं कि इन संभाव्य शक्तियोंमें निर्णायक तत्व कौन-सा है और उसके परिणाम क्या होंगे। इन दो शक्तियोंसे वह यथार्थ वस्तुओंके वोधक अन्तर्ज्ञानात्मक मनकी त्रुटियोंको सुधार सकती है। परन्तु अन्तर्ज्ञानकी इस प्रारंभिक क्रियामें अन्तर्दर्शनके इन महत्तर उद्गमोंके साथ व्यवहार करनेकी जो क्षमता है वह कभी भी पूर्णतया सफल नहीं होती। एक निम्न स्तरकी शक्तिके लिये यह सदा स्वाभाविक ही है कि महत्तर चेतनासे प्राप्त सामग्रीके साथ वर्ताव करते समय वह पूर्णतया सफल न हो। उसका स्वभाव सदा तात्कालिक यथार्थ-सत्ताओंकी धारापर वल देकर अन्तर्दर्शनको काफी सीमित कर देनेका ही होता है।

तथापि ज्योतिर्मय अन्तःप्रेरणासे संपन्न मनका विकास करना संभव है। यह मन काल-गतिकी महत्तर संभाव्य शक्तियोंके मध्य अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करेगा, दूरकी वस्तुओंको अधिक आसानीसे देखेगा और इसके साथ ही प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओंके अन्तर्ज्ञानको अपने अन्दर, अपने अधिक उज्ज्वल, व्यापक और शक्तिशाली प्रकाशमें ग्रहण करेगा। यह अन्तःप्रेरित मन वस्तुओंको विश्वकी विशालतर संभाव्यताओंके प्रकाशमें देखेगा और प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओंकी धाराको शक्तिशाली संभव पदार्थोंके संघातमेंसे किये गये एक चुनावके रूपमें एवं उसमेंसे निकले एक परिणामके रूपमें देखेगा। तथापि, यदि अटल सत्योंका उद्भासक ज्ञान पर्याप्त मात्रामें इसे प्राप्त न हो तो यह काल-गतिकी नाना संभाव्य दिशाओंके बीच निर्णय करनेवाले विचारके संबंधमें संशयग्रस्त ही रहेगा या यह ऐसे विचारको स्थगित ही रखेगा अथवा, यहाँतक कि, अन्तिम यथार्थ वस्तुकी दिशासे दूर एक ऐसे कालचक्रमें जा फँसेगा जो किसी और, अभीतक अव्यवहार्य परिणामका अनुसरण कर रहा होगा। ऊपरसे प्राप्त होनेवाले अटल सत्य-दर्शनोंकी संपदा इस त्रुटिको कम करनेमें सहायक होगी, पर यहाँ भी वही कठिनाई सामने आयेगी कि उच्चतर ज्योति और शक्तिके खजानेसे प्राप्त सामग्रीको निम्न स्तरकी शक्तिकी क्रियामेंसे गुजरना पड़ेगा। किन्तु ज्योतिर्मय सत्य-दर्शन प्राप्त करनेवाले मनका विकास करना भी संभव है। यह मन दो निम्न गतियोंको अपने अन्दर समेटकर देखता है कि शक्य और यथार्थ वस्तुओंकी क्रीड़ाके पीछे निर्णीत वस्तु कौनसी है तथा अपने अटल निर्णयोंको प्रकट करनेके लिये यह प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तुओंको अपने साधनमात्र समझता है। इस प्रकारसे गठित हुआ अन्तर्ज्ञानात्मक मन सक्रिय चैत्य चेतनाकी सहायता पाकर काल-ज्ञानकी एक अत्यंत विलक्षण शक्तिपर प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है।

पर इसके साथ-साथ हमें यह भी ज्ञात हो जायगा कि यह मन भी अभी एक सीमित यंत्र है। पहली बात तो यह है कि यह एक ऐसे उच्चतर ज्ञानको प्रकट करेगा जो मनके उपादानमें ही कार्य कर रहा होगा तथा जो मनोमय आकारोंके साँचेमें ढला होनेके कारण अबतक भी मानसिक अवस्थाओं और मर्यादाओंके अधीन होगा। यह पीछे या आगेकी ओर कितनी ही दूर तक विचरण क्यों न करे, फिर भी यह ज्ञानके सोपानों या क्रमोंके आधारके रूपमें सदा मुख्य तौरपर वर्तमान क्षणोंकी शृंखलाका ही सहारा लेगा,—अपनी उच्चतर सत्योद्भासक क्रियामें भी यह कालके प्रवाहमें ही विचरण करेगा और कालकी गतिको ऊपरसे या सनातन कालकी

उन स्थिरताओंमें प्रतिष्ठित होकर नहीं देखेगा जिनकी अन्तर्दृष्टिके क्षेत्र अति विशाल होते हैं, और अतएव, यह अपने कार्योंमें सदा एक गौण एवं सीमित क्रियाके साथ, एक प्रकारकी तरलता, मर्यादा और सापेक्षताके साथ बँधा होगा। अथच, इसका ज्ञान **ज्ञान** की वास्तविक उपलब्धि एवं अधिकृति नहीं होगा, वरन् ज्ञानका ग्रहण-रूप होगा। अज्ञानमय मनके स्थानपर यह, अधिक-से-अधिक, आत्म-विस्मृतिपूर्ण ज्ञानवाले मनको जन्म देगा जिसे प्रसुप्त आत्म-चेतना एवं विराट् चेतना सतत आत्म-स्मृति और ज्ञान-ज्योति प्रदान करेंगी। ज्ञानकी क्रियाका क्षेत्र एवं विस्तार तथा उसकी साधारण दिशाएँ विकासके अनुसार भिन्न-भिन्न होंगी, पर इस ज्ञानमें कुछ अत्यन्त प्रवल मर्यादाएँ सदा ही रहेंगी। ये मर्यादाएँ अज्ञानमय मनमें, जो अभी भी हमें चारों ओर से घेरे होगा या हमारे अन्दर अवचेतन रूपसे विद्यमान होगा, यह प्रवृत्ति पैदा करेंगी कि वह अपनी सत्ताको फिरसे दृढ़तापूर्वक स्थापित करे, फिर अन्दर घुस आये या उभड़कर ऊपर आ जाय, जहाँ अन्तर्ज्ञान काम करनेसे इन्कार करे या काम करनेमें असमर्थ हो वहाँ अपना काम करे और अपनी अव्यवस्था एवं भ्रान्तिको तथा अपने मिश्रणको फिरसे अपने साथ ले आये। ऐसी दशामें सुरक्षाका एकमात्र साधन यह होगा कि साधक जाननेकी चेष्टा करनेसे इन्कार कर दे अथवा, कम-से-कम जबतक उच्चतर ज्योति उतरकर अपनी क्रियाका विस्तार न कर ले तबतक वह ज्ञान-प्राप्तिका प्रयत्न स्थगित रखे। यह आत्म-नियंत्रण मनके लिये कठिन है और यदि अत्यंत सन्तुष्ट-भावसे इसका प्रयोग किया जाय तो यह जिज्ञासु साधकके विकासको अवरुद्ध कर सकता है। दूसरी ओर, यदि अज्ञानमय मनको पुनः उभड़ने दिया जाय और उसे अपनी स्खलनशील अपूर्णशक्तिके साथ पुनः ज्ञानकी खोज करने दी जाय तो साधक एक सापेक्ष, पर सुनिश्चित पूर्णता प्राप्त करनेके स्थानपर अज्ञानमय मन और अन्तर्ज्ञानमय मन—इन दो भूमिकाओंके बीच निरंतर दोलायमान स्थितिमें रह सकता है या फिर उसमें इन दोनों शक्तियोंकी मिश्रित क्रिया चलती रह सकती है।

इस द्विविधामेंसे निकलनेका उपाय यह है कि साधक इससे भी महान् पूर्णताकी ओर आगे बढ़े। अन्तर्ज्ञानात्मक, अन्तःप्रेरित एवं सत्योद्भासक मनका गठन इस पूर्णताकी दिशामें एक उपक्रमात्मक अवस्थामात्र है। यह महत्तर पूर्णता तभी प्राप्त होती है यदि अतिमानसिक ज्योति और शक्ति हमारी संपूर्ण मानसिक सत्तामें सतत और अधिकाधिक प्रवाहित एवं अवतरित हों और यदि अन्तर्ज्ञान तथा उसकी शक्तियोंको अतिमानसिक प्रकृतिके उन्मुक्त वैभवोंमें विद्यमान उनके उद्गमकी ओर निरंतर ऊँचा उठाया जाय।

ऐसा होनेपर एक दोहरी क्रिया आरंभ हो जाती है। प्रथम तो यह कि अन्तर्ज्ञानात्मक मन, जो अपनेसे ऊर्ध्वस्थित ज्योतिके प्रति सचेतन होता है और उसकी ओर खुला रहता है और अपने ज्ञानको निर्णयात्मक विचार, पुष्टि और समर्थनके लिये इस ज्योतिके सम्मुख निरन्तर प्रस्तुत करता है। दूसरे, स्वयं यह ज्योति ज्ञानमय मनके उच्चतम स्तरका निर्माण करने लगती है। वास्तवमें यह स्वयं अतिमानसकी ही क्रिया होती है जो मनके अधिकाधिक रूपान्तरित उपादानमें हो रही होती है तथा जिसमें मानसिक अवस्थाओंके प्रति दासता उत्तरोत्तर कम प्रवल होती जाती है। इस प्रकार एक अवर कोटिकी अतिमानसिक क्रिया गठित हो जाती है, एक ज्ञानमय मन गठित हो जाता है जिसकी प्रवृत्ति सदा सच्चे विज्ञानमय अतिमानसमें परिणत हो जानेकी होती है। अज्ञानमय मन अधिकाधिक सुनिश्चित रूपसे वहिष्कृत हो जाता है, इसका स्थान आत्मविस्मृतिमय ज्ञानवाला मन ले लेता है जो अन्तर्ज्ञानसे आलोकित होता है, और स्वयं अन्तर्ज्ञान भी अधिक पूर्ण रूपसे व्यवस्थित होकर अपनेसे की जानेवाली अधिकाधिक वड़ी माँगका उत्तर देनेमें समर्थ वन जाता है। विकसित होता हुआ ज्ञानमय मन एक मध्यवर्ती शक्तिके रूपमें कार्य करता है और, जैसे-जैसे यह गठित होता है, यह अज्ञानमय मनपर क्रिया करता है, उसे रूपान्तरित करता या उसका स्थान ले लेता है और उस अगले रूपान्तरको अनिवार्य वना देता है जो मनसे अतिमानसमें संक्रमणको संसिद्ध करता है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर ही काल-चेतना एवं काल-ज्ञानमें परिवर्तन आरंभ होता है। पर यह काल-चेतना एवं काल-ज्ञान अपना आधार और अपनी संपूर्ण वास्तविकता एवं गूढ़ अर्थ अतिमानसिक स्तरोंपर ही प्राप्त करता है। अतएव अतिमानसके सत्यके साथ इसके संवन्धसे ही इसकी क्रिया-प्रक्रियाओंपर अधिक फलप्रद रूपसे प्रकाश डाला जा सकता है : क्योंकि ज्ञानमय मन विज्ञानमय भूमिका का एक वहिः-प्रक्षेपमात्र है और है अतिमानसिक प्रकृतिकी ओर आरोहणका अन्तिम सोपान।

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

योगसमन्वय

(उत्तरार्द्ध)

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

Hindi-English Glossary

अ—आ

अवांतर	Subsidiary
अंतर्धान	Disappearance
अतिभौतिक	Supraphysical
अहंकार	Egoism
आत्म-प्रवंचना	Self-deception
अहैतुक	Motiveless
आराधना	Adoration
अन्तर्ज्ञान	Intuition
अनेकेश्वरवादी	Polytheistic
अनंतगुण	Infinite qualities
अमरसत्ता	Immortal being
अपरिहार्य	Imperative
अकल्पनीय	Unimaginable
आनन्दोद्रेक	Ecstasy
आनन्दमय	Blissful
आत्मसिद्धियोग	The yoga self-perfection
आत्मरूपायण	Self-formulation
आत्म-निर्धारक	Self-determining
अन्नमय पुरुष	The physical conscious being
अस्खलनशील	Undeviating
अवचेतन	Subconscient
अर्ध-जागृत	Half-awake
आत्म-निर्मज्जन	Self-drowning, Self immersion
आत्मतत्व	Spirit
अचलायमान	Unmoved
आत्म-उत्थान	Self-elevation
आत्मसात्	Assimilation
अलिप्त	Uninvolved
आत्म प्राकट्य	Self-expression
आत्मसर्जन	Self-creation
अनासक्ति	Detachment
अभिव्यक्ति	Manifestation
आलोड़ित	Agitated
अन्तर्निरीक्षण	Introspection
आत्माग्नि	Fire of Spirit
आत्म-संशोधन	Self-modification
अहं-दृष्टि	Ego-view
आत्म समर्पण	Self-Surrender
अव्यवहित	Immediate
आत्मज्ञानसंपन्न	Self-knowing
अर्ध-अपारदर्शक	Half-opaque
अनात्मा	Not self
अवलोकन-शक्ति	Observation
अन्तःस्फुरण	Intuition
अर्धरूपान्तरित	Half transformed

इ—ई

इन्द्रियानुभव, इन्द्रिय-ज्ञान	Sense knowledge
इन्द्रियाधिष्ठित मन	Sense mind
ईश्वर-भीरु	God fearing

ईश्वर-प्रदत्त — God-given
इन्द्रिय-बोध — Sense-perception

उ

उपासना — Adoration
उन्मादना — Ecstasy

ए—ऐ

एकेश्वरवाद — Monotheism
ऐक्य साधक — Unifying

ऋ

ऋत-चित् — Truth-conscious

क

करुणामयी — Compassionate
कामवृत्ति, कामवासना — Lust
क्रियाशील — Dynamic
कार्यसिद्धिक्षम — Self-effecting
कर्तृत्वका अहंकार — The Ego of the-doer

ख

खंडात्मक — Fragmentary

ग

गुह्यज्ञानी — Mystic
गूढ़ाशय — Significance

च

चिंन्मय पुरुष — Conscious-being
चिंतन-प्रणाली — Way of-thinking
चयनशील — Selective

ज

जन्मजात शिल्पी — Born craftsman
जिज्ञासाशील — Inquiring
जड़तत्व — Matter
ज्योतिर्मय — Radiant

त

तापस — Ascetic
तन्मयकारी — All-absorbing
तृषा — Thirst
तितिक्षा — Endurance
'तत्' — 'That'
तर्क-श्रृंखला — logical steps
तादात्म्यलब्ध-अनुभव — Experience by-identity
तथ्यसामग्री — Data
तादात्म्यलब्धज्ञान — Knowledge by-identity

द

द्वित्व — Dualism
दिव्य न्याय — Divine justice
,, विधान — Divine Law
,, ऋत — Divine Truth
दैवी प्रकृति — Divine nature
दिव्यप्रेम — Divine love
दिव्यानन्द — Beautitude, Ecstacy
देवाधिदेव — Godhead
देह-संस्थान — Body-system

न

निम्न प्रकृति — Lower nature
निवृत्तिप्रधान — Quietistic
निरतिशय — Absolute
नित्यतृप्ति — Eternal satis-faction
न्यायसंगत — Justified
नित्यसहचर — Eternal Com-panion
निवृत्तिमार्गी — Quietistic
निदिध्यासन — Steady re-membrance
निर्वाण — Extinction

प

पुरुषोत्तम — Supreme-Purusha
परात्पर — Supreme

परित्याग	Katharsis, throwing-away
प्रतीयमान	Apparent
पराङ्मुख	Turned away
पर्यवसान	End
परिप्लुत	Flooded
प्रतिमान	Standard
पापमुक्तता	Freedom from-sin
प्राण-वासना	Life-craving
पराकाष्ठा	The highest-reach
प्रशान्ति	Serenity
प्रज्ञा	Intelligence
प्रभेदकारक	Discriminating
ब	
वहिःप्रवाह	Outflowing
बंधन-श्रृंखला	Chain of bondage
ब्रह्मानन्द	Ecstasy of-Brahma or-Atma (Self)
बोधिमय	Intuitive
भ	
(भगवती) शक्ति	The Shakti, Divine Power
भक्तियोग	The yoga of-Bhakti
भिक्षु	Mendicant
भावप्रवण	Emotive
भोग	Enjoyment
म	
मुक्तिमार्ग	The way of salvation
मर्त्य सत्ता	Mortal being
मरणधर्मा	Mortal
मिलन-स्थल	Meeting-place

महासरस्वती	The Goddess of Divine-Skill
र	
रासक्रीड़ा	Self-enjoying-play
ल	
लालसा	Yearning
व	
विरूपताजनक	Disfiguring
विरलीभूत	Rarefied
विजातीय	Alien
विसंवाद	Discord
विश्व-कर्म	Universal-action
विश्वजनीन	Universal
व्यष्टिसत्ता	The individual-existence
व्यवहारलक्षी	Pragmatic
विवेक-दृष्टि	Discerning eye
विस्मय-विमुग्ध	Confounded
व्यक्तित्वारोपण	personification
वंशीवादक	Flute player
स	
सर्ववित्	All knowing
स्तिमित	Stilled
सदाचारमय ईश्वर	God of–righteousness
स्वयं-सत प्रेम	Self-existent–love
सर्व-सुन्दर	All-beautiful
साधु	Monk
स्वर्गधाम	Heaven
शब्दातीत	Inexpressible
सत्यान्वेषी	Truth seeker
सर्वालिंगनकारी	All-embracing
सर्वभूत	All beings
सान्निध्य	Nearness
संबोधि-मन	Intuitive mind

साधर्म्य	Likeness in Nature	शब्दब्रह्म	Logos
		स्रष्टा	Creator
सायुज्य	Absolute Union	स्वप्नचारी	Somnambulist
स्नायुचक्र	Nervous plexus	श्रोत्रेन्द्रिय	Ear
सौन्दर्य रसिक	Aesthete	संक्रमण	Transition
शरीर-क्रिया-शास्त्रीय	Physiological	स्वतःपर्याप्त	Self-sufficient
स्वयंजात	Self-born	**ह**	
सत्य-मानस	Truth-mind	हृदय	Heart
संवेदनात्मक	Sensational	हर्षमयता	Joy
सत्यदर्शन	Revelation	हृदयकमल	Lotus in the heart
स्थूलभौतिक	Physical		
सम	Equal	**क्ष**	
सर्वदर्शी संकल्प	Seeing will	क्षणस्थायी	Temporary
स्वार्थपरायण	Selfish		
सृष्टिकर्त्ता	Creator	**त्र**	
सर्वांग संपन्न	Complete	त्रयात्मक	Triune
सर्वजनीन	Universal	त्रिक	Trinity
संहिष्णुता	Toleration	त्रिकाल दृष्टि	Knowledge of the three times (Past, present and future)
सर्वभूतस्थभगवान्	God in-all		
सर्वपरिचालक	All-guiding		
सदा-वृद्धिशील	Ever increasing		
स्वयं निर्वाचित	Self chosen		